हिन्दी

कथासाहित्य

और

उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

Un roman est comme un archet
La caisse du violon qui rend les sons
C est L ame du lecteur

Stendhal

उपन्यास गज के समान है और वह वायलिन जिससे सगीत नि सृत होता है, है पाठक की आत्मा ।

स्तेंदल

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि (१९६४ ई०) के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध

हिन्दी कथा साहित्य

और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

डॉ० गोपाल राय, एम० ए० डी० लिट०
हिन्दी विभाग पटना कालेज
पटना विश्वविद्यालय

ग्रन्थ निकेतन

प्रकाशक
ग्रन्थ निकेतन
चौधरी टोला, पटना–६

प्रथम संस्करण १९६५

मूल्य पचीस रुपये

मुद्रक
घनश्याम प्रेस
नवीन कोठी, पटना–४



श्रद्धेय

आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा

को

सादर

दो शब्द

विज्ञान ने दैनिक जीवन की सुविधाएँ ही नहीं प्रदान कीं, मानवीय मूल्य और साहित्यिक आदर्श भी बदल दिए। विज्ञान-युग के पूर्व का साहित्य मूलतः अभिजातवर्ग को केन्द्र बनाकर रचा जाता था, साहित्य के पात्र भी अभिजात थे और श्रोता भी। विज्ञान के विकास के फलस्वरूप औद्योगिक क्रांति का जन्म हुआ जिसके प्रभाव से शक्ति का आधार एवं सम्पन्नता का रूप सामंतवादी से जनवादी बन गया। परिणामतः साहित्य-सर्जन के आधार एवं रूप में भी परिवर्तन हुआ। एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन तो यही हुआ कि कविता का स्थान गद्य ने ले लिया। शिक्षा और मुद्रण के विकास के परिणाम-स्वरूप पाठक-वर्ग की संख्या में वृद्धि हुई। 'माँग और आपूर्ति' का अर्थशास्त्रीय नियम साहित्य पर भी लागू होता है। जिस तरह की माँग होती है उसी तरह का साहित्य निर्मित होता है। उदाहरणार्थ आज कविता के पाठकों की संख्या कम होने से कविता-पुस्तकों के प्रकाशन में कमी आ गयी है पर साधारण कोटि के भी उपन्यास आसानी से छप और खप जाते हैं क्योंकि उनकी माँग अधिक है। लोकप्रियता की दृष्टि से साहित्य का कोई अन्य प्रकार आज उपन्यास की समता नहीं कर सकता। नाट्य भिन्नरुचेजनस्य बहुधाप्येकं समाराधकम् किसी समय नहीं था पर आज यह उपन्यास ही भिन्नरुचिनाम का अनन्य समाराधक बना हुआ है। कारण स्पष्ट है। कविता या नाटक की आस्वादन-क्षमता परिष्कृत रुचि, साहित्यिक संस्कार एवं अध्ययन-अनुशीलन से संबद्ध है किंतु उपन्यास में आनन्द उठाने के लिए प्रायः इनके बिना भी काम चल जाता है। स्वभावतः व्यापक लोकरुचि का जितना संबंध कथासाहित्य से है उतना कविता आदि से नहीं।

यह प्रश्न बड़ा रोचक और अनुसंधेय है कि युग विशेष में कोई साहित्यिक प्रकार विशेष ही क्या अधिक लोकप्रिय एवं ग्राह्य बन जाता है। मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि डा० गोपाल राय ने अपने शोध प्रबंध में कथासाहित्य के विकास पर पाठकों की रुचि के प्रभाव का व्यापक तथा गंभीर दृष्टि से विचार किया है। उनके निष्कर्ष प्रमाणपुष्ट एवं तथ्याश्रित हैं। कथासाहित्य पर अनेक शोध प्रबंध लिखे गए हैं किन्तु डा० राय का प्रयास सर्वथा मौलिक एवं गतानुगतिकता से मुक्त है।

प्रबंध के प्रथम खंड में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में पठन रुचि तथा उसे प्रभावित करनेवाले कारणों का विश्लेषण है। द्वितीय अध्याय में यह प्रतिपादित किया गया है कि साहित्यरचना केवल वैयक्तिक प्रतिभा की ही उपज नहीं होती, उस पर पाठकों की रुचि का भी बहुत दूर तक प्रभाव पड़ता है। तृतीय अध्याय में १८०० से १८६९ ई० के बीच हिन्दी पाठकों की रुचि का निर्माण करनेवाली परिस्थितियों का सविस्तर विवेचन कर शोधकर्ता ने तत्कालीन कथासाहित्य के विकास पर पाठकों की रुचि के प्रभाव का आकलन किया है। चतुर्थ तथा पंचम अध्यायों में क्रमशः १८७० १८८९ ई० एवं १८९० १९१७ ई० की अवधि में हिन्दी पाठक-वर्ग की रुचि और क्षमता के वर्द्धमान का निरूपण

करते हुए यह प्रदर्शित किया गया है कि हमारे कथासाहित्य के विविध रूपों के विकास के मूल म पाठकों की रुचि किस प्रकार काम करती रही है। इस प्रसग म शोधकर्ता ने विषय, शिल्प और भाषा पर भी विशद रूप से विचार किया है।

प्रबन्ध के द्वितीय खण्ड म (जो पृथक रूप से प्रकाशित होगा) १८०० ई० से लेकर १९१७ ई० तक की अवधि में लिखित प्रकाशित हिन्दी की कथा पुस्तकों का प्रामाणिक विवरण है। मुझे विश्वास है कि यह खड कथासाहित्य पर शोध करनेवालो के लिए सदभ ग्रन्थ का काम देगा।

विषय की नवीनता और निरूपण की गम्भीरता—दोनो ही दृष्टियो से मैं प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ और इस श्रमसाध्य अनुष्ठान को योग्यता एव निष्ठा से सम्पन्न करने के लिए डा० गोपाल राय को बधाई देता हूँ। मुझे आशा है कि आगे के अनुसधित्सुओ के लिए यह ग्रन्थ नयी दिशा का सकेत करेगा।

दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली।

नगेन्द्र

आमुख

प्रस्तुत ग्रन्थ पटना विश्वविद्यालय से डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत 'हिन्दी कथासाहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' शीर्षक मेरे शोधप्रबंध के प्रथम खण्ड का मुद्रित रूप है। प्रबंध के द्वितीय खण्ड में सन् १८००-१९१७ ई० की अवधि में लिखित प्रकाशित कथापुस्तकों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पृथक् प्रकाशित करने की योजना है। प्रबंध के दोनों खण्ड परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी स्वतन्त्र हैं, अतः इनका पृथक मुद्रण ही सुविधाजनक होगा।

इस ग्रन्थ में सन् १८००-१९१७ ई० की अवधि में हिन्दी पाठकवर्ग के विकास तथा हिन्दी कथासाहित्य पर तत्कालीन पाठकों की रुचि के प्रभाव का विवेचन विश्लेषण, सभी पक्षों का ध्यान में रखकर किया गया है। साहित्यरचना पर उसके उद्दिष्ट पाठकों की रुचि और भावना का प्रभाव, प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में, अवश्य पड़ता है। साहित्य के किसी इतर प्रकार की अपेक्षा हिन्दी कथासाहित्य इस तथ्य को अधिक स्पष्टता से प्रमाणित करता है, क्योंकि इतर प्रकारों की तुलना में कथा के पाठकों की संख्या स्वभावतः अधिक हुआ करती है। तर्कशास्त्र की भाषा में यही प्रस्तुत प्रबंध की 'प्रतिज्ञा' है।

ग्रन्थ पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पठनरुचि तथा उसे प्रभावित करनेवाले विभिन्न हेतुओं का सविस्तर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी में लिखित मनोविज्ञान की पुस्तकों में भी पठनरुचि के सम्बन्ध में कोई विवेचन नहीं दीखता। इस दृष्टि से यह प्रयास हिन्दी में पहला है।

द्वितीय अध्याय में अँगरेजी, संस्कृत और आदि तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में उपन्यस्त प्रतिज्ञा के पूर्वपक्ष का (साहित्यरचना ऐकान्तिक रूप से वैयक्तिक प्रतिभा की उपज तथा कलाकार के स्वान्तःसुखाय होती है) निरसन एवं उसके उत्तर पक्ष का (साहित्यरचना पाठकों की रुचि से काफी दूर तक प्रभावित होती है) युक्तियुक्त प्रतिपादन किया गया है। इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि यदि पाठक या श्रोतृवर्ग की रुचियों के आलोक में हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन विश्लेषण किया गया होता तो उसकी अनेक जटिल और असमाहित समस्याओं का समाधान मिल गया होता।

तृतीय अध्याय में सन् १८००-१८६९ ई० के बीच हिन्दी पाठकों की स्थिति तथा उसे परिमाणतः और प्रकारतः प्रभावित करनेवाले हेतुओं का सांगोपांग विवेचन कर तत्कालीन हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर पाठकों की रुचि के प्रभाव का विश्लेषण है।

चतुर्थ अध्याय में सन् १८७०-१८८९ ई० की अवधि में हिन्दी पाठकवर्ग के विकास तथा हिन्दी उपन्यास के उद्गम पर तदनुसार हिन्दी पाठकों की पठनरुचि और पठनक्षमता के प्रभाव का निर्धारण है।

पचम अध्याय मे सन १८९० १९१७ ई० की अवधि मे हिन्दी पाठकवग के विकास तथा उसे प्रभावित करनेवाले हेतुओ के विश्लेषण के अनन्तर तत्कालीन कथासाहित्य के विविध रूपो के विकास पर हिन्दी पाठको की रुचि के प्रभाव का आकलन है।

हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर विचार करने के प्रसग म मैंने कृतियो के विषय, शिल्प और भाषा, तीनो पर दृष्टि रखी है।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, यह प्रयत्न हिन्दी उपन्यासालोचन के क्षेत्र मे ही नहीं, हिन्दी काव्यालोचन के क्षेत्र मे भी प्रथम है। अद्यावधि हिन्दी साहित्य के किसी भी पक्ष का विवेचन विश्लेषण पाठको की रुचि के आलोक म नही किया गया है। स्वभावत इस ग्रथ मे जो निष्कष प्रस्तुत किये गये हैं, वे बहुत दूर तक मौलिक हैं।

ग्रन्थ के शीर्षक का थोडा स्पष्टीकरण अपेक्षित है। 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग यहाँ सीमित रूप म, खडी बोली के अथ म, किया गया है, या हिन्दी की अन्य बोलियो म गद्य कथासाहित्य का अभाव होने के कारण यह प्रयोग सवथा साथक है। सुविधा के लिए 'कथासाहित्य' पद का प्रयोग वस्तुत गद्य कथासाहित्य के अथ म किया गया है। कथा साहित्य के अतगत पद्यकथाएँ भी अतभुक्त हो जाती हैं, पर जसा हिन्दी कथासाहित्य के ममन विद्वान् डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा और भाषाशास्त्र के निष्णात आचाय प्रो० देवेन्द्र नाथ शर्मा ने सुझाव दिया कि अगरेजी म 'प्रोज फिक्शन' के लिए जिस प्रकार केवल 'फिक्शन' शब्द रूढ हो गया है उसी प्रकार हिन्दी म गद्यकथा के स्थान पर केवल कथा शब्द का प्रयोग लाघव और सुविधा की दृष्टि से अधिक वाछनीय है। कथासाहित्य के अन्तगत छोटी कहानियाँ भी आ जाती हैं, पर उन्हे इस प्रबन्ध म सम्मिलित नही किया गया है। इस प्रबन्ध मे केवल पुस्तकाकार कथाएँ ही—एक ही कथा सम्पूर्ण पुस्तक म वर्णित हो—विवेचन का आधार बनायी गयी हैं, कहानीसग्रह नही। १० पृष्ठो की कथा भी यदि स्वतन्त्र पुस्तक के रूप म छपी मिलती है तो उसे ले लिया गया है। यही कारण है कि विवेच्य काल मे लिखित छोटी कहानियाँ इस प्रबन्ध म स्थान नहा पा सकी हैं। शीर्षक के शेषाश 'पाठकों की रुचि' की विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ के प्रथम अध्याय म की गयी है, अत उसकी आवृत्ति यहाँ अनावश्यक है।

हिन्दी कथासाहित्य के अनुशीलन के फलस्वरूप प्रस्तुत शोधकर्ता कतिपय निष्कर्षों पर पहुँचा है, जिनकी पुष्टि इस प्रबन्ध म की गयी है। उनके आधार पर हिन्दी कथासाहित्य का निम्नलिखित कालविभाजन युक्तिसगत दीखता है —

(१) किस्साकहानियों का युग (१८०० १८६९ ई०)
(२) हिन्दी उपन्यास का उदभव और शशव काल (१८७० १८८९ ई०)
(३) हिन्दी उपन्यास का विकास (प्रथम चरण) प्रेमचन्दपूव युग (१८९० १९१७ ई०)
(४) हिन्दी उपन्यास का विकास (द्वितीय चरण) प्रेमचन्द युग (१९१८-१९३६ ई०)
(५) हिन्दी उपन्यास का विकास (तृतीय चरण) प्रेमचन्दोत्तर युग (१९३६ ई० से अबतक)

सन् १८०० ई० के लगभग 'रानी केतकी की कहानी', 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'प्रेमसागर' आदि कतिपय गद्यकथाएँ लिखी गयी, जिनका परवर्ती दशकों में काफी प्रचार प्रसार हुआ। सन् १८०० ई० के पूर्व हिन्दी गद्यकथाओं की कोई परम्परा नहीं मिलती, या छिटफुट रूप में कुछेक गद्य कथापुस्तकें उपलब्ध होती हैं। सन् १८६९ ई० तक उर्दू, फारसी और संस्कृत की किस्साकहानियों के अनुवादों का ही बाहुल्य रहा। 'रानी केतकी की कहानी' के बाद लगभग ७० वर्षों तक किसी मौलिक गद्य कथापुस्तक की रचना नहीं हुई और 'रानी केतकी की कहानी' भी विश्लेषण करने पर किस्साकहानी की कोटि की पुस्तक ही सिद्ध होती है। हिन्दी उपन्यास का आरम्भ 'रानी केतकी की कहानी' से मानना उपन्यास विषयक प्रारम्भिक धारणा की भी अवहेलना करना है।

सन् १८७० ई० हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण वर्ष है। इसी वर्ष हिन्दी की पहली मौलिक कथापुस्तक 'देवरानी जेठानी की कहानी', जिसमें उपन्यास के तत्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं, प्रकाशित हुई। परवर्ती दो दशकों में दर्जनाधिक मौलिक कथापुस्तकों की रचना हुई, जिनमें उपन्यास का स्वरूप शनैः शनैः निखरा। पर जिस अवधि में, बीस वर्षों में, केवल १५ मौलिक कथापुस्तकें लिखी जाएँ और उनमें से केवल ९ प्रकाशित हों, उसे इस साहित्य का शैशव काल कहना सर्वथा उचित है।

सन् १८९० ई० हिन्दी कथासाहित्य के विकास के इतिहास में एक दूसरा उल्लेखनीय वर्ष है। यहाँ से हिन्दी कथासाहित्य की धारा में अप्रत्याशित विस्तार और वैविध्य के दर्शन होते हैं। सन् १८९० ई० के लगभग देवकीनन्दन खत्री की विख्यात कथापुस्तक 'चन्द्रकान्ता' रचित हुई, जिसने हिन्दी में एक नवीन धारा—तिलिस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों की—का सूत्रपात किया। सन् १८९० ई० में ही किशोरीलाल गोस्वामी के 'हृदयहारिणी', 'लवंगलता' आदि ऐतिहासिक रोमांस लिखे गये, जिनसे हिन्दी में ऐतिहासिक रोमांसों की परम्परा का आरम्भ हुआ। इसी वर्ष गोस्वामीजी के 'प्रणयिनी परिणय', 'त्रिवेणी' और 'स्वर्गीय कुसुम' नामक उपन्यास प्रकाश में आये, जिन्होंने शृंगारचित्रण प्रधान सामाजिक उपन्यासों की नींव डाली। सन् १८९० ई० में ही 'निस्सहाय हिन्दू' 'सुहासिनी', 'सौदामिनी' आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। इस प्रकार १८९० ई० का वर्ष हिन्दी कथासाहित्य के भावी विस्तार की पूर्व सूचना के रूप में अवतीर्ण हुआ।

परवर्ती तीन दशकों में हिन्दी में लिखित और अनूदित कथापुस्तकों की संख्या सहस्राधिक है, तथा इन कथापुस्तकों में शताधिक ऐसी हैं, जिन्हें उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। इस कालखंड को हिन्दी उपन्यास के विकास का प्रथम चरण कहना सर्वथा उचित है।

इस काल का अंतिम छोर १९१७ ई० को इसलिए माना गया है कि १९१८ ई० प्रेमचन्द के प्रथम उपन्यास 'सेवासदन', का प्रकाशनकाल है जहाँ से प्रेमचंद युग का आरंभ होता है। यद्यपि १९०७ ई० में ही प्रेमचंद का एक उपन्यास 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' प्रकाशित हुआ था, पर यह उपन्यास प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से इतना भिन्न और शिल्प की दृष्टि से अविकसित तथा अपने युगानुरूप है कि इसे प्रेमचंद युग का आरंभबिन्दु

नही माना जा सकता। इस उपन्यास के प्रकाशित होने के १० वर्ष बाद तक हिन्दी में प्रेमचद के किसी उपन्यास का प्रकाशन नही हुआ। फिर इस उपन्यास के प्रकाशन के समय प्रेमचद प्रेमचद नही, नवाब राय 'बनारसी' थे। अत प्रेमचद युग का आरभ १९१८ ई० अर्थात 'सेवा सदन' के प्रकाशनकाल से मानना उचित है। इसी आधार पर १८९०-१९१७ ई० के हिन्दी उपन्याससाहित्य को प्रेमचदपूर्व युग कहा गया है।

सन् १९१८ ई० के बाद प्रेमचद के उपन्यास त्वरित अनुक्रम मे प्रकाशित हुए और लगभग १८ वर्षों तक, जब तक वे जीवित रहे, हिन्दी उपन्यास जगत् के एकछत्र सम्राट बने रहे। अत इस अवधि को कथासाहित्य का प्रेमचदयुग कहना सगत है।

१९३६ ई० के बाद के हिन्दी कथासाहित्य को, अन्य किसी साधु सज्ञा के अभाव में, प्रेमचदोत्तर युग कहना ही सर्वाधिक सुविधाजनक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे न केवल प्रत्येक परिच्छेद के, वरन् प्रत्येक परिच्छेद के प्रत्येक उपखड के अत मे भी समस्त विवेचन का निष्कर्ष दे दिया गया है। प्रबध के अत मे, उपसहार रूप में समस्त अध्ययन का सामूहिक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रबध की पादटिप्पणियो के विषय में एक नवीन सरणि अपनायी गयी है। पादटिप्पणियो में केवल लेखको या पुस्तको के नाम और पृष्ठ दे दिये गये हैं। पुस्तको के सामने प्रदत्त कोष्ठकान्तर्गत अक ग्रन्थ के अत मे दी गयी सन्दर्भग्रन्थ तालिका की पुस्तको की सख्याओ को सकेतित करते है। इससे सहायक स्रोतो का निश्चित उल्लेख करने में तो सफलता मिली ही, यह लाघव भी हुआ कि प्रत्येक पृष्ठ में सन्दर्भग्रन्थो का पूरा विवरण देने के बदले एक स्थान पर ही उसके समावेश से काम चल गया। जिन कथापुस्तको का विश्लेषण इस ग्रन्थ में किया गया है उन्हें सन्दर्भग्रन्थ तालिका में समाविष्ट करना सभव नही हो सका, क्योकि वैसा करने पर ग्रन्थ का कलेवर बहुत बढ़ जाता। फिर निकट भविष्य में तो यह ग्रन्थतालिका स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हो ही रही है।

यह कहते हुए मुझे गर्व का अनुभव हो रहा है कि इस शोधप्रबन्ध को पटना विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने आद्योपान्त देखा है। उनकी *आलोचनाओ और सुझावो से प्रबध का विवेचन पक्ष जितना पुष्ट हुआ है भाषा उतनी ही* सुगठित। उनका इतना अमूल्य समय लेना जो मेरे लिए सभव हो सका, वह एकमात्र इसलिए कि मुझ पर उनका छात्रजीवन से ही सहज वात्सल्य है। उस स्नेह का मूल्य किन शब्दो में आँकूँ ?

प्रस्तुत शोधप्रबध के विषय का चुनाव पटना विश्वविद्यालय के अंगरेजी विभाग के प्रोफेसर एव अध्यक्ष डॉ० राधाकृष्ण सिंह और स्वर्गीय आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने मिल कर किया था। डॉ० सिंह ने न केवल अंगरेजी साहित्य के विषय में अनेक अमूल्य सूचनाएँ दीं, वरन् हिन्दी कथासाहित्य के विश्लेषण में भी उन्होंने मुझे नयी दृष्टि प्रदान की। आचार्य शर्मा के बहुमूल्य सुझावो ने भी बहुत दूर तक मेरा मार्ग प्रशस्त किया। इसके लिए मैं उक्त विद्वानो का अनिर्वच कृतज्ञ हूँ।

इस प्रसंग में पटना विश्वविद्यालय के भूतपूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष प० जगन्नाथ राय शर्मा की स्नेह छाया को मैं कैसे भूल सकता हूँ, पर उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना धृष्टता होगी।

कहा जाता है, प्रत्येक सफलता के मूल में एक ऐसा भी कारण होता है, जो प्राय संसार की आँखों के समक्ष नहीं आ पाता। इस शोधप्रबंध में श्रीमती राय का योगदान बहुत कुछ इसी कोटि का है। प्रबंध के लेखनकाल से लेकर प्रकाशनकाल तक उन्हें जिन असुविधाओं का सामना करना पड़ा है, उन्हें मैं ही जानता हूँ। उन्होंने मुझे समस्त पारिवारिक झंझटों से मुक्त कर न केवल अध्ययन और लेखन के लिए अपेक्षित सुविधा प्रदान की, वरन समय समय पर प्रबंध के प्रस्तुतीकरण में भी सहायता दी। इतना होने पर भी वे धन्यवाद की पात्री नहीं क्योंकि उन्हें धन्यवाद देना अपने को धन्यवाद देना है।

मित्रवर डा० बचनदेव कुमार ने हस्तलिखित पांडुलिपि को स्थान स्थान पर देखकर तथा आवश्यक सुझाव देकर प्रबंध को अनेकत्र निर्दोष बनाने में सहायता दी है, पर उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना हमारी आत्मीयता के अनुकूल न होगा।

प्रबन्ध की सुलिखित प्रति तैयार करने तथा टंकित प्रतियों को शुद्ध करने में छोटी बहन श्रीमती सावित्री शर्मा का उत्साह अविस्मरणीय है। इस कार्य में मुझे श्री रामवचन राय, सुश्री प्रमिला सिंह, तथा अन्य कतिपय छात्रछात्राओं का भी सहयोग प्राप्त हुआ, जिनके लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ। टंकक श्री राजशरण प्रसाद को भी मैं धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने बड़ी तत्परता से अपना कार्य पूरा किया।

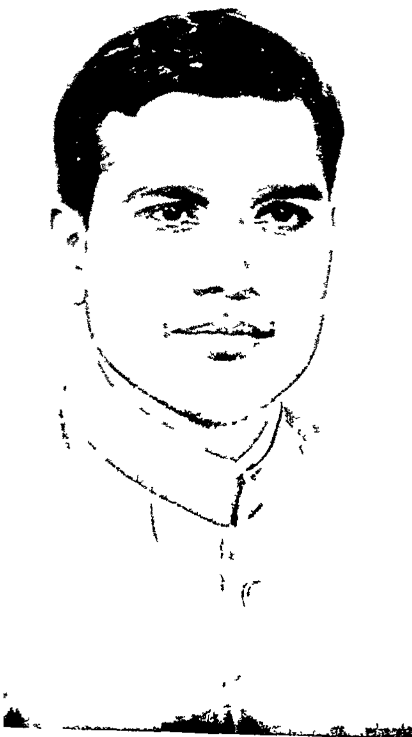
आर्यभाषा पुस्तकालय काशी, चैतन्य पुस्तकालय, गायघाट, पटना बिहार राष्ट्रभाषा परिषद पुस्तकालय पटना, राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना तथा माहेश्वर पुस्तकालय, पटना के अधिकारियों एवं कर्मचारियों ने अध्ययनविषयक जो सुविधाएँ एवं सहयोग मुझे प्रदान किया, उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

इस ग्रंथ का प्रकाशन इतना शीघ्र संभव नहीं हो पाता यदि लक्ष्मी पुस्तकालय, पटना और घनश्याम प्रेस, पटना के स्वत्वाधिकारी श्री परमेश्वर प्रसाद सिंह ने ठीक समय पर अपना सौहार्दपूर्ण सहयोग नहीं प्रदान किया होता। ग्रंथ के इतना शीघ्र प्रकाश में आने का श्रेय यदि किसी एक व्यक्ति को है तो वह परमेश्वर बाबू को। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं उनके स्नेह का मूल्य चुकाने का प्रयास करना नहीं चाहता।

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रकाशनार्थ पन्द्रह सौ रुपयों का अनुदान देकर मेरी आरंभिक कठिनाई दूर कर दी। इसके लिए मैं आयोग के अधिकारियों का आभारी हूँ। पटना विश्वविद्यालय का भी मैं अनुगृहीत हूँ जिसने समय समय पर अध्ययनविषयक सुविधाएँ तथा प्रबन्ध को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है।

मुद्रणकार्य में श्री रामनगीना सिंह श्री जनार्दन प्रसाद सिंह श्री शशि भूषण प्रसाद श्री कुमुद विद्यालंकार श्री श्यामचन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव आदि प्रेस के पदाधिकारियों





लेखक

प्रथम अध्याय

पठनरुचि और उसके निर्धारक तत्त्व

अध्याय १

पठनरुचि
और
उसके निर्धारक तत्त्व

प्रवेशन

रुचि का अध्ययन अपने में एक अत्यन्त रोचक विषय है और यह मनोविज्ञान के क्षेत्र में आता है। विदेशों में, विशेषकर अमरीका में, रुचि के प्रकारों तथा उसके मूलभूत हेतुओं का निर्धारण करने के लिए अनेक अनुसंधान किये गये हैं। भारत अभी इस क्षेत्र में बहुत पीछे है। पर जैसे जैसे शिक्षा का प्रसार होगा, जैसे जैसे हमारा सांस्कृतिक और कलात्मक जीवन विकसित होगा तथा जैसे जैसे उचित व्यक्ति को उचित काम में लगाने की आवश्यकता का अनुभव हमें होगा, वैसे वैसे रुचि का अध्ययन महत्त्वपूर्ण होता जाएगा। रुचि का किसी देश के सांस्कृतिक और औद्योगिक विकास के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। किसी व्यक्ति ने तो यहाँ तक कहा था—"मुझे यह बता दो कि कोई आदमी अपना अवकाश किस तरह बिताता है और मैं यह बता दूँगा कि उसकी सभ्यता कितनी बढ़ी चढ़ी है।"[1]

इस अध्याय में हम रुचि के प्रकारों तथा उसके विभिन्न निर्धारक हेतुओं का उल्लेख समासतः करते हुए पठनरुचि के विभिन्न पहलुओं का सविस्तार विवेचन करना है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक अनुसंधान वस्तुतः मनोविज्ञान के विद्यार्थी ही कर सकते हैं। प्रश्नावलियों और मनोवैज्ञानिक प्रयोगों तथा जाँचों के द्वारा रुचि के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण और मूल्यांकन मनोविज्ञान का विषय है पर चूँकि प्रस्तुत प्रबन्ध में पाठकवर्ग की रुचि के प्रकाश में हिन्दी कथा साहित्य के मूल्यांकन का प्रयास अभिप्रेत है, अतः देशविदेश के मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किये गये निष्कर्षों, अपने द्वारा वितरित प्रश्नावलियों से प्राप्त उत्तरों के परीक्षणों तथा आनुभविक अनुमानों के आधार पर रुचि का सैद्धान्तिक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

रुचि क्या है ?

रुचि की व्याख्या, मोटे रूप में, उस प्रेरणाशक्ति के रूप में की जा सकती है, जो किसी व्यक्ति को एक क्रियाकलाप की अपेक्षा अन्य क्रियाकलाप में भाग लेने के लिए प्रेरित करती है। सामान्यतः रुचियाँ व्यक्ति की पसंद-नापसंद को और/अथवा उन साधनों को, जिनके द्वारा उन प्रेरकों (Motives) की तृप्ति होती है, प्रतिबिंबित करती हैं। इसी को दूसरे प्रकार से कहा जाए तो मनुष्य की रुचियाँ और उसके क्रियाकलाप उसकी पसंद या नापसंद

१ [illegible]

(प्रेरणा) की प्रत्यक्ष और स्पष्ट अभिव्यक्ति हैं। रुचियाँ उन प्रेरणा (Motives) की भी अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति हो सकती है जो समुचित रूप में तृप्त नहीं किये जा सकते, पर जो स्थानापन्न क्रियाकलापों में अवश्य अभिव्यक्त होते हैं। कभी कभी मनुष्य के द्वारा किये गये कार्यों और उसकी रुचि में स्पष्ट विरोध भी दिखाई पड़ता है। बाह्य प्रभावों के परिणाम स्वरूप मनुष्य कुछ ऐसे कार्यों में संलग्न हो सकता है, जिनमें, संभव है, उसकी रुचि न हो। इस प्रकार की परिस्थिति में व्यक्ति की अपनी रुचि की अपेक्षा दूसरों की रुचियों को संतुष्ट करने की इच्छा की आभ्यासिक अभिवृत्ति प्रतिबिंबित होती है।

एडवर्ड के० स्ट्रौंग लिखित 'चेंज आफ इंटरेस्ट विथ एज' नामक ग्रंथ की भूमिका में वाल्टर आर० मिल्स ने लिखा है [१] कि मनुष्य का जीवन चयन (ग्रहण) और परित्याग से आबद्ध है। निरंतर बदलती हुई स्थिति में जीवन सुचारु रूप से नहीं चल सकता। इसे कहीं न कहीं, और किसी न किसी वस्तु से, अपने को सम्बद्ध करना पड़ता है। कोई भी प्राणी, चाहे वह यायावर पक्षी हो या शिशु, अत्यन्त शीघ्र अपने भीतर ऐसा आंतरिक संघटन विकसित कर लेता है कि कुछ वस्तुएँ उसकी पसंद की और कुछ नापसंद की हो जाती हैं, और अपनी इस रुचि और अरुचि का वह स्पष्टतः कथन करने में भी बिल्कुल समर्थ होता है। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय में रुचि लेने का अर्थ उसे बिल्कुल अपना बना लेना है। यह वस्तु या विषय ऐसा होता है, जो मनुष्य के आनन्द या कल्याण को प्रत्यक्षतः प्रभावित करता है।

किसी भी धंधे या व्यवसाय में संलग्न व्यक्तियों की कुछ विशिष्ट पसन्दें और नापसन्दें होती हैं, जो अन्य धंधों या व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों से उन्हें पृथक करती हैं। दूसरे शब्दों में अध्यापकों की कुछ विशिष्ट रुचियाँ रहती हैं, जो उसे राजनीतिज्ञ, वकील, चिकित्सक या अभियन्ता से अलग करती हैं। यदि इन रुचियों का सम्यक् अध्ययन कर इन्हें अलग अलग पहचान लिया जाए तो किसी समाज के विभिन्न सांस्कृतिक स्तरों का पता सरलता से चल जाएगा।

रुचि एक प्रकार की सुखकर अनुभूति से युक्त होती है, तथा इसमें किसी वस्तु को प्राप्त करने अथवा उससे साथ सम्बन्ध स्थापित करने की गत्यात्मक प्रवृत्ति होती है। रुचि को समझने के लिए अरुचि पर विचार करना सुविधाजनक हो सकता है। अरुचि रुचि का विपरीतार्थक है। अरुचि के साथ एक अप्रिय अनुभूति और किसी वस्तु से पलायन या गला छुड़ाने का भाव सम्बद्ध होता है। *जिस वस्तु में हमारी अरुचि होती है उससे हम अपने को सदा दूर रखने का प्रयत्न,* जाने या अनजाने करते रहते हैं। ठीक इसके विपरीत जिस वस्तु या विषय में हमारी रुचि होती है हम उसे प्राप्त करने या उसके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखने में सुख का अनुभव करते हैं। उपन्यास या कहानी पढ़ने में रुचि का अर्थ है कि हम इन्हें पढ़कर इनसे आनन्द प्राप्त करते हैं, गणित में अरुचि का अर्थ है कि यदि सम्भव हो तो हम इसमें सर खपाना छोड़ दें।

रुचिनिर्माण के मुख्य दो आधार हैं —

(१) जन्मजात गुण तथा मनुष्य की मूल प्रेरणाएँ और (२) अनुभव एवं शिक्षण। मिठाई पसन्द करना और कुनैन नापसन्द करना निश्चय ही मनुष्य के नैसर्गिक गुण हैं। प्रकृत

१ स्ट्रौंग इ० के० (५२), फारवर्ड पृ० ८।

प्रत्येक रुचि कुछ हद तक जन्मजात गुणों पर, जो अधिकतर भावनात्मक प्रकृति के होते हैं, आधारित होती है। पर मनुष्य में विभिन्न प्रकार की रुचियों का उदय और विकास मुख्यतः अनुभव, शिक्षण तथा अभ्यन्तरगत हेतुओं के कारण सम्भव होता है। उदाहरणतः किसी बाल कलाकार के मन में खिलौने बनाने की रुचि तभी उत्पन्न हो सकती है, जबकि उसमें इतनी काय क्षमता हो कि उसका काम उसके सहकर्मियों तथा स्वयं उसके मन के लिए भी सन्तोषप्रद हो। यदि बाद वाले कलाकार स्वनिर्मित खिलौने की तुलना अपने समवयस्कों द्वारा निर्मित खिलौनों से करता है और उनकी तुलना में अपने काय को निम्नतर पाता है तो अपने माता पिता या अभिभावकों द्वारा उसके प्रोत्साहित किये जाने पर भी खिलौना बनाने में उसकी रुचि बनी नहीं रह सकती। इसी प्रकार यदि कोई छात्र जन्मजात गुणों, यानी प्रतिभा और बुद्धि, के अभाव के कारण परीक्षा में बार बार अनुत्तीर्ण होता है तो, मातापिता का अधिकतम प्रोत्साहन भी उसमें पठनरुचि जागृत नहीं कर सकता। इसके विपरीत यदि किसी छात्र की साहित्य में अभिवृत्ति (Aptitude) है, पर बचपन से ही वह उन व्यक्तियों के बीच रहता है, जो वैज्ञानिक हैं, और सदा वैज्ञानिक चर्चा किया करते हैं, तो उस छात्र में भी विज्ञान के प्रति रुचि का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक और सम्भव है। इसी प्रकार खिलौना बनाने में अभिवृत्ति (Aptitude) रखनेवाले बाल कलाकार के सहयोगी यदि पठन में रुचि रखनेवाले हैं तो उसमें भी पठनरुचि का विकसित हो जाना असम्भव नहीं है। इससे पता चलता है कि यद्यपि किसी विशेष रुचि के उत्पन्न होने के लिए व्यक्ति में तद्विषयक नैसर्गिक योग्यता और प्रेरक शक्तियों (Motivational forces) का विद्यमान रहना आवश्यक है, पर रुचियों का उदय और विकास मुख्यतः सामाजिक और सांस्कृतिक हेतुओं द्वारा ही निर्धारित होता है।

अतः मनोवैज्ञानिकों की यह मान्यता बिलकुल सही है कि यद्यपि रुचियाँ, आन्तरिक अंतर्जात गुणों की अभिव्यक्ति होती है, पर जिन विशेष रूपों में वे अभिव्यक्त होती हैं, वे आवश्यकतानुसार हेतुओं द्वारा निर्णीत होते हैं। इस प्रकार एक लड़का, जिसकी बुद्धि और स्मरण शक्ति अच्छी है, कवियों, कहानीकारों तथा उपन्यासकारों की कृतियाँ पढ़कर बार बार इनमें से एक बनने की इच्छा प्रकट कर सकता है। वह कविता कहानी या उपन्यास लिखने का प्रयत्न भी कर सकता है, किन्तु यदि उसके द्वारा रचित कविताओं कहानियों या उपन्यासों का लोग प्रशंसा नहीं करते, तो निश्चय ही इन विषयों में उसकी रुचि समाप्त हो जाएगी। सम्भव है कि जन्म के समय एक कवि और अभियन्ता के जन्मजात गुणों में अत्यल्प अन्तर रहा हो, पर विभिन्न वातावरणों के सम्पर्क में वे विभिन्न दिशाओं में अग्रसर होते हैं और दोनों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न रुचियों का विकास हो जाता है।

कुछ रुचियाँ ऐसी होती हैं जिनकी पूर्ति के लिए अन्तर्जात गुण ही पर्याप्त होते हैं, जबकि कुछ अन्य रुचियों की पूर्ति के लिए अन्तर्जात गुणों के साथ साथ प्रशिक्षण भी अनिवार्य होता है। उदाहरणतः सिनेमा देखना अश्लील या साहस और रोमांसप्रधान कहानियाँ पढ़ना अथवा रेडियो से प्रसारित होने वाले सस्ते गीत सुनना—ये ऐसी रुचियाँ हैं जिनके लिए बहुत कम, या नहीं के बराबर, प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। ये रुचियाँ प्रधानतः सहज भावनात्मक हेतुओं पर आधारित होती हैं। इसके विपरीत बन्धन कन्धन (केंगुरुम) या स्थैतिकी (स्टटिक्स) में रुचि है। दूसरे में जहाँ विशेषीकृत योग्यता और दीर्घ प्रशिक्षण आवश्यक है,

वहाँ पहले में इससे अधिक की आवश्यकता नहीं कि व्यक्ति अपने नैसर्गिक और भावनात्मक उपस्करण को निष्क्रिय रूप में प्रभावित होने दे। यही कारण है कि गंभीर, साहित्यिक और जीवन का यथार्थ, पर कलात्मक चित्र उपस्थित करने वाले उपन्यासों की अपेक्षा सस्ती भावुकतापूर्ण और कामप्रधान उपन्यास अधिक लोकप्रिय होते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में नाना प्रकार की और परस्परगुम्फित अनेक रुचियाँ होती हैं। यद्यपि किसी विशेष समय में व्यक्ति की अनेक रुचियों में से कोई एक रुचि प्रधान मालूम पड़ती है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि उस व्यक्ति का आचरण उस एक विशेष रुचि द्वारा ही निर्धारित होता है। यहाँ तक कि यदि उसने किसी प्रश्नावली के उत्तर में किसी रुचि को प्रबलतम भी कहा है तो भी, इसका यह तात्पर्य नहीं कि अकेले इसी रुचि का उसके आचरणों पर पूरा आधिपत्य है। व्यक्ति किसी विशेष क्षण में अपनी समस्त रुचियों में से किसी एक या अधिक से अधिक, उनमें से कुछ, के प्रति सजग रह सकता है। उस विशेष क्षण में केवल यही रुचियाँ जिनके प्रति वह सजग रहता है, उसे प्रभावित करती मालूम पड़ सकती हैं, पर शेष अन्य रुचियाँ भी उसे, शीघ्र या बाद में, और संभवतः कुछ अंश में बिना अवरोध के, प्रभावित करती हैं। इस आवधानिक अवस्थिति (Attentional situation) के कारण ही मनुष्य के विचारों में प्रायः परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि रुचियों के चक्र संचयन (Varying Combination) सतत उसकी चेतना में प्रकट होते रहते हैं।[१] अतः जब तक किसी व्यक्ति की समस्त रुचियों के कुल योग (Sum total) को ध्यान में रखकर विचार नहीं किया जाता, तब तक उसके भावी आचरण को निर्धारित करने का कोई आधार नहीं मिल सकता।

रुचि के सम्बन्ध में सामान्य धारणा, जो अनेक मनोवैज्ञानिकों द्वारा भी समर्थित है, यह है कि रुचियाँ निरन्तर परिवर्तनशील और इतनी अस्थिर हैं कि उनपर बिल्कुल ही नहीं, या बहुत कम विश्वास किया जा सकता है। हम देखते हैं कि वय वृद्धि के साथ कुछ रुचियाँ वर्धमान होती हैं और कुछ ह्रासमान। कुछ अवस्थाओं में ये परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं और कुछ अवस्थाओं में अत्यन्त स्थूल। शैक्षणिक सुविधा, बौद्धिक स्तर, लिंग, पेशा, आर्थिक स्थिति सांस्कृतिक आवेष्टन आदि अनेक कारणों पर मानव रुचियाँ निर्भर करती है। इन सभी प्रतिरोधों का प्रभाव रुचिपरिवर्तन पर पड़ता है, पर यह मानने का कोई कारण नहीं है कि रुचिपरिवर्तन अत्यन्त चपल अव्यवस्थित प्रवृत्ति का और अप्रत्याशित होता है। प्रत्येक रुचि एक निश्चित दिशा में ही विकसित अथवा मन्द होती है। इस प्रकार रुचियाँ परिवर्तनशील होने पर भी नितान्त अस्थिर और अप्रत्याशित नहीं होतीं।

रुचियों के प्रकार

रुचियाँ असंख्य और नाना प्रकार की होती हैं। स्थूलतः इनके दो वर्ग किये जा सकते हैं। (१) व्यावसायिक और (२) मनोविनोदात्मक। व्यावसायिक रुचि हम उस प्रेरक शक्ति को कह सकते हैं जो किसी व्यक्ति को एक पेशे या व्यवसाय की अपेक्षा दूसरे पेशे या व्यवसाय को चुनने के लिए प्रेरित करती है। चूँकि व्यावसायिक रुचि का अध्ययन हमारा लक्ष्य नहीं अतः उसका उल्लेखमात्र ही पर्याप्त है।

---

१ स्ट्रांग ई० के० (५२) पृ० ६।

मनोविनोदात्मक रुचिया भी अनेक प्रकार की होती हैं। कुछ लोग इन्हे सास्कृतिक और सास्कृतिकेतर, दो वर्गों म बाटते हैं। सास्कृतिक मनोविनोदात्मक रुचियो मे पढना, ताश या शतरज खेलना, रेडियो या टेलीवीजन सुनना देखना तथा सिनमा, गप्प, सगीत आदि परिगणित किये जाते है। सास्कृतिकेतर मनोविनोदो म बाहरी तथा अन्तगृहीय खेल कूद—जैसे फुटबॉल, क्रिकेट, कबड्डी, गुल्ली डडा, शतरज आदि—टिकट और हस्ताक्षर सकलन तथा फोटोग्राफी आदि शौक परिगणनीय हैं। मनोविनोदात्मक रुचिया को सामूहिक और ऐकान्तिक जैसे वर्गो म भी बाटा जाता है। पढना, रेडियो सुनना आदि ऐकान्तिक मनोरजनात्मक रुचियाँ हैं, जबकि शेष अनेक रुचिया सामूहिक मनोरजनात्मक रुचिया के अन्तगत आती हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का विवेच्य विषय पठनरुचि है, अतएव, अन्य मनोविनोदात्मक रुचिया का उल्लेखमात्र ही अलम् है।

पठनरुचि और उसके प्रकार

पठनरुचि की परिभाषा अलग से देना अपेक्षित नही। अन्य रुचिया की तरह पठनरुचि भी व्यक्ति की पठनसम्बन्धी पसद नापसद तथा पठनकाय म सक्रियत सम्मिलित होने की तीव्र आकाक्षा से सम्बद्ध है। पठनरुचि के सम्बन्ध म विचार करते हुए मुख्यत दो बातो का ध्यान मे रखना आवश्यक है—पठनमात्रा और पठनप्रकार। कोई व्यक्ति किस मात्रा म पढता है और किस प्रकार की चीज पढता है, दोनो बातो पर सम्यक रूप से विचार करने के उपरान्त ही हम उसकी पठनरुचि के सम्बन्ध मे कोई मत व्यक्त कर सकते हैं।

पठन के साधारणत तीन प्रकार हो सकते हैं—समाचारपत्र पठन, पत्रिका पठन और पुस्तक पठन। इनम से पुस्तक पठन और विशेषकर उपन्यास पठन प्रस्तुत ग्रन्थ का मूल विषय है। अत पाठको की पठनरुचि पर सामान्य रूप मे और उपन्यास पठनरुचि पर विशेष रूप से विचार करना अपेक्षित है।

पठनरुचि को प्रभावित करने वाले हेतु

जैसा पहले कहा जा चुका है रुचि जन्मजात गुणो और मूल प्रेरक शक्तिया पर आधृत होते हुए भी मुख्यत व्यक्ति द्वारा एक अर्जित वस्तु या गुण है। इस कारण पठनरुचि पर अनेक आन्तर और बाह्य हेतुओ का प्रभाव पडना स्वाभाविक है।

कोई व्यक्ति किसी वस्तु को क्यो पसन्द करता है, इसका उत्तर आपातत देना अत्यन्त कठिन है। सम्भवत, इस प्रश्न का समुचित उत्तर पाठक की विभिन्न मन स्थितियो मे ही ढूँढा जा सकता है। पाठक चाहे वह किसी भी अवस्था या स्तर का क्यो न हो, उन पुस्तको को विशेष रूप से पसद करता है, जो उसकी मनोदशा को प्रतिबिम्बित करती हैं तथा उसके विचारो और भावनाओ से मेल खाती हैं। जब हम किसी लेखक की किसी कृति की प्रशसा करते हैं तो हम सामान्यत उसकी रचनाशक्ति की उतनी सराहना नहीं करते, जितनी उसकी इस विशदता की, कि उस लेखक ने किस तरह हमारे मस्तिष्क म पहले से विद्यमान भावनाओ, विचारो और अर्धस्वप्नो को साकार कर दिया है। हमारे मस्तिष्क मे अनेक अस्पष्ट भाव और विचार पहले से ही विद्यमान रहते हैं, बहुधा हम उन्हे व्यक्त नहीं कर पाते और इस प्रकार हम दूसरो को अपनी भावनाओ का सहभागी नही बना पाते, जिसकी मनुष्यमात्र म सहज इच्छा होती

है। इन भावनाओं और विचारों का हम प्रायः आंशिक रूप में ही आभास रहता है, और इसलिए ये अमूर्त होते हैं। लेखक जब इन भावनाओं और विचारों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है तो उन्हें पढ़कर हमें एक प्रकार का पुलक होता है और वस्तुतः यह पुलक किसी वस्तु को पहचानने के कारण होता है। यदि हम किसी पुस्तक में व्यक्त भावों और विचारों को न पहचानें तो हममें कोई पुलक नहीं होगा। उसकी प्रशंसा हम कर सकते हैं, पर वह वैसी ही प्रशंसा होगी, जैसी हम किसी क्षेत्र में किसी महान् कार्य करने वाले व्यक्ति की करते हैं, जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं समझते। काव्यग्रन्थों की विशेषता यह होती है कि वे हमें नयी सूचनाएँ उतनी नहीं देते जितना हमारे मन में पहले से विद्यमान भावनाओं, धारणाओं, विचारों और अस्पष्ट स्वप्नों को साकार करते हैं। काव्य के द्वारा हम अपने को पहचानते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो किसी पुस्तक को पढ़कर हमारी भावनाओं पर कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं। अतः हमारे अन्दर किसी ऐसे ताले का होना आवश्यक है, जिसमें उक्त पुस्तक की कुंजी लग जाए और यदि यह कुंजी नहीं लगती तो उस पुस्तक का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी भावनाओं और विचारों पर किन हेतुओं का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः वय, लिंग, शिक्षा और पारिवारिक स्थिति, बुद्धि और शारीरिक स्वास्थ्य, पेशा, निवासस्थान तथा आवश्यकतागत हेतुओं का प्रभाव व्यक्ति की मनोदशा पर पड़ता है। व्यक्ति की पठनरुचि का स्वरूप भी इन्हीं हेतुओं के द्वारा निर्धारित होता है। कुछ अन्य हेतु भी, जैसे पुस्तकप्राप्ति की सुविधाएँ, पुस्तकों का मूल्य, मित्र, सम्बन्धी और शिक्षक, पुस्तक-समीक्षाएँ, विज्ञापन, फिल्म आदि पठनरुचि के निर्धारण में योग देते हैं। ये हेतु न केवल व्यक्ति के पठनप्रकार को, बल्कि उसकी पठनमात्रा को भी प्रभावित करते हैं। यद्यपि पठनरुचि पर उक्त हेतुओं का प्रभाव परस्पर मिश्रित रूप में ही पड़ता है और एक प्रभाव को अन्य प्रभावों से बिल्कुल अलग करके देखना कठिन है, पर सुविधा की दृष्टि से, इनका अलग अलग विवेचन अपेक्षित है।

पठनरुचि पर वयवृद्धि का प्रभाव

सामान्यतः लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि वय वृद्धि के अनुसार व्यक्ति की रुचि में स्पष्ट परिवर्तन होते हैं। पर प्रयोगात्मक अध्ययनों से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती।[2] वय वृद्धि के साथ रुचियों में परिवर्तन की प्रवृत्ति उतनी नहीं दिखाई पड़ती, जितनी विभिन्न प्रकार की रुचियों पर दिए जाने वाले बल में विभिन्नता दिखाई पड़ती है।

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि किशोरावस्था के समाप्त होते होते मनुष्य की अधिकांश रुचियाँ निश्चित हो चुकी रहती हैं। एडवर्ड के० स्ट्रॉंग नामक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि "२५ वर्ष की अवस्था तक एक युवक जो कुछ बनने वाला होता है हो जाता है। यहाँ तक कि २० वर्ष की अवस्था में ही वह उन अधिकांश रुचियों को अपने में विकसित कर लेता है, जिन्हें

१ स्कार्टेग्नो (९६) पृ० २१७।

२ स्ट्रॉंग ई० के० (५२) पृ० ३८ सारणी सं० ३।

वह अपनी प्रौढावस्था म अपनाते देखा जाता है।"[1] किशोरावस्था के बाद क्रमश रुचिपरिसर म सकीर्णन की प्रवृत्ति दिखाई पडता है, जिसका परिणाम यह होता है कि आरम्भिक प्रौढावस्था की तुलना म मध्यवर्ती और उत्तरवर्ती प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था म बहुत कम रुचियाँ बची रह पाती है। प्रौढावस्था के विकास के साथ जैसे जैसे कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोझ गुरुतर होने लगता है, तथा स्वास्थ्य म दुर्बलता प्रवेश करने लगती है, वैसे वैसे, सामान्यत, नवीन रुचियों को अपनाने और विकसित करने की अपेक्षा पहले से वर्तमान रुचियों पर ही बल दिया जाने लगता है। प्रौढावस्था या वृद्धावस्था म व्यक्ति म नवीन रुचियों का निर्माण असम्भव नहीं है, पर यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति के परिवेश, नवीन रुचियों के विकास की सुविधाओं और व्यक्ति की मूल प्रेरक शक्तियों (Motivational forces) म कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन घटित हो जाए। अन्यथा, अवस्थावृद्धि के साथ नयी रुचियों के विकास की बहुत कम सम्भावना रहती है। कभी कभी वृद्धावस्था म लोग चित्रकला, संगीत या पठन म अत्यधिक रत देखे जाते हैं, जबकि प्रौढावस्था म इन विषयों म उनकी बिल्कुल ही रुचि नहीं होती, पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन व्यक्तियों की वृद्धावस्था म इन रुचियों का उदय होता है। होता यह है कि किशोरावस्था म इन विषयों में उन व्यक्तियों की रुचि विकसित हुई रहती है, पर प्रौढावस्था म अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे इनकी पूर्ति सक्रिय रूप में नहीं कर पाते। वृद्धावस्था में जब उन्हें अवकाश मिलता है तो वे अपनी अपूरित रुचियों को सक्रियता प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि वय वृद्धि के साथ नवीन रुचियों का विकास बहुत कम होता है, पर भिन्न भिन्न रुचियों पर दिये जानेवाले बल म स्पष्ट रूप से स्थानान्तरण हो जाता है। रुचि म द्रुततम स्थानान्तरण का काल किशोरावस्था है जबकि व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक बनावट म सुस्पष्टतम परिवर्तन होते हैं।[2] प्रौढावस्था प्राप्त करते करते व्यक्ति की मनोविनोदात्मक रुचियाँ निश्चित रूप धारण कर चुकी रहती हैं। प्रौढावस्था म व्यक्ति को अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व सम्भालने पडते हैं। फलत इस अवस्था म व्यक्ति को किशोरावस्था की तुलना म मनविनोद के लिए कम समय मिल पाता है। परिणामस्वरूप वह अपने को उन्हीं मनोरंजनों म सीमित कर लेता है जिनसे न केवल वह सर्वाधिक संतोष प्राप्त करता है, वरन् जो समय और अर्थ की दृष्टि से भी उसके लिए सर्वाधिक व्यावहारिक होते हैं।

आरम्भिक प्रौढावस्था के बाद खेल कूद जैसे सक्रिय और सामूहिक मनोरंजनों म लोगों रुचि का ह्रास होने लगता है और उनके स्थान पर स्त्री-पुरुष दोनों म शान्त मनोरंजनों तथा सांस्कृतिक और उपदेशात्मक रुचियाँ, जैसे पढना, रेडियो सुनना आदि की प्रधानता होने लगती है।

सांस्कृतिक या उपदेशात्मक रुचियों म पठन का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि एक तरफ तो इसे एकान्त म, बिना किसी के सहयोग की अपेक्षा किये, सम्पन्न किया जा सकता है और दूसरी तरफ, इसमें वैविध्य के लिए पर्याप्त गुंजाइश है। साथ ही, अन्य मनोविनोदों की तरह

१ स्ट्रांग ई० के० (५०)।
२ स्ट्रांग ई० के० (५०)।

है। इन भावनाओं और विचारों का हमें प्राय आंशिक रूप में ही आभास रहता है, और इसलिए ये अमूर्त होते हैं। लेखक जब इन भावनाओं और विचारों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करता है तो उन्हें पढ़कर हम एक प्रकार का पुलक होता है और वस्तुतः यह पुलक किसी वस्तु को पहचानने के कारण होता है। यदि हम किसी पुस्तक में व्यक्त भावों और विचारों को न पहचानें तो हममें कोई पुलक नहीं होगा। उसकी प्रशंसा हम कर सकते हैं, पर वह वैसी ही प्रशंसा होगी, जैसी हम किसी क्षेत्र में किसी महान् कार्य करने वाले व्यक्ति की करते हैं, जिसके बारे में हम कुछ भी नहीं समझते। काव्यग्रन्थों की विशेषता यह होती है कि वे हमें नयी सूचनाएँ उतनी नहीं देते जितना हमारे मन में पहले से विद्यमान भावनाओं, धारणाओं, विचारों और अस्पष्ट स्वप्नों को साकार करते हैं। काव्य के द्वारा हम अपने को पहचानते हैं। यदि ऐसी बात न होती तो किसी पुस्तक को पढ़कर हमारी भावनाओं पर कोई प्रतिक्रिया होती ही नहीं। अतः हमारे अन्दर किसी ऐसे ताले का होना आवश्यक है, जिसमें उक्त पुस्तक की कुंजी लग जाए और यदि यह कुंजी नहीं लगती तो उस पुस्तक का हमारे लिए कोई अर्थ नहीं है।[1]

अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी भावनाओं और विचारों पर किन हेतुओं का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः वय, लिंग, आर्थिक और पारिवारिक स्थिति, बौद्धिक और शैक्षणिक स्तर, पेशा, निवासस्थान तथा वातावरणगत हेतुओं का प्रभाव व्यक्ति की मनोदशा पर पड़ता है। व्यक्ति की पठनरुचि का स्वरूप भी इन्हीं हेतुओं के द्वारा निर्धारित होता है। कुछ अन्य हेतु भी, जैसे पुस्तकप्राप्ति की सुविधाएँ, पुस्तकों का मूल्य, मित्र, सम्बन्धी और शिक्षक, पुस्तक समीक्षाएँ, विज्ञापन, फिल्म आदि पठनरुचि के निर्धारण में योग देते हैं। ये हेतु न केवल व्यक्ति के पठनप्रकार को, बल्कि उसकी पठनमात्रा को भी प्रभावित करते हैं। यद्यपि पठनरुचि पर उक्त हेतुओं का प्रभाव परस्पर मिश्रित रूप में ही पड़ता है और एक प्रभाव को अन्य प्रभावों से सर्वथा अलग करके देखना कठिन है, पर सुविधा की दृष्टि से, इनका अलग-अलग विवेचन अपेक्षित है।

पठनरुचि पर वयवृद्धि का प्रभाव

सामान्यतः लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि वय वृद्धि के अनुसार व्यक्ति की रुचि में स्पष्ट परिवर्तन होते हैं। पर प्रयोगात्मक अध्ययनों से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती।[2] वय वृद्धि के साथ रुचियों में परिवर्तन की प्रवृत्ति उतनी नहीं दिखाई पड़ती, जितनी विभिन्न प्रकार की रुचियों पर दिए जाने वाले बल में विभिन्नता दिखाई पड़ती है।

मनोवैज्ञानिकों की धारणा है कि किशोरावस्था के समाप्त होते होते मनुष्य की अधिकांश रुचियाँ निर्मित हो चुकी रहती हैं। एडवर्ड के० स्ट्रौंग नामक मनोवैज्ञानिक ने लिखा है कि "२५ वर्ष की अवस्था तक एक युवा जो होने वाला होता है हो जाता है। यहाँ तक कि २० वर्ष की अवस्था में ही वह उन अधिकांश रुचियों को अपने में विकसित कर लेता है, जिन्हें

१ क्लार्क ईस्टनी (१६), पृ० २१७।

२ गौग ई० डै० (६२), पृ० २८ सारणी सं० ३।

यह अपनी प्रौढ़ावस्था में अपनाते देखा जाता है।"[१] किशोरावस्था के बाद क्रमशः रुचिपरिसर में संकीर्णता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, जिसका परिणाम यह होता है कि आरम्भिक प्रौढ़ावस्था की तुलना में मध्यवर्ती और उत्तरवर्ती प्रौढ़ावस्था तथा वृद्धावस्था में बहुत कम रुचियाँ बची रह पाती हैं। प्रौढ़ावस्था के विकास के साथ जैसे जैसे कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का बोझ गुरुतर होने लगता है तथा स्वास्थ्य में दुर्बलता प्रवेश करने लगती है, वैसे वैसे, सामान्यतः, नवीन रुचियों को अपनाने और विकसित करने की अपेक्षा पहले से वर्तमान रुचियों पर ही बल दिया जाने लगता है। प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था में व्यक्ति में नवीन रुचियों का निर्माण असंभव नहीं है पर यह तभी संभव है जब व्यक्ति के परिवेश, नवीन रुचियों के विकास की सुविधाओं और व्यक्ति की मूल प्रेरक शक्तियों (Motivational forces) में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन घटित हो जाए। अन्यथा, अवस्थावृद्धि के साथ नयी रुचियों के विकास की बहुत कम संभावना रहती है। कभी कभी वृद्धावस्था में लोग चित्रकला, संगीत या पठन में अधिक रत देखे जाते हैं जबकि प्रौढ़ावस्था में इन विषयों में उनकी बिल्कुल ही रुचि नहीं होती, पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन व्यक्तियों की वृद्धावस्था में इन रुचियों का उदय होता है। होता यह है कि किशोरावस्था में इन विषयों में उन व्यक्तियों की रुचि विकसित हुई रहती है, पर प्रौढ़ावस्था में अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे इनकी पूर्ति सक्रिय रूप में नहीं कर पाते। वृद्धावस्था में जब उन्हें अवकाश मिलता है तो वे अपनी अपूरित रुचियों को सक्रियता प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

इस प्रकार, यद्यपि वयवृद्धि के साथ नवीन रुचियों का विकास बहुत कम होता है, पर भिन्न भिन्न रुचियों पर दिये जानेवाले बल में स्पष्ट रूप से स्थानान्तरण हो जाता है। रुचि में द्रुततम स्थानान्तरण का काल किशोरावस्था है जबकि व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक बनावट में सुस्पष्टतम परिवर्तन होते हैं।[२] प्रौढ़ावस्था प्राप्त करते करते व्यक्ति की मनोविनोदात्मक रुचियाँ निश्चित रूप धारण कर चुकी रहती हैं। प्रौढ़ावस्था में व्यक्ति को अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व सँभालने पड़ते हैं। फलतः इस अवस्था में व्यक्ति को किशोरावस्था की तुलना में मनोविनोद के लिए कम समय मिल पाता है। परिणामस्वरूप वह जीवन को उन्हीं मनोरंजनों में सीमित कर लेता है, जिनसे न केवल वह सर्वाधिक संतोष प्राप्त करता है, वरन् जो समय और अर्थ की दृष्टि से भी उसके लिए सर्वाधिक व्यावहारिक होते हैं।

आरम्भिक प्रौढ़ावस्था के बाद खेल-कूद जैसे सक्रिय और सामूहिक मनोरंजनों में शनैः शनैः रुचि का ह्रास होने लगता है और उनके स्थान पर स्त्री-पुरुष दोनों में शान्त मनोरंजनों तथा सांस्कृतिक और उपवेशनात्मक रुचियों जैसे पढ़ना, रेडियो सुनना आदि की प्रधानता होने लगती है।

सांस्कृतिक या उपवेशनात्मक रुचियों में पठन का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि एक तरफ तो इसे एकान्त में, बिना किसी के सहयोग की अपेक्षा किये, सम्पन्न किया जा सकता है, और दूसरी तरफ, इसमें व्यक्ति के लिए पर्याप्त गुंजाइश है। साथ ही, अन्य मनोविनोदों की तरह

१ स्ट्रौंग ई० के० (५०)।
२ स्ट्रौंग ई० के० (५०)।

पठन मनोरंजनमात्र का साधन नहीं वरन् भावनाओं तथा बुद्धि के परिष्कार और व्यक्तित्व के उन्नयन का एक महत्वपूर्ण उपाय भी है। प्रस्तुत प्रसंग में हमें पठनरुचि पर ही वय वृद्धि के प्रभावों का विवेचन करना है।

(क) वय वर्ग

मनोवैज्ञानिकों ने मानव जीवन को शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों की दृष्टि से मुख्यतः चार वय वर्गों में बाँटा है। उपविभागों को लेकर इन वय वर्गों की संख्या कुल १० हो जाती है :—

१ शैशवावस्था — जन्म से लेकर १२ वर्ष की वय तक
   - (क) नवजात शिशु — जन्म से लेकर २ वर्ष
   - (ख) पूर्ववर्ती शैशवावस्था — २ से ६ वर्ष
   - (ग) उत्तरवर्ती शैशवावस्था — ७ से १२ वर्ष
   - (घ) वय संधि — १२ से १३ वर्ष

२ किशोरावस्था — १३ से २० वर्ष तक।
   - (क) पूर्ववर्ती किशोरावस्था — १४ से १६ वर्ष
   - (ख) उत्तरवर्ती किशोरावस्था — १७ से २० वर्ष

३ प्रौढ़ावस्था — २१ से ६० वर्ष तक
   - (क) पूर्ववर्ती प्रौढ़ावस्था — २१ से ३५ वर्ष
   - (ख) मध्यवर्ती प्रौढ़ावस्था — ३६ से ५० वर्ष
   - (ग) उत्तरवर्ती प्रौढ़ावस्था — ५१ से ६० वर्ष

४ वृद्धावस्था — ६१ से मृत्युपर्यन्त।[1]

यहाँ यह स्मरणीय है कि उपर्युक्त विभाजन स्थूल रूप से ही किया हुआ है। भौगोलिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से इन वयों की कालावधियों में दो चार वर्ष का अन्तर भी सम्भव है। पर यह अन्तर प्रस्तुत प्रसंग में इसलिए बाधक नहीं कि पठनरुचि में रातोंरात वृद्धि या ह्रास नहीं हो जाता। रुचि का विकास, और उसमें वृद्धि या ह्रास शनैः शनैः तथा सतत रूप से होता रहता है। कोई भी वय वर्ग अपने सटे हुए वय वर्गों से स्पष्टतः अलग नहीं किया जा सकता। विशेष कर एक वय वर्ग की समाप्ति और दूसरे वय वर्ग के आरम्भ के समय की रुचियों में कोई अन्तर निकाल पाना तो अत्यन्त ही कठिन है।

(ख) पठनमात्रा पर वयवृद्धि का प्रभाव

वय का प्रभाव पठनरुचि पर—पठन की मात्रा और प्रकार दोनों पर—दिखाई पड़ता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, वय वृद्धि के साथ सांस्कृतिक मनोरंजनों की, जिनमें पठन प्रधान है, प्रमुखता मिलने लगती है। शैशवावस्था में, प्रकृति से पढ़ने की रुचि तो जरूर जग जाती है,

१ हरलॉक, ई० सी० (२८)।

पर पढना शिशु के मनोरंजन का एकमात्र साधन नहीं होता। फिर उसम पठनयोग्यता भी अभी अपेक्षित मात्रा म नहीं आयी रहती। इस कारण वह पठनकार्य अधिक परिमाण म नहीं करता। धीरे धीरे और ज्यों ज्यों शिशु की पठनयोग्यता विकसित होती जाती है उसकी पठनमात्रा भी बढती जाती है। यदि समुचित शैक्षणिक सुविधा प्राप्त हो तथा पठनसामग्री की प्राप्ति म कोई कठिनाई न हो तो उत्तरवर्ती शैशवावस्था के समाप्त होते होते व्यक्ति म पठनरुचि निश्चित रूप से जड पकड लेती है। तदनन्तर किशोरावस्था म, और उसके बाद भी, अवस्थावृद्धि के साथ व्यक्ति की पठनमात्रा म वृद्धि की ही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। और यह वृद्धि तबतक होती जाती है जबतक वृद्धावस्था म मनुष्य की आखें जवाब नहीं देने लगती।

एडवर्ड के० स्ट्रोंग ने अपने 'चेज आफ इटरेस्ट विथ एज' नामक ग्रथ के पृ० ७० पर एक सारणी दी है (सारणी स० ६७), जिसे ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ४५ वर्ष की अवस्था तक पठनमात्रा म निरतर वृद्धि होती जाती है, और इसके बाद ह्रास की प्रवृत्ति लक्षित होती है।[1] 'द इडियन इस्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन' के तत्वावधान म बबई तथा कलकत्ता के १०३९ वयस्कों की पठनरुचि के सम्बध म किये गये सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि ३५ वर्ष की अवस्था के बाद लोगों की पठनमात्रा म ह्रास होने लगता है।

छुट्टियों में आप सामान्यत क्या करते हैं ?

उम्र	उत्तर दाताओं की संख्या	प्रतिशत							
		भेंट मुलाकात	सिनेमा	पठन	विश्राम	दृश्य दर्शन	घरेलू कामों की देखभाल	गप्प शप्प	अन्य उत्तर
२१ ३५	६३२	८ ५	१३ ८	२५ ८	१६ १	४ ६	१० ९	१३ ३	३१ ०
३६ ५०	२९०	१० ३	७ २	१४ ५	२१ ०	३ ८	१८ ९	८ ३	२९ ३
५० से ऊपर	११७	६ ०	३ ४	१७ ९	२२ २	९ ४	१२ ८	८ ५	३३ ३
कुल जोड	१०३९	८ ८	१० ८	२१ ८	२२ २	९ ४	१३ ३	११ ४	३३ ३

किन्तु ३५ वर्ष की अवस्था के बाद पठनमात्रा म इतना ह्रास नहीं होता जितना उक्त सारणी म दिखाई पडता है। चूंकि भारत म ३५ ४० वर्ष से अधिक अवस्था के प्रौढों म निरक्षरता औसत से बहुत अधिक है, इसी कारण वृद्धों म पठनमात्रा अल्प दिखाई पडती है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि भारत के वर्तमान वृद्ध अपनी किशोरावस्था म पठनरुचि विकसित नहीं कर पाये थे। जिन कुछ लोगों म पठनरुचि विकसित हुई भी होगी, वे पुस्तकोपलब्धि की सुविधा की कमी के कारण अपनी इस रुचि को बनाये न रख सके होंगे।

१. स्ट्रोंग, ई० के० (५२)

अन्यथा अवस्थावृद्धि के साथ पठनमात्रा में वृद्धि की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। केवल बुढ़ापे में स्वास्थ्य की वजह से पठनमात्रा में कमी होने की सम्भावना रहती है।

मनोवैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि शैशवावस्था से लेकर आरम्भिक प्रौढ़ावस्था तक पुस्तकपठन की मात्रा में निरंतर वृद्धि होती जाती है। इस अवस्था में समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की तुलना में पुस्तकें अधिक प्रिय होती हैं। पर इसके बाद, यानी ३५ वर्ष की अवस्था के बाद पुस्तकपठन में ह्रास की ओर समाचारपत्र तथा पत्रिकापठन में वृद्धि की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है।[1] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।

सन् १९५४-५५ ई० में उक्त पुस्तकालय के पंजीयित पाठकों में १२.३५% ६-१२ वर्षीय वयवर्ग के, १६.५८% १३-१६ वर्षीय वयवर्ग के, २६.६७% १७-२० वर्षीय वयवर्ग के, ३०.३५% २१-२९ वर्षीय वयवर्ग के, ९.६५% ३०-४४ वर्षीय वयवर्ग के, ३.१२% ४५-४९ वर्षीय वयवर्ग के तथा ०.३५% ६० से अधिक वय के थे।

यानी ३० वर्ष से कम वयवाले पाठक ८६% तथा उससे ऊपर की अवस्थावाले पाठक केवल १४% थे।[2] इससे बिल्कुल यह तो प्रमाणित नहीं होता कि प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था के बाद पुस्तकपठन में रुचि कम हो जाती है, पर इसका संकेत अवश्य मिलता है। कार्नवेथ नामक मनोवैज्ञानिक के अनुसार २५ वर्ष से कम अवस्थावाले पुरुष समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं। वयवृद्धि के साथ उनके द्वारा पठित समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की संख्या में वृद्धि तथा पुस्तकों की संख्या में ह्रास होने लगता है। स्त्रियों में इसके विपरीत प्रवृत्ति देखी जाती है यानी स्त्रियों में अवस्थावृद्धि के साथ साथ पुस्तकपठन की मात्रा में वृद्धि होती जाती है।[3] गासनकृत अध्ययन से भी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[4] चूँकि भारत में स्त्री पाठकों की संख्या अत्यल्प है इसलिए दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से प्राप्त आँकड़े सर्वथा विश्वसनीय मालूम होते हैं।

इंडियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन दिल्ली के तत्त्वावधान में किये गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि अविवाहित व्यक्ति विवाहितों की अपेक्षा अधिक पढ़ते हैं। १०३९ वयस्क पाठकों से, जिनमें ६७५ विवाहित और ३६४ अविवाहित थे, यह पूछा गया कि "वे अपनी छुट्टियाँ किस प्रकार व्यतीत करते हैं। इनमें से १३.५% विवाहितों ने और ३०.१% अविवाहितों ने बताया कि वे छुट्टियाँ में पढ़ते हैं।[5] गासन[6] द्वारा संकलित आँकड़ों से पता चलता है कि अविवाहित स्त्री-पुरुष विवाहितों की अपेक्षा पुस्तकपठन में अधिक रुचि रखते हैं। दूसरी तरफ विवाहित व्यक्ति अविवाहितों की अपेक्षा समाचारपत्र

१ प्रो० डब्ल्यू० एस० (७), पृ० ३०
२ प्रकाशन समाचार (७०) पृ० २९
३ कार्नवेथ (१७) पृ० २४
४ गासन (२०), पृ० ३२
५ पब्लिक ओपिनियन सर्वे (४१), पृ० १०
६ गासन (१९), पृ० ३३

और पत्रिकाएं अधिक पढ़ते हैं। दि इंडियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपिनियन के सर्वेक्षण से भी ज्ञात होता है कि अविवाहित व्यक्ति विवाहितों की अपेक्षा पुस्तक पढ़ना ज्यादा पसन्द करते हैं। ७१ २%विवाहितों ने और ८६ ५% अविवाहितों ने बताया कि वे पुस्तक पढ़ना पसन्द करते हैं।[1] ग्रे और मनरो का भी मत है कि विवाहित, विशेषत विवाहित पुरुष, अधिक मात्रा में समाचारपत्र और पत्रिकाएं पढ़ते हैं, तथा अविवाहित स्त्री पुरुष विवाहितों की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं।[2] चूंकि प्राय २५ वर्ष की अवस्था तक लोग विवाहित हो गये रहते हैं, अत इस तथ्य से भी आरम्भिक प्रौढावस्था के बाद पुस्तकपठन की मात्रा में ह्रास और समाचारपत्र तथा पत्रिकापठन की मात्रा में वृद्धि का औचित्य सिद्ध होता है।

६० वर्ष से ऊपर के वयवाले वृद्ध व्यक्ति कितना पढ़ते हैं यह अशत युवावस्था में निर्मित उनकी रुचि और अशत उनकी दृष्टिक्षमता पर निर्भर करता है। यदि ये दोनों स्थितियां अनुकूल हैं, तो जैसा कहा जा चुका है, वृद्ध पुरुष उत्तरवर्ती प्रौढावस्था के व्यक्तियों की तरह पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्र और और पत्रिका पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से पठनमात्रा पर वयवृद्धि के प्रभाव के संबंध में हम दो निष्कर्ष प्राप्त करते हैं —

(१) वयवृद्धि के साथ पठनमात्रा में वृद्धि होती है। केवल वृद्धावस्था में पठनमात्रा कम हो जाती है। और (२) शैशवावस्था से लेकर प्रारम्भिक प्रौढावस्था तक पुस्तक पठन की प्रवृत्ति अधिक होती है पर उसके बाद पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्र और पत्रिकाएं अधिक मात्रा में पढ़ी जाने लगती हैं।

(ग) वयवृद्धि के साथ पठनरुचि में परिवर्तन के कारण

इन निष्कर्षों में से प्रथम के कारणों की विवेचना आरम्भ में ही की जा चुकी है। दूसरे निष्कर्ष के कारण यहां विवेचनीय हैं। इस संबंध में यह ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक प्रौढावस्था के बाद पुस्तकपठन और समाचारपत्र पठन में मात्रा का जितना अंतर दिखाई पड़ता है उतना उसके पहले नहीं दिखाई पड़ता। बच्चे समाचारपत्र नहीं पढ़ते पर शिशुपत्रिकाओं में उनकी रुचि पुस्तकों से कम नहीं होती। किशोरों के बारे में भी कहा जा सकता है कि वे समाचारपत्रों में अधिक रुचि नहीं रखते। समाचारों और सूचनाओं के प्रति किशोरों की बहुत कम उत्कंठा होती है। पर किशोर कहानी की पत्रिकाएं चाव से पढ़ते हैं। वे समाचारपत्र भी पढ़ते हैं पर उनकी दृष्टि अधिकतर खेल-कूद, कहानी और सिनेमा-समीक्षा वाले पृष्ठ पर रहती है। वस्तुत किशोरों तथा आरम्भिक प्रौढों को पुस्तकों में ही, विशेषकर कथापुस्तकों में, अपनी मनचाही पठनसामग्री मिल पाती है। जैसा कि हम बाद में देखेंगे, किशोरों तथा तरुण प्रौढों में रूमानी प्रेमकथाओं के प्रति सर्वाधिक आकर्षण होता है और उनकी यह रुचि पुस्तकों से ही तृप्त हो पाती है।

दूसरी तरफ प्रारम्भिक प्रौढावस्था के बाद व्यक्ति की पठनरुचि पर उसकी पारिवारिक अवस्था और सामान्य स्वास्थ्य का प्रभाव पड़ने लगता है। यों तो भारत की बहुसंख्यक ग्रामीण

१ पब्लिक ओपिनियन सर्वे (४१) पृ० ४८

२ ग्रे और मनरो (२२) पृ० १४१

बालिकाएँ किशोरावस्था में ही प्रणयसूत्र में बँध जाती हैं, पर पारिवारिक बोझ उनपर अवसर, यदि वे शिक्षित हैं, २५ वर्ष की अवस्था के बाद ही पड़ता है। शिक्षा के विकास के साथ २५-३० वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहनेवाले पुरुषों की संख्या में भी अब वृद्धि होती जा रही है। यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि ३० वर्ष की अवस्था तक पारिवारिक बोझ अपेक्षाकृत कम होता है। अविवाहित युवकों के पास पैसे भी अधिक होते हैं और समय का अभाव भी उन्हें नहीं होता। अतः ३० वर्ष से कम वयवाले युवक इच्छा रहने पर घंटों लगातार कोई पुस्तक पढ़ सकते हैं। सेक्स में अधिक रुचि रहने के कारण इस विषय का चित्रण करनेवाली पुस्तकें उन्हें अत्यन्त प्रिय होती हैं। दूसरी तरफ विवाहित तथा बालबच्चे वाले व्यक्ति पुस्तक पढ़ने की इच्छा रखते हुए भी इसके लिए अधिक समय नहीं निकाल पाते। पुस्तकों पर व्यय करने के लिए उनके पास पैसे भी तरुण वयस्कों की अपेक्षा कम होते हैं। प्रेमकथाओं में उनकी रुचि उतनी नहीं रह जाती, और सूचनाओं तथा समाचारों के प्रति उनका आकर्षण बढ़ जाता है। वयवृद्धि के साथ धीरे-धीरे स्वास्थ्य भी कमजोर पड़ता जाता है और व्यक्ति की लगातार किसी पुस्तक को पढ़ने की क्षमता कम होती जाती है। चूँकि पुस्तकें लगातार पढ़ी जाने की अपेक्षा रखती हैं, इस कारण वयवृद्धि के साथ उनकी लोकप्रियता भी कम होती जाती है। दूसरी तरफ समाचारपत्र और पत्रिकाओं को लगातार नहीं पढ़ना पड़ता। अतः वयवृद्धि के साथ उनकी पठनमात्रा में वृद्धि होती जाती है।

(घ) वयवृद्धि का पठनप्रकार पर प्रभाव

(१) शैशवावस्था की पठनरुचि

वयवृद्धि का प्रभाव पठन की मात्रा पर ही नहीं, उसके प्रकार पर भी पड़ता है। बच्चों की पठनरुचि पर उनकी शारीरिक परिपक्वता, बौद्धिक स्तर, पारिवारिक और सामाजिक आवेष्टन आदि हेतुओं का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः पठनक्षमता प्राप्त करने के पूर्व शिशु पुस्तकों के चित्र देखना, तथा पशुओं, परियों और छोटे बच्चों के विषय में लघु और असंभाव्य कहानियाँ सुनना पसन्द करता है। पशुओं और पशुशावकों की मानवीकृत कथाएँ शिशु के लिए विशेष आकर्षक सिद्ध होती हैं। ये आरम्भिक रुचियाँ बच्चों द्वारा पठनशक्ति प्राप्त कर लेने के कुछ बाद तक बनी रहती हैं[1]। धीरे-धीरे वयवृद्धि के साथ बच्चों की रुचि ऐसी कथाओं में कम होती जाती है। उत्तरवर्ती शैशवकाल के बालक परियों तथा पशुओं की कथाओं के अकारण विश्वासवाले तत्त्व से आनन्द नहीं ले पाते, यद्यपि कुछ बालकों में, विशेषकर बौद्धिक विकास की दृष्टि से पिछड़े बालकों में, इस प्रकार की कहानियों में रुचि बनी रहती है। स्कूल में प्रवेश करने के एक दो वर्ष बाद तक बच्चों की रुचि परियों की कहानी में होती है। इसके बाद वे साहसिकता प्रधान कथाएँ पसन्द करने लगते हैं। यदि उत्तरवर्ती शैशवावस्था के बालक भी परियों की कथाओं में रुचि दिखाते हैं तो इसका कारण इन कहानियों में प्राप्त होनेवाले प्रेम और साहसिकता का तत्त्व है। इस अवस्था का बालक अपने को इन कहानियों के नायक रूप में कल्पित करके तथा इस प्रकार, मानसिक रूप से उन कार्यों को, जिन्हें वह अपने बन्धनपूर्ण जीवन में नहीं कर पाता, सम्पादित करके एक तीव्र संतोष का अनुभव करता है। वीर और

---

१ स्टीफेंस, जे० एम० (४८)

आदर्श नायक नायिकाओं, ऐतिहासिक महान् व्यक्तियों तथा खेल जीवन अथवा राष्ट्रीय ख्याति के जीवित व्यक्तियों से सम्बद्ध पुस्तकें और कहानियाँ उनकी वीरपूजा की अभिरुचि के सर्वथा अनुकूल होती हैं।[१] इनके अतिरिक्त बच्चे सामान्य विज्ञान तथा प्रकृतिसम्बन्धी पुस्तकें और कहानियाँ पसन्द करते हैं।

ग्रे[२], जार्डन[३], स्मिथ[४], हल[५], एलिस एम० कर्ली आदि अमरीकन मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों की पठनरुचियों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन मनोवैज्ञानिकों के अनुसार बच्चों की रुचि कथापुस्तकों में सर्वाधिक होती है।[६] सूचनाएँ भी वे कहानियों के रूप में ही प्राप्त करना चाहते हैं। कर्ली ने ६ से १४ वर्ष के वय की बालकबालिकाओं की पठनरुचि का अलग अलग विवरण दिया है।[७] इनके अनुसार बच्चे लगभग ९ वर्ष की अवस्था तक पशु, प्रकृति और परियों से सबद्ध रूपकात्मक, उपदेशप्रद, साहसिकताप्रधान तथा विस्मयपूर्ण कहानियाँ पसन्द करते हैं। १० वर्ष की अवस्था के बाद दैनिक जीवन की कहानियाँ, युद्ध और साहस की कथाएँ, जासूसी कहानियाँ तथा प्रेम और रूमानी कथाएँ बच्चों को अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगती हैं।

दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से भी उक्त निष्कर्षों की पुष्टि होती है।[८] सन् १९५४-५५ में यहाँ के बाल पाठकों ने ५००६६ पुस्तकें पठनार्थ ली थीं जिनमें ३३२४९ कथापुस्तकें और १६८१७ कथेतर पुस्तकें थीं, अर्थात् पठित कथापुस्तकों की संख्या ६६% थी। बच्चों से जब यह पूछा गया कि वे किस प्रकार की कथापुस्तकें सर्वाधिक पसन्द करते हैं तो उन्होंने, 'परियों की कहानियाँ,' 'आधुनिक भारत की कहानियाँ, 'जासूसी कहानियाँ' तथा 'अन्य देशों की कहानियाँ' जैसे प्रकारों के प्रति अपनी रुचि व्यक्त की।

प्रश्न उठता है, क्या बच्चे जिन कथाओं को पसन्द करते हैं उनमें मारपीट, रोमांच तथा अद्भुत और भयानक घटनाओं का बाहुल्य होता है। इस प्रश्न का उत्तर हम बच्चों की मनःस्थिति में ही पा सकेंगे। मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि बच्चे के मन में एक अद्भुत कल्पनाजगत् होता है। बच्चों की कल्पनाएँ अधिक सीधीसादी होती हैं और उनके पीछे जो प्रेरक शक्ति क्रियाशील रहती है वह होती है, मानसिक और शक्तिशाली बनने की प्रबल इच्छा। यही वे शक्तियाँ हैं, जो बच्चे का उसका व्यक्तित्व प्रदान करती हैं। बच्चा जिन परीकथाओं को पसन्द करता है, उनमें प्रेम की भावना प्रमुख और स्पष्ट नहीं होती, इसके विपरीत उनमें साहसिक कार्यों की ही प्रधानता होती है। इन परीकथाओं में

---

१ वही, पी० ए० (९८)
२ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२३)
३ जॉर्डन, ए० एम० (३०)
४ स्मिथ, एन० बी० (४६)
५ हल, डब्ल्यू० एम० (६३)
६ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२४), पृ० १०४
७ उपरिवत्।
८ गार्डनर, एफ० एम० (१९), पृ० ४३
९ उपरिवत्, पृ० ४६

कामतत्व अस्पष्ट और वर्णनात्मक रूप में होता है, स्त्री-पुरुष के शारीरिक सम्बन्ध के रूप में नहीं। परियों की कहानियों में अनेक कठिनाइयों के बावजूद राजकुमार, या कथा का नायक राजकुमारी परी को प्राप्त करने में समर्थ होता है। परी कथाओं के लेखक या सुनानेवाले कामतत्व के चित्रण में इससे आगे नहीं बढ़ते। वस्तुतः बच्चों की कामभावना भी इससे अधिक विकसित नहीं होती। उनकी कामभावना अपने साथी को प्राप्त करने तथा उसके प्रति आकर्षण व्यक्त करने तक ही सीमित रहती है। विषम लिंगी के प्रति शारीरिक आकर्षण का उदय उनमें अभी नहीं हुआ रहता, और यही कारण है कि बच्चों को 'लेडी चैटरलीज़ लवर' जैसी पुस्तकों में, जिनमें प्रौढ़ लोगों के यौनजीवन का वर्णन होता है, लगभग कोई दिलचस्पी नहीं होती।[१]

परी-कथाएँ बच्चों को इसलिए प्रिय होती हैं कि उनमें उनकी मनोदशा के अनुरूप काम भाव का चित्रण भी होता है और रोमांच उत्पन्न करने वाली घटनाएँ भी जिन पर नायक राजकुमार विजय प्राप्त करता है। इससे बच्चे की शक्तिशाली बनने की भावना की तृप्ति होती है। इन कहानियों में चित्रित घटनाएँ बच्चों की मनोदशा को प्रतिबिंबित करती हैं। बच्चे इन कहानियों में अपनी ही भावनाओं को चित्रित पाकर सुख का अनुभव करते हैं। ये कहानियाँ किसी न किसी रूप में बच्चे की उस मानसिक स्थिति को प्रतिबिंबित करती हैं जिसका उस समय बच्चे को पूरा आभास नहीं होता। ठीक यही सिद्धान्त अन्य अवस्था के पाठकों पर भी लागू होता है।

(ii) किशोरावस्था की पठनरुचि

भारत में किशोरों द्वारा पठित समाचारपत्रों और पत्रिकाओं के सम्बन्ध में कोई अनुसंधान न होने के कारण यह बताना कठिन है कि भारतीय किशोर किस प्रकार की पत्रिकाओं तथा समाचारपत्रों के किन अंशों को विशेष रूप से पढ़ना पसन्द करते हैं। अमरीका की वास्तविक किशोर लेस्टर डी० क्रो और एलिस क्रो के अनुसार[२], समाचारपत्र पढ़ने में काफी रुचि रखते हैं। उपर्युक्त विद्वानों के अनुसार किशोर बालकों की सर्वाधिक रुचि समाचारपत्र के खेलकूद सम्बन्धी पृष्ठ में तथा बालिकाओं की रुचि सामाजिक जीवन तथा चलचित्रों से सम्बद्ध पृष्ठों में होती है। अपराध-समाचार और विज्ञापनों में भी किशोरों की रुचि देखी जाती है। पत्रिकाओं में कथा-पत्रिकाएँ विशेषकर रूमानी कहानियों की पत्रिकाएँ विशेष रूप से पसन्द की जाती हैं।

भारतीय किशोर, विशेषकर हिन्दी पाठक किस मात्रा में समाचारपत्र और पत्रिकाएँ पढ़ते हैं यह एक स्वतन्त्र अनुसंधान का विषय है। मैं अपने सीमित परीक्षणों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि हिन्दीभाषी किशोर पाठक समाचारपत्र और पत्रिकाएँ अत्यल्प मात्रा में पढ़ते हैं।[३] यह कहा जा सकता है कि किशोरावस्था में हिन्दी पाठक समाचारपत्र और

१ प्रकाशन समाचार (९६) पृ० २६

२ एट डेफ्ट डेवलपमेंट एक टेक्नारवेट (१३)

३ पुलिस हाई स्कूल (इलाहाबाद) के १० वें ११ वें वर्ग के ५० छात्रों में से केवल ४ ने बताया कि वे नियमित रूप से समाचारपत्र पढ़ते हैं, १८ ने बताया कि वे कभी कभी समाचारपत्र पढ़ते हैं

पत्रिकासम्बन्धी पठनरुचि का विकास समुचित रूप म नही कर पाते। इसका प्रधान कारण औसत भारतीय परिवार की निर्धनता है। भारत के बहुत कम परिवार समाचारपत्र खरीदने मे समर्थ हो पाते है। दूसरा कारण अँगरेजी समाचारपत्रो का अधिक प्रचलन भी है। सामान्यत अँगरेजी पढेलिखे लोग—और उच्च शिक्षाप्राप्त सभी भारतीय अँगरेजी पढेलिखे होते हा हैं—अपने घरो म अंगरेजी अखबार मँगाना पसन्द करते है, जिन्हे अधिकाश किशोर समझ नही पाते। पत्रिकाएँ खरीद पाना भी लोगो के लिए सम्भव नही होता, पर जिन परिवारो म हिन्दी पत्रिकाए खरीदी जाती हैं, उन परिवारो के किशोर सदस्य पत्रिकाएँ नियमित रूप से पढते है।

जहाँ तक किशोरो की पुस्तकपठनरुचि का प्रश्न है, यह बिना किसी हिचक के कहा जा सकता है, कि किशोर कथापुस्तकें पढना विशेष पसन्द करते हैं। किशोरो म रोमास, साहसिकता, शक्तिशाली चरित्रचित्रण, मन कल्पना और सामाजिक जागरूकताप्रधान कथाएँ विशेष लोकप्रिय होती है।[1] इस कथन की पुष्टि मनोवैज्ञानिक अनुसधानो से भी होती है। फ्रेंच मनोवैज्ञानिक लेवी ब्रूल ओदेत (Levy Brul, Odette) ने अपने लेख 'एदोलेसा ए ला लेक्तूर' (किशोरो की पठनरुचियाँ) नामक निबन्ध म, जो 'आफाम (Infance) नामक पत्रिका के पाचवें अक म, १९५७ ई० म, प्रकाशित हुआ था, किशोरो की पठनरुचियो का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सामाजिक उपन्यास किशोरो द्वारा सर्वाधिक पसन्द किये जाते हैं।[2] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से भी किशोरो द्वारा अधिक मात्रा म कथापुस्तको के पढे जाने की पुष्टि होती है।[3] सन् १९५४ ५५ ई० म इस पुस्तकालय के वयस्क पाठको ने, जिनम १६ २० वर्षीय वय के किशोर पाठक आधे से थोडे ही कम थे, १३५५७१ पुस्तकें पठनार्थ ली थीं, जिनमे १०५३९५ कथापुस्तकें (७७%) और ३०१७६ कथेतर पुस्तकें (२३%) थी। इनम से किशोर पाठको द्वारा पठित पुस्तको मे कथापुस्तको का प्रतिशत निश्चय ही और भी अधिक होगा। इन पाठको से जब यह पूछा गया कि वे किस प्रकार के उपन्यास पसन्द करते है, तो ४२% पाठको ने बताया कि वे प्रेमकहानियाँ पसन्द करते है। १८% ने आधुनिक भारत से सबद्ध कहानियो के पक्ष म, १२% ने अपराध और जासूसी कहानियो के पक्ष मे, १२% ने भारतीय इतिहास

और ३० ने बताया कि वे समाचारपत्र बिलकुल नहीं पढते। १९५९ ई० में पटना कॉलेज की आई०ए० कक्षा के ३५० लड़कों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि उनमें से केवल ४१ लड़के नियमित रूप से समाचारपत्र पढ़ते थे २८० लड़के कभी कभी समाचारपत्र प्राप्त हो जाने पर पढ़ते थे और २५ लड़के बिलकुल समाचार पत्र नहीं पढ़ते थे। इससे यह स्पष्ट है कि किशोरों में नियमित रूप से समाचारपत्र पढ़ने की आदत अत्यल्प है। पत्रिकापठन की स्थिति और भी दयनीय है। पुलिया स्कूल के ५० छात्रों में से एक ने भी नियमित रूप से पत्रिका पढ़ने की बात नहीं कही। केवल दो ने बताया कि कभी कभी 'धर्मयुग और 'नवनीत' पढ़ते हैं। पटना कॉलेज के छात्रों मे से केवल ४० ने बताया कि वे नियमित रूप से 'धर्मयुग' 'हिन्दुस्तान', 'नवनीत' या ज्ञानोदय पढ़ते हैं। ११० छात्रों ने बताया कि वे कभी कभी धर्मयुग', 'हिन्दुस्तान', या 'नवनीत', के पन्ने उलट पुलट लेते हैं।]

१ एलिज़ाबेथ बी० हरलॉक (२८)

२ साइकॉलॉजिकल ऐबस्ट्रैक्ट्स (४०) पृ० १९७

३ फ्रैंक एम० गार्डनर (१९) पृ० २३

से सम्बद्ध उपन्यासों के पक्ष में, ८% ने साहसप्रधान कहानियों के पक्ष में और ८% ने अन्य देशों की कहानियों के पक्ष में अपना मत दिया।[१] मेरा अनुमान है कि दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के वयस्क पाठकों (१६-२६ वयवर्ग) से किशोर पाठकों (१७-२० वयवर्ग) को अलग करके उनका मत लिया गया होता तो प्रेमकथाओं, अपराध तथा जासूसी कहानियों और साहसप्रधान कहानियों को पसन्द करनेवालों का प्रतिशत और भी ऊँचा होता। राशे (Rasche) नामक विद्वान् ने अतिरिक्त समय में काम करनेवाले किशोर श्रमिकों की पठनरुचि का अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि किशोरों के बीच कथापुस्तकें अतिशय लोकप्रिय होती हैं।[२] जेफरिस ने शिकागो के किशोर श्रमिकों की पठनरुचि का अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि उनके द्वारा पठित अधिकांश पत्रिकाएँ कथात्मक तथा अधिकांश पुस्तकें "उत्तेजनात्मक", "अतिशयोक्तिपूर्ण असम्भव स्थितियों का चित्रण करनेवाली" तथा "साहित्यिक गुणों से रहित थीं।"[३] जाड,[४] ग्रे और मनरो के अनुसार भी किशोर अधिकतर कथासाहित्य पढ़ते हैं, जिनमें से अधिकांश उत्तेजनाप्रधान तथा असम्भव परिस्थितियों का चित्रण करनेवाली होती हैं।[५] रेमंड जी० कुलेन के अनुसार ९-१५ की अवस्था में बच्चों में प्रेम और रोमांस से भरी कहानियों के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है और यह रुचि लगभग ३० वर्ष की अवस्था तक बनी रहती है।[६]

समागत किशोरों में प्रेम और रोमांसप्रधान, उत्तेजनाप्रधान, साहसप्रधान तथा सामाजिक विषयों का चित्रण करने वाली कथाएँ विशेष लोकप्रिय होती हैं। वे धार्मिक पुस्तकें, चाहे वह कथा ही क्यों न हों, पसन्द नहीं करते।

(iii) किशोरों की मानसिक स्थिति और पठनरुचि पर उसका प्रभाव।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनुष्य उन्हीं कथाओं को पढ़कर आनन्द प्राप्त करता है, जिनमें उसकी मनोदशाओं, विचारों, तथा अधूरे स्वप्नों का प्रभावशाली चित्रण होता है। किशोर पाठकों की पठनरुचि भी उनकी भावात्मक स्थिति द्वारा निर्धारित होती है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में किशोरों की मानसिक और संवेगात्मक स्थितियों पर विचार करना आवश्यक है।

सन् १९०४ ई० में जी० स्टेनली हॉल ने विशाल संख्या में किशोर किशोरियों की जाँच करने के पश्चात् यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि यह आचरण में अतियों का काल है जिसमें भावनात्मक 'तूफान और तनाव" की प्रधानता होती है।[७] किशोरावस्था में विशेषतः इसके प्रारम्भिक वर्षों में, अस्थिरता अपनी चरम सीमा पर होती है। आँसू से हँसी, आत्मविश्वास से आत्म-अवमूल्यन, स्वार्थ से परमार्थ और उत्साह से उदासीनता तक किशोरों की सामान्य प्रतिक्रियाएँ होती हैं। एक क्षण नवयुवक किशोर आशा और उल्लास के आकाश में उड़ने और दूसरे क्षण निराशा के अतल गह्वर में डूबने लगता है।

---

१ फ्रैंक एम० गार्डनर (१९), पृ० ४६
२ राशे, डब्ल्यू० एफ० (४१)
३ जेफरीस डब्ल्यू० (२९), पृ० ८५।
४ कार्टेन ए० एम० (३२)।
५ जेफरिस पृ० ११०।
६ रेमण्ड जी० कुलेन (३४), पृ० २०२।
७ हरलॉक, ई० बी० (२८)

किशोरावस्था मे वीरपूजा की भावना अपने चरमोत्कर्ष पर होती है। यह किशोर की नव अनुभूत भावनात्मक आवश्यकताओं के प्राकृतिक निकास का काम करती है। परिणामत किशोरावस्था की बालकबालिकाएँ उन कहानियो को अधिक पसन्द करती हैं, जिनमे नायक असामान्य काय करते पाया जाता है। एयारी और तिलिस्मप्रधान उपन्यास, जिनमे एयार तथा उपन्यास के नायक अद्भुत वीरता, बुद्धिकौशल और प्राणापहक साहस का परिचय देते है, तथा साहसिकता, रक्तमय क्रान्ति और सकटमय अभियानप्रधान कथाएँ किशोरो मे अधिक लोकप्रिय होती है।

किशोरावस्था मानव जीवन का वह काल है जिसमे कामसम्बन्धी भावनाएँ प्रत्यक्ष और प्रवल होने लगती हैं। एलिजाबेथ बी० हरलाक के अनुसार लडके प्रथम बार औसत रूप से ६ और १२॥ वष की अवस्था के बीच कामभाव के प्रति जागरूक होते हैं।[1] कितनी जल्द और कितनी देर से भिन्नलिंगीय रुचिया विकसित होगी, यह काफी दूर तक बालक या बालिका द्वारा प्राप्त कामात्मक प्रौढता के स्तर पर निभर है। कुछ बालक चौदह वष की अवस्था मे भी कामभाव के प्रति पूणत उदासीन होते हैं, जबकि कुछ दूसरे इसमे इतने लीन होते हैं कि उन्हे इसके सामने अन्य वस्तुएँ नितान्त महत्त्वहीन मालूम पडती हैं। लडकियो के बारे मे भी यही कहा जा सकता है।

किशोरावस्था के आरम्भ मे ही, वय सधि की वेला मे बालक और बालिकाएँ दोनो अपने शरीर मे कुछ ऐसे परिवतन देखते हैं, जिनके सम्बन्ध मे कुछ जानने की इच्छा उनके मन मे स्वभावत उठती है, पर लज्जा और भय से वे अपने मातापिता या शिक्षक से कुछ पूछ नहीं पाते। किशोरावस्था के बालकों और बालिकाओ मे लगभग १५ वष की अवस्था मे इतर लिंग के प्रति तीव्र आकषण उत्पन्न हो जाता है।[2] वे काम के रहस्यमय ससार मे प्रवेश करना और उसकी थाकी लेना चाहते हैं। अत इस वयवग मे उत्पन्न नयी रुचियो मे कामभाव से सम्बद्ध रुचिया प्रमुख होती हैं।

भारतीय समाज मे किशोरावस्था की बालकबालिकाओ मे मुक्त सम्बन्ध स्थापित होने की बात तो दूर रहे, वे एक दूसरे से बातचीत करने और मिलने तक नहीं पाते। इन सब कारणों से भारतीय किशोरकिशोरियो के लिए सेक्स एक गम्भीर रहस्य बन जाता है। इस रहस्य को जानने की अत्यन्त तीव्र उत्कठा इस वय की बालकबालिकाओ मे होती है। व्यावसायिक लेखक किशोरो के इस कामौत्सुक्य का शोषण करते हैं, और अपने रूमानी उपन्यासो मे काम चेष्टाओ और कामव्यापारो का ऐसा अस्पष्ट, पर उत्तेजक, वणन प्रस्तुत करते हैं जिससे उनकी उत्सुकता शान्त होने के विपरीत बढती जाती है। धीरे धीरे किशोरो मे घटिया किस्म के काम प्रधान उपन्यास पढने और उन्हीं से कामतृप्ति करने की लत पड जाती है, जो उनके व्यक्तित्व विकास के लिए बडा हानिकर होता है।

किशोरों की कामभावनाएँ अपने प्राकृतिक निकास के अन्य सभी मार्गों को बन्द पाकर इन सकीर्ण और व्यक्तित्वनाशक छिद्रो से ही नि सृत होने का प्रयत्न करती हैं। बीसवीं

१ एलिजाबेथ बी० हरलॉक (८) पृष्ठ ४६
२ रेमड जी कुहलेन (२४), पृष्ठ २१०

शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी में किशोर पाठकों के बीच किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों की और पाँचवें दशक से लेकर आजतक कुशवाहा कान्त, प्यारेलाल आवारा और इलाहाबाद की टकसालों में निकलने वाले तथा रेलवे बुक स्टालों पर बिकने वाले उपन्यासों की लोकप्रियता का यही रहस्य है। इन उपन्यासों को पढ़ते समय किशोर कथा की रोमांचक स्थितियों का दिवास्वप्न देखने लगते हैं, जिसमें वे स्वयं नायक या नायिका होते हैं और उपन्यास की नायिका या नायक के साथ उनका प्रेम-व्यापार चलने लगता है।

सस्ती रुचि के रोमांस तथा भावुकता और उत्तेजनाप्रधान उपन्यास किशोरों के लिए उनका अभिलषित स्वप्नलोक आसानी से प्रस्तुत कर देते हैं। इन उपन्यासों का उद्देश्य ही किशोरों की भावनात्मक स्थिति के अनुरूप सुनहले स्वप्नलोक का निर्माण करना होता है। कुशवाहाकान्त के उपन्यासों में अक्सर ही नायकनायिका किशोर वय के होते हैं, और वे प्रेम, समाज या राष्ट्र की किसी समस्या को लेकर अपने मातापिता तथा समाज से विद्रोह करते हैं। उनका परिवार तथा पारिपार्श्विक समाज उनके स्वतन्त्राग्रह में बाधक बनता है, और उन्हें लगता है कि सारा समाज उनका शत्रु है। परिणामतः इन उपन्यासों की नायकनायिकाओं को पहले तो समाज के अनेक अत्याचार सहन करने पड़ते हैं, पर अन्त में समाज को उनके सामने झुकना पड़ता है। कुशवाहाकान्त के अधिकांश उपन्यासों में नायक निर्धन पर स्वस्थ शरीर, तीव्रबुद्धि और विद्रोही होते हैं। नायिका अक्सर धनी मातापिता की बेटी, सुन्दरी और विद्रोहिणी होती है, जो किसी आकस्मिक घटना के फलस्वरूप निर्धन नायक को प्यार करने लगती है। अनेक सामाजिक-आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद नायकनायिका विवाहसूत्र में बंधने में सफल होते हैं। यह मन स्थिति भारतीय किशोरों के बिलकुल अनुरूप है। भारत के अधिकांश किशोर निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण आर्थिक दृष्टि से तो संकटग्रस्त होते ही हैं, भावनात्मक रूप से भी वे समाज द्वारा पीड़ित होते हैं। कामसम्बन्धी ज्ञान उनको नाममात्र को भी नहीं होता। वे अनुभव करते हैं कि सारा समाज ही उनका शत्रु है। ये किशोर पाठक कुशवाहाकान्त के निर्धन और पीड़ित नायकों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं, और इस प्रकार अपनी दमित अभिलाषाओं की पूर्ति करने में सफल होते हैं।

हर किशोर के लिए किसी बड़े व्यक्ति से, जिसे वह अपने से श्रेष्ठ समझता है, तादात्म्य स्थापित करना और उसकी उपलब्धियों से स्वयं संतोष का अनुभव करना सामान्य बात है। किशोरावस्था की बालकबालिकाओं में सफल व्यक्तियों से तादात्म्य स्थापित करने की प्रबल इच्छा होती है। उपन्यास पढ़ते वक्त किशोर पाठक कथा के नायक और सत्पात्रों से तादात्म्य स्थापित करता है। यह तादात्म्य उस सीमा तक लाभदायक है जिस सीमा तक वह उत्तम व्यक्तित्व विकसित करने में किशोरों की सहायता करता है। यह निश्चित और जागरित होने की बात थोड़ा जरूर है कि जब किशोरकिशोरियाँ अवांछित रुचि के उपन्यासों और अग्रहणीय चरित्रों को नायकनायिकाओं से तादात्म्य स्थापित करना है तो वे अपने व्यवहार में उनकी पूरी नकल करने लग सकते हैं। अतः किशोरों के लिए स्वस्थ पठनसामग्री का चयन करना उनके सुन्दर व्यक्तित्व निर्माण के लिए, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है।

वयःसंधि की बालकबालिकाओं की तरह किशोरावस्था की बालकबालिकाओं के लिए भी दिवास्वप्न महान् आत्मसंतोष का एक साधन होता है, पर वयःसंधि के 'संतप्त सागर'

वाले दिवास्वप्न के विपरीत किशोरावस्था का दिवास्वप्न 'विजयी नायक' प्रकार का होता है, जिसमें स्वप्नद्रष्टा अपने को मनचाहे क्षेत्र के नायक के रूप में देखता है।[1] इन दिवास्वप्नों के विषय और दृश्य प्रायः चलचित्रों तथा बाजारू उपन्यासों से प्रभावित होते हैं।

दिवास्वप्न कल्पना को उन विचारों के साथ क्रीडा करने के लिए उन्मुक्त कर देता है जो इच्छित लक्ष्यों या उद्देश्यों की तात्कालिक पूर्ति से संबद्ध होते हैं। जब किशोर अपने स्वप्नों के क्षणस्थायी स्वभाव को पहचान लेता है, या जब इन दिवास्वप्नों का उपयोग वास्तविक कार्यनिष्पादन के लिए तैयारी में रूप में करता है, तो यह मानसिक कार्यकलाप लाभदायक होता है। अपर्याप्त सामंजस्य तब उत्पन्न होता है, जब मन कल्पना को लोक वास्तविकता से पूर्णतः असंपृक्त होता है, जिससे व्यक्ति को दिवास्वप्न पर, आत्मसंतोषात्मक उपाय के रूप में, अवलंबित होने को बाध्य होना पड़ता है।

भावुकताप्रधान सस्ते उपन्यासों में एक ऐसे संसार का चित्रण रहता है, जो वास्तविकता से सर्वथा विच्छिन्न, बाह्य और उत्तेजक होता है। इन उपन्यासों के पठन से किशोरों का दिवास्वप्न और भी अस्वास्थ्यकर रूप ग्रहण कर लेता है। ये उपन्यास एक तरफ तो किशोरों में दिवास्वप्न के सबसे हानिकर रूप की आदत लगाते हैं और दूसरी तरफ आत्मसंतोषात्मक उपाय का भी काम करते हैं। इस प्रकार इन उपन्यासों से दिवास्वप्नों के उत्तेजन और उनकी पूर्ति का एक दूषित वृत्त निर्मित हो जाता है।

उच्चकोटि के यथार्थवादी और साहित्यिक उपन्यास किशोरों के दिवास्वप्न की प्रवृत्ति को उत्तेजित करने और उनके लिए आत्मसंतोषात्मक उपाय बनने की अपेक्षा उनके अर्धस्वप्नों को स्पष्ट आकार और यथार्थवादी पृष्ठभूमि देने का प्रयास करते हैं। किशोरों की कल्पना एक अर्धनिर्मित स्वप्न से दूसरे अर्धनिर्मित स्वप्न तक दौड़ लगाती रहती है। अपनी पारिपार्श्विक परिस्थितियों के प्रति वह मन्दतः जागरूक होता है। साहित्यिक और यथार्थवादी उपन्यास इन अर्धनिर्मित स्वप्नों को स्वस्थ और पूर्ण बनाकर तथा उचित दिशा प्रदान कर किशोरों को अपने परिपार्श्व की वास्तविकता के प्रति सजग बनाने का कार्य करते हैं। किन्तु, ये उपन्यास किशोरों को उतना पसन्द नहीं आते, जितना भावुकता और उत्तेजना प्रधान उपन्यास। कारण स्पष्ट है। यथार्थवादी उपन्यासों में किशोरों की मन-कल्पना को मनचाही दिशा में उड़ने की स्वतंत्रता नहीं रहती, उनके पैरों में यथार्थ की बेड़ी पड़ जाती है, और किशोर इसे नहीं चाहते। दूसरी तरफ भावुकताप्रधान और रूमानी उपन्यास किशोरों की मन-कल्पना को न केवल उनकी मनचाही दिशा में उड़ान भरने देते बल्कि उनके लिए नयी दिशा भी निर्मित कर देते हैं।

किशोरों की धार्मिक पुस्तकों में बहुत कम रुचि होती है। इसका कारण सामान्यतः किशोरों में धर्म के प्रति अविश्वास और अरुचि है। प्रायः देखा जाता है कि किशोरावस्था के व्यक्ति ईश्वर तथा धर्म के विषय में सर्वाधिक शंकालु होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भी आयु के प्रारंभिक द्वितीय दशक को "जीवन का सबसे कम धार्मिक काल" कहा है।[2] परिणामस्वरूप किशोर पाठक धार्मिक पुस्तकें प्रायः नहीं पढ़ते।

---

१ एलिजाबेथ बी० हरलॉक (२८), पृ० १०८।

२ हरलॉक (२८), पृ० ३६९।

(iv) वयस्क पाठकों की पठनरुचि

वयस्क पाठकों की पठनरुचि पर उनके वय, शैक्षणिक स्तर, पेशा, लिंग आदि हेतुओं का प्रभाव पड़ता है। वयस्कों की पठनरुचि के सम्बन्ध में आज तक जितने भी अनुसंधान हुए हैं सभी इनके बीच कथासाहित्य की लोकप्रियता को प्रमाणित करते हैं। दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि वहां के वयस्क पाठकों ने १९५४-५५ ई० में हिन्दी की कुल १३५५७१ पुस्तकें पठनार्थ ली थीं, जिनमें १०५३९५ कथापुस्तकें (७७%) और ३०१७६ कथेतर पुस्तकें (२३%) थीं। इस प्रश्न के उत्तर में कि "आप मुख्यतः क्या पसन्द है" ६७ पंजीयित सदस्यों ने और ४७ पाठक सदस्यों ने 'कथासाहित्य', ८१ पंजीयित सदस्यों ने और ४५ पाठक सदस्यों ने 'कथेतर साहित्य' तथा ७० पंजीयित सदस्यों ने और १०४ पाठक सदस्यों ने 'दोनों' कहा।[1] इससे भी वयस्क पाठकों में कथासाहित्य की लोकप्रियता सिद्ध होती है। वयस्क पाठकों से जब यह पूछा गया कि वे किस प्रकार के उपन्यास पसन्द करते हैं, तो ४२% पाठकों ने प्रेमकथाओं में, १८% पाठकों ने आधुनिक भारत से सम्बद्ध कहानियों में, १२% पाठकों ने अपराध और जासूसी कहानियों में, १२% पाठकों ने भारतीय इतिहास से सम्बद्ध उपन्यासों में ८% ने साहसप्रधान कहानियों में और ८% ने अन्य देशों की कथाओं में अपनी रुचि सर्वाधिक बताई।[2]

डोनोवन नामक मनोवैज्ञानिक ने शिकागो में वयस्कों द्वारा पसन्द की जानेवाली पुस्तकों के प्रकारों का एक बड़ा रोचक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।[3] डोनोवन ने सर्वप्रथम शिकागो सार्वजनिक पुस्तकालय में १९२३ ई० में पाठकों द्वारा ली गई पुस्तकों के प्रकार निश्चित किये और तत्पश्चात् यह देखा कि किस प्रकार की पुस्तकें कितनी मात्रा में पुस्तकालय से ली गई। नीचे दी गई सारणी में शिकागो पुस्तकालय से ली गई सात प्रकार की पुस्तकों का प्रतिशत दिया गया है—

विषय	प्रतिशत
कला और विज्ञान	२२ ८
साहित्य और भाषा	८ ८
इतिहास और जीवनी	५ ७
यात्रा	२ ८
धर्मशास्त्र आदि	२ ८
कथा	
तारुण्य (Juvenile)	८६
वयस्क	६ ०
विदेशी जीवन	८ ८

इस सारणी से स्पष्ट है कि पाठकों द्वारा पुस्तकालय से ली गई पुस्तकों में से आधी से अधिक कथापुस्तकें थीं।

1 माइनर फ्रैंक, ए० ० (१९) पृ० ४८ ४४।
2 उपरिवत् (१) पृ० ४६।
3 डोनोवन, एच० एल० (१४) में, डब्ल्यू० एस० (२२), पृष्ठ ४९ ५०

तत्पश्चात् टानावान ने क्राच इन्टरनेशनल बुक स्टार और मार्शल फील्डस बुक डिपार्टमेन्ट के कर्मचारियों से पूछताछ की। इस अन्तर्वीक्षा से पता चला कि कथापुस्तकों की बिक्री अन्य सभी प्रकार की पुस्तकों में अधिक होती है।[1]

इसी प्रकार मिशौरी (Missouri) विश्वविद्यालय के छात्रों द्वारा पठित पुस्तकों का अध्ययन करने पर सेवरेंस (Severance) नामक विद्वान् ने पाया कि दो सप्ताह के भीतर सामान्य पुस्तकालय से छात्रों द्वारा ली गई पुस्तकों में से २०८ कथापुस्तकें, ३२ कविता पुस्तकें, २० ऐतिहासिक वर्णन सम्बन्धी पुस्तकें, १८ जीवनियाँ, ७ धार्मिक पुस्तकें, ८ नाटक और ३४ विभिन्न प्रकार की पुस्तकें थी।[2]

एक दूसरे अध्ययन में हेल और कैरोल नामक मनोवैज्ञानिकों ने १४३ छात्रों से उनके प्रिय लेखकों का, जिनकी पुस्तक वे बहुधा पढ़ते थे, नाम पूछा और उन्होंने जो नाम बताए उनमें से एक को छोड़कर अन्य सभी उपन्यासकार और कहानीकार थे।[3] इस पूछताछ से यह भी पता चला कि यथार्थवादी उपन्यासकारों की अपेक्षा रोमांस और उत्तेजनात्मक कथाओं के लेखक अधिक पसन्द किए जाते हैं।

शिकागो के १०० वयस्कों की पठनरुचि का अध्ययन ग्रे और मनरो नामक मनोवैज्ञानिकों ने किया।[4] उनमें से ७४ ने बताया कि वे पत्रिकाओं में कहानियाँ, 'बहुत पसन्द' करते हैं। २१ ने 'थोड़ा' बताया और ५ ने बताया कि वे कहानी पसन्द नहीं करते। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि वयस्कों में कथापुस्तकें सर्वाधिक लोकप्रिय होती हैं। हल्कीफुल्की साहसिकता की कहानियों और भावुकतापूर्ण रोमांसों में लोगों की लगभग समान रुचि दिखाई दी। ग्रे और मनरो द्वारा प्रस्तुत किये गए निष्कर्षों से भी इस कथन की पुष्टि होती है।[5]

प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा की गई कुछ जाँचों में भी वयस्कों में कथासाहित्य की लोकप्रियता प्रमाणित होती है। पटना कॉलेज के बी० ए० कक्षा के ४०० छात्रों में से २९५ छात्रों ने तथा एम० ए० कक्षा के १५० छात्रों में से १०४ ने कविता, कहानी, नाटक, जीवनी सामान्य विज्ञान तथा उपन्यास में उपन्यास को अपने पसन्दक्रम में प्रथम स्थान दिया। तीन गाँवों के[6] पढ़ने वाले १८० वयस्कों में से १७५ ने कथासाहित्य (जिनमें धार्मिक कथाओं की प्रधानता थी) के प्रति अपनी सबसे अधिक रुचि बताई। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की खोजों से सिद्ध होता है कि वयवृद्धि के साथ रोमांस में रुचि घटने लगती है जबकि राजनैतिक और धार्मिक क्रियाकलापों में रुचि बढ़ जाती है। जैसे जैसे व्यक्ति की अवस्था अधिक होती जाती है वैसे वैसे उसके द्वारा पठित सामग्री के प्रकार में भी गुणवृद्धि होती जाती है।

---

१ सेवरेंस एच० ओ० (१४) ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२) पृ० ७८।
२ ग्रे डब्ल्यू० एस० (२०) पृ० ०।
३ हेल और कैरोल (४) ग्रे, डब्ल्यू० एस (२२) पृष्ठ ८।
४ ग्रे डब्ल्यू० एस० (२२) पृष्ठ १ ४।
५ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२२), पृष्ठ १०।
६ उनो (जिला शाहाबाद, (बिहार) सोनागढ़ (जिला गया, बिहार) कुरौत (जिला मुंगेर बिहार)।

ावायु वयस्का मे वयेतर माहित्य की तुल्ना म कथासाहित्य अधिक लोकप्रिय हाता है, जबकि अधेन वयवाला तथा वृद्धा म ठीक इसके प्रतिकूल है। जबकि सभी वयवाले पाठक छोटी कहानिया, हास्य और क्रमश चलनेवाली कहानिया पस द करत है, वयवृद्धि के माथ समाचारा, राजनतिक लेखा और सम्पादकीय टिप्पणियो मे रुचि बढ़न लगती है। दिल्ली सावजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण स भी हम इम निष्कप पर पहुचत है कि वयवृद्धि के साथ ही साधारणत कथामाहित्य म रुचि घटती जाती है। दिल्ली पुस्तकालय के ४५ वप स अधिक वय के ६१% पाठका न बताया कि वे कथासाहित्य पस द करते है, जबकि २६ स ३५ वप के वयवाले पाठका म यह अनुपात ६०% था।[१] दि इ स्टिट्यूट आफ पब्लिक आपीनियन, दिल्ली क तत्वावधान म किये गय सर्वेक्षण स भी इम तथ्य की पुष्टि हाती है कि अधिक वय क पाठको की तुल्ना मे कम वय के पाठक और विवाहितो की अपेक्षा अविवाहित पाठक उपन्याम और जामूसी कथाए अधिक पसद करते है। निम्नलिखित मारणी म इम कथन का पुष्टि हाती है —

	उत्तरदाताओ की मख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाए	कविता	प्रौद्योगिक पुस्तक	समाज विज्ञान
विवाहित	६७५	२४ ३	२६ ५	४२ १	१४ २	१८ २	३ १	६ ५
अविवाहित	३६४	३९ ८	३ २	६८ ८	२४ ७	३८ १	५ ५	१३ ५
कुल	१०३९	२९ ७	३० ८	५० ?	१८ ३	२३ ८	३ ९	८ ९
अवस्था २१ ३५	६३२	०	३१ ४	५८ २	२१ ६	२८ ५	४ ३	८ ८
३६ ५०	२९०	२३ ८	७ १	४१ ३	११ ०	१८	८	७ ६
५० स ऊपर	११७	२१ ४	१ ९	२६ ५	५ १	११	४	७ ७
कुल	१०३९	२९ ७	० ८	५० १	१८ ३	२ ८	९	८ ९

उपर्युक्त विवेचन स यह प्रमाणित हाता है कि वयस्क पाठको म कथासाहित्य पढ़ने की रुचि सर्वाधिक प्रमुख हाती है। वयस्क किम प्रकार का कथा पस द करत है यह अनक हेतुआ पर निभर है, पर वय का प्रभाव भी उनकी पठनरुचि पर पड़ता है। पूव पृष्ठ म दिये गये आँकडा से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था म प्रेमकथाए बहुत अधिक पस द की जाती है। किन्तु भी किशोरावस्था की तुल्ना म प्रौढावस्था की पठनरुचि का परिसर विस्तृत हाता है और प्रेमकथाओ के साथ सामाजिक विषया का चित्रण भी पस द किया जान लगता

१ एम० एम० एल०, टडन (७०), पृष्ठ ६२१।

है। वयस्क पाठक मस्ती तथा दिवास्वप्नात्मक प्रेमकथाओं की अपेक्षा यथार्थ जीवन का चित्र प्रस्तुत करनेवाले उपन्यास अधिक पसन्द करते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा संकलित आँकड़ों से भी यह कथन प्रमाणित होता है। पटना कालेज के आइ० ए० कक्षा के ७५० छात्रों में से ५५८ छात्रों ने अपने द्वारा स्कूल में पठित उपन्यासकारों में प्रमुखतः कुशवाहा कांत, प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, देवकीनन्दन खत्री और प्यारे लाल आवारा के नाम बताए। उपन्यासकारों के नाम उनकी लोकप्रियता क्रम से ही दिये गये हैं। बी० ए० कक्षा के ४०० छात्रों में से २९० ने बताया कि उन्होंने कॉलेज में प्रवेश करने के बाद (प्रमुखतः) प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, भगवती चरण वर्मा, प्रसाद, अश्क, कृष्णचन्दर और कुशवाहाकांत के उपन्यास पढ़े हैं। स्नातकोत्तर कक्षा के १५० छात्रों में से ८२ ने बताया कि उन्होंने एम० ए० कक्षा में प्रवेश करने के बाद प्रेमचन्द, भगवती चरण वर्मा, अज्ञेय, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट, भारती, उपेन्द्रनाथ अश्क, कृष्णचन्दर आदि के उपन्यास पढ़े थे। इन आँकड़ों से ज्ञात होता है कि अवस्थावृद्धि के साथ, और सम्भवतः शिक्षावृद्धि के साथ भी, रूमानी प्रेमकथाओं में पाठकों की रुचि कम होती जाती है तथा यथार्थवादी उपन्यासों में रुचि बढ़ती जाती है।

इस कथन से यह भ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिए कि अनिवार्यतः किशोरावस्था की समाप्ति के बाद साहसप्रधान और रूमानी कथाओं से रुचि का स्थानान्तरण यथार्थवादी कथाओं पर हो जाता है। उपर्युक्त अध्ययन में जो ऐसा दीख पड़ता है वह वयवृद्धि का कम, छात्रों के शैक्षणिक और बौद्धिक विकास का परिणाम अधिक है। वयस्क पाठकों में भी किशोर पाठकों की तरह साहसिकताप्रधान तथा रूमानी कथाएँ पढ़ने की रुचि पायी जाती है। हाइडपार्क, शिकागो के १०० निवासियों की पठनरुचि का अध्ययन करने पर ग्रे तथा मनरो ने पाया था कि वे हत्यापूर्ण साहसिकता तथा भावुकताप्रधान रूमानी कथाएँ अधिक पसन्द करते हैं।[1]

(१) वयस्कों की मानसिक स्थिति और पठनरुचि पर उसका प्रभाव

प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था में प्रेमकथाएँ क्यों सर्वाधिक लोकप्रिय होती हैं यह विचारणीय है। इस प्रश्न का उत्तर तरुण प्रौढ़ों की मानसिक अवस्था में ही निहित है। जैसा कि रेमंड जी० कुहलेन ने लिखा है मनुष्य में, लगभग १५ वर्ष की अवस्था में, विषम लिंगी व्यक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न होती है और २५ वर्ष की अवस्था तक यह सर्वाधिक प्रमुख बनी रहती है।[2] इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि २५ वर्ष की अवस्था के बाद कामरुचि समाप्त हो जाती है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अनुसन्धानों से यह सिद्ध हो चुका है कि कामरुचि और कामेच्छा उतनी जल्दी नहीं समाप्त होती, जितना सामान्यतः विश्वास किया जाता है। ५० वर्ष की अवस्था के बाद भी मनुष्यों में कामरुचि का होना सामान्य बात है।[3] फिर भी प्रौढ़ावस्था के बाद से ही कामरुचि में ह्रास की प्रवृत्ति आरम्भ हो जाती है। विवाह, कार्यव्यस्तता और शारीरिक शक्ति में कमी आ जाने के कारण काम तथा विषमलिंगियों के प्रति पहले जैसा तीव्र आकर्षण

१ ग्रे, डब्ल्यू० एस० ( ), पृ० २१।
२ कुहलेन रा० जी० (२४), पृ० २१२।
३ हर्लॉक, ई० बी० (२८) पृ० ४०३

नही रह जाता । इसके साथ सामाजिक वर्जनाएँ प्रारम्भिक प्रौढावस्था के बाद के व्यक्तियों को यह अनुभव करने को बाध्य करती हैं कि किसी प्रकार की भी कामसम्बन्धी वार्ता में रुचि प्रदर्शित करना अच्छा नहीं है । इन कारणों से वयवृद्धि के साथ कामरुचि घटने लगती है, और कामभावना का चित्रण करने वाला साहित्य भी उपेक्षित होने लगता है ।

उत्तरवर्ती प्रौढावस्था में, विशेषकर भारत जैसे आस्तिकताप्रधान देश में, धर्म के प्रति आकर्षण की वृद्धि नितान्त स्वाभाविक है । पितृत्व के उत्तरदायित्वों को सँभालने के साथ ही मातापिता का धर्म की ओर झुकाव तेजी से होने लगता है । प्रारम्भिक प्रौढावस्था समाप्त होते होते ईश्वर और धर्म के प्रति किशोरावस्था की शंकाओं का भी समाधान हो गया रहता है । परिणामतः घर में धार्मिक वातावरण की पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है । अधेड पुरुष और स्त्रियाँ मन्दिर जाने तथा धार्मिक कृत्यों में, अपनी युवावस्था की अपेक्षा, अधिक रुचि दिखाती हैं । और चूँकि उनकी युवावस्था की अधिकांश रुचियाँ प्रौढावस्था में या तो छूट जाती हैं या दबल पड जाती हैं, इस कारण, उनकी धार्मिक रुचि पुरानी रुचियों का, जो अब प्रमुख नहीं रह जाती, दूर कर उनके जीवन की एक आवश्यकता की पूर्ति करती है । बहुत से अधेड व्यक्ति धर्म में सुख और प्रसन्नता का एक ऐसा स्रोत प्राप्त करते हैं, जिसका उन्होंने अपनी युवावस्था में, धर्म में, कभी अनुभव नहीं किया था ।

यही कारण है कि अधेडावस्था के आगमन के साथ भारतीय पाठकों की रुचि धर्म कथाओं की तरफ तेजी से झुकने लगती है और यह रुचि मृत्युपर्यन्त बनी रहती है ।

(VI) पठनरुचि पर वृद्धावस्था का प्रभाव—

वृद्ध पुरुषों की मनोविनोदात्मक रुचि, नियमतः, अधेड व्यक्तियों की रुचि के समान होती हैं । पचास वर्ष की अवस्था के बाद अधिकांश व्यक्ति अपनी रुचि में किसी भी प्रकार का परिवर्तन पसन्द नहीं करते । पर चूँकि वयवृद्धि के साथ उनका स्वास्थ्य गिरने लगता है, शक्ति क्षीण होने लगती है तथा उनकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हो जाता है, अतः उनकी रुचि में भी परिवर्तन की झलक दिखाई पडने लगती है । इन कारणों से वृद्ध व्यक्ति के लिए अपनी परिस्थितियों से समंजन करना बडा कठिन हो जाता है । धीरे धीरे वह एकान्त प्रेमी होता जाता है और संसार में उसका यदि कोई सच्चा मित्र रह जाता है तो केवल पुस्तकें । शारीरिक दुर्बलता और अस्वस्थता के कारण भी वह बैठकर किये जाने वाले कार्यों में अधिक रुचि दिखाने लगता है, तथा उन कार्यों से उसकी विरक्ति हो जाती है, जिनमें बल और शक्ति की अपेक्षा होती है । परिणामतः पठन वृद्ध पुरुषों के समय काटने का एक सामान्य साधन हो जाता है । उनकी पठनमात्रा युवावस्था में निर्मित पठनरुचि और दृष्टिक्षमता पर निर्भर करती है । जहाँ तक पठनप्रकार का प्रश्न है उनकी पठनसामग्री उत्तरवर्ती प्रौढावस्था की पठनसामग्री से बहुत भिन्न होती है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है वयवृद्धि के साथ पुस्तकपठन में रुचि कम होती जाती है तथा समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में रुचि बढ़ती जाती है । कथापुस्तकों के प्रति वृद्धों की रुचि तो रहती है पर अब वे प्रेम तथा रूमानी कथाएँ पढने में अधिक रुचि नहीं

दिखाते। या तो वे श्रेष्ठ उपन्यास पढ़ते हैं या धार्मिक कथाएँ। इसका कारण उनकी काम शक्ति का शनै शनै क्षीण होना, सामाजिक दृष्टिकोण, परलोकचिन्तन तथा धर्म और जीवन दर्शन का अधिक महत्वपूर्ण बनना है।

(ड) पठनरुचि पर लिंगभेद का प्रभाव

व्यक्ति की रुचि पर लिंगभेद का प्रभाव पड़ता है, यह निर्विवाद है। स्त्रियों के शारीरिक और मानसिक विकास की धारा तथा उनकी सामाजिक स्थिति पुरुषों से भिन्न होती है। शैशवावस्था से ही पुरुषों में पुरुषोचित गुणों का—शारीरिक शक्ति, साहस, ओज, वीरता आदि—तथा स्त्रियों में स्त्रियोचित गुणों का—प्रेम, कोमलता, सहानुभूति, लज्जा आदि—अधिक मात्रा में विकास होने लगता है। यह स्मरणीय है कि स्त्रियों तथा पुरुषों में उनके विशिष्ट गुण सापेक्ष रूप में ही एक दूसरे से अधिक होते हैं, अन्यथा पुरुषों में स्त्रियोचित गुणों का तथा स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों का अभाव नहीं होता। पर सामान्यत शारीरिक शक्ति तथा भावदशा की दृष्टि से स्त्री और पुरुष एक दूसरे से भिन्न होते हैं। स्त्रियों में सामान्यत पुरुषों की तुलना में शारीरिक शक्ति कम होती है तथा सामाजिक बंधनों के कारण (विशेषकर भारत जैसे देश में) वे घर के बाहर निर्बाध रूप से नहीं निकल सकतीं। इस कारण वैसे मनोरंजनों में, जिनमें शारीरिक शक्ति तथा घर से बाहर निकलने की आवश्यकता होती है, स्त्रियों की रुचि अत्यल्प होती है। इसकी पूर्ति स्त्रियाँ घर के अन्दर सपन्न किये जानेवाले मनोरंजनों से, जिनमें पठन प्रमुख है, करती हैं। यही कारण है कि सभी वय की स्त्रियाँ, यदि वे शिक्षित हैं, पुरुषों की अपेक्षा पढ़ने में अधिक रुचि रखती हैं, तथा उनकी पठनरुचि भी पुरुषों से भिन्न होती है।

भारत में स्त्रियों और पुरुषों की सामाजिक तथा शैक्षणिक स्थिति में अधिक भिन्नता होने के कारण इनकी पठनमात्रा तथा पठनरुचि में जमीन आसमान का फर्क पाया जाता है। दि इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन के तत्वावधान में किये गये एक सर्वेक्षण से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भारत में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा कम पढ़ती हैं, बंबई और कलकत्ता के १०३९ वयस्कों से, जिनमें ९१९ पुरुष और १२० स्त्रियाँ थीं, यह पूछा गया कि "आप अपनी छुट्टियाँ किस प्रकार व्यतीत करते हैं?" २२.७% पुरुषों ने और १४.२% स्त्रियों ने बताया कि वे पढ़ती हैं।[1] इसका प्रमुख कारण स्त्रियों में शिक्षा की कमी है।

भारत में स्त्री-साक्षरता का प्रतिशत पुरुष-साक्षरता की तुलना में अत्यल्प है। जिस अवधि (१८०० १९१० ई०) की पठनरुचि का हम विशेष अध्ययन कर रहे हैं उस समय तो यह अन्तर और भी अधिक था। स्त्रियों की सामाजिक स्थिति भी पुरुषों से नितान्त भिन्न है। अधिकांश स्त्रियों का जीवन घर की चहारदीवारी के अन्दर बीतता है। अब भी अधिकांश लोग लड़कियों को शिक्षा देना अनुचित समझते हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्री शिक्षा के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है, जिससे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति में दिनादिन सुधार हो रहा है, पर विवेच्य काल (१८०० १९१०) में स्त्री शिक्षा और स्त्री स्वतंत्रता के प्रति पुरुष वर्ग अत्यधिक अनुदार था।

१ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१) पृ० ३०

भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने अभी तक पठनरुचि पर लिंगीय प्रभाव का अध्ययन नहीं किया है, पर विदेशों में इस सम्बन्ध में अनेक अनुसंधान किये गये हैं। आगे की पंक्तियों में हम पाश्चात्य विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर ही पठनरुचि पर लिंगीय प्रभाव का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

(I) बालकबालिकाओं की पठनरुचि

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार[1] आठ नौ वर्ष के वय तक बालकबालिकाओं की पठनरुचि में बहुत कम भिन्नता होती है। पर लगभग १० १२ वर्ष के वय में बालकबालिकाओं की पठनरुचि एक दूसरे से काफी भिन्न हो जाती है। इस वय के बालक युद्ध और स्काउटिंग, स्कूल और खेलकूद तथा साहसिकताप्रधान वर्णनों में अधिक रुचि दिखाते हैं, जबकि बालिकाएँ घर और स्कूली जीवन, परियों तथा प्रेम की कहानियों में अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं। लड़के वैसी कथाओं की तरफ आकृष्ट होते हैं, जिनका विषय पुरुषत्वप्रधान होता है, और जो पुरुषत्व के दृष्टिकोण से लिखी गयी रहती हैं। इन कथाओं में पर्याप्त मात्रा में अपराध और हत्या का वर्णन होता है, अथवा इनका विषय खेलकूद और व्यायाम से पूर्ण हो सकता है। दूसरी तरफ लड़कियाँ वैसा कथापुस्तकें पसन्द करती हैं, जिनमें स्त्रीचरित्रों तथा रोमांस का बाहुल्य होता है।[2] जहाँ लड़के कथेतर पुस्तकों में भी रुचि रखते हैं, वहाँ लड़कियों की रुचि प्राय कथेतर पुस्तकों में नहीं होती।[3] जे० एम० स्टीफेंस के अनुसार लड़कों की अपेक्षा लड़कियों का झुकाव कथा की तरफ अधिक होता है।[4] लड़कियों की अपेक्षा लड़के पत्रिकाएँ अधिक पढ़ते हैं, तथा समसामयिक घटनाओं में उनकी रुचि अपेक्षाकृत अधिक होती है।[5] इसके अतिरिक्त लड़के सामान्य विज्ञानसम्बन्धी पुस्तकें और कहानियाँ तथा लड़कियाँ प्रकृति सम्बन्धी पुस्तकें और कहानियाँ पसन्द करती हैं।[6]

एल्मि एम० कर्ली नामक विदुषी ने ६ से लेकर १४ वर्ष तक की अवस्थावाली बालकबालिकाओं की पठनरुचि का वयोनुरूप तुलनात्मक विवरण अपने अध्ययन में दिया है।[7] इस तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि आठ वर्ष की अवस्था से ही बालकबालिकाओं की पठनरुचियों में भिन्नता दिखाई पड़ने लगती है। १० १२ वर्ष की अवस्था में तो यह रुचिभेद बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में यथार्थ जीवन के प्रति औत्सुक्य पहले उत्पन्न होता है। लड़कियों में परी कथाओं के प्रति रुझान लड़कों की अपेक्षा कुछ बाद तक बनी रहती है। लड़कों में वीरता और युद्ध की कहानियों में रुचि लड़कियों की अपेक्षा पहले जगती है जब कि प्रेमकथाओं में लड़कियों की रुचि पहले (११ वर्ष की अवस्था में) और लड़कों की रुचि बाद में (१४ वर्ष की अवस्था में) उत्पन्न होती है।

---

१ मे, डब्ल्यू० एम० (२३) तथा (१२), पृ० २०७
२ हरलॉक, ई० बी० (२८), लेटर चाइल्डहुड
३ उपरिवत् (२८)
४ स्टीफेंस जे० एम० (४८), पृ० ५७५
५ हरलॉक, ई० बी० (२८)
६ टर्मन और लीमा (५९)
७ मे, डब्ल्यू० एस० (२२), पृ० ११०

उपयुक्त रुचिभिन्नताओं में से कुछ का कारण बालकबालिकाओं की शारीरिक और सावेगिक भिन्नता न होकर सामाजिक दृष्टिकोण है। मातापिता तथा अन्य लोग बच्चों को वीर, साहसी, पुरुषार्थी आदि बनाना चाहते हैं, इसलिए वे उन्हें ऐसी कथाएँ पढ़ने को प्रोत्साहित करते हैं। बालक भी वीर तथा पुरुषार्थी नायकों में तादात्म्य स्थापित कर अपनी अतृप्त आकांक्षा पूरी करते हैं। लड़कियों के प्रति मातापिता तथा अन्य लोगों का दृष्टिकोण भिन्न रहता है। वे लड़कियों को नम्र, कोमल, गृहकार्य में पटु आदि के रूप में ही देखना चाहते हैं। उन्हें महिलोपयोगी पुस्तकें ही पठनार्थ दी जाती हैं।

प्रेमकथाओं में लड़कियों की रुचि पहले और लड़कों की रुचि बाद में उनकी अपनी अपनी मानसिक अवस्थाओं की भिन्नता के कारण उत्पन्न होती है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लड़कियों में लड़कों की अपेक्षा कामरुचि का जागरण पहले होता है, तथा कामात्मक प्रौढ़ता प्राप्त करने में वे लड़कों से अग्रेसर होती हैं।

(II) किशोरकिशोरियों की पठनरुचि—

किशोरावस्था में लड़कों और लड़कियों की पठनरुचि में शैशवावस्था की अपेक्षा अधिक भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अमरीकी मनोवैज्ञानिक लेस्टर डी० क्रो और एलिस क्रो के अनुसार किशोर बालकों की सर्वाधिक रुचि समाचारपत्र के खेलकूदसम्बन्धी पृष्ठ में तथा बालिकाओं की रुचि महिलाओं तथा चलचित्रों से सबद्ध पृष्ठ में होती है।[1] डब्ल्यू० अब्राहम के अनुसार सामान्यतः किशोर बालक उन पत्रिकाओं को पसन्द करते हैं जिनमें विज्ञान और यान्त्रिकी की चर्चा, साहसपूर्ण कहानियाँ तथा वीर पुरुषों के जीवन का वृत्तान्त रहता है। किशोरी बालिकाएँ किशोरों की रुचिवाली पत्रिकाएँ भी पसन्द करती हैं पर उनके द्वारा रुमानी कथाओंवाली पत्रिकाएँ अधिक पसन्द की जाती हैं। कुछ अवस्थाओं में वे घरलू विषयों से सबद्ध पत्रिकाएँ भी पसन्द करती हैं। लड़कियाँ इस अवस्था में लम्बी कहानियाँ पसन्द करती हैं, जबकि लड़कों की रुचि छोटे लेखों और कहानियों में होती है।[2]

पुस्तकपठन के क्षेत्र में भी किशोरकिशोरियों की रुचि में अंतर दिखाई पड़ता है। रुमानी प्रेमकथाओं में लड़कियों की रुचि लड़कों की अपेक्षा अधिक होती है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक पढ़ती हैं। वीरता, साहस, युद्ध तथा जासूसी कथाओं में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की रुचि अधिक होती है। एलिस एम० कर्नी द्वारा प्रस्तुत किये गये निष्कर्षों के अनुसार किशोरावस्था के आरम्भ में (१२-१४ वर्ष की अवस्था में) लड़कों की सर्वाधिक रुचि साहसिकता, युद्ध, वीरता तथा जासूसी कहानियों में होती है जबकि लड़कियों की रुचि प्रेमकथाओं में अधिक होती है।[3] वयोवृद्धि के साथ साहसिकता, युद्ध और जासूसी कहानियों में भी लड़कियों की रुचि होती जाती है पर वे लड़कों के अनुपात में इन्हें कम ही पसन्द कर पाती हैं। टरमन और लिमा के अनुसार बालक इस वय में विज्ञान और आविष्कार की कथाएँ तथा लड़कियाँ रुमानी कथाएँ अधिक पसन्द करती हैं।[4] इन तथ्यों की पुष्टि प्रस्तुत पंक्तियों के

---

१ क्रो, एल० डी० (१३)

२ अब्राहम, डब्ल्यू० (२)

३, मे, डब्ल्यू० एम० (२२), पृ० ११०।

४ हरलॉक, ई० बी० (२८)

लेखक द्वारा किये गये परीक्षणो से भी होती है। पटना विश्वविद्यालय की छात्रछात्राओ की पठनरुचि का अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि छात्राए प्रेम और रुमानी कथाएँ, छात्रो की अपेक्षा अधिक पढती हैं। जासूसी, तिलस्मी और ऐतिहासिक उपन्यासो म म उनकी रुचि लडको की अपेक्षा बहुत कम होती है।

निम्नलिखित सारणी मे उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

	रुमानी उपन्यास	जासूसी उपन्यास	तिलस्मी उपन्यास	ऐतिहासिक उपन्यास	सामाजिक उपन्यास	कुल
लडके	११६	५५	८२	६४	१३५	१५०
लडकियाँ	१४२	२८	७०	२३	१३०	१५०

किशोरावस्था की लडकिया म लडको की अपेक्षा रुमानी प्रेमकथाओ मे अधिक रुचि होने का कारण उनका लडको की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से कामात्मक प्रौढता प्राप्त कर लेना है। सभी मनोवैज्ञानिको ने यह स्वीकार किया है कि लडकियाँ कामात्मक प्रौढता प्राप्त करने म लडको से आगे होती हैं। दूसरी तरफ लडके शारीरिक शक्ति, साहस तथा वीरता की भावना मे लडकियो से बढे चढे होते हैं। इस कारण लडकियो का रुमानी कथाओ म और लडको का जासूसी, वीरतापूर्ण तथा युद्धात्मक कहानिया म अधिक रुचि रखना नितान्त स्वाभाविक है।

(III) प्रौढ पुरुषों तथा स्त्रियों की पठनरुचि—

प्रौढावस्था मे भी स्त्रीपुरुषो की पठनरुचि परस्पर भिन्न होती है, पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियो मे अवस्थानुसार पठन की मात्रा और प्रकार मे अधिक परिवर्तन होता है। २५ वष से कम वयवाले पुरुष समाचारपत्रो और पत्रिकाओ की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढते हैं, पर इसके बाद, वयवृद्धि के साथ समाचारपत्रो मे उनकी रुचि बढने और पुस्तको मे रुचि घटने लगती है। इसके विपरीत स्त्रिया मे वयवृद्धि के साथ पुस्तकपठन की मात्रा मे वृद्धि होती जाती है।[१] पासन के अनुसार पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सख्या मे पुस्तकें पढती हैं। वे न केवल अधिक पुस्तकें पढती हैं, वरन् वे कम समय म भी पुस्तकें समाप्त कर लेती हैं। पुरुष स्त्रिया की अपेक्षा समाचारपत्र पढने म अधिक समय देते है।[२] ग्रे तथा मनरो द्वारा प्रस्तुत किये गये अध्ययन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[३]

स्त्रिया और पुरुषो के पठनप्रकार म भी भिन्नता दिखायी पडती है। ग्रे और मनरो नामक मनोवैज्ञानिको का निष्कर्ष है कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रिया म कथासाहित्य के प्रति

१ फासवथ, ओ० के० (१७) पृ० ३१
२ पासन्स, आर० बी० (२९), पृ० ३२
३ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२२) पृ० १४१, १५३

अधिक झुकाव होता है। उनके द्वारा परीक्षित व्यक्तियों में कथासाहित्य पढ़ने वाली स्त्रियों की सख्या जहाँ ५०% थी वहाँ पुरुषों की संख्या केवल ३४% थी।[1] नाथ इवास्टन के १७० व्यक्तियों की सम्मिश्र अंतर्वीक्षा करने के पश्चात् भी उक्त विद्वानों ने इसी प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त किये थे।[2] डानावान नामक मनोवैज्ञानिक भी क्रॉच इंटरनेशनल बुक स्टोर और मार्शल फील्डस बुक डिपार्टमेंट के कर्मचारियों की अंतर्वीक्षा करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे थे कि कथासाहित्य में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक रुचि रखती हैं।[3] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि वहाँ के ७६% स्त्री पाठक और ६६ ५% पुरुष पाठक कथासाहित्य पसन्द करते थे।[4] दि इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन के तत्त्वावधान में किये गये सर्वेक्षण से भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ (६० ८%) पुरुषों की अपेक्षा (४८ ६%) उपन्यास पढ़ने में अधिक रुचि रखती हैं।[5] जासूसी कथाओं में भी स्त्रियों की (२३ ३%) रुचि पुरुषों से (१७ ६%) अधिक होती है।[6] नीचे दी गयी सारणी से स्त्रियों और पुरुषों की तुलनात्मक पठनरुचि का पता चलता है।

किस प्रकार की पुस्तकें आपको बहुत अच्छी लगती हैं?

भारतीय भाषाएँ प्रतिशत

लिंग	उत्तरदाताओं की संख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाएँ	कविता	प्रोद्योगिक ढंग की पुस्तकें	समाज विज्ञान
पुरुष	९१९	२९ ४	२९ ८	४८ ६	१७ ६	२४ ४	४ ५	९ ७
स्त्री	१२०	३२ ५	३८ ३	६० ८	२३ ३	१९ २	—	३ ३
कुल जोड़	१०३९	२९ ७	३० ८	५० १	१८ ३	२३ ८	३ ९	८ ९

अब हम संक्षेप में प्रौढ़ावस्था की पठनरुचि पर लिंगजन्य प्रभावों के कारणों का विवेचन करें। वयवृद्धि के साथ स्त्रियाँ पुस्तकें और पुरुष समाचारपत्र अधिक पढ़ते हैं। इसका कारण स्त्रियों और पुरुषों की स्थितिभिन्नता है। अब भी स्त्रियों का जीवन पुरुषों की तुलना में घरों में अधिक बीतता है। पुरुष घर के बाहर काम करते हैं और उन्हें लगातार घंटा दो घंटा समय पढ़ने का नहीं मिल पाता। ट्रेन या बस में जाते समय या काम के बीच में उन्हें ५ १० मिनट का समय ही पढ़ने का मिलता है, जिसमें पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्र या

१ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२) पृ० १५३, १४
२ ग्रे डब्ल्यू० एस० (२२) पृ० १८
३ डोनावान, एच० एल० (१४), ग्रे डब्ल्यू० एस० (२२), पृ० ५०
४ एम० एम० एल० टंडन (७०) पृ० ५२०
५ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृ० ५४
६ उपरिवत्।

लेखक द्वारा किये गये परीक्षणों से भी होती है। पटना विश्वविद्यालय की छात्रछात्राओं की पठनरुचि का अध्ययन करके मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि छात्राएं प्रेम और रूमानी कथाएँ, छात्रों की अपेक्षा अधिक पढती हैं। जासूसी, तिलस्मी और ऐतिहासिक उपन्यासों में उनकी रुचि लडकों की अपेक्षा बहुत कम होती है।

निम्नलिखित सारणी में उक्त तथ्य की पुष्टि होती है—

	रूमानी उपन्यास	जासूसी उपन्यास	तिलस्मी उपन्यास	ऐतिहासिक उपन्यास	सामाजिक उपन्यास	कुल
लडके	११६	५५	८२	६४	१३५	१५०
लडकियां	१४२	२८	७०	२१	१३०	१५०

किशोरावस्था की लडकियों में लडकों की अपेक्षा रूमानी प्रेमकथाओं में अधिक रुचि होने का कारण उनका लडकों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से कामात्मक प्रौढता प्राप्त कर लेना है। सभी मनोवैज्ञानिकों ने यह स्वीकार किया है कि लडकियाँ कामात्मक प्रौढता प्राप्त करने में लडकों से आगे होती हैं। दूसरी तरफ लडके शारीरिक शक्ति, साहस तथा वीरता की भावना में लडकियों से बढ चढे होते हैं। इस कारण लडकियों का रूमानी कथाओं में और लडकों का जासूसी, वीरतापूर्ण तथा युद्धात्मक कहानियों में अधिक रुचि रखना नितान्त स्वाभाविक है।

(III) प्रौढ पुरुषों तथा स्त्रियों की पठनरुचि—

प्रौढावस्था में भी स्त्रीपुरुषों की पठनरुचि परस्पर भिन्न होती है, पर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अवस्थानुसार पठन की मात्रा और प्रकार में अधिक परिवर्तन होता है। २५ वर्ष से कम वयवाले पुरुष समाचारपत्रों और पत्रिकाओं की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं, पर इसके बाद, वयवृद्धि के साथ समाचारपत्रों में उनकी रुचि बढ्ने और पुस्तकों में रुचि घटने लगती है। इसके विपरीत स्त्रियों में वयवृद्धि के साथ पुस्तकपठन की मात्रा में वृद्धि होती जाती है।[1] पासन के अनुसार पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक सख्या में पुस्तकें पढ्ती हैं। वे न केवल अधिक पुस्तकें पढती है, वरन् वे कम समय में भी पुस्तकें समाप्त कर लेती हैं। पुरुष स्त्रियों की अपेक्षा समाचारपत्र पढ्ने में अधिक समय देते हैं।[2] ग्रे तथा मनरो द्वारा प्रस्तुत किये गये अध्ययन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[3]

स्त्रियों और पुरुषों के पठनप्रकार में भी भिन्नता दिखायी पडती है। ग्रे और मनरो नामक मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कथासाहित्य के प्रति

१ फासवथ, वो० कै० (१७) पृ० ३१
२ पास स, आर० बी० (२९) पृ० ३०
३ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२२) पृ० १४१, १५३

अधिक झुकाव होता है। उनके द्वारा परीक्षित व्यक्तियों में कथासाहित्य पढ़ने वाली स्त्रियों की संख्या जहाँ ५०% थी वहाँ पुरुषों की संख्या केवल ३४% थी।[1] नाथ इवान्स्टन के १७० व्यक्तियों की संक्षिप्त अंतर्वीक्षा करने के पश्चात् भी उक्त विद्वानों ने इसी प्रकार के निष्कर्ष प्राप्त किये थे।[2] डानोवान नामक मनोवैज्ञानिक भी ब्रांच इंटरनेशनल बुक स्टोर और मार्शल फील्डस बुक डिपार्टमेंट के कर्मचारियों की अंतर्वीक्षा करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे थे कि कथासाहित्य में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक रुचि रखती हैं।[3] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि वहाँ के ७६% स्त्री पाठक और ६६ ५% पुरुष पाठक कथासाहित्य पसन्द करते थे।[4] दि इंडियन इंस्टिट्यूट ऑफ पब्लिक ओपीनियन के तत्त्वावधान में किये गये सर्वेक्षण से भी ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ (६० ८%) पुरुषों की अपेक्षा (४८ ६%) उपन्यास पढ़ने में अधिक रुचि रखती हैं।[5] जासूसी कथाओं में भी स्त्रियों की (२३ ३%) रुचि पुरुषों से (१७ ६%) अधिक होती है।[6] नीचे दी गयी सारणी से स्त्रियों और पुरुषों की तुलनात्मक पठनरुचि का पता चलता है।

किस प्रकार की पुस्तकें आपको बहुत अच्छी लगती हैं?

भारतीय भाषाएं प्रतिशत

लिंग	उत्तरदाताओं की संख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाएँ	कविता	प्रौद्योगिक ढंग की पुस्तकें	समाज विज्ञान
पुरुष	९१६	२९ ४	२९ ८	४८ ६	१७ ६	२४ ४	४ ५	९ ७
स्त्री	१२०	३२ ५	३८ ३	६० ८	२३ ३	१९ २	—	३ ३
कुल जोड़	१०३६	२९ ७	३० ८	५० १	१८ ३	२३ ८	३ ९	८ ९

अब हम संक्षेप में प्रौढ़ावस्था की पठनरुचि पर लिंगजन्य प्रभावों के कारणों का विवेचन करें। वयवृद्धि के साथ स्त्रियाँ पुस्तकें और पुरुष समाचारपत्र अधिक पढ़ते हैं। इसका कारण स्त्रियों और पुरुषों की स्थितिभिन्नता है। अब भी स्त्रियों का जीवन पुरुषों की तुलना में घरों में अधिक बीतता है। पुरुष घर के बाहर काम करते हैं और उन्हें लगातार घंटा दो घंटा समय पठनार्थ नहीं मिल पाता। ट्रेन या बस में जाते समय या काम के बीच में उन्हें ५ १० मिनट का समय ही पठनार्थ मिलता है, जिसमें पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्र या

१ ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२२) पृ० १५३, १५५
२ ग्रे डब्ल्यू० एस० (२२) पृ० १८०
३ डोनोवान, एच० एल० (२४), ग्रे, डब्ल्यू० एस० (२२), पृ० ५०
४ एम० एम० एल० टंडन (७०), पृ० ५२०
५ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृ० ५४
६ उपरिवत्।

पत्रिकाए पढ़ना ज्यादा स्वाभाविक है। इसके प्रतिकूल स्त्रियों को कामधधों के बीच भी पठनार्थ घंटे दो घंटे का समय मिल जाता है।

स्त्रियों का पुरुषों की अपेक्षा कथासाहित्य के प्रति अधिक झुकाव शक्षणिक स्तर तथा भावदशा की भिन्नता के कारण होता है। अब भी, पाश्चात्य देशों में भी, पुरुषों का शैक्षणिक स्तर स्त्रियों की तुलना में सामान्यत ऊँचा है। पुरुषों का कार्यक्षेत्र भी स्त्रियों की अपेक्षा अधिक व्यापक और नानाविध होता है। राजनीति, प्रशासन, विज्ञान तथा समाजविज्ञान की विविध शाखाओं में नियुक्त स्त्रियों की सख्या पुरुषों की तुलना में अत्यल्प है। स्त्रियाँ अधिकतर गृहप्रबंध का काय करती हैं। परिणामत पुरुषों की पठनरुचि में व्यापकता और वैविध्य का आना सहज और अनिवार्य है।

प्रौढावस्था में पुरुषों और स्त्रियों में कुछ लिंगीय भिन्नताए भी होती हैं। प्रयोगात्मक साक्ष्यों से इस सामान्य विश्वास की पुष्टि होती है कि स्त्रियाँ, कुल मिलाकर, पुरुषों की अपेक्षा अधिक संवेगप्रधान होती है।[१] यह भी सिद्ध होता है कि विवाहित स्त्रियाँ अविवाहित स्त्रियों से अधिक सवेगप्रधान होती है, जब कि विवाहित और अविवाहित पुरुषों में सवेगात्मक भिन्नताए बहुत कम होती है। पुरुषों और स्त्रियों की कामरुचि, भिन्न भिन्न रूपों में, परिवर्तित होती है। पुरुषों में यह रुचि ३५ या ४० वर्ष की अवस्था तक बढ़ती है, और फिर मद गति से घटने लगती है। स्त्रियों में, इसके विपरीत, उनकी आयु के तीसरे दशक (३० ४०) में कामरुचि घटने लगती है। स्त्रियों में कामरुचि का ह्रास पुरुषों की अपेक्षा अधिक द्रुतगति से होता है। ३० ४० के वय के बाद स्त्रियाँ, विशेष कर हिन्दू स्त्रियाँ, धार्मिक अनुष्ठानों और धार्मिक कथाओं के पठन या श्रवण में अधिक रुचि लेने लगती हैं। 'इडियन इस्टीट्यूट आफ पब्लिक आपीनियन' दिल्ली के तत्वावधान में किये गये सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कम वयवाले व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक वयवाले व्यक्तियों में और पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में धार्मिक कार्यकलापों में अधिक रुचि होती है।[२] यही कारण है कि मध्यवर्ती तथा उत्तरवर्ती प्रौढावस्था में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों में प्रेम और रूमानी कथाओं के प्रति कम तथा धार्मिक कथाओं के प्रति अधिक झुकाव देखा जाता है।

वृद्धावस्था में स्त्रियों और पुरुषों की पठनरुचियों की भिन्नता प्रदर्शित करने वाला कोई अनुसंधान देखने को नहीं मिला है। सामान्यत यह कहा जा सकता है कि वृद्ध पुरुषों की तरह वृद्धा स्त्रियों की पठनरुचि भी उनकी उत्तरवर्ती प्रौढावस्था से भिन्न नहीं होती। वृद्ध स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही धार्मिक कथाए पढ़ने या सुनने में रुचि रखते है।

(च) 'पठनरुचि पर शैक्षणिक तथा बौद्धिक स्तर का प्रभाव"

(1) पठन मात्रा पर—

यह स्वयंसिद्ध है कि शिक्षा और पठन का प्रत्यक्ष तथा अन्योन्याश्रय संबंध है। पढ़ने के लिए कम से कम साक्षर होना अनिवार्य है, यद्यपि केवल साक्षरता पठनरुचि के लिए पर्याप्त नहीं। पठनयोग्यता एक साधन मात्र है और यह पाठक के शैक्षणिक स्तर पर आधारित है।

---

१ हरलॉक, ई० बी० (२८) पृ० २५६

२ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृ० ९६

जो व्यक्ति जितना अधिक शिक्षित होगा, उसमें पठनयोग्यता उतनी ही अधिक होगी। पठनयोग्यता ही व्यक्ति की पठनमात्रा और उसके पठनप्रकार का निर्धारण करती है। अधिक शिक्षित व्यक्ति कम शिक्षित और साक्षरमात्र व्यक्तियों से अधिक तथा उच्च कोटि की चीजें पढ़ते हैं।

पासन नामक मनोवैज्ञानिक ने विभिन्न शैक्षणिक सुविधाप्राप्त समुदायों की पठनमात्रा का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।[१] उनके निष्कर्षानुसार शैक्षणिक सुविधाओं की वृद्धि के साथ पठनमात्रा में वृद्धि हो जाती है। फास्तवथ के निष्कर्षों से भी उपयुक्त तथ्य की पुष्टि होती है।[२] इन अध्ययनों से ज्ञात होता है कि पठनमात्रा पर शैक्षणिक सुविधाओं का प्रभाव दो रूपों में पड़ता है। प्रथमतः शैक्षणिक सुविधाओं की वृद्धि के साथ पुस्तक और समाचारपत्रपठन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। द्वितीयतः कम शिक्षाप्राप्त समूह, औसत रूप से, समाचारपत्र पढ़ने में अपने पठनकाल का ज्यादा अंश व्यतीत करते हैं, जबकि अधिक शिक्षित व्यक्ति पुस्तकें ज्यादा पढ़ते हैं। ग्रे और मनरो के अनुसार कालेजों से निकले स्नातक उन वयस्कों की अपेक्षा, जिन्हें शैक्षणिक सुविधा कम मिली होती है, अधिक पढ़ते हैं। वे समाचारपत्र और पत्रिकाओं की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं। जिन लोगों को हाई स्कूल स्तर की शिक्षा मिली होती है, वे मध्यम मात्रा में पुस्तकें पढ़ते हैं, तथा केवल प्राथमिक स्तर की शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अत्यल्प मात्रा में पुस्तकें पढ़ते हैं।[१] दी इंडियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियन के तत्वावधान में किये गये सर्वेक्षण से भी ज्ञात होता है कि मैट्रिकुलेट और स्नातक लोग पढ़ना सबसे ज्यादा पसंद करते हैं।[४] कलकत्ते तथा बंबई के १०३६ वयस्कों से पूछा गया कि "सामान्यतः आप अपनी छुट्टियों में क्या करते हैं?" १.४% निरक्षरों ने, ५.६% मैट्रिक से कम शिक्षाप्राप्त लोगों ने, ३२.६% मैट्रिकों ने, ३५.९% स्नातकों ने तथा २०.०% अज्ञात ने बताया कि वे पढ़ते हैं। जब उनसे यह पूछा गया कि "क्या आप पुस्तकें पढ़ना पसंद करते हैं" तो ०% निरक्षरों ने, ६२.८% मैट्रिक से कम शिक्षाप्राप्त लोगों ने, ६१.५% मैट्रिकों ने, ६६.४% स्नातकों ने और ७३.३% अज्ञात लोगों ने इस प्रश्न का स्वीकारात्मक उत्तर दिया। इससे स्पष्ट पता चलता है कि शैक्षणिक स्तर की वृद्धि के साथ पठनमात्रा तथा पठनेच्छा में भी वृद्धि होती जाती है।

(II) पठनप्रकार पर शैक्षणिक योग्यता का प्रभाव—

पठनप्रकार पर भी शैक्षणिक भिन्नताओं का प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः कम शिक्षित पाठकों की अपेक्षा अधिक शिक्षित पाठकों की रुचि व्यापक और परिष्कृत होती है। शिकागो के १०० निवासियों की पठनरुचि का अध्ययन करने के पश्चात् ग्रे और मनरो इसी निष्कर्ष पर पहुंचे थे। उनके अनुसार कॉलेजों में शिक्षित व्यक्ति उच्च कोटि का साहित्य तथा कथेतर साहित्य पढ़ने में अधिक रुचि रखते हैं, जबकि स्कूली शिक्षाप्राप्त विरला ही कोई व्यक्ति होता है, जो कथासाहित्य के अतिरिक्त अन्य कुछ पढ़ता हो।[५] नॉथ इवास्टन के १७०

---

१ पासन आर० बी० (३९), पृ० ३६
२ फास्तवथ बी० के० (१७), पृ० ३६
३ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृ० ३०।
४ उपरिवत्, पृ० ४८
५ ग्रे डब्ल्यू०, एम० (२२), पृ० १५१

निवासियों की, जिनमें अधिकांश कुशल श्रमिक थे, संक्षिप्त व्यक्तिगत अन्तर्वीक्षा से भी ये ही निष्कर्ष प्राप्त हुए थे।[1] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से भी उपयुक्त तथ्य की पुष्टि होती है। १९५४-५५ ई० में उक्त पुस्तकालय के डिपाजिट स्टेशनों में कुल १०२४ सदस्य पाठक थे, जिनमें से कोई भी मैट्रिकुलेशन से अधिक शिक्षाप्राप्त नहीं था। इनमें से १७% पाठकों की शिक्षा प्राथमिक स्तर से अधिक की नहीं थी। इन पाठकों ने उक्त वर्ष में जो पुस्तकें पढ़ी थीं उनमें कथापुस्तकों की संख्या लगभग ८०% थी।[2] कुल मिलाकर दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के मैट्रिक से कम शिक्षा प्राप्त पाठकों में से ७४% कथासाहित्य पढ़ते थे जबकि स्नातक पाठकों में से केवल ४३% ही कथासाहित्य के पाठक थे।[3] दि इंडियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियन के तत्वावधान में किये गये अनुसंधान से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। निम्नलिखित सारणी इस कथन का प्रमाण है।[4]

किस प्रकार की पुस्तकें आपको बहुत अच्छी लगती हैं—प्रतिशत

शिक्षा	उत्तरदाताओं की संख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाएं	कविता	प्रौद्योगिक ढंग की पुस्तकें	समाज विज्ञान
निरक्षर	७२	—	२८	१४	—	१४	—	—
मैट्रिक से कम	३५५	२२०	२८५	४३१	२००	११३	१३	२५
मैट्रिक	४०२	४२८	३८१	६४४	२३१	३४३	५७	११६
स्नातक	१९५	२८७	३१३	५२८	१२८	३३८	७२	१७६
अनिर्दिष्ट	१५	२००	२००	२६७	१६७	१३३	—	६७
जोड़	१०३९	२९७	३०८	५०१	१८३	२३८	३९	८९

कथासाहित्य में भी कोई पाठक किस प्रकार की कथा पसन्द करता है, यह उसके शैक्षणिक स्तर तथा बौद्धिक परिष्करण पर निर्भर करता है। सामान्यतः कम शिक्षित पाठक औत्सुक्योत्तेजक, घटनाप्रधान, उत्तेजनात्मक, और रूमानी कथाएँ पसन्द करते हैं, जबकि

१ ग्रे डब्ल्यू० एस० (२२), पृ० १८७
२ गार्डनर, फ्रैंक एम० (१९), पृ० ५६
३ एम० एम० एन० टंडन, (७०) पृ० ५२१
४ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृ० ५४।

परिष्कृत बुद्धि के पाठक वैसी कथाओं को पसन्द करते हैं जिसमें कथा की अपेक्षा विश्वसनीय चरित्रचित्रण, समाज का यथार्थ अंकन और उच्च जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति प्रधान होती है।

ई० एम० फास्टर ने[1] उपन्यास में कथातत्व का विवेचन करते हुए तीन प्रकार के पाठकों की चर्चा की है—एक नम्र बसड्राइवर है, दूसरा गाल्फ का दुर्विनीत खिलाड़ी और तीसरा परिष्कृत पाठक (स्वयं लेखक जिसे परिष्कृत पाठक कहना सर्वथा उचित है।) लेखक तीनों प्रकार के पाठकों से एक प्रश्न पूछता है, कि 'उपन्यास का क्या काम है ?' प्रथम दोनों पाठक—एक नम्रता के साथ और दूसरा उद्दण्डता और घमण्डपूर्वक—बताते हैं कि उपन्यास का काम केवल कथा कहना है, जबकि तीसरा पाठक—स्वयं लेखक—यह तो मानता है कि उपन्यास में कथा होती है, पर वह उपन्यास को कथा से ऊपर और उच्चतर कला के रूप में देखता है।

उपर्युक्त उदाहरण का तात्पर्य यह है कि अशिक्षित, अल्पबुद्धि और अपरिष्कृत पाठकों की रुचि कथानन्द में अधिक होती है, जबकि परिष्कृत रुचि का पाठक कथा पर कम और उपन्यास के अन्य पक्षों पर अधिक ध्यान देता है।

ग्रे और मनरो नामक मनोवैज्ञानिकों ने मनोरंजनार्थ पठन की प्रेरणाओं के सम्बन्ध में कुछ अनुसंधान किये[2] और उन्हें जो आँकड़े प्राप्त हुए उनसे पता चलता है कि मनोरंजनार्थ पठन की प्रमुख प्रेरणाएँ निम्नलिखित हैं—उत्सुकताओं की तृप्ति, मनबहलाव, संस्कृति ज्ञान, संवेगात्मक तृप्ति और उद्दीपन, नानाविध अनुभवों की प्राप्ति, प्रभावशाली वर्णन, पृष्ठभूमि या वातावरण का चित्रण, समय काटना, कर्तव्य की भावना। शैक्षणिक और बौद्धिक स्तर की दृष्टि से पिछड़े पाठकों की प्रमुख पठनप्रेरणाएँ उत्सुकता की तृप्ति, मनबहलाव और समय काटना होती हैं, जबकि परिष्कृत पाठक प्रमुखतः संवेगात्मक तृप्ति और उद्दीपन, नानाविध अनुभवों की प्राप्ति, जीवन के उच्चतर मूल्यों की अभिव्यक्ति, प्रभावशाली वर्णन, कर्तव्य भावना, संस्कृति ज्ञान आदि के लिए और गौणतः मनबहलाव तथा समय काटने के लिए पढ़ते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्सुकतातृप्ति, मनबहलाव और समय काटने जैसी प्रेरणाओं की तृप्ति कथापक्ष से संबद्ध है, जबकि अन्य प्रेरणाओं का संबंध उपन्यास के अन्य श्रेष्ठतर पक्षों से है। प्रश्न उठता है, पठनरुचि की इस भिन्नता का कारण क्या है ?

क्या कारण है कि आदिम मानव कहानियाँ सुनता था ? ई० एम० फास्टर के अनुसार नवपाषाणयुग और संभवतः पुरापाषाणयुग में भी आदिम मानव कथा सुनता था।[3] बच्चे कहानी सुनना पसन्द करते हैं। निरक्षर व्यक्ति रात रात भर जग कर कहानियाँ सुनते हैं। जहाँ तक प्रभाव का प्रश्न है, बच्चों और अशिक्षितों पर कथा का प्रभाव अमित होता है। कथा का प्रभाव श्रोता पर कितना अधिक पड़ सकता है इसका एक सुन्दर उदाहरण 'सहस्र रजनी चरित्र' में मिलता है। फारस के बादशाह शहरयार को स्त्रीजाति के प्रति इतनी घृणा थी कि वह प्रतिदिन एक कुमारी से विवाह करता और उसके साथ रात बिताकर प्रातःकाल उसका

१ फॉस्टर (१८), दूसरा परिच्छेद।
२ ग्रे और मनरो (२२), पृ० २६८
३ फास्टर (१८) पृष्ठ ८१।

वध करा देता था। बादशाह को इस क्रूर कर्म से विरत करने के लिए उनके महामन्त्री की कन्या शहरजाद ने उससे ब्याह किया और पहली रात के अवसान के कुछ पूर्व उसने एक ऐसी कहानी सुनानी आरम्भ कर दी कि सवेरा होते उसमें से एक दूसरी कथा आरम्भ हो गयी। बादशाह ने पूछा, "उसका परिणाम क्या हुआ ?" शहरजाद ने कहा "प्राणदान दिए जाएँ, तो कल फिर बताऊँगी"। बादशाह ने प्राणदान दिया। इस प्रकार हजार रातों तक शहरजाद कथा सुनाती रही और बादशाह अपनी प्रतिज्ञा भूल कर कहानी सुनता रहा। अन्त में उसने शहरजाद की हत्या करने का विचार त्याग दिया। इस कथा के उद्धृत करने का तात्पर्य यह सिद्ध करना है कि अपरिष्कृत पाठक द्विधा और संशय से जितना प्रभावित होते हैं उतना अन्य किसी वस्तु से नहीं। 'सहस्र रजनी चरित्र' में एक अच्छे उपन्यास के भी गुण हैं, पर वे गुण शहरजाद के प्राण नहीं बचा सकते थे। शहरयार पर केवल द्विधा और संशय का प्रभाव पड़ सकता था और शहरजाद ने इसकी शक्ति समझने में कोई भूल नहीं की। कुछ कथाकार ऐसे होते हैं जो अपरिष्कृत तथा साधारण पाठकों पर द्विधा और संशय की शक्ति के प्रभाव का ज्ञान रखते हैं, और उन्हें अधिक पाठक प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती, जबकि दूसरे लेखक पाठकों के लिए तरसते रहते हैं। देवकीनन्दन खत्री को इसकी शक्ति का ज्ञान था। वे प्रेमचन्द-पूर्व युग में भी, जबकि हिन्दी में पाठकों का अभाव था, अपने लिए पाठक जुटाने में समर्थ हुए थे।

यों तो मानवमात्र में बाद की घटनाओं को जानने की उत्सुकता होती है, पर कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो 'इसके बाद क्या हुआ' के अतिरिक्त और कुछ जानना नहीं चाहते। कथा का एक ही गुण होता है, और वह यह, कि श्रोता में आगे की घटनाओं को जानने की उत्सुकता बनी रहे। कथा समयानुक्रम में घटनेवाली घटनाओं का वर्णन है, पर जीवन में घटनाएँ ही प्रधान नहीं होतीं। जीवन में एक और वस्तु होती है जिसे हम 'मूल्य' की संज्ञा देते हैं। यह 'मूल्य' जीवन की कोमल भावनाओं तथा हमारी संस्कृति की देन है। कथा केवल घटनाओं का वर्णन करती है जबकि उपन्यास में—यदि वह अच्छा उपन्यास है—जीवन के 'मूल्यों' की भी अभिव्यक्ति होती है। अपरिष्कृत पाठक जीवन के 'मूल्यों' की परवाह नहीं करता। उसे प्रभावित करनेवाली वस्तु केवल एक होती है—'तब क्या हुआ ?' अपने काल में देवकीनन्दन खत्री की लोकप्रियता का कारण उनके उपन्यासों में विद्यमान उत्सुकता जागृत करने की शक्ति ही थी। 'चन्द्रकान्ता' या 'चन्द्रकान्ता संतति', विश्वसनीय कथानक, प्रभावशाली चरित्रचित्रण या जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्वहीन है, पर आज भी यह अपरिष्कृत पाठकों का हृदयहार बना हुआ है। कारण स्पष्ट है। खत्री जी में पाठकों को द्विधा में डाले रखने और उनकी उत्सुकता को सहलाते रहने की अद्भुत शक्ति है। शायद ही हिन्दी की अन्य कोई कथा इन गुणों में 'चन्द्रकान्ता' को मात करने की क्षमता रखती हो।

पर कथामात्र के द्वारा लेखक का व्यक्तित्व पाठक के सामने नहीं आ सकता। लेखक का व्यक्तित्व—यदि उसमें व्यक्तित्व है—उपन्यास के पात्रों, या कथानक, या जीवन के सम्बन्ध में उसकी टिप्पणियों द्वारा व्यक्त होता है। अपरिष्कृत पाठक को कहानीकार के व्यक्तित्व से कुछ लेना देना नहीं रहता। इसके विपरीत परिष्कृत पाठक लेखक के व्यक्तित्व का ही साक्षात्कार करना चाहता है। अच्छा उपन्यास जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति के प्रयास में पाठक के सामने विश्वसनीय पात्र, कथानक, जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण आदि रखता है, जबकि कथा केवल

"और तब और तब" के अनन्त प्रवाह मे ही उलझी रहती है। अपरिष्कृत पाठक केवल यही जानना चाहता है कि 'फिर क्या हुआ'। परिष्कृत पाठक यह जानना चाहता है कि 'किस के साथ ऐसा हुआ।' यहाँ उपन्यासकार पाठकों की बुद्धि और कल्पना को भी स्पर्श करना चाहता है, केवल उसकी उत्सुकता को नहीं। वह मूल्य पर बल देने लगता है। परिष्कृत रुचि और विकसित बुद्धि के पाठक ही उपन्यास में विश्वसनीय चरित्रचित्रण और उसके माध्यम से अभिव्यक्त जीवनमूल्यों की खोज करते हैं, अपरिष्कृत पाठक को तो केवल ऐसी कथा चाहिए जिसमें उसकी उत्सुकता सदा बनी रहे।

परिष्कृत पाठक भी घटनाओं के प्रति उदासीन नहीं रहता, यह सम्भव भी नहीं है। पात्रों का चरित्र भी उनके कार्यों द्वारा ही रूप ग्रहण करता है, पर परिष्कृत पाठक अपरिष्कृत पाठकों की तरह समयानुक्रम में व्यवस्थित घटनाओं का वर्णनमात्र, जिसे कथा की संज्ञा दी गयी है, नहीं चाहता, वह इससे कुछ ऊँची किस्म की चीज चाहता है। हम उसे कथानक (प्लॉट) की संज्ञा दे सकते हैं। कथानक भी घटनाओं का वर्णन ही है, पर उसमें 'उत्सुकता' पर नहीं, 'कार्य कारण सम्बन्ध' पर बल दिया जाता है। कथानक में हम प्रत्येक घटना का कारण जानना चाहते हैं, कोई भी घटना अकारण नहीं हो सकती। कथानक की समस्त घटनाएँ कारण कार्य शृंखला में बद्ध होती हैं। यदि किसी कथा में कोई घटना घटती है तो उसका श्रोता पूछता है, 'तत किम्', और यदि कथानक में कोई घटना घटित होती है तो वहाँ हम पूछते हैं, 'क्यों ?' कथा और कथानक का यह मौलिक अन्तर है। कथानक बच्चों को, अशिक्षितों को आदिम व्यक्तियों को, शहरयार जैसे अत्याचारी सुल्तान को, 'किस्सा तोता मैना' के श्रोताओं या चलचित्रों की जनता को अच्छा नहीं लग सकता, इनमें कथानक को समझने तथा उसका रस लेने, अँगरेजी शब्द का प्रयोग करें तो, उसे 'एप्रेसिएट' करने, की क्षमता ही नहीं होती। इस प्रकार के पाठक तो केवल 'और तब और तब' के द्वारा जगाये रखे जा सकते हैं। कथानक बुद्धि और स्मरणशक्ति की भी अपेक्षा रखता है, जिसका अपरिष्कृत पाठकों में प्रायः अभाव होता है। अपरिष्कृत पाठकों में केवल उत्सुकता व्यक्त करने की क्षमता होती है, जो मनुष्य की क्षमताओं में निम्नतम है। उत्सुकता हमें कथा से आगे नहीं जाने दे सकती। यदि कथानक को समझना है तो बुद्धि और स्मरणशक्ति का होना अनिवार्य है। कथानक में आश्चर्य या रहस्य का तत्व भी महत्वपूर्ण होता है। इसकी सृष्टि समयानुक्रम के विच्छेदन या स्थगन के द्वारा की जाती है। इस रहस्य तत्व की सृष्टि कभी तो अपरिष्कृत रूप में होती है और कभी अधस्पष्ट भाव भंगियों और शब्दों के द्वारा सूक्ष्म रूप में, जिनके वास्तविक अर्थ का पता बाद के पृष्ठों में चलता है। यह रहस्य कथानक के लिए आवश्यक है और इसे समझने तथा पसन्द करने के लिए बुद्धि आवश्यक है, जिसका अशिक्षित पाठकों में अभाव होता है।

बुद्धि के साथ दूसरी वस्तु स्मरणशक्ति है जो कथानक को समझने के लिए आवश्यक है। स्मरणशक्ति और बुद्धि एक दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं। कथानकनिर्माता अपने पाठकों से स्मरण रखने की आशा रखता है। कथानक में प्रत्येक कार्य या शब्द का महत्व होता है। यदि पाठक में स्मरणशक्ति का अभाव है, यदि वह पूर्वघटित प्रत्येक कार्य और शब्द को याद नहीं रखता, तो न तो वह कथानक के रहस्य को समझ सकता है, न उसके उद्घाटन के प्रयत्न को। इस प्रकार कथानक को समझने के लिए, बुद्धि के साथ स्मरणशक्ति आवश्यक

है, और यह कहने की जरूरत नहीं, कि अशिक्षित और मूर्ख व्यक्तियों में इसका भी अभाव होता है।

उपन्यास में—यदि यह एक अच्छा उपन्यास है—कथा, पात्र और कथानक के अतिरिक्त और भी उल्लेखनीय तत्व होते हैं, जैसे काव्यत्व, भावावेश, संगीतात्मकता, जीवनदर्शन, चिन्तनमनन आदि। इन्हें ग्रहण करने में केवल उत्सुकता नितान्त असमर्थ है। इन विशेषताओं का ग्रहण करने के लिए पाठक में बुद्धि और स्मरणशक्ति के साथ सहृदयता, परिष्कृत रुचि, संवेदनशीलता और एकाग्रता अपेक्षित होती है, जिसकी अपेक्षा एक अशिक्षित या अविकसित बुद्धि के पाठक से करना हास्यास्पद है।

उक्त मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अशिक्षितों, मूर्खों, आदिम मानवों, बच्चों तथा अविकसित बुद्धिवाले व्यक्तियों में कथा के प्रति अधिक झुकाव होता है, जबकि परिष्कृत बुद्धि और रुचिवाले तथा शिक्षित पाठक पात्रचित्रण, कथानक तथा उपन्यास के भव्य पक्षों पर बल देते हैं। मान्टगामरी नामक मनोवैज्ञानिक के अनुसन्धानों से ज्ञात होता है[1] कि अधिकांश लोग मुख्यतः उत्सुकता की तृप्ति और मनबहलाव के लिए पुस्तकें पढ़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि उच्चतर उद्देश्य से कथासाहित्य पढ़नेवाले पाठकों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। यह अमरीकी पाठकों की बात है। भारत जैसे देश में, जहाँ शिक्षा का प्रतिशत अमरीका के अनुपात में अत्यन्त कम है—१८०० १९१७ ई० की अवधि में भारत शिक्षा की दृष्टि से और भी पिछड़ा हुआ था—उच्चतर उद्देश्य से उपन्यास पढ़नेवालों की संख्या कितनी कम होगी, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार हिन्दी उपन्यास के विकास के प्रथम चरण की अद्यावधि अव्याख्येय और अकृष्य अनेक समस्याओं का समुचित उत्तर उपयुक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही दिया जा सकता है।

(III) सुखान्त और दुःखान्त कथाएँ

इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि मनोरंजनार्थ, विशेषकर उत्सुकतातृप्ति, मन बहलाव और समय काटने के लिए, पढ़नेवाले पाठक सुखान्त कथाओं को अधिक पसन्द करते हैं। दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय में किये गये सर्वेक्षण से इस तथ्य की पुष्टि होती है। जिन पाठकों से पूछताछ की गयी, उनमें से केन्द्रीय पुस्तकालय के ३०% पाठकों ने और चल पुस्तकालय के ४६% पाठकों ने बताया कि वे "सुखद अंत" पसंद करते हैं, जबकि इसी अनुपात में, यही पाठक गंभीर या दुःख भरा कथा साहित्य पसंद नहीं करते थे।[2] लस्टर डी० क्रा० और एलिस क्रा०[3] तथा एलिजाबेथ बी० हरलाक[4] के अनुसार किशोरावस्था की बालक-बालिकाएँ सुखान्त फिल्म देखना अधिक पसन्द करती हैं। हरलाक के मतानुसार वयस्क भी सुखान्त फिल्म ही अधिक पसंद करते हैं।[5] इस कथन का समर्थन इस तथ्य से भी होता है कि अधिकांश फिल्म सुखान्त बनायी जाती है, चाहे फिल्म के बीच

१ मौंटगमरी, डब्ल्यू० ए० (३७), मैं और मनरो (२२), पृ० ६५
२ एम० ए० एल० टंडन ७०। पृ० ५२३।
३ क्रा (१३), कैशोर रुचियों की विशेषताएँ' शीर्षक परिच्छेद।
४ हरलॉक, ई० बी० (२८), पृ० २३९।
५ उपरिवत् पृ० ३६९।

म दुःख की मात्रा जितनी अधिक रहे। जो बात फिल्मो के साथ लागू होती है वही बात मनोरंजनार्थ लिखित कथापुस्तको के साथ भी लागू होती है। कभी कभी तो इन कथा पुस्तको और फिल्मो की विषयवस्तु म भी अद्भुत साम्य दिखाई पडता है। शायद ही इस प्रकार का कथापुस्तकें दुखान्त होती हो। अनक उपन्यास दुखान्त होते है, पर निश्चय ही उनका उद्देश्य मनोरंजनमात्र नही होता, उनका महत्व उच्चतर जीवनमूल्यो की अभिव्यक्ति के कारण होता है। यह निस्सकोच भाव स कहा जा सकता है कि साधारणत अधिकाश पाठक ऐसे उपन्यासो को पसन्द नही करते।

अब हम इस प्रश्न पर विचार करें कि मुख्यत किस प्रकार के पाठक किन कारणों से सुखान्त कथाओ को अधिक पसद करते हैं।

मनुष्य एक भावनामय प्राणी है। कुछ विशेष परिस्थितियो म वह सुख या दुख का अनुभव करता है। यो सुख और दुख की भावनाए सभी मनुष्यो म होती है, पर व्यक्ति की विशिष्ट परिस्थितियो शिक्षा दीक्षा तथा बौद्धिकस्तर के कारण उसकी सुखदुख अनुभव की मात्रा तथा उसकी अभिव्यक्ति म अतर हो जाता है। उदाहरणत , जो लोग सवेदनशील होते हैं वे कम सवेदनशील व्यक्तियो की अपेक्षा सुखदुख की भावना का अनुभव अधिक तीव्र रूप म करते हैं। एक ही घटना को देखकर—किसी विधवा को अपने इकलौते पुत्र की मृत्यु पर रोते देखकर—सवेदनशील व्यक्ति करुणाविगलित हो उठता है, जबकि असवेदनशील व्यक्ति इस घटना से तनिक भी प्रभावित नही होता। क्रौंचवध की एक क्षुद्र घटना से महामुनि वाल्मीकि को इतना कष्ट हुआ कि उन्होंने उसे अभिव्यक्त करने के लिए एक महाकाव्य की रचना कर डाली, जबकि अनेक आखेटक सैकडों पक्षियो को अपनी गोलियो का शिकार बनाकर और उन्हें तडपते हुए देखकर भी विचलित नहीं होते। कहने का तात्पर्य यह है कि सवेदनशील व्यक्ति दुखसुख का अधिक अनुभव करते हैं। इसी प्रकार जो लोग अधिक सवेगीय होते हैं उन्हें भी कम सवेगीय (Emotional) व्यक्तियो की अपेक्षा सुख दुख का अनुभव अधिक तीव्र रूप म होता है। प्राय ही हम देखते है कि स्त्रियाँ किसी दुखात्मक दृश्य को देखकर तुरत ही आर्द्र और विचलित हो जाती है, जबकि अधिकाश पुरुष उस पर ध्यान भी नही देते।

सुखात्मक या दुखात्मक कथाओ को पढते समय पाठक सुख या दुख का अनुभव करता है। पाठक कथा पढते समय कथा के नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और यह तादात्म्य की स्थिति जितनी घनिष्ठ होती है, पाठक द्वारा अनुभूत सुख और दुख की भावना भी उतनी ही तीव्र होती है। जो पाठक जितना अधिक सवेदनशील और सवेगीय होता है वह उतना ही अधिक किसी कथा के किसी पात्र या पात्रो के साथ तादात्म्य स्थापित करने म समर्थ होता है तथा उतना ही अधिक वह कथा से सुख या दुख का अनुभव करता है। अवस्था और लिंगभेद की दृष्टि से विचार किया जाए तो किशोर वयस्को की अपेक्षा तथा स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक सवेदनशील और सवेगीय होती हैं। यही कारण है कि किशोर वयस्को की तुलना म तथा स्त्रियाँ पुरुषो की तुलना में दुखान्त कथाए तथा फिल्म अधिक मात्रा मे नापसन्द करती हैं। यो सुखात्मक घटनाओ का वर्णन सभी स्तर और सभी अवस्थाओ के पाठकों को अच्छा लगता है तथा विशुद्ध मनोरंजन के लिए लोग सभी ही

घटनाएँ पढना या देखना पसन्द करते हैं, पर जहाँ विवेकशील और सुशिक्षित व्यक्ति अन्य कारणो मे जैसे सवेगीय तृप्ति और उद्दीपन, नानाविध अनुभवो की प्राप्ति, जीवन के उच्चतर मूल्यो की अभिव्यक्ति, प्रभावशाली वर्णन या कला आदि के लिए दु खान्त कथाओ का पढना या वैसी फिल्म देखना पसन्द करते हैं, वहाँ विवेकहीन और अशिक्षित व्यक्ति केवल सुखान्त पुस्तके पढना पसन्द करते हैं। जहाँ तक किशोरो का प्रश्न है, वे अधिक सवेदनशील और सवेगीय तो होते ही हैं, उनका शैक्षणिक और बौद्धिक स्तर भी वयस्को की अपेक्षा अक्सर निम्न होता है। उनमे विवेक और तर्कशक्ति वयस्को की अपेक्षा कम होती है। वे कथासाहित्य मुख्यत उत्सुकतातृप्ति, मनबहलाव तथा समय काटने के लिए पढते हैं। यही कारण है कि वे सामान्यत दु खान्त कथापुस्तके, चाहे वे कितनी भी उच्च स्तर की क्या न हो, पढना पसन्द नही करते। किशोरो की भावदशा भी सामान्यत सुखान्त कथा पुस्तको के अनुकूल होती है। साधारण स्तर की सुखान्त कथाओ मे, आरभ मे, कथानायक को अनेक कठिनाइया झेलनी पडती हैं, अनेक बार उसे असफलताओ तथा निराशा का सामना करना पडता है, उसका जीवन अनेक रोमाचकारी सकटो से गुजरता है, पर अत मे वह अपने उद्योग और भाग्य से परिस्थितियो पर विजय प्राप्त करता है, तथा जीवन मे सफलता, सताप और सुख की प्राप्ति करता है। इन कथाओ के नायक प्राय ही असामान्य शक्ति और बुद्धिसम्पन्न होते हैं। किशोरावस्था की पठनरुचि के निर्धारक कारणो का विवेचन करते वक्त यह दिखाया जा चुका है कि इस वय की बालकबालिकाओ मे वीरपूजा की भावना तीव्रतम होती है अत उन कथाओ को, जिनका नायक असामान्य शक्ति और बुद्धिसम्पन्न होता है पढ कर बालकबालिकाए अपने वीरपूजा के भावो को व्यक्त कर सताप का अनुभव करती है तथा उन्हे सुख का अनुभव होता है।

यह दिखाया जा चुका है कि किशोरावस्था मे बालकबालिकाओ के लिए किसी वैसे व्यक्ति से, जिसे वे अपने से श्रेष्ठ समझती हैं, तादात्म्य स्थापित करना तथा उसकी उपलब्धियो से स्वय सताप का अनुभव करना एक सामान्य बात है। सुखान्त कथा पढते वक्त किशोर पाठक उसके सफल और असामान्य चरित्रवाले नायक से तादात्म्य स्थापित कर लेता है और नायक की सफलता से एक प्रकार की काल्पनिक सफलता और आत्मसताप का अनुभव करता है।

वय सधि की अवस्था मे ही दिवास्वप्न बालकबालिकाओ के मनबहलाव तथा वास्तविक जीवन की क्षतिपूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन होता है। साधारण स्तर की सुखान्त कथाओ का विषय दिवास्वप्नो के विषय से प्राय मिलताजुलता है, इस कारण किशोरावस्था के पाठक ऐसी कथाओ को अधिक पसन्द करते है। इन कथाओ को पढ कर तथा इनके नायको से तादात्म्य स्थापित कर वे उन भावनाओ और इच्छाओ की तृप्ति का सुख प्राप्त करते हैं जिन्हें वे अपने यथार्थ और कटु जीवन मे नहीं प्राप्त कर सकते। इस प्रकार की सुखान्त कथाओ से किशोर पाठक बिना खतरा मोल लिए साहस और रोमाचकारी अनुभवो का सुख भी प्राप्त कर लेते हैं।

स्पष्ट है कि दु खान्त कथाओ से किशोरों की उपयु क्त सुख और सताप की भावना तृप्त नही हो सकती, क्योकि दु खान्त कथाओं के नायक को अ त मे निराशा, असफलता और मृत्यु ही हाथ आती है।

सामान्यत स्त्रियो के सम्बन्ध म यह कहा जा सकता है कि वे पुरुषो की अपेक्षा अधिक संवेदनशील तथा संवेगीय होती है। दु खपूर्ण घटनाओ की प्रतिक्रिया उनमे इतनी तीव्र होती है कि उनके लिए उन सहन करना कठिन होता है। दूसरी तरफ उनका शैक्षणिक और बौद्धिक स्तर, भारत जैसे देश म विशेष रूप मे, भी पुरुषो की तुलना म निम्न है। इस कारण अधिकाश स्त्रियाँ दु खान्त कथाएँ पसन्द नही करती।

वयस्क स्त्रियो और पुरुषो के सम्बन्ध मे सामान्य रूप स यह कहा जा सकता है कि सभी लोग मनोरजनार्थ सुखान्त कथाएँ पसद करते हैं। पर जो लोग नानाविध अनुभवो की प्राप्ति, जीवन के उच्चतर मूल्यो की अभिव्यक्ति तथा कलात्मकता का ध्यान मे रखकर कथा पुस्तकें पढ़ते है, उन्हे दु खान्त कथाओ के प्रति कोई आपत्ति नही होती। वे भावना के उद्दाम प्रवाह को विवेक द्वारा नियन्त्रित करने मे समर्थ होते ह। उनके लिए कथा का सुखान्त या दु खान्त होना उतना महत्त्वपूर्ण नही होता, जितना महत्त्वपूर्ण उसमे जीवन की स्वाभाविक और मार्मिक अभिव्यक्ति का प्रश्न होता है। यदि उपन्यास चरित्रचित्रण, कथानक, सशक्त वर्णन, शैली, या संक्षेप म, जीवन के विश्वसनीय चित्रण की दृष्टि से उच्चकोटि का है, तो परिष्कृत पाठक उसके सुखान्त या दु खान्त होने की चिन्ता नही करते। वे केवल यही चाहते हैं कि उपन्यास का अत स्वाभाविक और सहज हो, कृत्रिम नहीं। पर शैक्षणिक और बौद्धिक दृष्टि से निम्न स्तर के पाठक दु खान्त कथाएँ पसन्द नही करते। वे भावना के प्रवाह मे निष्क्रिय रूप से उतराते बहते रहते हैं। भावना के उच्छृल प्रवाह को नियन्त्रित करनेवाली विवेक और तर्क शक्ति का उनमे प्राय अभाव होता है। वे अपनी उत्सुकता की तृप्ति, मनबहलाव अथवा समय काटने के लिए कथा पढते हैं, किसी उच्चतर उद्देश्य से नही। चूँकि दु खान्त से मनबहलाव नही होता, अन्त म मन भारी भारी हो जाता है, इसलिए व ऐसी पुस्तको और फिल्मो को दूर स ही नमस्कार करते ह। बहुत लोग अपन जीवन की कटु वास्तविकताओ स मुक्ति पाने के लिए भी कथापुस्तको या फिल्मो की शरण लेते ह। वहाँ भी उन्हें दु ख और असफलता का ही अनुभव हो, इसे व सहन नही कर सकते। सामान्य स्तर की सुखान्त कथाओ क नायको का जीवन म अनेक कष्ट और असफलताओ का सामना करना पड़ता है, पर अन्त म उनकी कठिनाइयाँ दूर हो जाती है और सुख तथा सफलता उसके चरण चूमने लगती है। अपरिष्कृत बुद्धि और रुचि के पाठक इन कथानायको से तादात्म्य स्थापित करके एक प्रकार क आत्मसताप की प्राप्ति करत ह। ये पाठक अपने जीवन की क्षतिपूर्ति सुखान्त कथाओ म करते हैं। दु खान्त कथाएँ पाठको को इस प्रकार का आत्मसताप नही प्रदान कर पातीं, क्योकि इन कथाओ के नायको का अन्त म असफलता, निराशा और मृत्यु ही हाथ लगती है। यही कारण है कि शैक्षणिक और बौद्धिक स्तर की दृष्टि से पिछडे पाठक अधिकतर सुखान्त कथाओ को ही पसन्द करते हैं। दु खान्त कथाओ को या तो असामान्य मन स्थिति के पाठक पसन्द करते हैं या विवेकशील पाठक जिनके लिए कथा का सुखान्त दु खान्त होना उतना महत्त्वपूर्ण नही होता, जितना महत्त्वपूर्ण उपन्यास म जीवन का विश्वसनीय चित्रण, अनेक प्रकार के भावो, मानवीय सम्बन्धो और परिस्थितियो का अकन होता है।

(छ) पठनरुचि पर पेशे और व्यवसाय का प्रभाव

पेशे और व्यवसाय का पठनरुचि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, पर चूँकि व्यक्ति के अवकाश, आय तथा शिक्षादीक्षा का सम्बन्ध एक ओर पेशा और व्यवसाय से तथा दूसरी ओर पठनरुचि से है, इसलिये पठनरुचि और पेशा तथा व्यवसाय, अप्रत्यक्षत, परस्पर सबद्ध हो जाते है। जिन पेशो या व्यवसायो म नियुक्त व्यक्तियो का अधिक अवकाश तथा पैसे मिलते हैं उनमे, यदि उनका शैक्षणिक स्तर भी ऊँचा है, पठनरुचि अधिक और उच्च कोटि की होगी।

शैशवकाल की पठनरुचि पर पेशे के प्रभाव का प्रश्न नही उठता। किशोरावस्था म भी यह गौण ही होता है। इस अवस्था म काफी अधिक प्रतिशत मे लोग स्कूलो विश्वविद्यालयो तथा अन्य प्राविधिक सस्थानो के छात्र होते हैं। भारत की स्थिति पाश्चात्य विकसित देशो से थोडी भिन्न है। यहाँ के अधिकतर किशोर कभी तो प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करके और कभी बिना प्राथमिक शिक्षा पाये ही कृषि या मजदूरी के काम म लग जाते हैं। यह बात निस्सकोच कही जा सकती है कि कृषि और मजदूरी म लगे हुए किशोर, व साक्षर ही क्यो न हो, पढ़न म रुचि नही रखते। किशोरो मे केवल वे ही लोग पढते हैं जो छात्र होते है।

प्रौढावस्था की पठनरुचि पर पेशे और व्यवसाय का उल्लेखनीय प्रभाव दिखाई पडता है। पार्सन[1] तथा फास्सवय[2] नामक अमरीकन मनोवैज्ञानिको ने विभिन्न पेशेवाले वयस्को की पठनमात्रा और रुचि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। पार्सन के अनुसार विभिन्न पेशेवाले वयस्को म क्लर्क तथा व्यवसायी अधिक मात्रा म पुस्तकें पढते हैं। फास्सवय के निष्कर्षानुसार शिक्षक सर्वाधिक मात्रा म पुस्तकें पढते है। दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि १९५४ ५५ म यहाँ के पाठको का सबसे बडा समुदाय स्कूल और कालेज के छात्रो का था (क्रमश ३४% और ११ २२%)। अन्य पेशेवाले पाठको म सबसे अधिक सख्या क्लर्कों की, तत्पश्चात् व्यवसायियो की और उसके बाद मजदूरो की थी।[3]

दि इडियन इन्स्टिट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियन दिल्ली के तत्त्वावधान मे सम्पन्न सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि छात्र, अध्यापक क्लर्क सरकारी पदाधिकारी तथा व्यवसायी सर्वाधिक मात्रा मे पढना पसन्द करते हैं।[4] दिल्ली और कलकत्ता के १०३९ वयस्को से पूछा गया कि 'वे अपनी छुट्टियाँ किस प्रकार व्यतीत करते हैं। इस प्रश्न के उत्तर मे ६५% छात्रो ने, ४७ ८% अध्यापको ने, २७ २% विभिन्न पेशेवालो ने, २६ ४% बेरोजगारो ने, २१ ६% क्लर्कों ने, २० ८% सरकारी पदाधिकारियों ने, १० ८% व्यापारियो ने, ४ ३% कुशल श्रमिको ने, ४ १% गृहिणियों ने और ३% दुकानदारो ने बताया कि वे पढ़ते हैं। प्रस्तुत पंक्तियो के लेखक द्वारा किये गये अनुसधानो

१ पार्सन्स आर० बी० (३०) पृ० ३४ ३५

२ फास्सवय (१७)

३ गान्तर, एफ० एम० (१९) पृ० २८

४ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१) ३१

से भी इन निष्कर्षों की पुष्टि होती है। निम्नांकित सारणी मे प्रस्तुत पंक्तियाँ मे लेखक द्वारा एकत्र किये गये आँकडे देखे जा सकते हैं।

वयस्क पाठकों की पेशानुसार पठनरुचि —

पेशा	कुल संख्या	साक्षर	पाठक	साल भर मे पठित पुस्तकों की संख्या	प्रति व्यक्ति पठित पुस्तक का औसत	
किसान तथा कृषि मजदूर	२८६०	११६०	१८०	२१५	१ २	शौकिया पठन ही इसमें अंकित है।
सिपाही	८०	६८	५०	६५	१ ३	
प्राध्यापक	५०	५०	५०	१६४	३ ६	
छात्र	१५०	१५०	१५०	४८०	३ २	

उक्त अध्ययनो से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि हिन्दी पाठक समुदाय का बहुत बडा भाग छात्रों और अध्यापकों का है। तत्पश्चात् पढनेवालो म क्लर्क तथा व्यवसायी आते हैं। किसान मजदूर बहुत कम पढ़ते हैं।

दि इण्डियन इन्स्टिट्यूट आफ पब्लिक आपीनियन, दिल्ली के तत्वाधान म किये गये सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि नगरो मे यद्यपि सभी पेशो के वयस्क सर्वाधिक मात्रा म उपन्यास और जासूसी कथाएँ पढ़ते हैं, पर छात्र, बेकार लोग, क्लर्क, शिक्षक और गृहिणियाँ कथा साहित्य पढ़ने म अग्रणी हैं। पृष्ठ ४२ पर दी गयी सारणी से स्पष्ट है कि जिन पेशेवालो के पास अवकाश की बहुलता होती है, वे ही अधिक मात्रा मे उपन्यास पढ़ते हैं।[1]

१ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१), पृष्ठ ५५

किस प्रकार की पुस्तकें आप पसंद करते हैं

भारतीय भाषाएँ प्रतिशत

पेशा	उत्तरदाताओं की संख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाएं	कविता	प्रौद्योगिक ढंग की पुस्तकें	समाज विज्ञान
क्लर्क	१८३	४१ ०	३६ १	६० १	२६ २	३१ १	२ ७	६ ६
अध्यापक	९०	३८ ८	५११	६११	२० ०	५२ २	४ ५	२४ ४
सरकारी पदाधिकारी	२४	१६ ७	१६ ७	२५ ०	४ २	२० ८	१२ ४	४ २
व्यापारी	६५	२१ ५	२० ०	३२ २	१२ ३	९ २	—	३ १
पेशवाले	१०३	२६ २	३३ ०	५२ ४	९ ७	२६ २	१० ६	१४ ६
छात्र	१००	५३ ०	३९ ०	७९ ०	२६ ०	४७ ०	९ ०	२२ ०
बेकार	९१	४३ ४	३६ २	७८ ०	३५ १	३० ७	३ ३	९ ९
कुशल श्रमिक	९३	१७ २	२४ ७	३५ ५	१२ ९	१४ ०	१ ८	३ ३
अकुशल श्रमिक	५३	३ ६	७ २	१० ८	१० ८	३ ६	१ ८	—
स्वयं नियुक्त	४५	२० ०	३११	२८ ९	–	—	? ?	—
गृहिणियाँ	९७	२५ ८	३३ ०	५५ ७	२० ६	९ ३	—	२ १
दुकानदार	६६	१० ६	१० ६	२५ ८	१० ६	९ १	६ ०	६ ०
अनिर्दिष्ट	२९	६ ९	१७ २	६ ९	६ ९	—	३ ४	१० ३
कुल	१०३९	२९ ७	३० ८	५० १	१८ ३	२३ ८	३ ९	८ ९

(ज) पठनमात्रा पर ग्राम और नगरनिवास का प्रभाव—

ग्राम और नगर निवास पठनरुचि का प्रत्यक्षत प्रभावित करने वाला हेतु नहीं। वस्तुत पेशे की तरह इस हेतु का भी पठनरुचि पर अप्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। ग्रामीणों तथा नागरिकों की शैक्षणिक, आर्थिक, सामाजिक तथा आवेष्टनगत स्थितियाँ भिन्न होती हैं। भारतीय नगरों में गाँवों की अपेक्षा साक्षर और शिक्षित व्यक्तियों की संख्या अधिक है। नागरिकों की आर्थिक स्थिति भी ग्रामीणों की अपेक्षा औसत रूप से अच्छी है।

पठनानुकूल आवेष्टनगत सुविधाएँ भी नागरिकों को ग्रामीणों की अपेक्षा अधिक उपलब्ध हैं। नगरों में पुस्तकालय आदि की व्यवस्था होने के कारण नागरिकों को पुस्तकें प्राप्त करने की सुविधा है, जबकि गाँवों की स्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। नगरों में बिजली की विद्यमानता और गाँवों में उसका अभाव भी पठनरुचि को काफी दूर तक प्रभावित करता है। पठन एकांत में सम्पन्न किया जानेवाला कार्य है और यह कार्य आँखें करती हैं। नगरनिवासियों की अपेक्षा ग्रामवासियों को एक तो अवकाश कम मिलता है, दूसरे उनका जीवन इतना सामूहिक होता है कि पढ़ने के लिये उन्हें केवल रात में ही एकांत मिल सकता है। सोने के समय पढ़ने की इच्छा एक सामान्य बात है। जहाँ बिजली रहती है, वहाँ लोग आराम से लेटे लेटे भी घंटों घंटे पढ़ लेते हैं। लालटेन या दिये के मंद प्रकाश में पढ़ना मनोरंजन नहीं, कसरत मालूम पड़ता है। इस पठन से आनन्द प्राप्त करने की अपेक्षा कष्ट ही अधिक होता है। परिणाम यह होता है कि जिन स्थानों में बिजली नहीं होती, वहाँ पठनकार्य बिजलीवाले स्थानों में कम होता है।

यों नगरवासियों और ग्रामवासियों की आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक स्थितियों की भिन्नता सर्वत्र पायी जाती है, पर भारत में यह विषमता चरम सीमा पर है। इस प्रसंग में संक्षेप में, भारतीय ग्रामीण समाज की आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक स्थिति तथा ग्रामीणों की पठनरुचि पर इन स्थितियों के प्रभाव का उल्लेख करना आवश्यक है।

भारत का ग्रामीण समाज निर्धनता और अभाव की चक्की में पिस रहा है। ग्रामीणों के लिये खरीद कर पुस्तकें पढ़ना किसी भी प्रकार संभव नहीं। केवल प्राणरक्षा के लिये अत्यावश्यक वस्तुएँ जुटाने में ही ग्रामीण समाज व्यस्त रहता है। यह नहीं कि गाँवों में सम्पन्न व्यक्ति नहीं होते, पर ऐसे व्यक्तियों की संख्या निश्चय ही नगण्य है। ग्रामीण समाज का यदि विश्लेषण किया जाय तो आर्थिक दृष्टि से उसे तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(१) अधिक जमीन और पैसे वाले किसान, जिनके पास नौकर चाकरों की कमी नहीं होती, (२) गुजर बसर करने लायक जमीनवाले किसान, जो खेतों में मजदूरों के साथ स्वयं भी काम करते हैं, और (३) भूमिहीन मजदूर, जिनकी आजीविका का साधन भूमिवाले किसानों के खेतों में काम करना है।

इनमें से तीसरे वर्ग के लोग अधिकांशतः निरक्षर होते हैं। आजकल सरकारी प्रयत्नों के फलस्वरूप इस वर्ग के बच्चे भी स्कूलों में जाने लगे हैं और भी में एकाध लड़के उच्च शिक्षा भी प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु अब भी इस वर्ग में साक्षरों की संख्या नगण्य है। जो थोड़े से साक्षर व्यक्ति हैं भी, उनका पढ़ने से कोई सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि पठन सामग्री और अवकाश उनके लिये दुर्लभ वस्तुएँ हैं।

दूसरे वर्ग के लोगों की भी आर्थिक अवस्था बहुत अच्छी नहीं होती। इस वर्ग के लोग किसी प्रकार अपने बच्चों को प्राथमिक स्कूल तक और कुछ लोग माध्यमिक स्कूल तक तो पढ़ा देते हैं, पर उन्हें कॉलेज या विश्वविद्यालयीय शिक्षा देना उनके लिये अत्यन्त कठिन होता है। इस वर्ग में साक्षरता कुछ दूर तक पायी जाती है, किन्तु पढ़ने की आदत इस वर्ग में भी नहीं होती। गाँवों में रात को अपवादस्वरूप ही कोई पढ़ता है। अधिकांश गाँवों में बिजली की सुविधा अभी नहीं उपलब्ध हुई है, और जहाँ बिजली गई

भी है, वहाँ के सभी लोग, आर्थिक अभाव के कारण अपने घरों में बिजली ले जाने मे समर्थ नहीं हुए हैं। गाँव के अधिकांश परिवारों का काम रात मे एक ही लालटेन से चल जाता है। प्रत्येक व्यक्ति के पढने के लिए अलग कमरे, प्रकाश तथा पठनसामग्री की व्यवस्था करना इस वर्ग के बूते की बात नहीं। प्राय ग्रामीण जन एक स्थान पर—गर्मी के दिनों में खुले मैदान मे चारपाई बिछाकर और जाड़े के दिनों में अलाव के चारों तरफ—बैठकर गप्प किया करते है अथवा कुछ लोग मिलकर रामायण गाते हैं और बाकी लोग सुनते है। कभी कभी गाँव में सत्यनारायण, श्री मद्भागवत, महाभारत, सुखसागर आदि की कथाएँ भी होती हैं और ग्रामीण सामूहिक रूप से इन कथाओं को सुनकर मनबहलाव करते है। ऐसी अवस्था में ग्रामीणों के लिये पढना असभव है, और इसकी बात वे कभी सोचते भी नहीं।

पढना ग्रामीणो के लिए सभव नही होता। अकेले रहना अकेले में सोचना और शांत होकर पढना इनके लिए कठिन है। *काम से फुर्सत पाकर जब कोई ग्रामीण अपने दरवाजे पर* बैठता है, तो अन्य ग्रामीण भी वहाँ आ जाते हैं। यदि कोई विशेष बात नही है तो गाँव का कोई भी आदमी दूसरे के दरवाजे पर सध्या या दोपहर काटना अपमान की बात नहीं समझता। ग्रामवासी सामाजिक जीवन व्यतीत करते हैं, जिनमे वस्तुएँ ही नहीं, व्यक्तित्व भी साझा होता है। गाँव के लोग अपने घरो मे भी अकेला जीवन नही बिता सकते। भरे पूरे सयुक्त परिवार मे किसी ग्रामीण को अकेले बैठकर सोचने तथा पढने का अवसर नही प्राप्त हो सकता। फिर घर वैयक्तिक हो सकता है, किन्तु दरवाजा खोलकर बाहर आते ही गाँव का आदमी पडोस के जीवन का एक अग हो जाता है। ग्रामीणों का मनोरजन अधिकतर लोक कथाओं से होता है। गाँवों में कहानी सुनानेवाले प्रचुर परिमाण मे पाये जाते है। गाँव के लडके और युवक अक्सर इन कहानियो के श्रोता होते है। कभी कभी कहानी रातभर तक चलती रहती है।

गाँवों मे दो ही प्रकार के लोग कुछ पढते हैं, (१) स्कूलों तथा कालेजों के विद्यार्थी और (२) खेतों में काम न करनेवाले धनी किसान। इन्हीं लोगों के प्रयत्नों से गाँव में कभी कभी पुस्तकालय की भी स्थापना हो जाती है। जैसे जैसे गाँवों में स्कूलों और कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्रों की सख्या बढती जाती है, वैसे वैसे उनकी पठनरुचि का विकास होता जा रहा है।

विभिन्न अनुसधानों से प्रमाणित होता है कि ग्रामीण नगरनिवासियों की अपेक्षा कम पढ़ते हैं। पार्सन नामक मनोवैज्ञानिक ने नगरों (cities), शहरों (towns) और गाँवों की पठनमात्रा का तुलनात्मक अध्ययन किया और वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि ग्रामीण वयस्कों की अपेक्षा नगरों और शहरों के वयस्क अधिक पढते हैं।[१] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से भी इस निष्कर्ष की पुष्टि होती है।[२] इडियन स्टैटिस्टिकल इस्टिट्यूट द्वारा नेशनल सम्पुल सर्वे के अतर्गत की गयी एक जाँच से ज्ञात होता है कि गाँव में ४४% पढनेवाले परिवार है, जबकि शहरों में यह अनुपात ११ ४% है।[३] पाठकपरिवार का अर्थ है जिस परिवार में कम से कम एक पाठक हो।

१ पार्सन्स, आर० बी० (३९) पृ० ३४।
२ गार्डनर, एफ० एम० (९९) पृ० ५८।
३ प्रकाशन समाचार (८४), पृ० ५२८।

(क) पठनप्रकार पर ग्राम और नगरनिवास का प्रभाव

ग्रामवासियों तथा नगरवासियों द्वारा पठित पुस्तकों के प्रकार में भी भिन्नता होती है। नगरवासी रूमानी, सामाजिक तथा अन्य प्रकार के उपन्यास अधिक पढ़ते हैं, जबकि ग्रामीण पाठक धार्मिक कथाओं में अधिक रुचि रखते हैं। इण्डियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिट्यूट के तत्वावधान में की गयी पठनरुचि सम्बन्धी जाँच से पता चलता है कि देहातों के हिन्दी पाठकों में ३५ ३% कथासाहित्य, ३ ४% जासूसी और रामांचकारी साहित्य, ५ १% जीवनी, ६ ४% कविता तथा नाटक, ६७ ६% धार्मिक साहित्य तथा ७ ८% सामयिक विषयों से सम्बद्ध पुस्तकें, पसन्द करते हैं। इसके विपरीत शहरों के हिन्दी पाठकों में ५६ ५% कथासाहित्य, ६ ८% जासूसी तथा रोमांचकारी साहित्य, ६ ६% जीवनी, १० ८% कविता तथा नाटक, ८६ ८% धर्म तथा ८ ३% सामयिक विषयों से सम्बद्ध पुस्तकें पढ़ते हैं।[१] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय की चल पुस्तकालय शाखा के संस्था द्वारा पठित पुस्तकों की परीक्षा करके गाडनर महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि 'यदि पठनस्तर की उच्चता कथेतर पुस्तकों के पठन से मानी जाए तो नागरिक क्षेत्र में ग्रामीण क्षेत्र का पठनस्तर उच्च है।" चल पुस्तकालय सेवा के ग्रामीण क्षेत्र में पठित कथेतर पुस्तकों की संख्या ५८% थी, जिनमें धर्म, साहित्य और जीवनी विशेष लोकप्रिय विषय थे, जबकि नागरिक क्षेत्र में पठित पुस्तकों में से केवल २०% ही कथेतर पुस्तकें थीं।[२] इस अध्ययन में एक त्रुटि मालूम पड़ती है वह यह कि ग्रामीणों द्वारा पठित "धार्मिक" पुस्तकों को कथेतर मान लिया गया है। वस्तुतः ग्रामीण पाठकों में "धार्मिक" पुस्तकें पढ़ने की रुचि तो अवश्य होती है, पर ये पुस्तकें अधिकतर धार्मिक कथाएँ ही होती हैं। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने इस सम्बन्ध में जो अध्ययन किया है, वह काफी रोचक और उक्त निष्कर्ष की पुष्टि करने वाला है। तीन गाँवों के १८० वयस्क पाठकों में से १५८ ने बताया कि वे रामायण, महाभारत, सुखसागर और प्रेमसागर बराबर पढ़ते रहते हैं। केवल २२ पाठकों ने जो, गाँव के तो थे पर नगरों में काम करते थे, रूमानी, जासूसी और सामाजिक उपन्यासों में अपनी रुचि बतायी। ८४ पाठकों ने बताया कि उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' या 'चन्द्रकान्ता संतति' के कुछ भाग पढ़े हैं। इससे सिद्ध है कि ग्रामीण पाठकों की रुचि धार्मिक कथाओं में अधिक होती है। वे रूमानी जासूसी या सामाजिक उपन्यासों को—उपन्यासमात्र को ही—नीची दृष्टि से देखते हैं। इसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ग्रामीणों की पठनरुचि का स्तर औसत रूप से नागरिकों की पठनरुचि की अपेक्षा ऊँचा है। नागरिकों की पठनरुचि की तरह अभी तक ग्रामीणों की पठनरुचि विकृत नहीं हुई है। पर धीरे धीरे स्थिति में परिवर्तन हो रहा है। साक्षरता की वृद्धि के साथ गाँवों के किशोर पाठकों की रुचि पर नागरिक किशोरों की रुचि का प्रभाव देखा जा रहा है। अब स्कूलों तथा कॉलेजों में पढ़नेवाले किशोर तथा तरुण वयस्क धार्मिक कथाओं के प्रति रुचि नहीं रखते। रूमानी तथा सस्ता प्रेमकथाएँ, जासूसी कहानियाँ तथा अन्य प्रकार के उपन्यास अब ग्रामीण किशोर भी पढ़ने लग गये हैं।

१ प्रकाशन समाचार (८४), पृष्ठ ५९।

२ गाडनर, एफ० एम० (१०) पृ० ५९।

ग्रामीण पाठकों का धार्मिक कथाओं की ओर अधिक झुकाव क्यों होता है, इसका उत्तर उनकी सामाजिक आर्थिक स्थिति तथा उनके जीवनदर्शन में निहित है। भारत को धर्मप्राण देश कहा जाता है, और इसका श्रेय भारतीय गाँवों को ही है। भारत की अधिकांश हिन्दू जनता, जो गाँवों में बसती है, ईश्वर और धर्म में आस्था रखती है। प्रत्येक धार्मिक हिन्दू इस भौतिक संसार को छोड़ने के पश्चात् मोक्ष की कामना करता है। प्राचीन हिन्दू महात्माओं ने बताया है कि भगवान् की कथा सुनने से घोर पापी भी मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। ग्रामीण पाठकों की पठनरुचि के मूल में यही मोक्ष की प्रेरणा सक्रिय रहती है। इस कारण प्रत्येक धार्मिक हिन्दू, यदि वह साक्षर है, भगवान् की कथा पढ़ना चाहता है। निरक्षर पाठक भगवान् की कथा सुनकर ही संतोष करता है। अब भी गाँवों में अक्सर धार्मिक कथाएँ होती हैं और लोग उन्हें सुनने के लिए दिन दिन भर बैठे रहते हैं।

ग्रामीण पाठक अधिक संख्या में पुस्तकें नहीं पढ़ते। कोई कोई पाठक तो आजीवन एक ही पुस्तक पढ़ता रहता है। ग्रामीण पाठकों द्वारा पठित पुस्तकों में वैविध्य का अभाव होता है। रामायण, महाभारत, सुखसागर और प्रेमसागर ये ग्रामीणों द्वारा पठित कुछ प्रमुख पुस्तकें हैं। वे मानते हैं कि भगवान की कथा तो बार बार पढ़ी और सुनी जाने की अपेक्षा रखती है। तुलसीदास के शब्दों में रामकथा सुनकर जो अघा जाए उससे बढ़कर अरसिक कौन हो सकता है! धर्म के प्रति यह निर्व्याज आकर्षण ही ग्रामीणों की पठनरुचि का मूल आधार है।

धार्मिक पुस्तकों में ग्रामीणों की रुचि होने के कुछ ऋणात्मक कारण भी गिनाए जा सकते हैं। ग्रामीण नगरों में अधिक नहीं जाते जहाँ स्टेशनों तथा बुकस्टालों पर चटकीले और सिनेतारिकाओं के अर्धनग्न चित्रों से सुसज्जित आवरणपृष्ठों में ढकी, गन्दी पुस्तकें, जिनका मूल्य ५० पैसे से ७५ पैसे तक रहता है इस प्रकार रखी रहती हैं कि बगल से गुजरने वाले की दृष्टि उन पर अवश्य जाय। पैसे का अभाव भी इसका कारण हो सकता है। औसत ग्रामीण नगर में अपनी जरूरत की चीजें खरीदने ही जाता है और वहाँ जाकर अपने पैसे की रक्षा सूम के धन की तरह करता है। पुस्तकें खरीदने की तरफ उसका ध्यान ही नहीं जाता। पर ये गौण कारण हैं। ग्रामीणों की पठनरुचि के वैशिष्ट्य का प्रधान कारण उनका जीवनदर्शन ही है।

(ट) पुस्तकोपलब्धि की सुविधाएँ

पठनरुचि के निर्धारण में पुस्तकोपलब्धि की सुविधाओं का महत्वपूर्ण हाथ होता है। कोई व्यक्ति किस मात्रा में, और किस प्रकार की, पुस्तकें पढ़ता है यह उपलब्ध पठनसामग्री की मात्रा और प्रकार पर निर्भर है। पुस्तकोपलब्धि की सुविधा अनेक हेतुओं पर आधारित है, जिनमें व्यक्ति की आर्थिक स्थिति, पुस्तकों का मूल्य, पारिवारिक तथा सामाजिक स्थिति, पेशा तथा पुस्तकालय प्रमुख हैं।

(१) पठनमात्रा पर आर्थिक स्थिति का प्रभाव —

प्रथमतः हम पठनरुचि पर आर्थिक स्थिति के प्रभाव का विवेचन करें। पुस्तकें प्राप्त करने का एक जरिया उन्हें खरीदना है। पर पुस्तकें वे ही खरीद सकते हैं, जिनकी आर्थिक

स्थिति औसत से कुछ अच्छी होती है। भारत जैसे निर्धन देश में, जहाँ की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अब भी बहुत कम है, अधिकतर लोगों में पुस्तक खरीदने की प्रवृत्ति का अभाव चिन्त्य तो है पर आश्चर्यजनक नहीं। हिन्दी के प्रकाशक अक्सर ही पुस्तकों की कम बिक्री के सम्बन्ध में अपनी चिन्ता व्यक्त करते रहते हैं। उनके अनुसार पुस्तकों की खुदरा बिक्री नहीं होती।[१] कोई भी प्रकाशक किसी सामान्य पुस्तक की दो हजार प्रतियाँ छापने का साहस नहीं करता।[२] केवल जून जुलाई में पाठ्य पुस्तकें तथा दिसम्बर मार्च में सामान्य पुस्तकें बिकती हैं।[३] कुछ प्रकाशकों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दी पाठकों में पुस्तक खरीदने की प्रवृत्ति के अभाव का कारण उनकी निर्धनता नहीं, वरन् उनमें पुस्तकों के महत्त्व, उपयोगिता और आवश्यकता के बोध का अभाव है।[४] पर यह विचार निर्दोष नहीं है। यह सही है कि हिन्दी पाठकों में पठनरुचि की कमी है, पर उनके पुस्तक न खरीदने का कारण पठनरुचि का अभाव उतना नहीं, जितना आर्थिक कारण है। इस कथन की पुष्टि हाल के वर्षों में हिन्दी की सस्ती जेबी पुस्तकों की अधिक बिक्री से होती है।

अस्तु, पुस्तकोपलब्धि का एक उपाय पुस्तक खरीदना है और पुस्तकें वे ही खरीद सकते हैं, जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी होती है। परिणामतः उच्च आय समुदाय (Income Group) वाले लोगों में पठनमात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। 'दि इण्डियन इंस्टिट्यूट आफ पब्लिक आपीनियन' के तत्त्वावधान में किये गये एक सर्वेक्षण से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[५] इस सर्वेक्षण में कलकत्ता और बम्बई के १०३९ वयस्कों से यह पूछा गया कि "आप अपनी छुट्टियाँ में सामान्यतः क्या करते हैं?" उनके उत्तरों का आयक्रम से विवरण निम्नलिखित सारणी में प्रस्तुत किया गया है—

आप अपनी छुट्टियों में क्या करते हैं? प्रतिशत

आय समुदाय (रुपया में)	उत्तर देने वालों की संख्या	लोगों के यहाँ आना जाना	सिनेमा देखना	पढ़ना	आराम करना	इधर उधर	घरेलू कामों की देख रेख करना	[illegible]	अन्य उत्तर
१–१००	२८४	८५	९५	१३०	१७६	२८	१८०	१०९	३२४
१०१–२००	३३५	९३	१२२	२०३	२४५	४८	१४३	१२८	२३०
२०१–३५०	१७३	१२१	१३९	२४९	१६२	५८	११०	९८	३०१
३५१–७००	५९	११९	५१	५४	१५२	३४	१३६	१८६	२७१
७०० से ऊपर	१४	१४३	१४३	४२८	२१४	७१	—	७१	२८६
अनिश्चित	१७४	३४	८६	२७०	९८	८०	६९	८६	४५४
कुल जोड़	१०३९	८८	१०८	२१८	२२२	६४	१३३	११३	३३३

१ प्रकाशन समाचार दिसम्बर '५९, (८५), पृष्ठ १०४।
२ प्रकाशन समाचार, मार्च '५८, (९३), पृष्ठ २७७।
३ वही, अक्टूबर '६१ (९१), पृष्ठ ५३।
४ प्रकाशन समाचार, दिसम्बर '६१, (८८), पृष्ठ १५२।
५ पब्लिक आपीनियन सर्वे (४१) पृ० ३०।

इन वयस्कों से दूसरा प्रश्न यह पूछा गया कि "क्या आप पुस्तक पढ़ना पसन्द करते हैं ?" इनके उत्तर सम्बन्धी आँकड़े निम्नांकित सारणी में प्रस्तुत किये गये हैं। इससे भी स्पष्ट ज्ञात होता है कि अधिक आयवालों में कम आयवालों की अपेक्षा अधिक पठनरुचि होती है।[१]

क्या आप पुस्तक पढ़ना पसन्द करते हैं ? प्रतिशत

आय समुदाय (रुपयों में)	उत्तर देने वालों की संख्या	हाँ	नहीं	नहीं मालूम तथा अन्य उत्तर	कुल जोड़
१ १००	२८४	४९ ३	३५ ९	१४ ८	१०० ०
१०१ २००	३३५	८४ ८	१२ ५	२ ७	१०० ०
३०१ ३५०	१७३	८७ ३	७ ५	५ २	१०० ०
३५१ ७००	५९	१०० ०	—	—	१०० ०
७०० से अधिक	१४	१०० ०	—	—	१०० ०
अनिर्दिष्ट	१७४	८९ ८	६ ८	३ ४	१०० ०
कुलजोड़	१०३९	७६ ६	१९ ९	६ ५	१०० ०

उच्च आय वाले लोग केवल इस कारण अधिक नहीं पढ़ते कि उनमें पुस्तकें खरीदने की अधिक क्षमता होती है, इसका कारण यह भी होता है कि सामान्यतः उच्च आयवाले परिवारों का शैक्षणिक स्तर उच्च होता है तथा ऐसे परिवारों में कुछ-न-कुछ पुस्तकें पहले से विद्यमान रहती हैं। यदि परिवार के अग्रज सदस्य शिक्षित हैं, तथा उनमें पढ़ने की रुचि है, तो घर में कुछ-न-कुछ पुस्तकें रहेंगी ही। तरुण सदस्यों की पठनरुचि पर इसका अनुकूल प्रभाव पड़ता है। दुर्भाग्यवश अधिकतर हिन्दी पाठक इस सुविधा से प्रायः वंचित हैं। ऐसे परिवारों की संख्या अत्यल्प है, जिनके पास हिन्दी पुस्तकों का संग्रह हो। इस सम्बन्ध में अभी कोई व्यापक सर्वेक्षण तो नहीं किया गया है, पर दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के एक सर्वेक्षण से इस तथ्य की पुष्टि होती है। पुस्तकालय के २१२ सदस्यों से, उनके घर जाकर, और १९७ सदस्यों से, पुस्तकालय में ही, यह पूछा गया कि "आपके घर पर कितनी पुस्तकें हैं ?" लगभग आधे पाठकों ने बताया कि उनके घर पर एक भी पुस्तक नहीं जबकि २७% पाठकों के पास १ से २० तक पुस्तकें थीं।[२] इसी प्रकार, उक्त पुस्तकालय के डिपाजिट स्टेशनों के सदस्य पाठकों से जब यही प्रश्न पूछा गया तो ६७% पाठकों ने बताया कि उनके पास एक भी पुस्तक नहीं। केवल तीन व्यक्तियों ने बताया कि उनके पास ३० से अधिक पुस्तकें हैं।[३] चल पुस्तकालय शाखा के ७६% सदस्यों के पास एक भी पुस्तक नहीं थी, और जिनके पास पुस्तकें थीं, उनमें से ८०% के पास ३० से कम पुस्तकें थीं।[४] यह भारत की राजधानी दिल्ली की स्थिति

१ पब्लिक ओपीनियन सर्वे (४१) पृष्ठ ४९।
२ गार्डनर एफ० एम० (१९), पृ० ३१।
३ उपरिवत् (१९) पृ० ५६।
४ उपरिवत् (१९), पृष्ठ ६०।

हैं, जो शिक्षा तथा अन्य दृष्टियों से अग्रणी हैं। आज भी भारत के गाँवों तथा छोटे शहरों मे ९५% से अधिक ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिनके पास व्यक्तिगत पुस्तकालय नाम की कोई वस्तु नही होती। फिर १८०० १९१७ ई० की अवधि की कल्पना सहज है, जब भारत आर्थिक तथा शैक्षणिक प्रगति की दृष्टि से नितांत पिछडा हुआ था।

(२) पठनप्रकार पर आर्थिक स्थिति का प्रभाव—

आयस्तर का पठनप्रकार पर प्रभाव पडता है या नही, अथवा यह प्रभाव किस हद तक पडता है, यह बताना कठिन है। इस सबध मे सभवत इतना ही कहा जा सकता है कि यदि अधिक आय वाले परिवार के कुछ सदस्य परिष्कृत तथा साहित्यिक रुचि के हैं, तो इन परिवारो के अन्य सदस्यो का पठन भी उच्च कोटि का होगा। दि इडियन इस्टिट्यूट आफ पब्लिक आपीनियन, दिल्ली के तत्त्वावधान मे किये गये सर्वेक्षण से पता चलता है कि प्राय सभी आय समुदाय के व्यक्ति कथासाहित्य पढना सर्वाधिक पसद करते हैं, पर १०१ ७०० रु० आय समुदाय के व्यक्तियो मे कथासाहित्य पढने का अनुपात सर्वाधिक होता है। उक्त सर्वेक्षण मे कलकत्ता तथा बबई के १०३९ वयस्को से यह पूछा गया कि "किस प्रकार की पुस्तकों मे आपकी सर्वाधिक रुचि है?" निम्नाकित सारणी मे उत्तरो का आयक्रम से विवरण प्रस्तुत किया गया है।

किस प्रकार की पुस्तकें आपको सबसे अच्छी लगती हैं? प्रतिशत

आय समुदाय (रुपयो मे)	उत्तरदाताओ की सख्या	यात्रा	जीवनी	उपन्यास	जासूसी कथाएँ	कविता	प्रौद्योगिक ढग की पुस्तकें	समाज विज्ञान
१—१००	२८४	२० ८	२७ १	३४ १	१६ ६	१५ १	२ ५	४ ९
१०१ २००	३३५	३२ २	३३ ४	५१ ६	१६ १	२८ ७	३ ६	११ ६
२०१ ३५०	१७३	२८ ३	२७ २	४६ १	१३ ६	२२ ५	५ ६	६ ९
३५१ ७००	५६	२७ १	२५ ४	५० ८	५ १	२२ ०	१० २	१० २
७०० से अधिक	१४	२१ ४	२८ ६	३५ ७	१४ ३	१४ ३	७ १	—
अनिर्दिष्ट	१७४	४२ ५	३७ ८	७४ १	२८ २	३१ ०	२ ६	११ ५
कुल जोड	१०३९	२६ ७	३० ८	५० १	१८ ३	२३ ८	३ ६	८ ९

(३) पठनमात्रा पर पुस्तकों के मूल्य का प्रभाव —

पठनरुचि पर पुस्तकों के मूल्य का भी प्रभाव पडता है। सामान्यत लोग मनोरंजनार्थ पढते है। अन्य मनोरंजनो से पठन का वशिष्ट्य यह है कि यह मनोरंजन के साथ साथ व्यक्तित्व के विकास तथा भावनाओ और विचारो के परिष्कार का सफल साधन भी है। पर यदि पठन को मनोरंजन के अन्य साधनो की तरह लोकप्रिय होना है तो इसे भी बाजार की मूल्य प्रतियोगिता मे शामिल होना होगा। यदि पुस्तको का मूल्य ज्यादा हो तो लोग उन्हे नही खरीदेंगे। प्रकाशकों के गत दशाब्दियों के अनुभवो से यह सिद्ध हो चुका है कि पुस्तकों का मूल्य कम होने से उनकी बिक्री मे अमित वृद्धि हो जाती है। पेंग्विन पुस्तको की प्रति वर्ष १ करोड ४० लाख प्रतियाँ बिकती है।[1] अकेले इगलैंड मे पेंग्विन पुस्तकों की प्रतिवर्ष ५० लाख प्रतियां बिक जाती हैं।[2]

अमरीका से प्रकाशित सस्ती पुस्तकों की खपत भारत मे, निर्धनता के बावजूद, जिस तेजी से बढ रही है, उसका श्रेय इस देश मे अंग्रेजीप्रेम की वृद्धि को नही, जैसा कि कभीकभी भ्रमवश समझ लिया जाता है, वरन् पुस्तको के सस्ते मूल्य का है। आजकल इन पुस्तको के प्रचार का यह परिणाम हुआ है कि अँगरेजी साहित्य के प्रति थोडी भी रुचि रखने वाला व्यक्ति सस्ते मूल्य पर अपनी मनचाही पुस्तक पाकर उसे खरीदने का लोभ सवरण नहीं कर पाता। जेबी पुस्तक प्रकाशन की परपरा के आरम्भ होने के पूर्व अमरीका की ९९% पुस्तकें ऐसी थी, जिनका मूल्य तीन डालर से अधिक होता था। फलत उनकी बिक्री भी उतनी अधिक नही होती थी। पर जब जेबी सस्करणो मे वे पुस्तकें २५ सेंट और ५० सेंट में प्राप्त होने लगी तो उनकी बिक्री मे आशातीत वृद्धि हुई। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकाशकों ने जो यह प्रचारित कर रखा है कि लोगो मे पुस्तक पढने की रुचि कम होती है, वह सर्वथा निराधार है। जिस देश मे पहले से प्राय शतप्रतिशत साक्षरता रही हो, वहाँ पाठकों की सख्या मे वृद्धि इस बात का प्रमाण है कि पढने की रुचि रखते हुए भी लाखो लोग पुस्तकें खरीदने और रखने के सुख से वचित रह जाते हैं।[3] अमरीका मे अब इन पुस्तकों की लाखो प्रतियाँ छपती है, और ये पुस्तकें न केवल पुस्तक की दूकानो पर बल्कि परचून की दूकानो पर, सडको पर, बुकस्टालो पर और ठेलो पर भी बिकती है। समाचारपत्र विक्रेता ऐसी पुस्तको को समाचारपत्रों के साथ लोगो के घरघर पहुचा जाते हैं। अमरीका से कुछ ऐसी पुस्तकें निकली हैं, जिनका मूल्य केवल १० सेंट है। २५, ३५ और ५० सेंट की पुस्तकमालाओ मे उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। अमरीका मे एक जेबी पुस्तक का मूल्य एक बार दाढी बनाने के खर्च या सिनेमा के एक सस्ते टिकट से भी कम है। इसका सुपरिणाम यह हुआ है कि पढने मे थोडा भी रुचि रखनेवाला व्यक्ति पुस्तक खरीदने मे दिक्कत का अनुभव नही करता। रूस से आनेवाली साम्यवादी पुस्तको की लोकप्रियता का रहस्य भी उनका कम मूल्य होना ही है।

---

१ प्रकाशन समाचार, नवम्बर ६० (७९) पृष्ठ ८८
२ प्रकाशन समाचार मार्च ६१ (७२) पृष्ठ ३२९
३ प्रकाशन समाचार (८७)

हिन्दी पाठकों की पठनरुचि पर भी पुस्तकों के मूल्य का असर दिखाई पड़ता है। हिन्दी के प्रकाशक अक्सर पाठकों पर सारा दोष मढ़कर आत्मसंतोष कर लेते हैं। पर यदि स्थिति पर गंभीरतापूर्वक दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा, कि हिन्दी पाठकों में पठनरुचि के कम होने या उसमें वृद्धि न होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण पुस्तकों का अधिक मूल्य होना भी है। इधर हाल के वर्षों में, प्रकाशकों में, पुस्तकों का अधिक मूल्य रखने की जैसे होड़ सी मची हुई है। इसका कुपरिणाम यह हुआ है कि जो लोग, अवश्य ही ऐसे लोग कम थे, पहले पुस्तकें खरीदते भी थे, वे भी अब पुस्तकें खरीदने का साहस नहीं करते। फल यह होता है कि सामान्य संस्करण वाली हिन्दी पुस्तकों को खपत के लिए पुस्तकालयों, विद्यालयों, महाविद्यालयों और सरकारी संस्थाओं पर निर्भर होना पड़ता है, पाठकों का सहारा उन्हें नहीं मिलता।

दूसरी तरफ कम मूल्य की हिन्दी पुस्तकें पाठकों द्वारा पुष्कल परिमाण में खरीदी जाती हैं। गीता प्रेस में प्रकाशित सस्ती धार्मिक पुस्तकों के अतिशय लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण उनका अल्प मूल्य होना ही है। बैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी, 'नंद भौजाई', 'छबीली भटियारिन' तथा 'चन्द्रकांता' जैसी पुस्तकें हिन्दी पाठकों द्वारा खूब खरीदी जाती हैं। इनके प्रकाशक कभी भी पाठकों की पठनरुचि का रोना नहीं रोते। इसी प्रकार रेलवे बुक स्टालों पर बिकनेवाले रूमानी और जासूसी उपन्यासों की लोकप्रियता का मुख्य कारण उनका मूल्य ५० पैसे से ७५ पैसे के अन्दर होना भी है। इधर हाल में जेबी पुस्तकों के प्रकाशन से हिन्दी प्रकाशकों का जो अनुभव प्राप्त हुआ है, वे काफी उत्साहवर्धक हैं। जहाँ साधारणतः हिन्दी पुस्तकों के सामान्य संस्करण एक हजार से दो हजार तक के होते हैं, और बहुत कम ऐसी सौभाग्यशाली पुस्तकें होती हैं जिनका दूसरा संस्करण पाँच वर्षों के भीतर हो पाता है, वहाँ हिन्दी जेबी पुस्तकों के संस्करण ५ से १० हजार प्रतियों तक के होते हैं और प्रथम संस्करण के समाप्त होने में अधिक देर नहीं लगती। 'हिन्द पॉकेट बुक्स' का हर पुस्तक का पहला संस्करण ६ हजार से १० हजार प्रतियों तक का होता है और जुलाई १९६० तक इस क्रम की आधी से अधिक पुस्तकों के दूसरे संस्करण हो चुके थे। इस समय तक यहाँ से प्रकाशित कुछ पुस्तकों की ६ से ८ हजार तक प्रतियाँ बिकी थीं। १९६० ई० के जनवरी माह में राजकमल पॉकेट बुक्स की पहली आठ पुस्तकों के १०-१० हजार प्रतियों के संस्करण प्रकाशित हुए और उनमें से कुछ की बिक्री इतनी अच्छी हुई कि शीघ्र ही उनके दूसरे संस्करण प्रकाशित किये गये।[१] यह स्मरणीय है कि हिन्दी में प्रकाशित जेबी पुस्तकों का मूल्य अब भी अमरीका की तुलना में अधिक है। यदि हम १ डालर का क्रयशक्ति एक रुपये के बराबर ही मान लें, तो भी अमरीकन पॉकेट बुक्स के समकक्ष हिन्दी प्रकाशनों को २० से २५ पैसे में मिलना चाहिए। हिन्दी की जेबी पुस्तकों का मूल्य प्रति पुस्तक १ रुपये से कम नहीं है।[२] फिर भी कम लोग जो कभी पुस्तकें खरीदने का नाम नहीं लेते थे अब जेबी पुस्तकें खरीदने लगे हैं।

१ प्रकाशनसमाचार (७२) पृष्ठ ४२८

२ प्रकाशन समाचार, मार्च ६१ (८७), पृष्ठ ३२०

४ पठनप्रकार पर पुस्तकों के मूल्य का प्रभाव —

पठनप्रकार पर भी पुस्तकों के मूल्य का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में पडता है। जेबी पुस्तकों के प्रकाशन के पूर्व साहित्यिक तथा जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महान पुस्तकें अक्सर महगी होती थीं। उन्हें केवल काफी सम्पन्न लोग ही खरीद सकते थे। हिन्दी में अब भी यह स्थिति विद्यमान है। यद्यपि पिछले दो ढाई वर्षों से हिन्दी में जेबी पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी हैं, और इस समय लगभग एक दर्जन संस्थाओं से जेबी पुस्तकें निकलती हैं फिर भी, हिन्दी का अधिकांश उच्चतर साहित्य अभी जेबी पुस्तक प्रकाशन की परिधि में नहीं आ पाया है। कविता पुस्तकें, नाटकों आदि की बात तो दूर रहे हिन्दी का अधिकांश उच्चतर औपन्यासिक साहित्य भी जेबी पुस्तकों के रूप मे प्रकाशित नहीं हो पाया है। हिन्दी की साहित्यिक और उच्चकोटि की पुस्तकों का मूल्य पाठकों की क्रय शक्ति को देखते हुए अधिक है जिसका परिणाम यह है कि जनसंख्या का बडा भाग हिन्दी की उच्चकोटि की साहित्यिक पुस्तकें पढने से वंचित रह जाता है। दूसरी तरफ व्यावसायिक लेखक ऐसी पुस्तकें विशेषकर कथापुस्तकें लिखते है जिनका एकमात्र उद्देश्य सामान्य पाठकों का सस्ता मनोरंजन होता है। इन पुस्तकों का मूल्य अक्सर ५० पैसे से ७५ पैसे तक होता है और रेलवे बुक स्टालों पर आकर्षक आवरणपृष्ठों में चमचमाती ये पुस्तकें पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ होती है। सस्ती और आकर्षक होने के कारण पाठक इन पुस्तकों को आसानी से खरीद लेते हैं जबकि उच्चकोटि की पुस्तकें उनकी पहुंच के बाहर ही बनी रहती है। इस अवाछनीय स्थिति को दूर करने के लिए विदेशों में काफी दिनों से जेबी पुस्तकें प्रकाशित होती है जिससे श्रेण्य तथा उच्चकोटि की पुस्तकें सस्ते मूल्य पर पाठकों को उपलब्ध हो जाती है। अब अंगरेजी भाषा का साधारण स्थिति का पाठक भी ऐसी स्थिति में है कि वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुस्तकें खरीद कर पढ सके। हिन्दी अभी तक इस स्थिति में नहीं आ पायी है। इससे सिद्ध है कि पठनरुचि के निर्धारण में पुस्तकों का *मूल्य महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।*

५ पठनमात्रा पर पुस्तकालयीय सुविधा का प्रभाव —

पुस्तकोपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण साधन पुस्तकालय है। जिस देश में या जिस क्षेत्र विशेष में पुस्तकालयों की प्रचुरता होती है तथा पुस्तकालयों की व्यवस्था पाठकों के अनुकूल होती है वहा लोग अधिक मात्रा में पढते है। ग्रे और मनरो के मतानुसार पुस्तकालयीय सुविधाओं के विस्तार से अमरीका में पठनमात्रा में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।[1] दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के तत्त्वावधान में किये गये एक सर्वेक्षण से इस तथ्य की पुष्टि होती है। केन्द्रीय पुस्तकालय (दि सा पु) के ४०९ पाठकों से पूछा गया कि पुस्तकालय का सदस्य बनने के पूर्व आप कहाँ से पुस्तकें प्राप्त करते थे?' उनमें से ७० ने अर्थात् १९% पाठकों ने बताया कि इसके पूर्व वे पढते ही नहीं थे। १३% पाठक अपने मित्रों और सम्बन्धियों से मांग कर पुस्तकें पढते थे तथा ४४% पाठक स्कूल और कॉलेज के पुस्तकालयों से पुस्तकें लेते थे। अधिकांश पाठकों ने बताया कि पुस्तकालय

१ ग्रे और मनरो (२२), पृष्ठ १३

का सदस्य होने के बाद से वे अधिक पढ़ते हैं। ८३% पाठकों ने उत्तर दिया कि वे पहले से 'अधिक पढ़ते है जबकि इनमे से ३०% ने कहा कि वे पहले से बहुत अधिक' पढ़ते है।[१] चल पुस्तकालय के जिसका कार्यक्षेत्र दिल्ली के बाहर का ग्रामीण और नागरिक क्षेत्र है, २०% सदस्य इस सेवा के आरम्भ होने के पूर्व बिलकुल नही पढ़ते थे। ५१% ने बताया कि वे पहले से बहुत ज्यादा पढ़ते है तथा ४०% ने कहा कि वे पुस्तकालय का सदस्य बनने के बाद से थोड़ा अधिक पढ़ने लगे है।[२] इससे स्पष्ट है कि पठनमात्रा पर पुस्तकालयीय सुविधा का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है।

(ङ) पठनप्रकार पर पुस्तकालयीय सुविधा का प्रभाव —

पठनप्रकार पर भी पुस्तकालयीय सुविधाओं का प्रभाव पड़ता है। पुस्तकालय में जिस प्रकार की पुस्तकें अधिक मात्रा में हैं इससे पाठकों का पठनप्रकार निर्धारित होता है। यदि पुस्तकालय में कथापुस्तकें अधिक है तो लोग ज्यादातर कथापुस्तक पढ़ेंगे। कथापुस्तकों के भी अनेक प्रकार होते हैं। यदि पुस्तकालय में उच्चकोटि के साहित्यिक उपन्यास अधिक मात्रा में है तो पाठकों का पठनप्रकार उच्चस्तरीय होगा। इसके विपरीत यदि सस्ती भावुकताप्रधान प्रेमकथाओं तथा जासूसी कथाओं की बहुलता है तो पाठकों का पठनप्रकार भी निम्नकोटि का होगा। दिल्ली सार्वजनिक पुस्तकालय के सर्वेक्षण से इस तथ्य की भी पुष्टि होती है। उक्त पुस्तकालय के पंजीयित सदस्यों द्वारा पठित हिन्दी अँगरेजी तथा उर्दू पुस्तकों में से क्रमशः ७७%, ३८% और ९०% कथापुस्तकें तथा क्रमशः २३% ६२% और १०% कथेतर पुस्तकें थी।[३] इस पुस्तकालय में अँग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी और उर्दू में कथापुस्तकों का अनुपात लगभग दूना है। अँगरेजी पुस्तकों में कथासाहित्य का अनुपात केवल ३०% है जबकि कुल कथासाहित्य का अनुपात ५२.१% है।[४] इससे पता चलता है कि लोगों की पठनरुचि पर पुस्तकालय में उपलब्ध पुस्तकों का भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद सरकारी प्रयत्नों के बावजूद यहाँ पुस्तकालयीय सेवा का संतोषजनक प्रसार नही हो पाया है। मार्च १९५४ के अन्त में एक सर्वेक्षण के अनुसार देश में कुल छोटे बड़े पुस्तकालयों की संख्या ३२ हजार के लगभग थी। इनमें कुल ७१ लाख पुस्तकें थी जिनका उपयोग एक वर्ष में ३ करोड़ ७७ लाख व्यक्ति करते थे। देश में इन पुस्तकों की संख्या के हिसाब से कुल जनसंख्या के प्रत्येक ५० व्यक्तियों के पीछे एक ही पुस्तक आती थी और कुल मिलाकर २० व्यक्ति वर्ष में एक पुस्तक पुस्तकालयों से लेकर पढ़ते थे। यदि यह अनुपात देश की शिक्षित जनता के हिसाब से निकाला जाय तो एक व्यक्ति वर्ष में केवल एक पुस्तक ही पढ़ता था। इसकी तुलना में अमरीका के सार्वजनिक पुस्तकालयों में जनसंख्या के प्रत्येक व्यक्ति पर १.२४ पुस्तकें प्राप्य हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति एक वर्ष में ३.३७ पुस्तकें पढ़ता है। इंगलैण्ड के पुस्तकालयों में जनसंख्या के प्रत्येक व्यक्ति पर

१ गार्डनर एफ० एम० (१९), पृ० ३१
२ उपरिवत् (१०), पृ० ६०
३ गार्डनर एफ० एम० (१९), पृ० ४४
४ उपरिवत् (१) पृ० ७८

४ पठनरुचि पर पुस्तकों के आकारप्रकार का प्रभाव

कुछ पाठकों की रुचि पर पुस्तकों के आकारप्रकार तथा उनके बाह्य आवरण का भी प्रभाव पड़ता है। बैम्बरगर नामक मनोवैज्ञानिक ने बच्चों की पठनरुचि पर पुस्तकों के आकारप्रकार का प्रभाव जानने के लिए कुछ जाँचें की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बच्चे ७½" × ५ × १' आकार की पुस्तकें तथा नीले लाल, और पीले रंग के आवरणपृष्ठ विशेष पसन्द करते हैं।[१] केवल बच्चों की रुचि पर ही नहीं, वयस्कों की पठनरुचि पर भी पुस्तकों के आकारप्रकार का प्रभाव पड़ता है। इंडियन स्टैटिस्टिकल इंस्टिच्यूट द्वारा नेशनल सम्पुल सर्वे के अंतर्गत किए गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि मँझोले आकार की (५¾" × ९") पुस्तकें सर्वाधिक पसन्द की जाती है। देहातों के ३९.४% पाठकों ने और शहरों के ४७.१% पाठकों ने इस आकार की पुस्तकों को सर्वाधिक पसंद किया। इसके बाद और भी छोटे आकार की पुस्तकें (देहातों के ३०.७% पाठकों द्वारा और शहरों के ३८% पाठकों द्वारा) पसन्द की जाती है। बड़े आकार की पुस्तकें (८¾ × ९" से बड़ी) नागरिक और ग्रामीण दोनों ही क्षेत्रों में निश्चित रूप से नापसंद की जाती है। टाइप की दृष्टि से देहातों के ६७% और शहरों के ७५.७% पाठक औसत आकार का टाइप (१० प्वाइंट स्माल पाइका) पसन्द करते है। बड़ा टाइप शहरों के मुकाबले में (१५.९%) देहातों में (२६.८%) ज्यादा पसंद किया जाता है। ज्यादातर पाठक १०० से ३०० पृष्ठ तक की पुस्तकें पसन्द करते हैं—देहातों के ५६% और शहरों के ६६.२% पाठक।[२] तात्पर्य यह कि बड़े और मोटे आकार की पुस्तकें बहुत थोड़े लोग विशेष कर उच्च शिक्षा प्राप्त लोग पसन्द कर पाते हैं। कम शिक्षित तथा वृद्ध व्यक्ति बड़े टाइप में छपी हुई पुस्तकें पसन्द करते हैं।

(५) पठनरुचि पर लेखक की प्रसिद्धि का प्रभाव

पठनरुचि पर लेखक की प्रसिद्धि का भी प्रभाव पड़ता है। एक बार यदि कोई लेखक प्रसिद्धि प्राप्त कर लेता है तो फिर उसे पाठक मिलने ही जाते हैं, उसकी परवर्ती रचना पहले की अपेक्षा चाहे उत्कृष्ट न भी हो। ग्रे और मनरो ने इस सम्बन्ध में भी आंकड़े प्रस्तुत किए है। यद्यपि उनके आंकड़ों से उक्त तथ्य की पुष्टि नहीं होती फिर भी उन्होंने इस पठनरुचि का एक शक्तिशाली निर्धारक माना है।[३]

ग्रे और मनरो द्वारा प्रस्तुत आंकड़े[४] (प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक द्वारा पुनर्व्यवस्थित)

प्रतिशत

	सभी अवस्थाओं मे	स्त्रियाँ	पुरुष	कालेज के स्नातक
मित्रो की अभिशंसा	५८	७०	४६	७६
सुविधा	४५	५२	३८	४७
पुस्तक समीक्षा	२९	३२	२६	६१
लेखक की प्रसिद्धि	९	८	१०	६

१ ग्रे और मनरो (२२), पृ० ११८
२ प्रकाशन समाचार, अक्टूबर ६० (८४), पृष्ठ ५३
३ ग्रे और मनरो (२२), पृष्ठ १५८
४ उपरिवत् (२२) पृष्ठ १५७

(६) अन्य प्रभाव—

ग्रे और मनरो ने एक सारणी में यह भी दिखाया है कि पठनाभ्यास पर परिवार, स्कूल, शिक्षक आदि का भी प्रभाव पड़ता है।[१] उक्त मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कुछ अवस्थाओं में पठनरुचि पर आवेष्टनगत हेतुओं का प्रभाव सर्वाधिक होता है। साहित्यिक रुचिसम्पन्न मातापिता या मित्रों के प्रभाव से व्यक्ति में पठनरुचि जागृत होती है। अच्छी शिक्षा और कुछ शिक्षकों का प्रभाव भी व्यक्ति में पठनरुचि जागृत करने में समर्थ होता है।

डोनोवान नामक मनोवैज्ञानिक ने ब्राव इन्टरनेशनल बुक स्टोर और मार्शल फील्ड्स बुक डिपार्टमेंट के कर्मचारियों की अंतर्वीक्षा करने के बाद यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि साहित्य में भी लोग उसी प्रकार कुछ फैशनों को अपना लेते हैं, जैसे वस्त्र में। एक ऋतु में एक प्रकार की पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, और फिर दूसरी ऋतु में वे लुप्त हो जाती हैं। कभी कभी एक हलके सुझाव से भी पठनरुचि का झुकाव किसी खास दिशा की तरफ मुड़ जाता है। कोई प्रवचनकर्ता किसी पुस्तक का उल्लेख प्रशंसात्मक रूप में कर देता है और श्रोताओं का एक बहुत बड़ा भाग उसी सप्ताह उस पुस्तक को खरीदने के लिए दुकानों पर पहुँच जाता है। कोई राजनीतिज्ञ अपने भाषण में बिना अधिक सोच विचार भी किसी पुस्तक का उल्लेख कर जाता है और परिणामस्वरूप उस पुस्तक की बिक्री रातोंरात बढ़ जाती है। इसी प्रकार यदि कोई प्राध्यापक अपने भाषण में किसी पुस्तक की प्रशंसात्मक समीक्षा कर देता है तो उसकी बिक्री छात्रों के बीच बढ़ जाती है।

कभी कभी आवेष्टनगत सुविधाओं के अभाव में भी लोगों में पठनरुचि विकसित हो जाती है। पुस्तकें अप्रिय वास्तविकताओं से पलायन के लिए उपयुक्त शरणस्थल बन सकती हैं, अथवा वे पाठकों की उन भावनाओं की तृप्ति कर सकती हैं, जिन्हें वे अपने वास्तविक जीवन में पूरी नहीं कर पाते। कुछ दशाओं में पुस्तकीय ज्ञान किसी व्यक्ति को समाज में प्रतिष्ठा दिलाने में भी समर्थ होता है, अथवा कोई व्यक्ति अपने साथियों के समकक्ष बने रहने के उद्देश्य से भी पढ़ सकता है। शांत एवं एकांत प्रिय स्वभाव के कारण भी कुछ लोगों का झुकाव पढ़ने की तरफ हो सकता है। इस प्रकार पठनरुचि को प्रभावित करने वाले हेतु असंख्य प्रकार के हो सकते हैं।

सारांश

रुचि उस प्रेरणाशक्ति को कह सकते हैं जो किसी व्यक्ति को एक क्रियाकलाप की अपेक्षा अन्य क्रियाकलाप में भाग लेने के लिए प्रेरित करती है। सामान्यतः रुचियाँ व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द का और/अथवा उन साधनों को जिनके द्वारा व्यक्ति की प्रेरक शक्तियों (Motivational forces) की तृप्ति होती है प्रतिबिंबित करती हैं। रुचियाँ मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं—व्यावसायिक तथा मनोविनोदात्मक। मनोविनोदात्मक रुचियों के भी अनेक प्रकार हैं जिनमें सांस्कृतिक और भावनात्मक परिष्कार की दृष्टि से पठनरुचि का महत्त्व सर्वाधिक है।

---

[१] ग्रे और मनरो (२२), पृष्ठ १६२

अन्य रुचियों की तरह पठनरुचि भी व्यक्ति की पसन्द-नापसन्द तथा पठनकार्य म सन्नियत सम्मिलित होने की तीव्र आकांक्षा से संबद्ध है।

पठनरुचि पर वय लिंगभेद, शैक्षणिक तथा बौद्धिक स्तर, पुस्तकोपलब्धि की सुविधा, आर्थिक स्थिति पारिवारिक स्थिति, पुस्तकों का मूल्य पुस्तकालयीय सुविधा, सामाजिक तथा सांस्कृतिक आवष्टन, पेशा और व्यवसाय निवासस्थान आदि अनेक हेतुओं का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।

वय वद्धि का प्रभाव व्यक्ति की पठनमात्रा और पठनप्रकार दोनों पर पड़ता है। वयवद्धि के साथ पठनमात्रा मे वृद्धि की प्रवत्ति दिखायी पड़ती है, केवल वृद्धावस्था मे स्वास्थ्य और आँख की कमजोरी के कारण पठनमात्रा म कुछ कमी आ जाती है। प्रारंभिक प्रौढावस्था तक लोग समाचारपत्रों की अपेक्षा पुस्तकें अधिक पढ़ते हैं, पर लगभग ३० वर्ष की वय के बाद लोग पुस्तकों की अपेक्षा समाचारपत्र और पत्रिकाएं अधिक पढ़ना पसंद करने लगते हैं। कथासाहित्य सभी वय के पाठकों म प्रिय होता है, पर वयवद्धि के साथ लोगों की रुचि कथापुस्तकों म कम और कथेतर पुस्तकों मे अधिक होने लगती है। किशोरों तथा आरंभिक प्रौढावस्था के पाठकों म रूमानी प्रेमकथाएं, जासूसी कहानियां तथा सामाजिक उपन्यास, जिनम प्रेम की घटना अवश्य होती है अधिक प्रिय होते है। वयवृद्धि के साथ साथ रूमानी प्रेमकथाओं म रुचि घटने लगती है तथा उसके स्थान पर सामाजिक समस्याओं के यथार्थ चित्रण तथा धर्म म रुचि बढ जाती है। उत्तरवर्ती प्रौढावस्था तथा वृद्धावस्था म साहित्यिक यथार्थवादी उपन्यास और धार्मिक कथाएँ सर्वाधिक पसंद की जाती ह।

पठनरुचि पर लिंगभेद का भी प्रभाव पड़ता है। स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना म पुस्तकें अधिक और समाचारपत्र तथा पत्रिकाएं कम पढ़ती हैं। किशोरावस्था तथा आरंभिक प्रौढावस्था म स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा प्रेम और रूमानी कथाएँ अधिक पढ़ती हैं जबकि इस वय की तरुणियों की तुलना म तरुण जासूसी, सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास ज्यादा पसंद करते ह। लगभग तीस वर्ष की वय के बाद स्त्रियों की कामरुचि पुरुषों की तुलना म अधिक तेजी से घटने लगती है परिणामत इस अवस्था के बाद स्त्रियाँ पुरुषों की तुलना म रूमानी प्रेमकथाएँ कम और धार्मिक कथाएँ अधिक पसंद करने लगती हैं।

पठनरुचि पर शैक्षणिक तथा बौद्धिक स्तर का भी प्रभाव पड़ता है। जिन लोगों की शैक्षणिक तथा बौद्धिक योग्यता अधिक होती है व अल्प शिक्षित लोगों की अपेक्षा अधिक मात्रा म पढ़ते है। शैक्षणिक तथा बौद्धिक स्तर की दृष्टि से अग्रेसर व्यक्ति अल्प शिक्षितों तथा मूर्खों की तुलना म उच्चकोटि का साहित्य अधिक पढ़ते हैं। अल्प शिक्षितों की तुलना म अधिक शिक्षित पाठक कथेतर साहित्य म ज्यादा रुचि रखते हैं। अल्प शिक्षित पाठकों की रुचि कहानीमात्र म होती है जबकि अधिक शिक्षित पाठक चरित्र [illegible] म कथानक जीवनदर्शन काव्यत्व आदि उपन्यास के भव्य पक्षों पर बल देते हैं। अल्प शिक्षित पाठकों की रुचि सुखान्त कथाओं म होती है और वे दुःखान्त कथाएँ नहीं

सबसे अधिक ३७३७ थी।[१] १९५७ ई० मे अमेरिका मे कुल मिलाकर १३१४२ पुस्तकें प्रकाशित हुई जिनम सबसे अधिक, २१११, उपन्यास प्रकाशित हुए।[२] सन १९५८ ई० में इंगलैंड म कुल २२१४३ पुस्तकें प्रकाशित हुई, जिनम उपन्यास और कहानी का पुस्तको की सख्या सर्वाधिक ४,१६६ थी।[३] हिन्दी में भी उपन्यास अन्य प्रकार की पुस्तकों की अपेक्षा अधिक सख्या म प्रकाशित होते हैं। १९५७ ई० म उत्तर प्रदेश मे कुल २५७८ पुस्तको का प्रकाशन हुआ जिनम २५० उपन्यास थे।[४] अनुमानत भारत की सब भाषाओं मे कुल मिलाकर २५००० पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित होती हैं, जिनमे सरकारी प्रकाशन, पाठ्य पुस्तकें तथा पुस्तिकाएँ आदि भी सम्मिलित हैं। लगभग १० से १२ हजार तक ऐसी पुस्तकें प्रतिवर्ष प्रकाशित हो रही हैं जो पुस्तकालयों द्वारा खरीदी जा सकती हैं। इनम से लगभग ६०% पुस्तकें उपन्यास और कहानी की होती हैं।[५] हिन्दी म प्रकाशित होने वाली जेबी पुस्तको की सूची पर सरसरी नजर डालने से स्पष्ट हो जाता है कि उनम उपन्यासों का बाहुल्य है। जेबी सस्करणों म प्रकाशित अधिक से अधिक पुस्तकें उपन्यास की हैं। इस तथ्य से भी पाठकों म उपन्यासों की लोकप्रियता सिद्ध होती है।

किस प्रकार के उपन्यास अधिक लोकप्रिय होते हैं, यह किसी समाज की आर्थिक सास्कृतिक और शैक्षणिक स्थिति पर निर्भर करता है। सामान्यत अल्प शिक्षित और अपरिष्कृत पाठक आश्चर्यजनक कथाएँ भोंडे रोमास तथा चौंकाने वाली घटनाएं पढना अधिक पसद करते हैं जब कि सुशिक्षित और परिष्कृत पाठक उपन्यास म चरित्रचित्रण कथानक, काव्यत्व, शैली, जीवन का विश्वसनीय चित्रण मानवीय सम्बन्धों और भावनाओं का अकन आदि चाहते हैं। फिर भी अवस्था और लिंग का प्रभाव तो पठनरुचि पर पडता ही है। सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से विकसित देशों म भी प्रौढों की अपेक्षा किशोर तथा पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां रूमानी या प्रेमकथाओं म अधिक रुचि दिखाती हैं। वृद्धों में धार्मिक पुस्तकों की तरफ झुकाव विश्वव्यापी है।



१ प्र स (७४) पृ० ५७२
२ प्र स (७१) पृ० ३१३
३ प्र स (८३) पृ० ३६५
४ प्र स (८२), पृ० ३१८
५ प्र स (७९) पृ० ४३८

साहित्यसर्जन
और
पाठकोंकी रुचिका परस्पर संबंध

साहित्येतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों के विकास तथा उनमें परिलक्ष्य अनेक परिवर्तनों या मोडों का समर्थन, साथ ही उनके कारणों के अनुसंधान के लिए साहित्यिक इतिहासकारों ने अनेक पद्धतियों का आविष्कार और उपयोग किया है पर दुर्भाग्यवश इतिहासलेखकों की दृष्टि मुख्यतः लेखक और उसकी कृति पर ही केन्द्रित रह जाने के कारण साहित्यिक विकास की समुचित व्याख्या नहीं हो पाती। प्रायः लेखक और उसकी रचना पर पडनेवाले सामाजिक आर्थिक राजनैतिक, धार्मिक आदि परिवर्तनों का प्रभाव दिखाकर साहित्येतिहास लेखक मोटामोटी रूप में साहित्यिक धाराओं और प्रवृत्तियों को समझने का प्रयास करते हैं। यही कारण है कि अतीत और वर्तमान साहित्य में घटित होने वाले अनेक परिवर्तन आज भी असमाधेय बने हुए हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आदि काल, भक्ति काल रीति काल और आधुनिक काल के आविर्भाव के कारणों की सम्यक् व्याख्या न हो पाने का कारण यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। वस्तुतः साहित्यिक इतिहास की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों की समुचित व्याख्या के लिए लेखकों और उनकी रचनाओं के साथ साथ उनके पाठकों की रुचियों पर भी विचार करना आवश्यक है।

ध्यानपूर्वक विचार किया जाए तो साहित्यनिर्माण एक द्विकूलीय सर्जनप्रक्रिया है, जिसके एक छोर पर लेखक और दूसरे छोर पर उसका पाठक विद्यमान रहता है। जिस प्रकार नदी के दो छोर अलग अलग होते हुए भी धारा के द्वारा परस्पर संबद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार लेखक और पाठक एक दूसरे से अपरिचित होते हुए भी पुस्तक के माध्यम से एक सम्बन्धसूत्र में गुँथ जाते हैं। जिस प्रकार नदी की धारा उसके दोनों कूलों द्वारा नियंत्रित होती है उसी प्रकार साहित्यिक कृति भी लेखक और पाठक दोनों की रुचियों द्वारा नियंत्रित होती है। विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि साहित्यरचना और पाठकों की रुचि में परस्पर संबंध किस प्रकार का और किस मात्रा तक होता है। पुस्तकरचना में लेखक की रुचि और प्रतिभा प्रत्यक्षतः सक्रिय होती है, यह तो एक स्पष्ट तथ्य है पर पाठकों की रुचियाँ भी अंतर्धाराओं के रूप में ग्रंथरचना को न्यूनाधिक परिमाण में निश्चित रूप में प्रभावित करती है। संस्कृत हिन्दी और अँगरेजी साहित्य के इतिहास से—विश्व साहित्य की बात मैं अपनी मीमांसा को ध्यान में रखकर नहीं कर रहा हूँ—इस कथन के प्रमाण में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

वस्तुतः साहित्य का कोई भी इतिहास पाठकों और लेखकों पर युगपत रूप से विचार किये बिना पूर्ण और निर्दोष नहीं हो सकता। यह दावा करना कि यदि साहित्य के पाठक नहीं होते तो लेखकों का अस्तित्व भी नहीं होता सिद्ध तथ्यों की सीमा से बाहर जाना नहीं है। रचनात्मक साहित्य के निर्माण के लिए पाठकसमूह का होना अनिवार्य है। साहित्य की रचना शून्य में नहीं की जा सकती। महान जर्मन कवि और नाटककार गेटे ने एक स्थान पर लिखा है—

तुम न होते यदि हमारी पुस्तकों के सुहृद पाठक
तो भला मैं क्या होता!
भावनाएँ सभी मेरी स्वगत भाषणमात्र होतीं
और मेरे छन्द मौनालाप होते।[1]

यद्यपि अनेक लोगों के लिए यह कल्पना करना कठिन प्रतीत होता है कि हमारे साहित्य के महान स्रष्टा किसी भी परिस्थिति में अपनी आत्मा की अभिव्यक्ति करने में असफल होते, पर साहित्य का इतिहास बार बार हमारे समक्ष ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है जिनसे उक्त स्थापना की पुष्टि होती है। यह निश्चित है कि बहुत सी पुस्तकें ऐसी होतीं हैं, जिनका प्रणयन यदि पाठकों का एक समूह उन्हें ग्रहण करने के लिए प्रतीक्षा न करता होता, नहीं हुआ होता। यहां तक कि महान लेखकों की कृतियां भी उन पाठकों की भावनाओं और विचारों से जिनके हाथ से उनके गुजरने की संभावना रहती है प्रभावित हुई हैं तथा कभी कभी उनके द्वारा उनका रूप निश्चित हुआ है। डा० जान्सन ने तो शायद चिढ़कर यहां तक लिख दिया है कि किसी कुंद मस्तिष्क (ब्लाकहेड) व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी ने भी कभी, धन के अतिरिक्त अन्य कारण से नहीं लिखा होगा और पाठकों के बिना धन की प्राप्ति नहीं हो सकती।[2] स्पष्टवक्ता डा० जान्सन ने यह बात इस सिद्धान्त के विरोध में कही थी कि लेखन एक दिव्य आह्वान का परिणाम है। डा० जान्सन ने यदि भारतीय साहित्य का विशेषकर सूर तुलसी कबीर जैसे भक्तों द्वारा रचित साहित्य और उनके जीवन का अध्ययन किया होता तो शायद उन्हें अपने कथन की उग्रता कम करने को बाध्य होना पड़ जाता। पर डा० जान्सन की यह धारणा काफी दूर तक सही है कि साहित्य पर उसके पाठकों की रुचि का प्रभाव पड़ता है। शेक्सपीयर के जो संसार के प्रथम पंक्ति के लेखकों में परिगणनीय हैं साहित्य से इस कथन की पुष्टि होती है। शेक्सपीयर ने अर्ल ऑफ साउथम्पटन को अपनी रेप आफ ल्यूक्रिस नामक पुस्तक समर्पित करते हुए लिखा था 'मैंने जो भी किया है वह आपका है मुझे जो भी करना है वह आपका है।'[3] इसे देखते हुए यह कहना दुस्साहस होगा कि शेक्सपीयर अपने आश्रयदाता और सामंतीय समाज की रुचियों द्वारा निर्देशित नहीं हुआ होगा। शेक्सपीयर की रचनाओं के प्रथम सम्पादकों जान हेमिंगे (John Heminge) और हेनरी कान्डेल (Henrie Condell) ने अपनी प्रस्तावना में नाना प्रकार के पाठकों को सम्बोधित

१ दि सोशियोलॉजी ऑफ लिटररी टेस्ट (७) पृ० २० पर दिये गये अँगरेजी उद्धरण का अनुवाद।
२ दि इंगलिश मैन ऐंड हिज बुक्स (४) इन्ट्रोडक्शन।
३ दि सोशियोलॉजी ऑफ लिटररी टेस्ट (७) द्वितीय परिच्छेद।

करते हुए लिखा था, "सभी पुस्तकों का मान्य आपकी क्षमता पर निर्भर करता है, न केवल आपके मस्तिष्क की क्षमता पर, वरन आपके बटुए की क्षमता पर भी। अब यह प्रकाशित हो गयी। आप अपने विशेषाधिकार के लिए खड़े होंगे, यह हम जानते हैं, पढ़ना या निन्दा करना। आप ऐसा करें, किंतु पहले इसे खरीदें।'[1] शेक्सपीयर यदि अपनी कृतियों के प्रथम संपादित संग्रह को देखने के लिए जीवित होते तो वे भी अपने संपादकों से कदाचित्, पूर्णतः सहमत होते, क्योंकि उनके नाटकों में ऐसे बहुत से चिह्न विद्यमान हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि वे लिखते समय अपने युग के पाठकों या प्रेक्षकों का ध्यान रखते थे।[2]

पाठकों की रुचि का प्रभाव साहित्य पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है, और इसे बहुत से लेखकों ने स्वीकार भी किया है। शेक्सपीयर के समसामयिक चैपमैन ने एक समर्पण में चिड़चिड़ाहट भरी स्पष्टता से लिखा है कि उसका आदर्श मछली है— वह धारा के साथ तैरता है।[3] आधुनिक काल का लेखक इस बात को स्वीकार करने को कतई तैयार नहीं हो सकता, पर व्यवहार में, यह काफी दूर तक सत्य है। आर्नल्ड बेनेट ने लिखा था—"सत्य यह है कि एक कलाकार जो पाठकों से अपनी शर्त पर, और केवल अपनी शर्त पर, प्रशंसा की माँग करता है, वह या तो देवता है अथवा एक अभिमानी और अव्यावहारिक मूर्ख, और उसके पूर्वोक्त से अधिक उत्तरोक्त ही होने की संभावना है। यह आवश्यकता से अधिक चाहता है। प्रत्येक सौदे के जिसमें कलात्मक सौदा भी सम्मिलित है, दो पक्ष होते हैं। उर्वर और शक्तिशाली मस्तिष्कवाले कलाकार इस तथ्य को मानने के लिए प्रस्तुत रहते हैं क्योंकि उनका अनुपात ज्ञान सुविकसित होता है। अनुपात के ज्ञान का अभाव अहंप्रदर्शनप्रिय व्यक्ति का लक्षण है। विवेकसंपन्न कलाकार अपने सम्मान की रक्षा करते हुए जनसमूह की भावनाओं और विचारों का भी सम्मान करता है। एक ही साथ दोनों बातें बिलकुल संभव हैं।"[3] आर्नल्ड बेनेट ने शेक्सपीयर और सैमुएल रिचार्डसन का उल्लेख ऐसे महान कलाकारों के रूप में किया है, जो जनता की रुचियों द्वारा निर्देशित हुए थे। इस प्रसंग में हम बायरन को नहीं भूल सकते, जिसने अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पूर्ण प्रदर्शन के बावजूद, अपने पाठकों को हमेशा ध्यान में रखा।

परंपरागत साहित्येतिहास विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार के साहित्यों और उनके लेखकों की लोकप्रियता के कारणों का तत्कालीन पाठकवर्ग की रुचियों में ढूँढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। वह इस प्रश्न पर ध्यान नहीं देता कि क्या शिलर जैसे महान् आलोचक ने फिल्डिंग जैसे उपन्यासकार की गणना महत्तम श्रेण्य लेखकों में की, क्या बायरन की वर्णनात्मक कविता, जो आज बिलकुल लोकप्रिय नहीं, प्रकाशन के दिन ही हजारों की संख्या में बिक जाती थी, क्या गोएटे के समय में ज्याँ पाल इतना लोकप्रिय था कि यदि उसका एक केशगुच्छ किसी को प्राप्त हो जाता था, तो वह अपने को भाग्यवान समझता

१ दि इंगलिश मैन ऐंड हिज बुक्स (४), पृ० ९
२ सोशियोलौजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), पृ० ३६
३ वही।

था।[1] क्यों एक समय सर्वत्र रीतिकालीन कविताओं की धूम थी, जबकि आज उसी कविताएँ बिलकुल ही पसंद नहीं की जाती, क्या देवकीनंदन खत्री की 'चंद्रकांता' के फरमे जब छपते होते थे तो प्रेस के दरवाजे पर पाठकों की भीड़ जमा रहती थी और पाठकों को संतुष्ट करने के बाद ही उनका प्रूफ देखना संभव हो पाता था।[2] कुछ लोग, कभी कभी, इन लेखकों की कला को ही दोषपूर्ण सिद्ध करके, कि अपने आदर्श मनोविज्ञान तथा आनुभूतिक गहराई की कमी के कारण वे अब लोकप्रिय नहीं रह गये हैं इस प्रश्न को संक्षेपतः टाल देने का प्रयत्न करते हैं, पर यदि प्राचीन साहित्य के पाठकों को आज का साहित्य दिखाया जाना संभव होता, तो वे कदाचित् इसे विकसित मानने को तैयार नहीं होते। वे अपने समकालीन लेखकों की कृतियों के दुर्बल स्थलों का समर्थन न भी करते, फिर भी, वे अपनी समकालिक कृतियों के उन स्थलों की तरफ हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करना चाहते जो उनके लिए आज की समस्त कृतियों से अधिक मूल्यवान मालूम पड़ते। संक्षेपतः वे हेतु जो साहित्यिक परिशासन में प्राचीनतर पीढ़ी को वर्तमान से भिन्न करते हैं मुख्यतः पाठकों की रुचि पर आधारित होते हैं।

यह बात केवल साधारण कृतियों पर ही नहीं, वरन् जिन्हें हम श्रेण्य रचनाएं कहते हैं, उन पर भी समान रूप से लागू है। कोई भी श्रेण्य कृति विवाद से बिलकुल परे रही हो, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। जिस कालिदास को किसी ने कभी 'पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासः' कहा उसी कालिदास को किसी दूसरे ने केवल उपमा का धनी, भारवि को अर्थगौरव का स्वामी, दंडी को पदलालित्य में पटु और माघ को तीनों गुणों से युक्त बताया। कारण जो भी रहा हो 'रामचरितमानस' की काशी के समकालीन पंडितों द्वारा उपेक्षा और विरोध एक स्वीकृत तथ्य है। बिलकुल हाल की घटना लें, तो छायावाद के प्रति उसके समकालीनों का विरोधभाव कितना उग्र था। प्रेमचंद के कुछ उपन्यासों की कुछ आलोचकों ने ऐसी निंदा की थी, जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। गोएटे जैसे महान् लेखक की लोकप्रियता भी सदा समान नहीं बनी रही। शेक्सपीयर, जिसकी गणना विश्व के मूर्धन्य लेखकों में होती है शताब्दियों तक अनादृत रहा। एलिजाबेथकालीन जनता—सामान्य जनता साहित्यिक नहीं—शेक्सपीयर की महत्ता से निश्चय ही अवगत थी पर यह स्पष्ट है, कि वह शेक्सपीयर की कला की प्रशंसा आज की अपेक्षा सर्वथा भिन्न कारणों से करती थी। चित्रकला के क्षेत्र से उदाहरण चुना जाए तो चित्रकार ब्लेचेन (Blechen) की वॉटिटज फान आर्निम्स कृत प्रशंसात्मक आलोचना पढ़कर कोई भी चकित हुए बिना नहीं रह सकता कि आज का आलोचक जिन गुणों के लिए उपर्युक्त चित्रकार को महान मानता है उनकी चर्चा वहाँ गौण रूप में ही हुई है।[3] चेस्टरफिल्ड जैसे परिष्कृत रुचिसंपन्न व्यक्ति के एक पुत्र ने उनसे पूछा कि क्या वह रेम्ब्रांट के कुछ चित्र सस्ते मूल्य पर खरीद ले तो उन्होंने उत्तर दिया—'नहीं, यह समझदारी का काम नहीं होगा क्योंकि उसने व्यंग्यचित्रों के अतिरिक्त अन्य कुछ

---

१ सोशियॉलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), प्रथम परिच्छेद
२ गिरीशचंद्र त्रिपाठी (३६)
३ सोशियॉलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७) प्रथम परिच्छेद

चित्रित नहीं किया है"—और आज रेम्ब्रांट विश्व का एक श्रेष्ठ चित्रकार माना जाता है।[१] इन उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि किसी विशेष काल में किसी विशेष रुचि का प्रमुत्व रहता है। ललित कलाओं की, विशेषकर चित्रकला की, बदलती हुई शैलियों में यह तथ्य अत्यन्त सरल रूप में दीख पड़ता है, पर साहित्यिक शैलियों के परिवर्तन में भी, कम स्पष्ट होने के बावजूद रुचि का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

पाश्चात्य साहित्य के इतिहास में लेखकों पर उनके पाठकों या श्रोताओं की रुचि के प्रभाव के कुछ बड़े ही मनोरंजक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कवियों की रचनाओं में आश्रयदाता, प्रत्यक्ष रूप से अपने सुझावों द्वारा कोई परिवर्तन कराते हों, इसके उदाहरण प्राचीन संस्कृत या हिंदी साहित्य में उपलब्ध नहीं होते—कम से कम मुझे कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिला है—पर यूरोपीय साहित्य में ऐसे प्रत्यक्ष हस्तक्षेपों के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ अलेक्जांडर पोप अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड का एक मूर्धन्य कवि माना जाता था। पोप ने जब अपनी प्रमुख कृति, होमर का अनुवाद प्रस्तुत किया तो उसे उन्होंने सर्वप्रथम अपने आश्रयदाता लॉर्ड हैलिफाक्स को सुनाया। सैमुअल जॉन्सन का कहना है कि लॉर्ड महाशय बीच बीच में पोप को टोकते थे और अपने सुझाव देते थे। यूरोप में शताब्दियों तक कलाकार बिना किसी आपत्ति के इस प्रकार के हस्तक्षेप सहते रहे। चासर का प्रसिद्ध शिष्य लिडगेट अपने आश्रयदाता ड्यूक हम्फ्रे ऑफ ग्लासेस्टर द्वारा अपनी पाण्डुलिपि के शुद्ध किये जाने को सर्वथा स्वाभाविक मानता था। स्पेन्सर के सम्बन्ध में भी, जो शेक्सपीयर का समकालीन था, ऐसी ही बात कही जाती है।[२] फ्रांस में तो अठारहवीं शताब्दी तक ऐसी स्थिति विद्यमान थी। वाल्तेयर एक विशेष वर्ग का लेखक था। उसने अपना 'इदिपू' नामक ग्रन्थ डचेस ऑफ मेन को सुनाया और उस वर्ग में की गयी आलोचना तथा उनकी सलाह को ध्यान में सुना।[३] इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राक्आधुनिक युग के यूरोपीय साहित्य पर तत्कालीन पाठकों का जो अक्सर लेखक के आश्रयदाता भी होते थे, कितना प्रबल और प्रत्यक्ष प्रभाव था। स्पेन्सर ने अपनी महत्तम कृति दि फेयरी क्वीन के सम्बन्ध में लिखा है कि इसका उद्देश्य 'एक सज्जन या अभिजात वर्गीय व्यक्ति को सद्गुण और सभ्य अनुशासन की शिक्षा देना है'।[४]

अंग्रेजी साहित्य पर अभिजातवर्ग की रुचि और सामाजिक शक्ति का प्रभाव अठारहवीं शताब्दी तक दिखाई पड़ता है। उसके बाद ही वहाँ बड़े पैमाने पर वास्तविक पाठकवर्ग का विकास हुआ और उसका प्रभाव वहाँ के साहित्य पर दिखाई पड़ता है। इंगलैंड के साहित्यिक इतिहास का विवेचन करते हुए विद्वानों ने अठारहवीं शताब्दी के अँगरेजी साहित्य में घटित परिवर्तनों को, जिनके कारण इस काल का साहित्य तत्कालीन साहित्यिक परम्परा से अलग और विशिष्ट जान पड़ता है, श्रेय इस काल के पाठकसमुदाय में होनेवाले परिवर्तनों को

१ सोशियोलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), प्रथम परिच्छेद।
२ उपरिवत् पृष्ठ २२।
३ सोशियोलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), पृष्ठ ३२।
४ उपरिवत्।

दिया है।[1] लेस्ली स्टीफेन ने बहुत पहले 'इंगलिश लिटरेचर एंड सोसाइटी इन दि एटीन्थ सेंचुरी' नामक ग्रंथ में लिखा था कि "पाठकवर्ग की क्रमिक अभिवृद्धि ने तत्कालीन साहित्य के विकास को प्रभावित किया"[2] उन्होंने उपन्यास और पत्रकारिता के विकास का मुख्य कारण तत्कालीन पाठकवर्ग में हुए परिवर्तन को ही बताया है।

यद्यपि पाठकवर्ग की रुचि के आलोक में संस्कृत और प्राचीन हिन्दी साहित्य का सांगोपांग अध्ययन अद्यावधि नहीं हुआ है, पर संस्कृत और हिंदी साहित्येतिहासों के अवलोकन से साहित्य का पाठकों की रुचि द्वारा प्रभावित होना एक सिद्ध तथ्य के रूप में दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर वाल्मीकि, भास, अश्वघोष, कालिदास और भवभूति जैसे नाटककार अपनी मार्मिक कृतियों के साथ विराजमान हैं, वहीं दूसरी तरफ इस साहित्य में चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की भी भरमार दिखायी पड़ती है। दंडी, माघ, भारवि और रूप जैसे सिद्ध कवियों तक ने प्रहेलिका जैसी निरर्थक वस्तु जिसमें बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, लिखने में आसमान जमीन के कुलाबे मिलाये हैं। केवल चित्रकाव्य और प्रहेलिकाओं की रचना सिखाने के लिए संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। जिस चित्रकाव्य और प्रहेलिका को काव्यशास्त्रियों ने अधम काव्य की संज्ञा दी उसका प्रचलन एक विशेष युग में क्या दिखाई पड़ता है इसका सम्यक उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक हम इस बात पर विचार न कर लें कि इस काव्य का श्रोता या रसिक कौन था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'साहित्य का मर्म' शीर्षक व्याख्यान में इस समस्या की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा था कि "जबतक हम यह नहीं जानते कि सन् ईस्वी के आरम्भ से लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक कवियों के सम्मान के लिए सरस्वतीभवन, कामदेवायतन में विदग्धगोष्ठियाँ बैठा करती थीं, उनमें अंभरच्युतक, बिंदुमती, समस्यापूर्ति आदि में सम्मानित होनेवाले व्यक्ति को राजा लोग पद से सम्मानित ही नहीं करते थे, कभी-कभी उन्हें रथ में बैठाकर स्वयं खींचकर सम्मान भी किया करते थे तबतक इन बेकार सी बातों के लिए कवियों का प्रयत्न पागलपन सा लगेगा।[3]

इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन काल में राजदरबारों में कवि सम्मानित होते थे। राजशेखर ने राजदरबार का जो वर्णन किया है उसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाची इन चारों भाषाओं के कवियों का उल्लेख आया है। राज सभा के सात अंग माने जाते थे, जिनमें कवि भी एक होता था—

विद्वांस कवयो भट्टा गायका परिहासका
इतिहासपुराणज्ञा सभा सप्तांगसंयुता।

ये कवि राजदरबारों में ही अर्थ और यश प्राप्त करने में समर्थ होते थे।

राजसभा में कवि को अपनी कविता सुनाकर यश और अर्थ प्राप्त करना होता था। स्पष्ट है कि उस समय कवि को अपने आश्रयदाता और उसके दरबारियों की रुचि का पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता होगा। राजदरबारों में छोटी छोटी मुक्तक कविताओं की ही, जिनमें

१. राइज ऑफ नॉविल (१०) पृष्ठ ३५।
२. इंगलिश लिटरेचर एंड सोसाइटी (८) पृष्ठ २६।
३. साहित्य का मर्म (१२), पृष्ठ ७।

विषय की दृष्टि से प्रशस्ति और शृंगार तथा कला की दृष्टि से उक्तिचमत्कार की प्रधानता होती, पूछ हो सकती थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "राज सभाओं और गोष्ठी विहारों में जो काव्य कीर्तिशाली बना सकते थे वे चमत्कारिक उक्तियोंवाली रचनाएँ ही होती थी।"[१] रुद्रट ने स्पष्टतः मात्राच्युतक बिन्दुमती और प्रहेलिका आदि को क्रीडामात्र के लिए उपयोगी[२] तथा दंडीन प्रहेलिका को क्रीडागोष्ठीविनोद का साधन[३] माना है। जिन दिनों राजदरबार कविता का एकमात्र आश्रयस्थल था उन दिनों डॉ० द्विवेदी के अनुसार, नागरिक लोग बिन्दुमती, अक्षरच्युतक और प्रहेलिकाओं से मनोविनोद किया करते थे।[४] उस काल के ग्रंथों में राजसभाओं के जो वर्णन उपलब्ध होते हैं, उनसे स्पष्ट है, कि दरबारों में उक्तिवैचित्र्य या कौशलविशेष को ही सम्मान प्राप्त होता था। बाणभट्टकृत 'कादम्बरी' में राजसभा का जो वर्णन मिलता है उससे तत्कालीन राजसभाओं के सभ्यों की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है। इस वर्णन के अनुसार जब राजा सभा में उपस्थित नहीं थे, तब सामन्तों में कुछ लोग पासा खेलने के लिए कोठे खींच रहे थे, कुछ लोग पासा फेंक रहे थे कोई वीणा बजा रहा था कुछ लोग चित्रफलकों पर राजा की प्रतिमूर्ति आँक रहे थे कुछ लोग काव्यालाप में मस्त थे कुछ हँसी दिल्लगी में मशगूल थे कुछ लोग बिन्दुमती नामक मनोविनोद में उलझे हुए थे कुछ लोग प्रहेलिका नामक काव्यप्रकार का रस ले रहे थे कुछ राजा द्वारा निर्मित श्लोकों की चर्चा कर रहे थे कुछ लोग, जो अधिक ढीठ थे, राजदरबार के मनोविनोद के लिए आयी हुई स्त्रियों से रसालाप में लगे हुए थे और कुछ चतुर लोग वन्दीजनों से राजा के पूर्वपुरुषों का यशोगान सुन रहे थे।[५] इस वर्णन से तत्कालीन राजपुरुषों की रुचि का पता चलता है। ये राजपुरुष काव्य को मनोविनोद का एक साधन समझते थे और कविगण भी उनकी रुचि के अनुरूप बिन्दुमती, प्रहेलिका, चित्र आदि काव्यरूपों के प्रणयन में प्रवृत्त होते थे। अक्सर राजदरबारों में कवियों की परीक्षा भी हुआ करती थी और जो कवि चमत्कारप्रधान उक्तियों की रचना में विजयी होता था उसे सम्मान और यश की प्राप्ति होती थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी उक्त व्याख्यानपुस्तिका में मामन्वर और हरिहर तथा हरिहर और मदन नामक कवियों की काव्य प्रतियोगिताओं का मनोरंजक वर्णन प्रस्तुत किया है। ऐसी प्रतियोगिताओं में सफलता प्राप्त करने के लिए काव्य का चमत्कारप्रधान होना आवश्यक था। यही कारण है कि न केवल उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों में वरन् तत्कालीन लक्षणग्रंथों में भी उक्तिवैचित्र्य और वाग्भंगिमा को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था।

---

१ साहित्य का मर्म (३२) पृष्ठ ८

२ मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे।
प्रश्नोत्तरादि चान्यद् क्रीडामात्रोपयोगमिदम्॥ —का यालंकार ५।२४

३ क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः।

४ साहित्य का मर्म (३२), पृष्ठ ११

५ साहित्य का मर्म (३२), पृष्ठ ११

राजाओं और सामंतों की रुचियों का प्रभाव केवल चित्र प्रहेलिका और बिंदुमती जैसे काव्यरूपों तथा वचनभंगिमा और उक्तिवैचित्र्यप्रधान काव्यों पर ही दिखाई देता हो, ऐसी बात नहीं है। कालिदास, भास भवभूति, माघ भारवि, श्रीहर्ष आदि महान कवि भी अपने आश्रयदाताओं तथा अभिजात वर्ग की रुचि से प्रभावित दीख पड़ते हैं। क्या कारण है कि संस्कृत साहित्य में नायकनायिका राजपरिवार, श्रेष्ठिवर्ग और सामंतीय समाज से ही चुने जाते हैं। समस्त संस्कृत साहित्य से ढूँढकर भी, शायद ही, कोई ऐसा काव्य निकाला जा सके जिसका नायक निम्नवर्गीय या साधारण व्यक्ति हो। वस्तुत साहित्य जिसके लिए लिखा जाता है वही उसका नायक होता है। राजाओं सामंतों और सेठों के आश्रय में जीवननिर्वाह करनेवाला कवि या लेखक, उन्हें छोड़कर किसी निम्नवर्गीय या सामान्य स्तरीय व्यक्ति को अपने काव्य का नायक बनाने का साहस ही नहीं कर सकता था। यदि कवि की सहानुभूति निम्नवर्ग के साथ होती थी तो वह अधिक से अधिक गौण पात्रों के रूप में निम्नवर्गीय पात्रों की सृष्टि करता था पर वह कहीं भी इस बात का आभास तक न होने देता था कि उसकी सहानुभूति राजा की अपेक्षा प्रजा के प्रति अभिजात वर्ग की अपेक्षा अन्त्यजवर्ग के प्रति अधिक है। आश्रयदाता की रुचि अपने वर्ग की भावनाओं और विशेषताओं का चित्रण करनेवाली कहानी में ही हो सकती थी, और कवि अपने आश्रयदाता के रुच्यनुरूप वैसी ही कथा का निर्माण करता था जिसके नायकनायिका अभिजातवर्गीय होते थे। संस्कृत साहित्य में कहीं भी सामाजिक विद्रोह की भावना का चित्रण नहीं मिलता। संस्कृत के कवि सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक और धार्मिक व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों मानकर काव्यरचना में प्रवृत्त होते हैं। इसका कारण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर संस्कृत साहित्य के आलोचकों ने आजतक सम्यक् रूप से देने का प्रयास नहीं किया है और यह तब तक सम्भव नहीं है जबतक इस साहित्य के लक्ष्यीभूत श्रोताओं को सामने रखकर विचार न किया जाए।

निवेदन किया जा चुका है कि संस्कृत साहित्य का श्रोता और कवियों का आश्रयदाता सामंतीय और अभिजात समाज था। सामंतीय और अभिजात समाज में परम्परा का महत्त्व अधिक होता है क्योंकि इसकी सारी सत्ता उत्तराधिकार पर आधारित होती है। यह वर्ग समाज में कोई परिवर्तन नहीं चाहता। संस्कृत साहित्य के रचनाकाल में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। भारतवर्ष की जनता इस सिद्धान्त में विश्वास करती थी कि *प्रत्येक मनुष्य को अपने कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है।* जन्मजन्मान्तर तक मनुष्य को अपने कर्मफल से छुटकारा नहीं मिल पाता। संसार में यदि वैभवशाली और समृद्ध व्यक्ति हैं तो यह समृद्धि और वैभव उनके पूर्व जन्म के पुण्यों का फल है। धनी या निर्धन होना अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना पूर्व जन्म के सुकृत या दुष्कृत का परिणाम है। ऐसी स्थिति में सामाजिक विद्रोह की भावना के लिए कहाँ स्थान है? निश्चय ही यह धारणा सामंतों के हितों के सर्वथा अनुरूप थी और कवियों तथा पुरोहितों ने साहित्य तथा धर्मग्रन्थों में इसका समर्थन और प्रचार किया। इस प्रकार संस्कृत साहित्य में विद्रोही स्वर का जो अभाव पाया जाता है उसका कारण तत्कालीन काव्य रसिकों की, जो राजसमाज या अभिजात वर्ग के होते थे, रुचि ही है।

हिन्दी साहित्य का इतिहास भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। समस्त प्राचीन हिन्दी साहित्य को, श्रोतृवग का ध्यान म रखते हुए हम दो धाराओ म बाट सकते हैं। एक धारा के कवि राजदरबारो और सामन्तीय समाज से सबद्ध थे, जबकि दूसरी धारा के कवियो का सबध सामान्य जनता से था। प्राचीन हिन्दी साहित्य की य दोनो धाराएँ एक दूसरी से सवथा विशिष्ट हैं, तथा समानान्तर रूप से प्रवाहित होती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास की सम्यक व्याख्या के लिए अभी तक यह दृष्टिकोण नही अपनाया गया है। यही कारण है कि हमारे साहित्येतिहास की अनेक गुत्थियाँ और उलझनें अब तक असमाधेय बनी हुई है। अब तक प्राचीन हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल (आदि काल), भक्तिकाल और रीतिकाल जस युगो मे बाटकर समझने की परिपाटी हिंदी साहित्येतिहासकारो म प्रचलित है। किसी शोधकर्ता ने भी पाठको या श्रोताओ की रुचि के आलोक म इस साहित्य का जाँचने परखने का प्रयत्न नही किया है। प्रस्तुत प्रसग म हिंदी के प्राचीन साहित्य का विश्लेषण, सक्षेपत इसके श्रोताओ की रुचि के प्रकाश म करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदि काल से लेकर रीतिकाल के अत तक कवियो की एक सुदीघ परपरा है, जिन्ह राजाओ और सामतो का आश्रय प्राप्त था। इन कवियो द्वारा रचित काव्य का मूल स्वर उन कवियो की कविता से सवथा भिन्न है जो सत और भक्त थ तथा जिनका राजदरबारो से कोई सबध न था। यद्यपि आदि काल के चारण कवियो का प्रामाणिक इतिवत्त उपलब्ध नहा है पर किंवदतियो और परपरा से ज्ञात होता है कि चदवरदायी दलपति विजय नरपतिनाल्ह जगनिक भट्टकेदार, मधुकर तथा विद्यापति आदि कवियो को राजाश्रय प्राप्त था। भक्ति काल के अधिकाश कवि सत और भक्त थे पर इस काल म भी दरबारी कवियो का अभाव न था। अकबर के दरबार म नरहरि गग ब्रह्म रहीम, तानसेन आदि कवि रहत थ तथा अन्य अनेक कवि उसके द्वारा सम्मानित होते थे। इस काल के प्रसिद्ध कवि केशवदास ओरछानरेश इन्द्रजीत सिंह की सभा के शृगार थे। और जिस काल को इतिहास लेखक रीति काल का नाम दते है उसके कवियो की तो मुख्य क्रीडाभूमि राजाओ और सामतो का दरबार थी ही। रीतिकाल के वे सभी कवि जिनके कारण इस काल का यह नाम पडा है, किसी-न किसी रूप म राजदरबारो से प्रत्यक्षत सबद्ध थ। बिहारी, रसनिधि चितामणि, कुलपति मिश्र दव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारी दास, प्रताप साहि, ग्वाल बेनी बदीजन, पदमाकर बनी प्रवीन, मतिराम भूषण, बोधा आदि सभी प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि, इस काल के दूसर गौण कवि भी विभिन्न राजाओ और सामन्तो के आश्रित थे।

आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक क समस्त राजाश्रित कवियो की रचनाओ पर उनके आश्रयदाताओ की रुचियो का प्रत्यक्ष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन कवियो द्वारा रचित अधिकाश कविताएँ उनके आश्रयदाताओ की भावनाओ द्वारा निर्दिष्ट हैं। रीति कवियो ने अपने आश्रयदाताओ की रुचियो क साथ अपने व्यक्तित्व का इतना एकमेक कर लिया है कि विस्मित चकित रह जाना पडता है। विषयवस्तु की दृष्टि से विचार किया जाए तो इन कवियो न मुख्यत प्रशस्तियाँ शृगार काव्य और नीति क पद ही लिखे हैं। थोडी बहुत भक्तिपरक कविताएँ भी इन कवियो ने लिखी हैं, पर विशुद्ध और निर्मल

उतनी शायद ही अन्य किसी उदाहरण में हो। इस साहित्य का अधिकांश राजप्रशस्तियों और शृंगारिक वर्णनों से भरा हुआ है। शृंगार के जितने भी रूप और भेद कामशास्त्र में पाये जाते हैं उन सबका रीतिकालीन काव्य में निस्संकोच वर्णन उपलब्ध होता है। शृंगार के जितने पक्षों और रूपों का वर्णन रीति काल के कवियों ने किया है, वह अन्यत्र नहीं मिल सकता। इस साहित्य को देखने से कभी कभी तो ऐसा लगता है जैसे कामशास्त्र में वर्णित रतिसंबंधी विवरणों को ही काव्यात्मक विस्तार दे दिया गया हो।

अभिव्यक्ति पक्ष की दृष्टि से विचार किया जाए तो इस साहित्य में चमत्कारप्रधान मुक्तकों का एकाधिपत्य है। चमत्कारमूलक शब्दालंकारों और अर्थालंकारों की योजना पर इन कवियों का जितना ध्यान रहता है उतना अर्थ की रमणीयता पर नहीं। यों रीति काल के कुछ प्रमुख दरबारी कवियों ने—बिहारी देव मतिराम आदि ने—अर्थ की रमणीयता का भी बराबर ध्यान रखा है पर इस काल की अधिकांश कविताओं के सम्बन्ध में उक्त कथन बिलकुल सही है। उक्तिवैचित्र्य और मजमून बांधने की इन कवियों में होड़ सी दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन दरबारी कवियों की शैलीगत विशेषता को यदि एक पद में समाहित करने का प्रश्न उठे, तो उसका उत्तर होगा उक्ति चमत्कार।

रीतिकालीन दरबारी काव्य में उपलब्ध असंतुलित शृंगारबाहुल्य और उक्ति-चमत्कार की प्रचुरता को देखकर जिज्ञासु पाठक के मन में अनेक प्रश्न उठते हैं। क्या इस साहित्य में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है? शृंगारचित्रण और उक्ति चमत्कार के प्रति इस काल के कवियों की असामान्य रुझान का कारण क्या है? क्या इन कवियों की दृष्टि नारी के पिंड सौन्दर्य में ही उलझकर रह जाती है उसकी आत्मा में प्रवेश नहीं करती? क्या कारण है कि इस काल के कवि आचार्य बनने की महत्त्वाकांक्षा न रखते हुए भी काव्यांगों के लक्षणनिरूपण में प्रवृत्त होते हैं? इन प्रश्नों के जो उत्तर हिन्दी के इतिहास तथा शोधग्रंथों में दिये गये हैं वे अपर्याप्त और कभी कभी तो हास्यास्पद हैं। अधिकतर हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों और अनुसंधाताओं ने इस साहित्य का अध्ययन कवियों और उनके काव्यों को केंद्र में रखकर किया है। कुछ आलोचकों ने, जैसे डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने[१] रीतिकालीन साहित्य का तदयुगीन समाज के आधार में अध्ययन करने का प्रयास किया है पर विवेच्य साहित्य और तद्युगीन चेतना का तत्पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में उन्हें आंशिक रूप में ही सफलता मिल पायी है। वस्तुतः रीतिकालीन साहित्य अपने युग की प्रमुख भावनाओं, हलचलों और समस्याओं से इतना असंपृक्त है कि उसकी व्याख्या केवल तदयुगीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर नहीं की जा सकती। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसे भारतीय इतिहास का ज्ञान न हो, रीतिकालीन साहित्य का अवलोकन करे तो उसे लगेगा कि जिस काल में इस साहित्य की रचना हुई वह अवश्य ही समृद्धि शांति और सुव्यवस्था का युग होगा। कोई किसी तो सहसा इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि मुगल साम्राज्य के पतनकाल में जबकि केंद्रीय शासन की नाव हिल चुकी थी, दिल्ली के बादशाह वेश्याओं के प्रेमियों की तरह

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (२७)।

रातोरात बदल दिये जाते थे, विभिन्न प्रदेशों के शासक केन्द्रीय शासन के विरुद्ध सिर उठा रहे थे मराठा, निजाम, रुहेलो सिक्खों, जाटों, नादिरशाह, अहमद शाह अब्दाली, अँगरेजों तथा अन्य देशी राजाओं के पारस्परिक युद्धों से सर्वत्र सार्वजनिक अरक्षा तथा अराजकता का वातावरण छाया हुआ था, लूटखसोट, नरहत्या, कत्लेआम का बाजार समचे उत्तरी भारत मे गर्म था, ईस्ट इंडिया कम्पनी धीरे धीरे, पर दृढतापूर्वक अपने खूनी पंजे दिल्ली की तरफ बढा रही थी, सामान्य जनता दुखी और निर्धन थी, इस प्रकार की काव्यरचना जिसमें शृंगार और अलंकरण का बाहुल्य है, कैसे सम्भव हुई।

मुगल शासन के अंतिम दिनों में हिन्दीभाषी क्षेत्र मे एक कोने से दूसरे कोने तक अराजकता, अव्यवस्था और हाहाकार मचा हुआ था, पर तत्कालीन साहित्य मे इसकी झलक भी नहीं मिलती। एक तरफ तो देश इस प्रकार की दयनीय स्थिति से गुजर रहा था और दूसरी तरफ यहाँ के साहित्य में नायिकाओं के भेदप्रभेद अंगशोभा, वस्त्राभूषण, तिलक-बिन्दी आदि का वर्णन हो रहा था और कविगण कामशास्त्रीय ग्रंथों को आधार बनाकर संयोग शृंगार के यथासम्भव अधिकाधिक पक्षों का, चमत्कारप्रधान शैली मे चित्रण करने का प्रयत्न कर रहे थे। रीतिकालीन साहित्य की इस प्रवृत्ति का समुचित विश्लेषण तत्कालीन आश्रयदाताओं की रुचि के आलोक मे ही किया जा सकता है।

विचारणीय प्रश्न है कि रीतिकाव्य के श्रोता अथवा आश्रयदाता कौन थे? यह तथ्य है कि अकबर के बाद मुगल बादशाहों ने हिन्दी कवियों को संतोषजनक रूप मे राजाश्रय और सम्मान नहीं दिया। अकबर के दरबारी कवि उसकी मृत्यु के बाद भी जहाँगीर द्वारा सम्मानित होते रहे, पर हिन्दी कविता में उसकी रुचि अधिक न थी। शाहजहाँ काव्यरसिक था और वह कवियों को स्वर्ण तथा रजत के तुलादान से पुरस्कृत सम्मानित करता था[1], पर शाहजहाँ फारसी कविता का प्रेमी था और उसके दरबार में फारसी कवियों का ही जमाव था।[2] यों सुन्दरदास चिंतामणि त्रिपाठी तथा कविवर बिहारी शाहजहाँ द्वारा पुरस्कृत-सम्मानित हुए थे, पर उसके राजाश्रय में स्थायी रूप से जीवन निर्वाह करनेवाले किसी प्रसिद्ध हिन्दी कवि का उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती मुगल बादशाह, कुछ तो अपनी डाँवाडोल स्थिति के कारण और मुख्यत हिन्दी काव्य में रुचि न होने के कारण, हिन्दी कवियों को आश्रय न दे सके। रीतिकालीन हिन्दी कवियों के आश्रयदाता मुगल बादशाह नहीं देश मे यत्रतत्र फैले छोटे मोटे राजे जागीरदार और सेठसाहूकार थे।[3] अधिकतर कवियों को शिवाजी और छत्रसाल जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर, अर्धस्वतंत्र हिन्दू राजाओं, छोटे मोटे स्थानीय सामंतों या सेठसाहूकारों का आश्रय प्राप्त हुआ था। ये सेठसामन्त मुगल दरबार के अनुकरण पर अपने दरबारों को अलंकृत करने का प्रयास करते थे और इसके लिए इनमें होड़ सी लगी रहती थी। अकबर के समय से ही इनके दरबारों में वैभव, विलासिता और कलाप्रेम की परम्परा चली आ रही थी। ये सामन्त चुपचाप मुगल बादशाहों को कर देते और उन्हें अप्रसन्न होने का मौका नहीं देते

१ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (२०) पृ० ५।
२ उपरिवत्, पृ० ५।
३ हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (२०), पृ० ७।

थे। आत्मसम्मान, जातिगौरव, धर्मरक्षा, वीरभाव आदि का इनके जीवन से सर्वथा लोप हो चुका था। इन राजाओ और सामन्तो के दरबारो मे वैभव, विलासिता और आमोद प्रमोद का अखड साम्राज्य था। अब्दुल हमीद के अनुसार इन सामन्तो का असीम वैभव विलास के इतने उपकरण जुटाने मे समर्थ था, जिनकी कल्पना फारस का बादशाह भी नही कर सकता था। तृतीय वर्ग के सामन्तो की आय भी बलख के सम्राट की आय से अधिक थी।[१] यूरोपीय यात्रियो ने लिखा है कि जितने ठाट से भारत के कुछ अमीर रहते हैं, उतने ठाट से यूरोप के शासक भी नही रहते। इतिहासग्रथो से यह भी प्रमाणित होता है कि इस काल के अधिकाश अमीर अपव्ययी थे। जब तक मुगल बादशाह शक्तिशाली बने रहे, ये सामन्त युद्धविग्रह की चिन्ताओ से प्राय मुक्त होकर भोगविलास की अनवरत साधना करते रहे। मुगल शासन के दुर्बल होने पर कभी कभी इन्हे आपस म, और कभी कभी बाहरी आक्रमणकारियो से, युद्ध करना पडता था, पर अधिकतर सामन्त, जिनके दरबार मे रीतिकालीन कविता फलफूल रही थी, विजयी शक्तियो की अधीनता स्वीकार कर भोगविलास का जीवन व्यतीत करते थे। औरगजेब की मृत्यु से लेकर लगभग १८५० ई० तक मुगलो रुहेलो, जाटो, सिक्खो, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली तथा अगरेजो के बीच परस्पर अनेक युद्ध हुए, पर रीतिकालीन कविता के अधिकाश आश्रयदाता इन युद्धो से प्राय असपृक्त रहे। आक्रमणकारियो तथा विजेताओ को यथासमय धन देकर अपना गला छुडा लेना ही इनका कर्त्तव्य हो गया था। ये सामन्त साधारण जनता और किसानो से, उन्हे अमानवीय कष्ट देकर भी, धन वसूलते थे और उससे अपने लिए भोगविलास के उपकरण जुटाते थे। *लगता है, बाहरी अव्यवस्था, आक्रमणकारियो के अत्याचार, बार बार उनकी* धन की माँग तथा अरक्षा की भावना से पीडित रीतिकालीन सामत विलास की अमर्यादित साधना म अपनी मानसिक व्यथा को भूलने का प्रयत्न कर रहे थे।

राजाश्रित रीतिकालीन काव्य पर इन राजाओ और सामतो की रुचियो का प्रत्यक्ष प्रभाव है। रीतिकालीन कवियो के जीवनवृत्त पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इनमे से अधिकाश समाज के निचले धरातल के व्यक्ति थ। उस समय साधारण जनता का जीवन इतना कष्टमय और सामन्तो का जीवन इतना समृद्धिपूर्ण था कि साधारण काव्य प्रतिभासम्पन्न कवि भी किसी राजा या सामन्त की छत्रछाया प्राप्त करना अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता था। राजदरबारो म ये कवि कितने सम्मानित थे इस पर अभी सम्यक शोध नही हुआ है पर यत्रतत्र उपलब्ध उल्लेखो स प्रतीत होता है कि इन कवियो को अपने आश्रयदाताओ की रुचि और भावना का पग पग पर ध्यान रखना पडता था। भूषण कदाचित अपवाद थे। एक किंवदन्ती से रीतिकालीन कवियो की राजदरबार म क्या स्थिति थी, इसका पता चलता है। कहा जाता है, एक बार भूषण कुमायूनरेश उद्योत चद के दरबार मे पहुँचे। वहाँ भूषण के भाई मतिराम भी विद्यमान थे। उद्योतचद कवियो का बहुत सम्मान करते थे। उन्होने परीक्षा लेने के लिए भूषण का यथोचित सम्मान तो नही किया, पर चलते समय उन्हें एक लाख रुपये देने चाहे। भूषण ने धन लेना अस्वीकार कर दिया, और कहा, हम तो केवल यह देखने आये थे कि महाराज

---

१ हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास (२०), पृ० २५।

शिवाजी का यश यहा तक पहुँचा है, या नही। भूषण के व्यवहार से महाराज रुष्ट हो गए और उन्होंने अपने दरबार मे कवियो के आने की मनाही कर दी। तब मतिराम ने निम्नलिखित छंद रचकर महाराज का रोष दूर किया —

करन के विक्रम के भोज के प्रबन्ध सुना,
कभी भ्रान्ति कविन की आगो लीजियतु है,
कवि 'मतिराम' राजसभा के सिंगार हम,
जाके बैन सुनत पियूष पीजियतु है,
एक के गुनाह नरनाह श्री उदोतचन्द,
कविन पैं एता कहा रोष कीजियतु है,
काहू मतवारे एक अकुश न मान्यो तो,
दुरद दरबारन ते दूरि कीनियतु है।[1]

इस उदाहरण से राजाओ की नाजुकमिजाजी और कवियो की दयनीय स्थिति का पता चलता है। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी मे डुमरॉव के ब्रजवल्लभ कवि ने गुहार लगाई थी—[2]

वल्लभ मान गुमान जहान सब मिलि कै विनती सुन लीजै।
कीरति के बिरवा कवि हैं, इनका कबहूँ मुरझान न दीजै॥

इससे स्पष्ट है कि दरबारो मे रीतिकालीन कवियो की स्थिति बहुत सम्मानजनक नही थी। उन्हें अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न रखने के लिए सदा सचेष्ट रहना पडता था। कवि राजसभा का शृगार था, पर कविरूप मे आश्रयदाता की रुचि से भिन्न उसका कोई अस्तित्व था, इसमे सन्देह है। वह आश्रयदाता की रुचि और भावना का ही ध्यान मे रखकर कविता लिखता था। कवि ठाकुर के शब्दो में कविता का आदर्श ही था कि उसे राजसभा मे सम्मान प्राप्त हो तथा पंडित और काव्यरसिक उसकी सराहना करें।

ठाकुर सो कवि भावत मोहि जो राजसभा मे बडप्पन पावै।
पडित और प्रवीनन को जोइ चित्त हरै सो कवित्त कहावै।[3]

ऐसी स्थिति मे दरबारी कवियों से यह आशा करना कि वे सामान्य युगभावना को वाणी दें, निरर्थक है। इस काल मे कविता आत्माभिव्यक्ति का साधन या स्वान्तःसुखाय आत्मप्रकाशन न रहकर जीविका और अर्थोपार्जन का उपकरण बन गयी थी, और यह एक इतिहासानुमोदित तथ्य है कविता कि जब जब अर्थोपार्जन का साधन बनती है, उसे अपने आश्रयदाता की रुचि का अनुगमन करना पडता है। रीतिकाल मे यही हुआ। इस काल के राजाश्रित कवियो ने आश्रयदाताओ के मन प्रसादन के लिए काव्य को कामशास्त्र और अलकार का विवेकशून्य अनुगामी बना लिया।

जैसा कि पूर्व पंक्तियों में निवेदित है रीतिकालीन सामन्तों के जीवन में उत्तरदायित्वशून्य विलासिता का प्राधान्य था। नाना प्रकार की रतिक्रीडाओ

१ दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (३५), पृष्ठ ३८।
२ दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक (२५) पृ० ६।
३ वही (२१) पृ० ६।

मे उनकी स्वाभाविक रुचि थी। रीतिकालीन दरबारी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि के अनुकूल बने रहने के लिए कामशास्त्र का पल्ला पकड़ा और प्रेमक्रीडा के विविध पक्षों और प्रसंगों के काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किये। शृंगार के साथ साथ इन आश्रयदाताओं की रुचि अलंकरण और चमत्कार की ओर अधिक थी। कवियों ने इसका भी ध्यान रखा। परिणामतः उनकी कविता में इन तत्त्वों की प्रधानता है। उक्तिवैचित्र्य और उक्तिचमत्कार के अनेक उदाहरण, एक से बढ़कर एक, इस काल के काव्य में मिलते हैं। अलंकरण एवं ऐश्वर्य के प्रति इन कवियों की रुझान इतनी ज्यादा है कि वे, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में अपनी नायिकाओं को गरीबी के वातावरण मे नही देख सकते।[१] रीतिकाव्य के आश्रयदाताओं की गवार स्त्रियों में कोई रुचि न थी। उनका सम्बन्ध जिन स्त्रियों से होता था वे आडम्बरपूर्ण वातावरण तथा महार्घ वेशभूषा मे रहती थीं। नायिकाओं के इस चित्रण पर आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

रीतिकालीन राजाश्रित कवियों में कुछ ऐसे भी हैं, जैसे भूषण, लाल कवि, सूदन आदि, जिन्होंने शृंगारकाव्य की रचना नहीं की है। कुछ आलोचक इनके द्वारा रचित काव्यों को इनके व्यक्तित्वनिष्ठत्व का परिणाम सिद्ध करते हैं। एक विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा मे, एक बार, परीक्षार्थियों से इस कथन की समीक्षा करने को कहा गया था कि 'आदिकाल में विद्यापति, भक्तिकाल में केशव रीतिकाल में भूषण तथा आधुनिक काल मे रत्नाकर के आविर्भाव से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि परिस्थिति ही सब कुछ नहीं है। साहित्यकार का अपना व्यक्तित्व भी कुछ है।' इस कथन के निष्कर्ष से असहमत न होते हुए भी दृष्टान्त की पर्याप्तता संदिग्ध मानी जा सकती है। यदि विद्यापति, केशव और भूषण के काव्य पर उनके आश्रयदाताओं की रुचि को ध्यान में रखकर विचार किया गया होता, तो कदाचित उक्त वाक्य की रचना कुछ भिन्न होती। किसी भी युग मे कोई एक परिस्थिति न होकर अनेक परिस्थितियों का संघात होता है और कौन कवि किस परिस्थिति से, किस रूप में और किस सीमा तक प्रभावित होता है यह अनेक हेतुओं पर, जिनमे व्यक्तिगत रुचि और प्रतिभा भी है निर्भर है।

भूषण, गोरे लाल और सूदन के काव्य पर उनके आश्रयदाताओं की रुचि की छाया है, यह नितान्त स्पष्ट है। भूषण के आश्रयदाता शिवाजी, गोरेलाल के आश्रयदाता महाराज छत्रसाल और सूदन के आश्रयदाता भरतपुर के महाराज सूरजमल तीनों ही वीर स्वाभिमानी देश और जाति के गौरव पर मिटनेवाले स्वतन्त्रचेता राजा थे। इनके जीवन में उत्तरदायित्वशून्य विलासिता के लिए स्थान नहीं था। परिणाम यह हुआ कि इनके राजाश्रित कवियों ने भी शृंगारकाव्य लिखकर स्त्रैणता का परिचय नहीं दिया, वरन्, इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के जीवनचरित्र वर्णन के माध्यम से कायरों में भी उत्साह की लहर तरंगित कर देने वाले छप्पयों, कवित्त तथा कड़खा की रचना की।

रीतिकालीन राजाश्रित कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति की कि उन्होंने काव्यरचना के साथ साथ काव्यांगों के लक्षणनिरूपण का भी प्रयास किया था व्याख्या भी आश्रयदाताओं की रुचि के प्रकाश में की जा सकती है। यह दृष्टिकोण सामने नहीं रखने के

१ हिन्दी साहित्य (२३) पृ० ३३९ ४९।

कारण हिन्दी के इतिहासकार और आलोचक रीतिकालीन कवियों के आचार्यत्व (¹) को अपूर्ण, छिछला और निम्नस्तरीय सिद्ध करने का अर्थहीन प्रयास करते हैं। वस्तुत रीतिकालीन कवियों का उद्देश्य आचार्य बनना था ही नहीं। इनके श्रोता रसिक रईस थे, जिन्हें काव्यागों के शुष्क विवेचन और सिद्धातों की नीरस व्याख्या से कोई मतलब नहीं था, उनका एकमात्र उद्देश्य था, थोडे समय में काव्य का आनन्द लेना। पर जैसे सगीतज्ञ सगीतकला की बारीकी दिखाने के लिए कभी कभी गीत के बीच में सगीत की गत भी सुनाते हैं, उसी प्रकार रीतिकाल के दरबारी कवि, इसलिए कि उनके आश्रयदाता काव्यचमत्कार का आनन्द ले सकें, उन्हें काव्यशास्त्र की सामान्य जानकारी करा देना अपना वक्तव्य समझते थे। सभव है कि दरबारों में कवि पहले किसी काव्यागविशेष का परिचय देता हो फिर उसके उदाहरणस्वरूप स्वरचित पद सुनाता हो। उसका असल उद्देश्य तो कविता सुनाना ही होता होगा, पर वह मानता होगा, कि कविता का पूरा आनन्द लेने के लिए काव्यागविशेष का परिचय आवश्यक है। यह एक सिद्ध तथ्य है कि रीतिकालीन कविता का पूरा पूरा आनन्द तब तक नहीं लिया जा सकता जब तक पाठक को काव्यागों का सामान्य ज्ञान न हो। रीतिकालीन कवियों ने अपने आश्रयदाताओं को सामान्य रूप से काव्यागों का परिचय कराने के उद्देश्य से ही लक्षणग्रथों की रचना की थी। पहले उन्हें आचार्य के रूप में स्वीकार कर लेना और फिर उनकी आलोचना करना आलोचना का एक दूषित वृत्त है जिसका बहिष्कार आवश्यक है।

आश्रयदाताओं की रुचि का प्रभाव रीतिकालीन काव्य के शिल्प पर भी पडे बिना न रहा। इन कवियों ने केवल मुक्तक लिखे, प्रबधकाव्य लिखने की तरफ इनका ध्यान नहीं गया। इसका कारण है मुक्तक कविता का राजदरबारों की मनोवृत्ति के अनुकूल होना। राजदरबारों में प्रबधकविताओं का पाठ सभव नहीं था। छोटे छोटे उक्तिचमत्कारपूर्ण मुक्तकों से राजा तथा उसके सामतों का मन प्रसादन जितनी आसानी से सभव था, उतना प्रबधकाव्यों से नहीं। आश्रयदाताओं को प्रबधकाव्य सुनने का अवकाश नहीं था। भोग विलास से सकुल अपने जीवन में वे कविता के लिए कुछ ही क्षण दे सकते थे, और वह भी ऐसी कविता के लिए, जो या तो उन्हें चमत्कृत कर दे या उनकी कामरुचि को सहलाने या उत्तेजित करने में समर्थ हो। परिणाम यह हुआ कि दरबारी कवियों ने प्रबन्ध का स्पर्श तक नहीं किया। केवल मुक्तकों से ही उनका उद्देश्य पूर्णत सिद्ध हो जाता था।

तात्पर्य यह कि रीतियुगीन दरबारी काव्य अधिकाशत अभिजातवर्गीय या सामतीय भावनाओं और रुचियों तथा अन्नदाता के सामान्य दृष्टिकोण से नियत्रित-परिचालित है। राजाश्रित कवि ससार को सामत की आँखों से देखता था। सामान्य मनुष्यों की भावनाओं की वह तनिक भी चिन्ता नहीं करता था। साहित्यनिर्माण में 'हो हू पेज दि पाइपर कॉल्स दि ट्यून'¹ का सिद्धान्त पूर्णत लागू था। कवि अपने आश्रयदाताओं की पसन्द, विश्वासों तथा रुचियों का सदा ध्यान रखने को बाध्य था। बिना ऐसा किये उसका जीवननिर्वाह ही कठिन था कविता करने की बात तो दूर रही।

१ बीनवाले को पैसा देनेवाला उससे मनचाही गत बजवाता है।

उक्त विवेचन से यह भ्रम उत्पन्न होने की सम्भावना है कि साहित्य के, विशेषत रीतिकालीन साहित्य के, निर्माण मे केवल आश्रयदाताओ की रुचि का ही हाथ है। साहित्य का इतिहास—हिन्दी साहित्य का इतिहास भी—इसके विरुद्ध अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है। यदि रीतिकालीन काव्य के निर्माण मे केवल आश्रयदाताओ की रुचियो का ही हाथ होता, तो इन कवियो द्वारा रचित विशुद्ध भक्ति के पदो का अस्तित्व सभव नही होता। इस कथन का उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि सभव है, आश्रयदाता शृंगारिक कविताओ के बीच बीच मे, कभी कभी भक्तिपरक रचनाएँ भी सुनना पसन्द करते हो, पर भूषण ने क्यो काव्यांगलक्षण लिखे, इसका उत्तर शिवाजी की रुचि के आधार पर नही दिया जा सकता। दूसरी तरफ बिहारी ने राजाश्रित कवि होने पर भी, काव्यांगो के लक्षण नही लिखे इसका उत्तर उनके आश्रयदाता जयसिंह की रुचि मे नही ढूढा जा सकता। भूषण और मतिराम दोनो भाई थे, पर एक ने वीर रस की साधना की दूसरे ने शृंगार की इसकी व्याख्या भी उनके आश्रयदाताओ की रुचि के प्रकाश म नही की जा सकती। यदि यह कहा जाए कि दोनो के आश्रयदाता भिन्न भिन्न रुचियो के थे तो तत्काल प्रश्न उठता है कि भूषण को क्या शिवाजी और छत्रसाल के अतिरिक्त दूसरा आश्रयदाता नही मिला? इतिहास बताता है कि भूषण आरम्भ मे चित्रकूटाधिपति हृदयराम के पुत्र रुद्रराम सोलकी के आश्रय म रहे थे। बाद म ये अपने भाई मतिराम के आश्रयदाता बूदीनरेश राव बुधसिंह के दरबार म भी गए थे, और पता चलता है कि ये उनम सतुष्ट नहा रह सके थे। तात्पर्य यह कि भूषण ने—लाल और सूदन के बारे म भी यही कहा जा सकता है—अपनी रुचि के अनुकूल ही आश्रयदाता की खोज की थी अन्यथा इतनी दूर दक्षिण मे न जाकर उन्हें उत्तर मे ही कोई विलासप्रिय राजा, आश्रयदाता के रूप म, प्राप्त हो सकता था। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य से अनेक ऐसे स्थलो का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी व्याख्या श्रोताओ की रुचि के आधार पर नही की जा सकती। निष्कर्ष यह कि साहित्यनिर्माण म केवल पाठको या श्रोताओ की रुचि का ही हाथ नही होता—इसका हाथ होता जरूर है और कभी कभी अत्यन्त स्पष्ट और सर्वाधिक प्रमुख होता है—इसे प्रभावित करने या अतिम रूप देनेवाले और भी अनेक हेतु होते हैं जसे राजनतिक, सामाजिक धार्मिक और आर्थिक परिवर्तन, साथ ही, व्यक्तिगत प्रतिभा और रुचि जिसके बारे म कोई भविष्यवाणी नही की जा सकती।

पाठको या श्रोताओ की रुचि के प्रकाश में प्राचीन हिन्दी साहित्य का अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजाश्रय म रचित काव्य पर उसके श्रोताओ की रुचि का प्रभाव जितना स्पष्ट और व्यापक है उतना राजाश्रय से बाहर रचित साहित्य पर नही। राजाश्रयमुक्त कवियों म सभी सत सूफी नाथ और भक्त कवि आ जाते हैं। इन कवियो का सीधा सपर्क भारतीय जनसमाज से था। यद्यपि कुछ सूफी कवियो के राजाओ द्वारा सम्मानित और पूजित होने का उल्लेख भी मिलता है पर उन्हे राजाश्रित कवि नही कहा जा सकता। ये सत और भक्त वैराग्य और अपरिग्रह का जीवन व्यतीत करते थे तथा अपने काव्यामृत का पान सबको समान भाव से कराया करते थे। इन भक्त और सत कवियो के द्वारा रचित काव्य राजाश्रित कवियो के काव्य से नितान्त भिन्न है। राजाश्रित कवियो की

तरह ये कवि राजाआ की प्रशसा मे प्रशस्तिकाव्य की रचना नही करते। यद्यपि सूफी कविया ने अपनी रचनाआ मे शाहेवक्त का वणन किया है, पर यह मसनवी शैली की रूढिगत विशेपता है, इन कविया की खुशामदी प्रवत्ति का परिचायक नही। भक्त कवियो ने तो स्पष्ट रूप से प्राकृत जन का गुणगान करनेवालो की निदा की है। तुलसीदास ने 'मानस' म लिखा है "कीन्ह प्राकृत जन गुनगाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना।" राजसम्मान के प्रति इन भक्त कविया का दृष्टिकोण कैसा था, इसका पता कृष्णभक्त कवि कुभनदास तथा सूरदास के जीवन की एक एक घटना से चलता है। कुभनदास एक बार अकबर के निमत्रण पर फतहपुर सीकरी गये, जहा इनका बडा सम्मान हुआ। कोई दूसरा कवि होता तो इसे अपना सौभाग्य समझता पर कुभन दास को बराबर अपने इस काय पर खेद बना रहा, जसा कि इस पद से व्यक्त होता है—

सतन का कहा सीकरी सो काम।
आवत जात पनहियाँ टूटी बिसरि गया हरि नाम॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत तिनको करिबे परी सलाम॥

चौरासी वैष्णवन की वात्ता' म सूरदास और अकबर की भेंट का उल्लेख आया है। वात्ता म लिखा है कि जब अकबर ने सूर स अपना यशवणन करने को कहा तो उन्हान निम्नलिखित पद का गान किया—[१]

नाहिन रह्यौ मन मे ठौर
नदनदन अछत कसे आनिए उर और।

अकबर ने सूर को धन, द्रय और जो वस्तु वे चाहे, लेने का कहा। निर्भीक और निर्लोभी सूर ने उत्तर दिया—"आज पाछे हमको कबहूँ फेरि मति बुलाइयो और माको कबहूँ मिलियो मति।'[२]

सत और भक्त कविया के जीवन से इस प्रकार की, राजाश्रय का तिरस्कार करन वाली, अनेक घटनाआ को उधत किया जा सकता है। इन घटनाआ म सिद्ध होता है कि इन कविया से प्रशस्तिकाय लिखा लेना अकबर जस उदार, गुणग्राही और साधुसन्ता का सम्मान करनेवाले सम्राट के लिए भी समव नही था, फिर दूसरे राजाआ की बात तो अलग रहे। इसके विपरीत रीतिकालीन राजाश्रित कवि हैं, जिन्हाने अपन आश्रयदाताओ के, चाहे वे चरित्रहीन आत्मसम्मान की भावना स शूय और कायर ही क्या न हा, कल्पित शौय और महत्ता का अमर्यादित वणन किया है। काव्यरचना पर आश्रयदाता की रुचि के प्रभाव के सिद्धान्त की पुष्टि इन उदाहरणो से अच्छी तरह हो जाती है।

इस प्रसग म स्वभावत एक प्रश्न उठता है कि सत और भक्त कविया के वास्तविक या उद्दिष्ट श्रोता कौन थे। इस दृष्टि से समस्त प्राचीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन शोध का एक रोचक विषय हो सकता है जा प्रस्तुत प्रबध का लक्ष्य नही। यहाँ सक्षेप में कुछ मुख्य कविया के श्रोताओ और काव्य पर उनकी रुचि के प्रभाव का विश्लेषण कर हम अपनी स्थापना की पुष्टि करने का प्रयास करेंगे।

---

१ सूर निर्णय (१९), पृ० ९१।
२ अष्टछाप और वल्लम सम्प्रदाय (१९) पृ० २०८।

पहले कबीर को ही लिया जाए। कबीरदास के पदों में आये संबोधनों को डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'एक खास प्रयोजन' से युक्त बताया है।[1] कबीर ने अपने पदों में स्थान स्थान पर अवधू या अवधूत, पंडित या पाँडे, मुल्ला काजी, संत, साधु भाई, जोगी आदि को संबोधित किया है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, 'जब उन्होंने अवधू या अवधूत' को पुकारा है तो यथासंभव अवधूत की ही भाषा में, उसी के क्रियाकलाप की आलोचना की है। इस प्रसंग में उनकी उक्ति और तर्कशैली पूर्ण रूप से अवधूत जैसी रहती है। जब वे पंडित या पाँड़े को सम्बोधन करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पंडित की ही भाषा में पंडित की ही युक्तियों के बल पर उसके मत का निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला काजी आदि सम्बोधनों को भी समझना चाहिए। जब वे अपने आपको या संतों को सम्बोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते हैं। वे अपने मत के माननेवाले को ही 'संत' या 'साधु' कहते हैं। साधारणतः वे भाई सम्बोधन के द्वारा साधारण जनता से बात करते हैं और जब कभी वे जोगियों को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस भले आदमी के सम्बन्ध में उनकी धारणा अच्छी नहीं थी।'[2] इससे स्पष्ट है कि कबीर के श्रोताओं में अवधूत, पंडित, मुल्ला काजी साधु साधारण जनता और जोगी प्रमुख थे, और इन श्रोताओं को सम्बोधित करके जिन पदों की रचना की गयी है उनमें विषय, शैली और भाषागत विशिष्टताएं पुष्कल परिमाण में हैं। डा० द्विवेदी के ही शब्दों में, 'यद्यपि कबीरदास अवधूत मत को नहीं मानते तथापि अवधूत के प्रति उनकी अवज्ञा नहीं है उसे वे काफी सम्मान के साथ ही पुकारते हैं। वे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी उसकी साधना पद्धति की व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी कभी कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदास का गुरु तक बन सकता है। प्रायः ही वे संधाभाषा या उलटवासियों में बात करते हैं।[3] पंडितों, काजियों और मुल्लाओं को सम्बोधित कर रचित पदों में कबीर ने हिंदू और इस्लाम धर्मों के बाह्याचार का खंडन किया है पर साधुओं और साधारण जनता को लक्ष्य कर रचित पदों में उन्होंने स्वाभाविक भाषा में, स्वाभाविक लहजे के साथ ज्ञान और उपदेश की बातें कही हैं।

विषय और शैली दोनों ही दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के श्रोताओं को संबोधित कर रचित कबीर के पदों में जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है उसका श्रेय किसे दिया जाय? कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ स्वभाव का व्यक्ति किसी की रुचि से प्रभावित होकर पदों की रचना करे, यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जिस व्यक्ति ने समाज की कोई भी रूढ़ि स्वीकार न की, जिसने आलोचना और व्यंग्य करने में किसी पर दया नहीं दिखाई जिसने हिंदू मुसलमान अवधूत-योगी, पंडित मुल्ला सबको फटकारा, उसकी पदरचना पर किसी की रुचि का प्रभाव पड़े यह बात संभव नहीं प्रतीत होती। पर यह तो कहा ही जा सकता है कि अवधूतों, हठयोगियों तथा मुल्लाओं की आलोचना करते वक्त तथा साधुओं और साधारण

१ कबीर (२४) पृष्ठ २२।
२ उपरिवत् पृ० २२।
३ उपरिवत्।

जनता को उपदेश करते समय कबीर का ध्यान उनकी रुचि पर रहता है। मतलब यह नहीं कि वे उनकी रुचियों द्वारा निदेशित होते हैं, वरन यह है कि वे या तो उनकी भावनाओं के परिष्कार या उन्हें अपने अनुरूप ढालने का प्रयत्न करते हैं। कबीरदास की पदरचना पर उनके श्रोताओं की रुचियों का प्रभाव इतना अल्प और सूक्ष्म है कि उसका निर्देश करना भी कठिन जान पड़ता है। केवल उनकी भाषा पर उनके श्रोताओं की रुचि की थोड़ी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। कबीरदास की भाषा में भोजपुरी अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषाओं के शब्द मिले हुए हैं। संभवतः कबीर जहां जाते थे, वहाँ श्रोताओं को, उन्हीं की भाषा में उपदेश देने का प्रयत्न करते थे। साथ ही, कबीर की रचनाओं में जो उपमान आये हैं वे अधिकतर सामान्य निम्नवर्गीय जीवन से लिए गए हैं। सच यह है कि कबीरदास अपने उपदेशों और निर्गुण भक्ति का प्रचार जनता में करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपनी भाषा और शैली को सामान्य जनता के अधिक से अधिक निकट रखने का प्रयत्न किया।

काव्यरचना पाठकों की रुचि से निदेशित होती है, कबीर साहित्य इस विचार को चुनौती देता है, पर उपर्युक्त उदाहरणों से यह तो सिद्ध ही है कि कबीर ने अपने उद्दिष्ट श्रोताओं की रुचि और विचारों को ध्यान में रखकर ही उनकी आलोचना की या उन्हें निर्गुण भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि कबीर का उद्देश्य कविता रचना और उसका रसास्वाद कराना नहीं था। कविता, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार, उन्हें घेलुए में मिली हुई वस्तु थी, अतः यदि उस पर श्रोताओं की रुचि का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है, या बहुत कम है तो यह स्वाभाविक ही है।

हिंदी के अन्य भक्त कवियों के श्रोता एक तरफ तो सामान्य जन थे और दूसरी तरफ कबीर और उनके समानधर्मा संतों से भिन्न, तत्कालीन काव्यरसिक। रामचन्द्र शुक्ल ने एक अनुश्रुति का उल्लेख किया है कि जायसी 'पद्मावत' के कई अंशों को गाते फिरते थे और उनके चेले लोग भी साथ साथ गाते चलते थे। उनका एक चेला अमेठी में जाकर नागमती का बारहमासा गा गा कर घर घर भीख माँगा करता था, जिसे सुनकर अमेठी के राजा ने जायसी को सम्मानसहित अपने यहाँ बुलाया था।[१] अन्य सूफी कवियों के श्रोता या पाठक भी सामान्य जन, विशेषतः सामान्य मुस्लिम जन थे, इसकी पुष्टि उनके काव्यों में आये *अनेक उल्लेखों तथा बाह्य साक्ष्यों से होती है।* सूरदास परमानन्ददास, नन्ददास आदि अष्टछाप के कवियों के श्रोता भी अधिकांशतः सामान्य भक्त जन थे। श्री नाथ जी के मन्दिर में ये भक्त कवि आठों याम स्वरचित पदों का कीर्तन करते थे, और यह अनुमान किया जा सकता है कि भक्त और श्रद्धालु जन बड़ी संख्या में इनका कीर्तन सुनने आया करते होंगे। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि इन भक्त कवियों के पद संगीतज्ञों को बड़े प्रिय थे। तानसेन तक इनके पदों का गायन करते थे, और इस प्रकार कृष्णभक्त कवियों द्वारा रचित पद जनता में व्यापक रूप से प्रचलित थे। गोस्वामी तुलसीदास का भी सामान्य जनता से सीधा संपर्क था। अनुश्रुतियों में पता चलता है कि तुलसीदास ने जब काशी में स्वरचित रामकथा का पाठ आरंभ किया, तो संस्कृत कथावाचकों को श्रोताओं के लाले पड़ गये और उन्होंने

१ जायसी ग्रन्थावली (२५) पृष्ठ १२।

तुलसी को काशी से हटाने के लिए अनेक प्रयत्न किये। इससे जनता में 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का पता चलता है। तुलसी एक भ्रमणशील महात्मा थे, और वे भिन्न भिन्न स्थानों पर 'रामचरित मानस' के अंश तथा स्वरचित पद लोगों को सुनाया करते थे। लगता है तुलसीदास स्वयं मानस की प्रतियाँ भी तैयार करते थे। कहा जाता है कि उन्होंने जैन महात्मा बनारसीदास[१] तथा एक भक्त भाट[२] को स्वलिखित 'मानस' की प्रतियाँ भेंट की थी। यह भी प्रसिद्ध है कि काशी की विधवाएँ 'रामचरित मानस' की हस्तलिखित प्रतियाँ तैयार कर अपनी जीविका चलाती थीं। इन तथ्यों से जनता में 'मानस' की लोकप्रियता, तुलसी के जीवनकाल में ही सिद्ध होती है।

तुलसी ने मानसरचना का उद्देश्य बताते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि जिन्हें भी राम के चरणों में भक्ति है, उन्हें मानस अवश्य अच्छा लगेगा[३] तथा उसके पाठ या श्रवण से पापियों को मोक्ष की प्राप्ति होगी। तुलसी के काल में मोक्षप्राप्ति की आकांक्षा रखने वालों की क्या कमी थी। कमी तो आज भी नहीं है, पर उस समय वैसे पाठकों या श्रोताओं का अनुपात आज की अपेक्षा निश्चय ही अधिक था। कहने का तात्पर्य कि तुलसी के श्रोताओं में सामान्य जनता अधिक थी।

सूफी संत और भक्त कवियों की रचनाओं पर सामान्य जनता की रुचि का प्रभाव है, ऐसा कहने के लिए इस साहित्य का सूक्ष्म और सांगोपांग अध्ययन अपेक्षित है।

मोटामोटी रूप से देखने पर भक्तिकालीन साहित्य पर जनरुचि का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई पड़ता है। भारत की सामान्य जनता चिरकाल से धार्मिक और आध्यात्मिक रुचि सम्पन्न रही है, और आज भी इस रुचि का सर्वथा लोप नहीं हो गया है। विद्वानों ने अनेक सबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि भक्ति-तत्त्व भारत में अत्यन्त प्राचीन है। उत्तर भारत में भी, भक्ति आन्दोलन आरम्भ होने के समय, साधारण जनता में धर्मभावना पूर्णतः विद्यमान थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था। उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी, जो भक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। डॉ० द्विवेदी के अनुसार जनता में विद्यमान यह धर्म या भक्तिभावना आचार्यों और भक्त कवियों की उँगली पकड़कर एक महान आन्दोलन के रूप में सर्वत्र छा गयी।[४]

भक्ति आन्दोलन के कारणों पर विचार करते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि जब देश में मुसलमानों का अत्याचार बढ़ने लगा तो लोग निराश होकर भगवद् भजन में लग गये। शुक्लजी के इस समाधान को हिन्दी के अन्य विद्वान् बहुत अधिक सुविधाजनक, वस्तुतः आधाररहित मानते हैं। पर यदि इस समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि जहाँ एक तरफ भक्तिभावना भारत के लिये कोई नयी चीज नहीं थी—जनता में धर्म और भक्ति के प्रति रुचि पहले से ही विद्यमान थी—वहाँ यह

१ गोस्वामी तुलसीदास (२९) पृष्ठ ९३।
२ उपरिवत् पृष्ठ १०५।
३ रामचरित मानस (१७), पृष्ठ ४०-४१।
४ हिन्दी साहित्य (३३) पृ० ९०।

भी सत्य है कि मुसलमानो के अत्याचार और हिन्दू राजाओं के पतन के कारण समस्त हिन्दू जाति में एक प्रकार की हताशा और अरक्षा का भाव उत्पन्न हो गया था। साधारण जनता ही, नहीं, वल्लभाचार्य जैसे प्रेम और माधुर्य के भक्तों के आचार्य भी मानते थे कि 'म्लेच्छाक्रान्त देश में भक्ति का सहारा लेने के सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है। तात्पर्य यह कि मुसलमानों के अत्याचार के फलस्वरूप जनता की रुचि भक्ति की तरफ जो पहले से ही उनमें विद्यमान थी, और भी तेजी से प्रधावित हुई। इस प्रकार जनता की मनोवैज्ञानिक स्थिति, जो विदेशियों की बढ़ती हुई प्रभुता और अत्याचार तथा अपनी राजनैतिक पराजय के कारण निराशा से विचलित भी हो रही थी, भक्ति के लिये अनुकूल ही नहीं प्रमाणित हुई, बल्कि उसी से संतुलन भी पा सकी। संतों और भक्तों को इस जनरुचि का अच्छी तरह पता था, क्योंकि वे उसी समाज से उद्भूत हुए थे।

तुलसी ने तो अपने व्यापक भ्रमण का लाभ भी इस जनरुचि को पहचानने में उठाया था। यही जनरुचि प्रतिभाओं का संयोग पाकर एक महान् धार्मिक और साहित्यिक आन्दोलन में परिणत हो गयी, जिसे देखकर विदेशी इतिहासकार प्रायः चकित रह गये हैं और इसके लिये उन्होंने अनेक कपोलकल्पित कारण उद्भावित करने का प्रयत्न किया है। रामानन्द वल्लभाचार्य तथा चैतन्य जैसे महात्माओं ने जब भक्ति का आन्दोलन चलाया तथा कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों ने भक्ति के सिद्धान्तों को काव्यात्मक रूप दिया तो उत्तर भारत की हताश जनता ने, जो जैसे इसकी प्रतीक्षा ही कर रही थी, बड़ी व्याकुलता के साथ भक्ति के विभिन्न रूपों को अपने जीवन का आधार बनाया। यदि जनता में भक्ति आन्दोलन को अपनाने की यह आकुलता नहीं होती, तो भक्ति साहित्य का इतना व्यापक प्रचार और विस्तार सम्भव नहीं होता।

तुलसी के कुछ जिज्ञासु अध्येता तो यहाँ तक कहते हैं कि तुलसी का मुख्य उद्देश्य, 'रामचरित मानस' के द्वारा सब तरफ से हताश और टूटी हुई जनता के जीवन में उल्लास और संतुलन लाना, भारतीय संस्कृति की रक्षा करना तथा हिन्दू जाति का गौरव ऊँचा करना था, भक्ति उनके लिये एक साधनमात्र थी। यद्यपि इस कथन को सर्वांशतः स्वीकार करना कठिन है, पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि काव्यरचना के माध्यम से भक्त कवियों ने भारतीय संस्कृति की रक्षा की तथा हिन्दू जाति को बिलकुल नष्ट हो जाने से बचा लिया। भक्ति काव्य का प्रणयन कभी भी व्यापक रूप में सम्भव नहीं हुआ होता, यदि सामान्य जनता की रुचि और प्रवृत्ति भक्ति में नहीं होती।

भक्तिकालीन काव्य पर पाठकवर्ग की रुचि की दृष्टि से विचार करने पर एक और तथ्य सामने आता है। यह तो स्पष्ट है कि कबीर आदि संत कवि समाज के अन्त्यज और अछूतवर्ग के, यानी निम्नवर्गीय चेतना के कवि हैं, जबकि सूर, तुलसी जैसे वैष्णव भक्त कवि अभिजात या उच्चवर्गीय चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं। यही कारण है कि कबीर आदि संत कवि निम्न जातियों में जितने लोकप्रिय हुए, उच्चवर्गीय जातियों में वह उतनी लोकप्रियता नहीं प्राप्त हो सकी। इसी प्रकार सगुण भक्त कवियों को अभिजात वर्ग और उच्च जातियों में जितनी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता प्राप्त हुई, उतनी निम्नवर्गीय

जातिया मे नही । आज भी कबीर आदि सतो के पद और बानियाँ निम्न जातियो मे अधिक प्रचलित हैं, जबकि तुलसी, सूर आदि सगुण भक्त कवियो की लोकप्रियता अभिजात वर्गों मे अधिक है । कारण स्पष्ट है । कबीर आदि सतो ने जातिपाँति, तीथपूजा, मदिर मस्जिद, शास्त्राध्ययन, पडिताई, कविताई तथा सस्कृत भाषा की निन्दा की है जो निम्न जातिया की रुचि के नितान्त अनुकूल और अभिजातवर्गीय रुचि के प्रतिकूल है । सत कवियो ने समाज की प्रचलित व्यवस्था को बिलकुल तोडफाड देने का आन्दोलन चलाया, जो निम्नवर्गीय जातिया की भावना के सवथा अनुकूल है । दूसरी तरफ सगुण भक्त कविया ने समाज की प्रचलित व्यवस्था को ज्या का त्यो कायम रखते हुए भगवदभक्ति का उपदेश दिया । अभिजातवग परम्पराप्रेमी होता है वह परिवतन नही चाहता । परम्परा से उसे कुछ न कुछ प्राप्त ही होता है—उसकी धन सपत्ति जातिपाति, उच्च कुल म जम लेने का लाभ तथा अधिकार, सब उत्तराधिकार से ही प्राप्त होते हैं । फलत अभिजात वग ने तुलसी, सूर तथा अय भक्त कवियो को जितने प्रेम से गले लगाया, उतना परम्पराद्रोही, जाति पाँति, तीथपूजा आदि के आलोचक कबीर तथा अय सतों को नही । इस दष्टान्त से भी भक्तिकाल पर जनरुचि का प्रभाव सिद्ध होता है ।

जहाँ तक सामाय जनता मे याप्त भक्ति और धमसम्बधी रुचि का प्रश्न है, उसकी तृप्ति करने का प्रयास सभी भक्त कवियो ने, किसी न किसी रूप मे, अवश्य किया है, पर सत कविया के अतिरिक्त अय भक्त कवियो ने कायरसिका, पडित जनो तथा सहृदय पाठका की रुचि का भी ध्यान रखा है । इस प्रकार के परिष्कृत काव्यरुचिसम्पन्न पाठको या श्रोताओ का उल्लेख सूफी और भक्त कवियो की रचनाओं मे बार बार आया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कवि पडितो और काव्यरसिको की रुचि के प्रति सजग थे ।

मलिक मुहम्मद जायसी 'पद्मावत' के स्तुति खड म कहते है—

ओ बिनती पडित ह सा भजा । टूट सँवारेहु मेरएहु सजा ।
हा सब कबिन्ह केर पिछलगा । किछु कहि चला तबल दइ डगा ॥[१]

आगे वे फिर कहते है—

भँवर आइ बनखड हुति लेहि कँवल कै बास ।
दादुर बास न पावहि भलेहि जो आछहि पास ॥[२]

इन उद्धरणा से स्पष्ट है कि जायसी का ध्यान पडितो कविया और काव्यरसिकों की तरफ था । इसी प्रकार 'राम चरित मानस' म गोस्वामी तुलसीदास भी 'बुधजना' और काव्यरसिकों की रुचि का ध्यान रखते प्रतीत होते हैं । 'मानस' के बालकांड मे उन्होंने लिखा है, "जे पर भनिति सुनत हरषाही । ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं ।" सहृदय काव्यरसिक तो थोड़े होते ही हैं और तुलसी उह कभी नही भूलते । वे दुष्ट जनो के उपहास की परवाह नहीं करते पर सज्जन सहृदय की प्रशसा की अभिलाषा उनमे है ।

---

१. पद्मावत (२८) पृ० २२ ।
२ पदमावत (२८), पृ० २४ ।

तुलसी के उद्दिष्ट पाठक या श्रोता सामान्य जनता के साथ साथ सभी रामभक्त और काव्यरसिक हैं। निम्नलिखित पंक्तियों से इस कथन की पुष्टि होती है—

कवित रसिक न राम पद नेहू।
तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू।

तुलसी के उद्दिष्ट पाठक वे लोग हैं, जिन्हें भगवान के चरणों में भक्ति है जिन्हें अच्छी समझ है जिनकी विष्णु तथा शिव के चरणों में प्रीति है और जिनकी बुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं है। इससे भिन्न रुचिवाले पाठकों को तुलसी अपना पाठक नहीं मानते। वे कहते हैं—

प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहि कथा सुनि लागिहि फीकी॥
हरिहर पद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुँ मधुर कथा रघुबर की॥

तुलसी को इस बात की शंका थी कि सम्भव है ग्रामीण भाषा में लिखित होने के कारण उनका 'मानस' काव्यरसिकों को अच्छा न लगे। उन्होंने लिखा है—

स्याम सुरभि पय विसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय राम जस गावहिं सुनहिं सुजान।

बिलकुल दो स्तर के पाठकों या श्रोताओं की रुचि को एक साथ संतुष्ट करने का यह अद्भुत कौशल अन्य कवियों के लिए अनुकरणीय है। एक तरफ तो वे सामान्य पाठकों और श्रोताओं की—अर्थात ग्रामीण जनता या साधारण स्तर के लोगों की—रुचि और शैक्षणिक स्तर का ध्यान रखकर अवधी में अपने 'मानस' की रचना करते हैं, दूसरी तरफ काव्यरसिकों और पंडितों से—'सुजानों' से—इसके लिए क्षमा भी माँग लेते हैं।[१] पर तुलसीदास सज्जनों या काव्यरसिकों को केवल ममता बुझाकर ही संतुष्ट नहीं कर देते वे उनकी रुचि का ध्यान रखकर अवधी भाषा को तत्सम शब्दप्रधान बना देते हैं। इससे तुलसी के दो उद्देश्य एक साथ सिद्ध हो गए। एक तरफ तो परिष्कृत रुचि के पाठकों को संतोष हुआ कि चलो संस्कृत भाषा में लिखित नहीं, तो कम से कम, तत्सम शब्दप्रधान भाषा में रचित काव्य तो पढ़ रहे हैं—इस प्रकार मानस की भाषा परिष्कृत पाठकों की रुचि के अनुकूल हो गयी—और दूसरी तरफ सामान्य पाठकों की काव्यरुचि का परिष्करण भी सम्भव हो गया।

इसी स्थान पर जायसी के 'पदमावत' तथा अन्य सूफी कवियों की भाषा पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। सूफी कवियों ने भी अवधी भाषा में ही अपने काव्य लिखे, पर उनकी भाषा में तुलसी की तरह संस्कृतनिष्ठता नहीं। इसका एक कारण सूफी कवियों का संस्कृत न जानना भी है पर उनके उद्दिष्ट पाठकों की रुचि का इसमें कुछ भी हाथ नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। सूफी काव्यों के उद्दिष्ट पाठक मुख्यतः मुसलमान थे—इन काव्यों के अधिकतर मुस्लिम परिवारों तथा खानकाहों में मिलने और उर्दू लिपि में लिखित होने का रहस्य, प्रो० सयद हसन अस्करी के अनुसार, यही है—और संस्कृत से उनका परिचय नाममात्र का भी नहीं था, इस कारण सूफी कवि 'पंडितों' और काव्यरसिकों का ध्यान रखते हुए भी वे अपनी भाषा तत्सम प्रधान नहीं बना सके।

१ रामचरित मानस (२७), पृ० २५।

जायसी आदि सूफी तथा सूर तुलसी आदि सगुण भक्त कवि पंडितों, काव्य रसिकों या परिष्कृत रुचिसम्पन्न पाठकों का अपने काव्यों में उल्लेख ही नहीं करते ; वरन् उनकी काव्यरुचि का भी पूरा पूरा ध्यान रखते हैं। भक्त कवियों द्वारा ब्रजभाषा या अवधी के तत्समप्रधान बनाये जाने में काव्यरसिकों की रुचि का ही हाथ है। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि इन कवियों ने अलंकारों, काव्यरूढियों, वर्णनपरम्पराओं शब्दशक्तियों, ध्वनि, गुण, दोष, रीति तथा छंदपद्धतियों का विशद उपयोग अपनी रचनाओं में किया है। और तो और, सूर ने साहित्यलहरी के रूप में कूटकाव्य की रचना कर नायिकाभेद, अलंकार और रसों के विलष्ट तथा जटिल उदाहरण प्रस्तुत किये। 'सूर सागर' तक में दृष्टकूट के पद हैं। निश्चय ही इस प्रकार के पदों की रचना, तथा अन्यत्र भी अलंकारों की बड़ी लगन का प्रयास सहृदय काव्यरसिकों को संतुष्ट करने की इच्छा का ही परिणाम है। इसी प्रकार राम या सीता के सौन्दर्य का वर्णन करते समय तुलसी सांगरूपक अलंकार का ऐसा भव्य ठाट बाँधते हैं कि देखकर विमुग्ध रह जाना पड़ता है। सभी तरह की अलंकारयोजना, जिसमें अर्थ की रमणीयता तथा भाव की उत्कर्षव्यंजना में सहायक अलंकारों की ही अधिकता है तुलसी के काव्य में मिलती है। तुलसी यद्यपि श्लेष, यमक मुद्रा आदि अलंकारों के खिलवाड़ के फेर में एक तरह से बिलकुल नहीं पड़े हैं[1] फिर भी, आलंकारिक चमत्कार में रुचि रखनेवाले काव्यरसिकों का उन्होंने निरादर नहीं किया है। यहाँ तक कि पं० रामचन्द्र शुक्ल को भी कहना पड़ा है कि गोस्वामीजी को रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था जो जिस रुचि से आकर्षित हो उसी से सही। इससे उन्होंने अलंकार की सही रुचि रखनेवालों का भी निरादर नहीं किया और इस तरह के भी कुछ अलंकार कहे, जिस तरह का 'विनय पत्रिका' में यह सांगरूपक है।

'सेइय सहित सनेह देह भरि कामधेनु कलि कासी।
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुरवासी।।
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिव लिंग अमित अविनासी।
अन्तरअयन अयन भल थन, फल बच्छ वेद बिस्वासी।।
गल कंबल बरुना विभाति, जनु लूम लसति सरिता सी।
लाल त्रिनेम त्रिलोचन लोचन, करन घट घटा सी।"[2]

इसी प्रकार 'विनय पत्रिका' में अर्धनारीश्वर शिव का वसन्त रूप में वर्णन और गीतावली में चित्रकूट की वनस्थली का होली के स्वांग के रूप में चित्रण है। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी न केवल सहृदय काव्यरसिकों की वरन् आलंकारिक चमत्कार और काव्यविनोद पसन्द करनेवाले पाठकों की, रुचि का भी ध्यान यथा बहुत रखते हैं।

मलिक मुहम्मद जायसी और उनके समानधर्मी सूफी कवि भी सहृदय काव्यरसिकों की रुचि का पूरा पूरा ध्यान रखते हैं। जायसी ने सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है। इन उपमानों में से अधिकतर संस्कृत काव्यपरम्परानुगत और कविसमयसिद्ध

१ गोस्वामी तुलसीदास (२४) पृ० १६३।
२ गोस्वामी तुलसीदास (२४) पृष्ठ १६४।

हैं। आचार्य शुक्ल के अनुसार इन परम्परागत उपमानो में कुछ तो ऐसे हैं, जो प्रसग के अनुकूल भाव को पुष्ट करने में सहायक नही होते, जैसे हाथी की सूड, सिहनी और भिड की कमर। वही कहा उन्होंने फारसी काव्यो के अनुकरण पर 'खयाल की बारीकी या वस्तुपरदाजी' दिखाने के लिए विप्रलभ शृगार के अन्तर्गत ऐसे बीभत्स दृश्य सामने रख है, जो सस्कृत परपरा के काव्यरसिको म अरुचि पैदा करते हैं, पर फारसी काव्यपरम्परा के सहृदय पाठक ऐसे वर्णनो से आनन्द ही प्राप्त करते है, और जायसी को फारसी साहित्य से परिचित काव्यरसिकों की रुचि का ध्यान था, इसका उल्लेख किया जा चुका है। नखशिखसौंदय का वर्णन भी काव्यरसिको की रुचि के अनुकूल है।

समासत प्राचीन हिन्दी साहित्य पर उसके पाठको या श्रोताओ की रुचि का प्रभाव निर्विवाद है। पाठको की रुचि या युगभावना की दृष्टि से विचार करने पर प्राचीन साहित्य और आधुनिक साहित्य म एक महान अन्तर दिखाई पडता है। प्राचीन काल म काव्य की समाजशास्त्रीय भूमि अधिकाशत आसानी से पहचाना जा सकती है। कारण यह है कि उन दिनो काव्य के पाठक या श्रोता अपेक्षाकृत कम थे तथा मुद्रण के अभाव मे साहित्योत्पादन की मात्रा और प्रकार भी सीमित थे। लेखक और उसके पाठक के सम्बन्ध स्पष्ट और सरल थे। कवि या तो अपने श्रोता का प्रत्यक्ष आश्रित था या निष्काम जीवन व्यतीत करनेवाला महात्मा। आज की तरह लेखक और उसके पाठक का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष और जटिल नही हो पाया था। फलत प्राचीन साहित्य पर सत साहित्य को छोडकर, सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त विशेष लोगो की भावना और रुचि का प्रभाव स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है। यदि वानस्पतिक जगत से रूपक लेकर हम अपनी बात स्पष्ट करें तो कहा जा सकता है कि प्राचीन हिन्दी साहित्य अधिकाशत राजाओ और अभिजात समाजरूपी वृक्ष की मुख्य डाल पर विकसित होने वाला एक प्रकार का प्यारा परजीवी पादप, दूसरे शब्दो म, व्यक्ति राजाओं और अभिजातवर्गीयो की रुचि का इतिहास है। पर आधुनिक काल म यह स्थिति बिलकुल ही नही रह गयी है। जसे जसे समय व्यतीत होता गया है, पाठको तथा पुस्तको की सख्या मे वस वसे वृद्धि होती गई है, और तदनुसार पाठको तथा लेखकों के सम्बन्ध भी जटिल होते गए हैं। बीसवी सदी के पूर्वार्ध तक आते आते तो ये सम्बन्ध अत्यन्त अन्तग्रस्त तथा दुर्विज्ञेय हो गए हैं। पाठको की सख्या पहले की तुलना म बहुत अधिक हो गयी है और सभी प्रकार के विषयो पर अनेक प्रकार की पुस्तकें बहुत बडी सख्या म लिखी जाने लगी हैं। प्राचीन काल म केवल कुछ ही केन्द्र थे, जहाँ स साहित्य का पोषण होता था पर आज साहित्य के पोषण के अनेक केन्द्र हैं जसे प्रकाशनगृह, साहित्यिक और शक्षणिक सस्थाएँ सरकार विभिन्न रुचियो वाला जनसमूह, रेडियो आदि। आधुनिक काल म प्रकाशनगृह साहित्यिक यश के मन्दिर के द्वाररक्षक बन गए हैं, जिनकी कुछ निश्चित शर्तों को माने बिना इसम प्रवेश करना किसी साहित्यकार के लिए सम्भव नहीं। प्रकाशक मुख्यत पाठको की रुचि का ध्यान रखते हैं, पर उनके निर्णयो म नियति का अनुपात भी कम नही होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाए तो प्रकाशक तब सामने आता दीख पडता है—हिन्दी म प्रमुख रूप स उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण म—जब

अन्तर्धान हो जाता है। बिलकुल आरम्भ में लेखक ही अपनी पुस्तकों के प्रकाशक भी थे या प्रकाशकों को भी लेखक बनना पडता था, पर धीरे धीरे प्रकाशन एक व्यवसाय के रूप में विकसित होता गया और आज तो प्रकाशनसंस्थाएँ साहित्यिक रुचि को प्रभावित करने वाला एक महत्वपूर्ण हेतु हो गयी हैं। अनेक आधुनिक प्रकाशनसंस्थाएँ आज व्यावसायिक ढंग पर काम करती हैं और उनके स्वामी की व्यक्तिगत रुचि नामहीन 'पाठकों' की, जिनमें स्त्रीपुरुष सभी सम्मिलित हैं, माग पर बनती है। पर स्वतन्त्र विचार रखनेवाले प्रकाशक भी रुचि को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। इन संस्थाओं को अतीत की सफलता के कारण जनता का विश्वास प्राप्त हुआ रहता है। जनता उनके यहा से प्रकाशित कृतियाँ खरीदते वक्त इस बात का अनुभव करती है कि उनमें साहित्यिक गुण अवश्य होगा। निश्चय ही केवल इसी कारण इन कृतियों की सफलता सुनिश्चित नहीं हो जाती, पर इन प्रकाशकों की सूची में किसी कृति के सम्मिलित हो जाने से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि एक साहित्यिक प्राधिकारी ने इसके पक्ष में अपना निर्णय दिया है और इसके सफल तथा लोकप्रिय होने की अधिक आशा है।

आज के इस प्रकाशनयुग में लेखक प्रकाशकों और पाठकों के दुहरे शासन में जीवन निर्वाह करता है, पर प्रकाशक भी सफलता के लिये पाठकों का ही मुखापेक्षी होता है और इस प्रकार पाठकसमूह ही अन्तिम रूप से, लेखक के जीविकानिर्वाह का स्रोत होता है। प्रकाशक एक प्रकार के मध्यस्थ का काम करता है। प्रश्न है आधुनिक लेखक अपने इस नये आश्रयदाता की जो एक व्यक्ति या छोटा सा समूह न होकर अनेक प्रकार के बौद्धिक सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक राजनैतिक तथा धार्मिक स्तरों और विभिन्न अवस्थाओंवाले पाठकों का समुदाय है, रुचि का ध्यान किस सीमा तक रखे। प्राचीन काल के लेखकों के सामने यह समस्या नहीं थी। उनके श्रोता मुख्यत दो या तीन वर्गों में विभाजित थे जिनकी भावनाओं तथा रुचियों को समझने में कवियों को कोई कठिनाई नहीं होती थी। वह अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखकर भी काव्यात्मक उत्कर्ष बनाये रखने में सर्वथा समर्थ था। पर आज के लेखक के लिये यह अत्यन्त कठिन हो गया है। यदि वह बहुसख्यक पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर काव्य का प्रणयन करता है तो उसे अपनी कला का धरातल निम्न करना पडता है। साक्षरता के समूहोत्पादन के परिणामस्वरूप आज अपरिष्कृत पाठकों की सख्या में प्राचीनकाल की अपेक्षा कई गुनी वृद्धि हो गयी है। जो लेखक इन अपरिष्कृत और साक्षरमात्र पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर काव्यप्रणयन करता है उसे आर्थिक सफलता प्राप्त होती है पर जो लेखक इन पाठकों की उपेक्षा कर परिष्कृत रुचि के अल्पसख्यक पाठकों को ही लक्ष्य करके लिखता है उसे आर्थिक सफलता नहीं मिलती।

उक्त विवेचन से साहित्यरचना पर पाठकों की रुचि के प्रभाव की पुष्टि होती है। शायद ही कोई कवि केवल आत्मतुष्टि के लिये अपने पाठकों का बिना ध्यान रखे काव्यरचना में जुटता हो। निःसंदेह अपवाद भी मिलते हैं। अकबर के दरबार में पृथ्वीराज नाम के एक कवि रहते थे। उन्होंने अकबर के दरबार में रहते हुए भी राणा प्रताप सिंह की वीरता से संबद्ध छन्दों की रचना की थी। स्पष्ट है कि कवि पृथ्वीराज

की रचनाएँ अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल नहीं, पर इस प्रकार के अपवाद साहित्येतिहास में अधिक नहीं मिलते। और यह उदाहरण भी ऊपर से ही अपवाद मालूम पड़ता है। पृथ्वीराज अकबर के आश्रित कवि नहीं थे, प्रियपात्र थे[1] और कहा जाता है, स्वयं अकबर भी राणा प्रताप की वीरता और स्वाधीन चेतना का सम्मान करता था। अतः यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीराज और अकबर की रुचियाँ परस्परविरोधी नहीं थीं। फिर भी, ऊपर के उदाहरण में, कवि की अपनी रुचि मुख्य है इसमें संदेह नहीं। पर साहित्य का इतिहास इस प्रकार के अपवादों का इतिहास नहीं है। हमने देखा है कि राजाश्रित कवि ही नहीं, कबीर, जायसी, सूर और तुलसी जैसे महान् कवि भी अपने श्रोताओं और पाठकों की रुचि से अस्पृष्ट नहीं रहे हैं। रहना संभव भी नहीं है।

यह निश्चित है कि यदि साहित्यकार या कलाकार को प्रोत्साहन या मान्यता प्रदान करनेवाला एक व्यक्ति भी नहीं मिलता तो उसकी रचना दीवाल पर उग आनेवाले पौधे की तरह खिलने के पूर्व ही मुरझा जाएगी। तुलसी ने 'मानस' के आरंभ में 'सुजान', रामभक्त और कवितारसिक पाठकों की जो प्रशंसा की है उसके मूल में अनुकूल पाठक प्राप्त करने की इच्छा ही कार्यरत है। जर्मन कवयित्री ड्रोस्ते (Droste) की जीवनी इस कथन के लिये एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। ड्रोस्ते को बहुत दिनों तक पाठकों और प्रकाशकों की अत्यन्त कटु उपेक्षा सहनी पड़ी। पर अन्त में एक ऐसा व्यक्ति उसे मिला, जिसने उसकी कविता का आदर किया। इसके पूर्व, ऐसा मालूम पड़ता है, उसकी कला का उत्स ही सूख गया हो। कल्पना की जाए कि यदि उसने एक भी ऐसा पाठक नहीं पाया होता, जो उसे पूरी तरह से समझता, तो उसकी कविता की कौन गति हुई होती? एक स्थान पर वह कहती है कि उसके बिना वह "अपनी कविता एकांत में गुनगुनायी होती"[2]—अर्थात् उसने कुछ भी नहीं लिखा होता। साहित्यकार समकालीन पाठकों द्वारा उपेक्षित होकर भी यदि लिखना बंद नहीं करते तो इसका कारण उनका भविष्य में पाठक प्राप्त करने का आत्मविश्वास ही होता है। पर अधिकांश लेखक इस प्रकार के दृढ़ आत्मविश्वास से युक्त नहीं होते, न ही वे ड्रोस्ते की तरह एक समझदार पाठक पाकर संतोष कर लेते हैं।

यदि साहित्यकार की बाह्य परिस्थितियाँ उसके प्रतिकूल हैं, यानी यदि उसे पाठक या आश्रयदाता नहीं प्राप्त होते, तो उसकी समूची रचना के ध्वस्त हो जाने की अधिक संभावना होती है। पाठकों और आश्रयदाताओं के अभाव में कलात्मक प्रतिभा को बहुधा, रूपाकार ग्रहण करने का अवसर ही नहीं मिल पाता। साहित्य के इतिहास का अवलोकन करते समय हमें ऐसे कालखंड या विशेष क्षेत्र दिखायी पड़ते हैं, जिनमें कोई प्रतिभाशाली कवि या लेखक दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका दोष अक्सर दैव या नियति के मस्तक पर डाल दिया जाता है। क्या कारण है कि ईस्वी सन् की १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में, हिन्दी में, भक्त कवियों के रूप में अनेक प्रतिभाएँ चमकीं, जबकि १८ वीं शताब्दी के मध्य से लेकर १९ वीं शताब्दी के मध्य तक एक भी प्रतिभाशाली कवि दिखायी नहीं पड़ता। इसका

[1] अकबरी दरबार के कवि (३१), पृ० ४१।
[2] सोशियालॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), पृ० ३१।

उत्तर हम समाजशास्त्रीय हेतुओ में ही, जिनमे कविता के आश्रयदाताओ की स्थिति प्रमुख है, मिलेगा। साहित्यिक इतिहास लिखनवालों को उन हेतुओ की खोज करनी होगी जिनके कारण इस काल की प्रतिभाओ को उदभूत तथा पल्लवित पुष्पित होने का अवसर नहीं मिला।

दाते पर लिखित अपनी पुस्तक म वोस्लर (Vossler) ने लिखा है, "कल्पनात्मक लेखन वह फूल है जो चट्टानो और बफ म कुहासे और आधी म प्रसन्नतापूवक पनपता है।[१] रेनौ न अपनी पुस्तक 'लाविनीर द ला सियास' मे भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किय हैं।[२] पर समाजशास्त्रीय दष्टि से विचार करने पर साहित्य का इतिहास इस सामान्यीकृत सिद्धान्त का समथन नहीं करता। उत्तर रीतिकाल साहित्यिक वैभव की दष्टि से जो इतना शून्य है, इसका कारण, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कि राजनीतिक अव्यवस्था, आर्थिक पतन तथा सामाजिक विशृखलता के कारण इस काल में साहित्यसृजन को समुचित प्रेरणा नही मिल सकी। प्राय कहा जाता है कि महान् प्रतिभा किसी न किसी रूप में अपने को अभिव्यक्त करती ही है और यह सदा दढ इच्छा स सबलित होती है जो असफलता से चुप और अनुत्साहित होना नही जानती। लेकिन जो लोग ऐसी बात कहते हैं उन्होंने कला या साहित्य के इतिहास से बहुत कम शिक्षा ग्रहण की है। प्रत्येक कलाकार मान्यता और सम्मान चाहता है यदि उसके पास जीविका का कोई साधन नही है तो वह अपनी कला से ही अर्थोपाजन भी करना चाहता है और यह कलाकार के लिए लज्जित होने की बात नहीं है। मान्यता प्रशसा और अथप्राप्ति से कलाकार को उत्साह मिलता है, उपेक्षा और अमान्यता उसकी ऊँची उडान को बाधित कर देती है। कलाकृतिनिर्माण की प्रक्रिया मे कृति के आकार ग्रहण करने के पूव, एक ऐसा क्षण होता है जब कलाकृति का चित्र कलाकार की मानसिक दृष्टि म स्पष्ट हो जाता है। यही एक खतरा होता है कि जिस क्षण यह प्रक्रिया समाप्त होती है उस समय कृति को आरम्भ करने के लिए जो प्राय एक श्रमसाध्य और कालव्यापी व्यापार होता है, कोई उत्साहोद्दीपक तत्त्व नही हो या कही स नहीं आए। साहित्य के पाठक या कलाकृति के ग्राहक ही इस प्रकार क उत्साहोद्दीपक होत हैं। यदि कला को अपनानवाले व्यक्ति न रहें तो उसका रूप ग्रहण करना सभव ही नही होता। और जब पाठक या कलाग्राहक साहित्य या कला के आधार हैं तो कलाकृति पर उनकी रुचि का प्रभाव पडना, नितान्त स्वाभाविक है।

इन प्रमाणो के आधार पर हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि काव्यरचना की प्रक्रिया म पाठकों और आश्रयदाताओ की समाजशास्त्रीय भूमि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। निस्सदह पाठकों और आश्रयदाताओं की रुचि कला का निर्माण नहीं कर सकती। गोबर से गुलाब का फूल नही उगाया जा सकता पर इसमें तो कोई सन्देह नहीं, कि गुलाब के विकास और उसम सुन्दर फूल लगने के लिए गोबर की खाद आवश्यक है। अरस्तू का विचार था कि कीचड सपमीन की सृष्टि नही करता। पर यह कहने म कोई बाधा नहीं है कि यदि कीचड

१ सोसिआलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७) अध्याय II
२ सोसिआलॉजी ऑफ लिटरेरी टेस्ट (७), अध्याय II

नहीं है तो मधमान भी नहीं रह सकता। अथवा यदि हम वास्लर (Vossler) के रूपक से ही अपनी बात स्पष्ट करना चाहें तो कह सकते हैं कि तुषार और बर्फ में फूल नहीं उगता, साहित्यिक फूल भी नहीं। यदि युद्ध और दूसरी हलचलों के बीच हम साहित्य को अबाधित रूप से फलते फूलते देखते हैं—जैसे उत्तर रीति युग की शृंगारिक कविता—तो इसका एकमात्र कारण यही हो सकता है कि इन अवस्थाओं में भी उस साहित्य की सामाजिक भूमि अछूती रही है। इस प्रकार साहित्यनिर्माण के क्षेत्र में जो परिवर्तनशीलता दिखायी पड़ती है, वह निश्चित दिशा में होती है, और पाठकों और आश्रयदाताओं की रुचि तथा अन्य समाजशास्त्रीय हेतु उसके मूल में होते हैं।

साहित्यनिर्माण पर पाठकों की रुचि या युगभावना का प्रभाव किस सीमा तक पड़ता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। किसी काल की काव्यशैली कहाँ तक उसकी निजी आवश्यकता है और कहाँ तक कलाकार द्वारा प्रदत्त, इस प्रश्न का उत्तर देना बड़ा कठिन है, यद्यपि इस प्रश्न का उत्तर जितने सामान्य रूप में दिया जाता है, उतने सामान्य ढंग से शायद ही किसी अन्य प्रश्न का दिया जाता हो। कोई कहता है, काव्य समसामयिक अनुभूति की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है, कोई उत्तर देता है, साहित्य समाज का दर्पण है, कोई बताता है, *साहित्य में युग के विचारों, स्वप्नों और भावों को वाणी मिलती है।* पर श्रेष्ठ साहित्य तद्युगीन भावनाओं और रुचियों से इतने सीधे रूप में निदेशित नहीं होता, जितना उपयुक्त वाक्यों से ध्वनित होता है। निम्नकोटि का, या अधिक से अधिक मध्यम कोटि का, साहित्य पाठकों की रुचि या युगभावना से प्रत्यक्षतः प्रभावित होता है, किन्तु श्रेष्ठ साहित्य पर पाठकों की रुचि का प्रभाव अप्रत्यक्ष और बहुधा दुरभिज्ञेय होता है। किसी वस्तु या वस्तुओं के प्रति पाठकों का दृष्टिकोण, उनके नैतिक और सामाजिक मूल्य तथा उनकी भावनाएँ और रुचियाँ कलाकार की तीव्र संवेदनासम्पन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत होकर ही कलाकृति की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति में प्रविष्ट होती हैं।

सामान्यतः साहित्य पर युग की भावना और रुचि के प्रभाव की चर्चा करते समय आलोचकों की दृष्टि में, न्यूनाधिक रूप में, किसी विशेष वर्ग का, जो प्रमुख निर्मायी वर्ग होता है, ध्यान रहता है। पर यह संदेहातर नहीं है। हमने पूर्व पृष्ठों में देखा है कि प्राचीन हिन्दी साहित्य की एक शाखा पर एक विशेष वर्ग की—राजाओं सामन्तों और सेठों की—रुचि का प्रभाव है, दूसरी शाखा पर दूसरे वर्ग की—उच्चवर्गीय हिन्दू समाज की—रुचियों का आधिपत्य है और तीसरी शाखा पर तीसरे वर्ग की—निम्नवर्गीय हिन्दू मुस्लिम समाज की—भावनाओं का बोलबाला है।

साहित्य की ये सभी धाराएँ, न्यूनाधिक, समानान्तर रूप में प्रवाहित होती हैं। इन साहित्यिक धाराओं तथा इनके श्रोताओं की भावनाओं और रुचियों के और भी भेदोपभेद तथा स्तर हैं। इससे विशेषतः एक बात स्पष्ट है, वह यह कि सामान्य युगभावना या जन रुचि जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता। इसके स्थान पर यह कहना अधिक युक्तिसगत है कि किसी काल में *युगभावनाओं और रुचियों की अनेक मालाएँ* विद्यमान होती हैं। इतना अवश्य है कि किसी कालविशेष में कोई एक या, अधिक से अधिक, कुछ भावनाएँ या

रुचियाँ प्रमुख होती हैं। सामान्य लेखक इसी प्रमुख रुचिधारा का अनुगमन करते हैं पर प्रतिभाशाली लेखक प्राय युग की प्रमुख रुचि या भावना की परवाह न कर जनमानस में अंतर्धारा के रूप मे प्रवाहित भावनाओं और रुचियों को नवीन भाषा और नवीन अर्थ देने का प्रयास करते है। अत युगभावना और रुचि के दृष्टिकोण से साहित्य की परीक्षा करते समय यह सर्वथा आवश्यक है कि हम जीवन और समाज के सम्बन्ध मे विभिन्न आदर्श रखनेवाले विभिन्न वर्गों को ध्यान मे रखें। इन वर्गों में से किस वर्ग की भावना और रुचि से किसी काल की प्रमुख रुचिधारा अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है इस प्रश्न का उत्तर अनेक परिस्थितियों पर निर्भर करता है, और आलोचक के लिए इन परिस्थितियों का ध्यान रखना अत्यावश्यक है।

तात्त्विक प्रश्न यह है कि क्या कोई कलाकार पाठक या आश्रयदाता की रुचि का अनुगमन करने में अपनी वैयक्तिकता का बलिदान कर देता है। यदि कोई लेखक ऐसा करता है, तो वह धन चाहे जितना अर्जित करले महान कलाकार नहीं हो सकता। रीतिकालीन दरबारी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की रुचि का अंधानुकरण किया है, इस कारण प्रतिभा का अभाव न होने पर भी वे महान कवि नहीं हो पाये।

साहित्येतिहास के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि जहाँ अधिकांश लेखक अपने समय की भावधारा और रुचि का अनुगमन करते हैं, वहाँ प्रत्येक युग मे कुछ ऐसे लेखक भी होते हैं जो सामसामयिक युगभावना का थोड़ा बहुत ध्यान रखकर, और कभी कभी उसकी बिलकुल उपेक्षा करके भी, साहित्यसृजन में प्रवृत्त होते हैं और अपने युग की कटु उपेक्षा सहकर भी अंततः नवीन रुचि के निर्माण मे सफल होते हैं। इसमे सन्देह नहीं कि इस प्रकार के प्रतिभाशाली लेखकों की, जो अपने युग की प्रमुख रुचि की परवाह नहीं करते, स्थिति सुविधाजनक नहीं होती। साहित्य का इतिहास ऐसे अनेक उदाहरणों से भरा हुआ है जिनमे कलाकार को अपने समय की विद्यमान रुचि से घोर संघर्ष करना पड़ा है। अंगरेजी के प्रसिद्ध रूमानी कवि वर्ड्सवर्थ की कविताऐं जब पहले पहल प्रकाशित हुई तो जनरुचि उनके नितान्त प्रतिकूल थी। सन् १७९८ ई० मे विलियम वर्डसवर्थ और सैमुएल टेलर कॉलरिज लिखित 'लिरिकल बलेड्स' प्रकाशित हुआ। जोसफ काटले (Joseph Kottle) नामक प्रकाशक ने लेखकों को तीन गिनी देकर यह पुस्तक प्रकाशित की थी। पुस्तक की ५०० प्रतियाँ छपी, पर बहुत कम बिक पायी। समसामयिक पत्रपत्रिकाओं ने इन कविताओं का तिरस्कारपूर्ण उपहास किया। कुछ दिनों बाद कोटले ने प्रकाशन व्यवसाय छोड़ दिया और उक्त पुस्तक का कापीराइट लौंगमन कम्पनी को बेच दिया। लिरिकल बलेड्स के कॉपीराइट का मूल्य आँका गया शून्य। कोटले ने सुझाव दिया कि कॉपीराइट वर्डसवर्थ को लौटा दी जाए और श्री लौंगमन राजी हो गये। मालूम पड़ता था कि जिस कविता को इन युवक कवियों ने इतने मनोयोग से लिखा था, उसे कोई भी पढ़ना नहीं चाहता था।[१] पर वर्डसवर्थ को अपने ऊपर दृढ विश्वास था। उसने उक्त पुस्तक का दूसरा संस्करण तैयार किया, जो १८०० ई० में प्रकाशित हुआ। तत्कालीन आलोचकों ने इस

१. 'दि इंग्लिशमैन ऐंड हिज बुक्स' (४) पृष्ठ ३८।

संस्करण की भी घोर निन्दा की। समीक्षकों ने गालियों की बौछार की। साहित्यिक संस्थाओं ने इन कविताओं की असंगतियाँ दिखाने में आकाश पाताल एक कर दिया। उस समय के बैठकखानों का यह एक प्रिय मनोविनोद था कि कौन इन कविताओं के सम्बन्ध में सबसे ज्यादा विनोदपूर्ण चुटकी लेता है।[1] वर्ड्सवर्थ के अपनी समसामयिक रुचि से इस संघर्ष की कहानी बड़ी लम्बी है। लगभग ३० वर्षों तक लगातार निराशाओं के बावजूद वर्ड्सवर्थ शनैः शनैः, धैर्यपूर्वक, अपने लिए पाठक तथा एक नवीन काव्यरुचि का निर्माण करता रहा। सन १८३० से १८३७ ई० के बीच वर्ड्सवर्थ के पाठकों में, साथ ही साथ उसकी कविता की लोकप्रियता में, अमित वृद्धि हुई। सन् १८३९ ई० में वर्ड्सवर्थ की लोकप्रियता की चरमसीमा भी पहुँच गयी, जब ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने अन्य व्यक्तियों के साथ उसे डॉक्टरेट की उपाधि प्रदान की। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ अंततः एक नवीन रुचि के निर्माण में सफल रहा।[2]

वर्ड्सवर्थ की मान्यता है कि प्रत्येक कवि रुचिविशेष का निर्माण करता है, जिसके द्वारा भविष्य में उसका मूल्यांकन होता है। इस वाक्य की सार्थकता इस बात से मालूम पड़ती है कि वर्ड्सवर्थ की कविताओं ने अँगरेजी कविता की धारा ही बदल दी। १८वीं शताब्दी में इंगलैण्ड के कवि सामाजिक मनुष्य का—मैन इन सोसाइटी का—अधिक चित्रण करते थे। पर वर्ड्सवर्थ, शैली, कीट्स, टेनिसन आदि कवियों ने प्रकृति को अपनी भावनाओं का चित्रागार बनाया। वर्ड्सवर्थ ने 'कुक्कू' और 'डैफोडिल्स' जैसी शैली ने 'स्काई लार्क' जैसी और कीट्स ने 'ओड टु नाइटिंगेल' जैसी कविताएँ लिखीं। फिर तो प्रकृतिविषयक कविताओं की धारा ही बह चली। टेनिसन और उसके समानधर्मी अन्य कवियों ने अन्वीक्षण यन्त्र लेकर फूल की एक एक पंखुड़ी को देखा। फिर तो फूल की चर्चा कविता की प्रधान वस्तु हो गयी। वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति में लोगों की रुचि उत्पन्न की। उसने प्राकृतिक सौन्दर्य को देखा, उसे अपनी कविताओं का विषय बनाया और लोगों पर उसका इतना प्रभाव पड़ा कि उनमें प्रकृतिनिरीक्षण की रुचि पैदा हो गयी।

वर्ड्सवर्थ ने पाठकों में कविता की जो नयी रुचि उत्पन्न की उसे जॉर्जियन कवियों ने—रूपर्ट ब्रूक, वाल्टर डी ला मेयर, डब्ल्यू एच डेविस आदि ने—भी अपनी चाँद, इन्द्रधनुष आदि मनोहर प्राकृतिक वस्तुओं पर लिखित कविताओं द्वारा पल्लवित-पुष्पित किया। वर्ड्सवर्थ के ढंग की कविताएँ लगभग १२० वर्षों तक लिखी जाती रहीं। अन्तिम ५० वर्षों से परिवर्तन की चाह थी जिसे टी० एस० एलियट ने संभव बनाया। एलियट ने उन वस्तुओं की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया जिन्हें अकाव्यात्मक कहा जाता था। उसने साधारण या काव्यत्वरहित वस्तुओं के प्रति भी लोगों में रुचि पैदा की। टी० एस० एलियट की नयी कविता का समकालीन कवियों पर ऐसा असर पड़ा कि उन्होंने वर्ड्सवर्थ के ढंग पर लिखित कविताओं को जला दिया और एलियट के ढंग पर कविताएँ लिखना प्रारम्भ किया। यह किस्सा केवल स्पेण्डर एवं ऑडेन (Auden) का ही नहीं है, वरन् उस

१ दि इंग्लिशमैन ऐंड हिज बुक्स (४) पृष्ठ ४४।

२ वाहिन्द, पृष्ठ ५६–५७।

काल में सभी नवयुवक कवियों पर नयी कविता का जादू चढ गया। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ के द्वारा उत्पन्न काव्यरुचि को एलियट एक शताब्दी के बाद बदल देने में समर्थ हुआ। इनसे सिद्ध होता है कि प्रतिभाशाली लेखक नवीन रुचि के निर्माण में समर्थ होते हैं। हिन्दी के छायावादी कवियों का जनरुचि के साथ संघर्ष भी उक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है। छायावादियों ने अपने युग की प्रमुख काव्यरुचि को चुनौती दी थी और समसामयिक श्रेण्य आलोचकों की कुटिल दृष्टि के बावजूद वे अपने लिए नवीन रुचि का निर्माण करने में सफल हुए थे।

प्राचीन काल में, जबकि साहित्य के पाठक और पोषणकेन्द्र आधुनिक काल की तुलना में कम थे, तथा प्रेस का आविर्भाव नहीं हुआ था, वैसे साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती थी, जो अपने पाठकों या पोषणकेन्द्रों की उपेक्षा कर आगे बढ़े। हिन्दी के सन्त और भक्त कवियों ने राजाओं का आश्रय न स्वीकार कर अपनी वैयक्तिकता की रक्षा तो कर ली, पर सन्तों को छोड़कर अन्य भक्त कवि अभिजातवर्गीय भावनाओं और रुचियों की उपेक्षा न कर सके। कबीर आदि सन्त कवि भी अपनी समसामयिक काव्यरुचि की उपेक्षा इसलिए कर पाये कि कविता करना उनका उद्देश्य नहीं था। सन्त काव्य में यदि कवित्व है तो वह स्वयमागत है, अयत्नज है। फिर कबीर आदि ने भी निम्नवर्गीय समाज की भावनाओं और रुचियों का ध्यान तो रखा ही है।

मुद्रण और प्रकाशन व्यवसाय के साथ साहित्यकार की परिस्थितियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया है और कलाकार अत्यन्त तीव्र गति से पूर्ण स्वायत्तता के लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है, यद्यपि इसमें सन्देह है कि उसे कभी भी सफलता मिल सकेगी। शेली ने १९वीं शताब्दी के आरम्भ में ही घोषित किया था कि "जब तक सत्य के प्रति तुम्हारी निष्ठा और विश्वास लिखने के लिए बाध्य न कर तब तक कुछ न लिखो। अच्छी सलाह दो और ग्रहण करो, पर साधारण मस्तिष्कवालों से कोई सलाह न लो। समय मूर्ख भीड़ के निर्णय उलट देता है। समसामयिक आलोचना मूर्खता के योगफल से अधिक महत्त्व की नहीं होती, जिसके साथ प्रतिभा को संघर्ष करना पड़ता है।"

इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कवि या लेखक विशुद्ध रूप में स्वान्तःसुखाय लिखे। कोई भी लेखक स्वान्त सुखायमात्र नहीं लिखता था नहीं लिख सकता। कलाकार में भी उसका यह अंकुश होता है, उसके लिए भी आत्माभिव्यक्ति का मूल्य होता है, पर आत्माभिव्यक्ति तब तक असपूर्ण है, जबतक उसका पाठक या श्रोता न हो। पाठक और लेखक स्पष्टतः अन्योन्याश्रयी हैं और एक दूसरे को प्रभावित या परिवर्तित करते हैं। इसलिए शेली ने जब उपर्युक्त घोषणा की तो उसका उद्देश्य केवल समसामयिक प्रमुख रुचि का विरोध करना था सभी प्रकार के पाठकों का बहिष्कार नहीं। यह संभव भी नहीं है। पाठकों के बिना साहित्य का अस्तित्व उसी प्रकार निरर्थक है जैसे मानव प्राणियों के बिना इस धरती का।

★

तृतीय अध्याय

किस्साकहानियों का युग (१८००-१८६९ ई०)

किस्सा कहानियों का युग (१८००-१८६९)

हिन्दी पाठकों की स्थिति

प्रवेशन

प्रस्तुत प्रबंध म इस तथ्य का अन्वेषण अभिप्रेत है कि हिन्दी कथासाहित्य के विकास म तत्कालीन पाठकों की रुचि का हाथ किस अनुपात मे है। एतदर्थ प्रथम अध्याय मे पठनरुचि और उसके विभिन्न निर्धारक हेतुओ का विवेचन किया गया। द्वितीय अध्याय मे अँगरेजी, सस्कृत और आदि तथा मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के साक्ष्य पर इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया कि साहित्यरचना और पाठकों की रुचि मे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है तथा दोनो एक दूसरे को विभिन्न अनुपातो मे प्रभावित करते हैं। परवर्ती अध्यायो मे सन् १८०० ई० से १९१७ ई० तक के हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर तत्कालीन पाठको की रुचि के प्रभाव का आकलन है। साथ ही, इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि पाठकवर्ग तथा उसकी रुचि के प्रसार-परिष्कार म तत्कालीन कथासाहित्य का कितना अशदान है। इस प्रकार सन् १८०० १९१७ ई० के हिन्दी कथासाहित्य और पाठकवर्ग के परस्पर सबध का अन्वेषण प्रस्तुत ग्रन्थ का केन्द्रीय प्रतिपाद्य है।

इस अध्याय मे सन् १८००-१८७० ई० के हिन्दी पाठकसमुदाय की स्थिति और रुचि के आलोक म तत्कालीन कथासाहित्य का विवेचन किया गया है। इसके लिए सवप्रथम विवेच्यकाल के हिन्दी पाठकसमूह के परिमाण तथा प्रकार का निर्धारण अपेक्षित है। हिन्दी पाठक समुदाय के निर्धारको म शैक्षणिक सुविधा, सरकारी कार्यालयो, न्यायालयो एव जनजीवन मे हिन्दी का स्थान, हिन्दी क्षेत्र के निवासियो की आर्थिक अवस्था, हिन्दी मुद्रण का विकास तथा हिन्दी पत्रपत्रिकाओ की स्थिति आदि हेतु प्रमुख हैं। इन्हीं हेतुओ से किसी भाषा के पाठकसमुदाय का निर्धारण होता है। अत हिन्दी पाठक समूह के परिमाण और प्रकार के अनुसधान के लिए प्रस्तुत अध्याय म उपर्युक्त हेतुओ का सविस्तर विवेचन किया जा रहा है। तत्पश्चात् इस अवधि के कथासाहित्य पर इस पाठकसमुदाय की रुचि के प्रभाव का आकलन प्रस्तुत किया जाएगा।

(१) हिन्दी क्षेत्र में शिक्षा का विकास तथा पाठ्यक्रम में हिन्दी का स्थान

इस बात को प्राय सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि प्राचीनकाल मे भारत शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा हुआ नहीं था। पर प्राक्मुस्लिम और मुस्लिमकाल म भारतीय

शिक्षणसस्थाओ को अपार क्षति उठानी पडी। भारतीय इतिहास के पृष्ठ विश्वविद्यालयो के ध्वस्त किये जाने, पुस्तकालयो के जलाये और लूटे जाने तथा अध्यापको के वध किये जाने की निमम कहानियो स भरे पडे हैं। फिर भी, राजकीय पोषण और सरक्षण के अभाव मे भी, अनेक हिन्दू शिक्षणसस्थाएँ व्यक्तिगत दानो से मुस्लिम काल मे पनपती रही। पन्द्रहवी शताब्दी के प्राय अन्त म, जब यूरोपीय तस्कर व्यापारियो के रूप म भारत आये, समस्त देश म सभी स्तर की हिन्दू और मुस्लिम शिक्षण सस्थाओ का जाल फला हुआ था।

दुर्भाग्यवश उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे भारत मे विद्यमान देशी विद्यालयो के परिमाण और प्रकार के सम्बन्ध मे सूचना देनेवाले साधन अत्यल्प हैं। सन १८२२ ई० और १८२३ ई० मे क्रमश मद्रास और बम्बई मे तत्तद प्रान्तो की देशी पद्धति की शिक्षण सस्थाओ की स्थिति की जानकारी प्राप्त करने के लिए वहाँ के गवनरो ने जाँचपडताल की थी तथा अपने एतत् सबधी प्रतिवेदन प्रस्तुत किये थे। इन प्रतिवेदनो से ज्ञात होता है कि ब्रिटिश शासन के आरभिक दिनो मे मद्रास और बम्बई मे, देशी पद्धति की प्राथमिक और उच्च शिक्षणसस्थाओ का जाल फैला हुआ था।[1] यो इन प्रान्तो की शक्षणिक स्थिति से प्रस्तुत प्रबध का अधिक सबध नही, क्योकि ये दोनो ही मुख्यत अहिन्दीभाषी प्रान्त हैं[2], फिर भी इनसे उत्तरी भारत की शक्षणिक स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

सन् १८३५ ३८ ई० म विलियम ऐडम नामक पादरी ने सरकारी आदेश से बगाल म उपलब्ध देशी पद्धति की शिक्षणसस्थाओ के सम्बन्ध मे जाँचपडताल की। विलियम एडम के प्रतिवेदनो से हिन्दी का घनिष्ट सम्बन्ध है क्योकि उस समय बगाल और बिहार एक प्रात थे। ऐडम ने आधुनिक बिहार के कतिपय जिलो का भी शक्षणिक सर्वेक्षण किया था। विलियम ऐडम के १८३५ ई० मे तयार किये गये प्रथम प्रतिवेदन से ज्ञात होता है कि उस समय बगाल और बिहार म एक लाख प्राथमिक देशी स्कूल थे।[3] कुछ फारसी सांख्यिकीय अभिलेखो के साक्ष्य पर विलियम ऐडम इस निष्कष पर पहुँचे थे कि स्कूल जाने योग्य आयु (५ ६ और १० ११ वर्ष के बीच) के भारतीय बच्चो की सख्या कुल जनसख्या की १६ प्रतिशत थी। उनका दूसरा निष्कष था कि ४०० लोगो पर स्कूल जानेवाले उम्र के बालको की

१ नुरल्ला और नायक (२), प्रथम परिच्छेद।

२ सर टामस मुनरो के आदेशानुसार मद्रास प्रान्त के बेलारी जिले के जिलाधीश ने जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था, उसके अनुसार उस समय वहाँ "केवल एक स्कूल में अँगरेजी की, चार स्कूलों में तमिल की, इक्कीस स्कूलों में फारसी की तेइस स्कूलों में मराठी की, दो सौ छब्बीस स्कूलों में तेलुगू की तथा दो सौ पैंतीस स्कूलों में कन्नड़ की पढ़ाई होती थी। इन स्कूलों के अतिरिक्त केवल ब्राह्मणों के लिए तेइस विद्यालय थे, जहाँ सस्कृत के माध्यम से विभिन्न विषयों की पढ़ाई होती थी।" [नुरल्ला और नायक (२) पृ० ६७] इससे स्पष्ट है कि मद्रास की शिक्षण सस्थाओं में हिन्दी भाषा का कोई स्थान नहीं था। बम्बई में भी हिन्दी की लगभग ऐसी ही स्थिति होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

३ डॉ० भगवान दयाल, (१), पृ० १२।

सख्या ६४ अवश्य थी। इसस स्पष्ट है कि अँगरेजा द्वारा शक्षणिक विकाससम्बधी प्रयत्न आरम्भ किय जाने के पूव बगाल बिहार म शिक्षा का अभाव नही था।

ऐडम द्वारा प्रदत्त आकडा स[1] यह स्पष्ट है कि उन्नीसवी शताब्दी क प्रथम चरण म बगाल और बिहार म शिक्षा की सुविधाएँ देशी पद्धति क स्कूला क माध्यम स प्रचुर मात्रा म उपलब्ध थी। कवल बगाल और बिहार म एक लाख देशी स्कूला की विद्यमानता इस कथन के लिए जबरदस्त प्रमाण है। माक्समूएलर लुडलो[2] वाड[3] मलकाम[4] आदि शिक्षाशास्त्रिया और इतिहासकारा द्वारा प्रस्तुत साक्ष्या म भी प्रमाणित हाता है कि अगरजा द्वारा शिक्षा प्रसार सम्बधी प्रयत्न आरम्भ किए जान के पूव भारतीय जनता निरक्षर और अशिक्षित नही थी। जहा तक भाषा का सबध है बिहार क जिला म हिदी और फारसी की शिक्षा देनेवाले स्कूला की अधिकता था।[5] यद्यपि वतमान उत्तर प्रदेश, मध्य प्रात राजस्थान आदि प्राता की तत्कालीन शक्षणिक स्थिति सम्बधी आँकडे अनुपलब्ध हैं, पर इन प्रातो की स्थिति भी लगभग बिहार की ही तरह होगी ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

उपयुक्त शिक्षाशास्त्रिया द्वारा सगृहीत आकडो स यह स्पष्ट है कि अगरजा के आगमन क पूव दश म सवत्र देशी पद्धति के विद्यालयो का जाल फैला हुआ था। इस्ट इडिया कम्पनी क शासन न देशी पद्धति के इन स्कूलो को प्राय नष्ट कर दिया। अत विवच्य काल की शक्षणिक स्थिति की जानकारी के लिए ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये प्रयत्नों का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना आवश्यक है।

शिक्षाप्रसार सबधी प्रयत्न (१८००-१८३३)

अपने शासनकाल क आरम्भ म इस्ट इडिया कम्पनी भारतीया की शिक्षा के प्रति बिलकुल उदासीन थी पर १८वा शताब्दी के प्राय अत म कुछ अँगरज यह अनुभव करने लग थ कि इस्ट इडिया कम्पनी का भारतीयों को शिक्षित करन का उत्तरदायित्व लेना चाहिए। विल्बर फोस, चाल्स ग्राट तथा उनक अन्य मित्रा न कम्पनी क १७९३ के चाटर एक्ट म यह खड (क्लाज) सम्मिलित करान का प्रयास किया कि कम्पनी भारतीया का शिक्षा के लिए प्रयत्न कर। कम्पनी क निदशका न इसका दृढ विरोध किया। एक निदेशक ने तो यहाँ तक कहा कि हमन अभी तुरत अपनी मूखता स स्कूला और कालजा की स्थापना करक अमरीका को खाया है, हमलोग भारत म उसी मूखता को दुहराना नही चाहत।[6] पर चाल्स ग्राट और उसक मित्र चुप नही बठ। उनक प्रयत्नो क फलस्वरूप १८१३ ई० म जब कम्पनी का चाटर एक्ट नवीकरण क लिए प्रस्तुत किया गया तो उसम भारतीय शिक्षा के विकास क लिए १ लाख रुपयो की व्यवस्था की गई। पर कम्पनी क

---

१ नुरुल्ला और नायक (१) पृ० ३३।
२ डॉ० भगवान दयाल (२) पृ० १८।
३ वाड व्यू ऑफ दि हिन्दूज भाग १, पृ० १६०। नुरुल्ला और नायक (१७) पृ० २।
४ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० २२।
५ नुरुल्ला और नायक (१५) पृष्ठ ३।
६ भगवान दयाल (२) पृष्ठ ४९।

निदेशक भारतीयो की शिक्षा के सम्बन्ध म बिल्कुल उदासीन थे। फलत सन १८२३ ई० तक शिक्षा के विकास के सम्बन्ध म कोई ठोस काय नहीं किया गया। कम्पनी के कुछ उत्तरदायी पदाधिकारियों का निदेशकों की यह उपेक्षा पसन्द नही आई और उन्होने इस दिशा मे प्रयत्न प्रारम्भ किये, जिसके परिणामस्वरूप १८२३ ३३ ई० की अवधि म शिक्षा के क्षेत्र म उल्लेखनीय विकास हुआ।[१] इस अवधि म कलकत्ता मदरसा और बनारस सस्कृत कालेज का पुनस्सगठन किया गया तथा कलकत्ता आगरा और दिल्ली मे प्राच्य विद्या क महाविद्यालय खोल गय। सस्कृत और अरबी पुस्तको के प्रकाशन तथा उपयोगी ज्ञान की अगरजी पुस्तकों के इन भाषाओ म अनुवाद प्रस्तुत करने की योजना बनाई गई। १८३३ ई० मे भारतीय शिक्षासम्बन्धी अनुदान भी १ लाख स बढाकर १० लाख कर दिया गया।

यह उल्लेखनीय है कि इस अवधि म सरकार न प्राथमिक शिक्षा या समूह शिक्षा के विकास की दिशा म कोई प्रयत्न नही किया। देशी पद्धति की शिक्षणसस्थाएँ सरकारी सहायता के अभाव म दिनादिन क्षीण और समाप्त होती जा रही थी। इस अवधि म सरकार का ध्यान मुख्यत प्राच्य विद्या की शिक्षणसस्थाओ पर केन्द्रित था। फलत यहा की जनता म, निरक्षरता की मात्रा, ब्रिटिश शासन क आरम्भिक दिनो म वृद्धयोन्मुख ही रही।

सन १८२३ ई० म देश म शिक्षाप्रसार क कायक्रम के कार्यान्वयन के लिए एक 'जनशिक्षा की सामान्य समिति' की स्थापना की गई थी जिसने अगले १० वर्षों म उपयुक्त काय किये। पर समिति की शिक्षा सम्बन्धी नीति से बगाल के नेता, विशेषकर राजा राम मोहन राय सहमत नही थ। वे देश म अँगरेजी भाषा के माध्यम से आधुनिक ढग की शिक्षा क प्रसार के समथक थ। समिति के कुछ सदस्य भी इस मत के पोषक थ। फलत सामान्य समिति क सदस्यो म शिक्षानीति को लेकर मतभेद हो गया जो बाद म शिक्षा माध्यम सम्बन्धी उग्र विवाद क रूप मे सामने आया।

सन १८१३–३३ ई० की अवधि म कम्पनी शासन की तुलना म ईसाई मिशनरियो न शैक्षणिक विकास की दिशा म अधिक महत्त्वपूण काय किया। दुर्भाग्यवश इन मिशनरियो का प्रमुख कार्यक्षेत्र अहिन्दी भाषी प्रदेश विशेष कर बगाल और मद्रास थ इस कारण हिन्दी भाषी क्षेत्र इनके प्रयत्नो स विशेष प्रभावित नही हुआ। फिर भी आगरा (१८१३) मेरठ (१८१५) बनारस (१८१७) आजमगढ और जौनपुर (१८३१) म ईसाई मिशनरियो न अपने केन्द्र स्थापित किये और इन स्थानों पर उन्होंने स्कूलो की स्थापना की।[२] इन मिशनरियो ने आधुनिक भारतीय भाषाओं को महत्त्व दिया क्योंकि य लोग निम्न स्तरीय समाज के बीच काम करते थ जो अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और किसी भाषा से परिचित नहीं था। इनके द्वारा स्थापित स्कूलो म क्षेत्रीय भाषाओ के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी।[३]

---

१ नुरुल्ल और नायक (१५) पृष्ठ ७४
२ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० ९१
३ कपरिवर (१५) पृ० ९२,

शिक्षाप्रसार सम्बन्धी प्रयत्न (१८३३-१८५४)

सन् १८३३ ई० के चार्टर एक्ट से भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ। सन् १८३३–५३ ई० की अवधि की शिक्षासम्बन्धी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना बंगाल में अँगरेजी शिक्षा की विजय थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जन-शिक्षा की सामान्य समिति के सदस्यों में शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया था। इस मतभेद का अन्त १८३५ ई० में मेकॉले के प्रसिद्ध टिप्पण से हुआ। मेकॉले ने २ फरवरी १८३५ ई० को अँगरेजी के पक्ष में अपना टिप्पण प्रस्तुत किया, जो भारतीय शिक्षा के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

मेकॉले ने अपने टिप्पण में देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देनेवाली संस्थाओं को बन्द करने या उन्हें सरकारी सहायता न देने का सुझाव प्रस्तुत किया। शिक्षा के माध्यम के रूप में उस समय सरकार के सामने तीन विकल्प थे (१) क्षेत्रीय भाषाएँ (२) प्राच्य श्रेण्य भाषाएँ और (३) अँगरेजी। दुर्भाग्यवश किसी ने भी शिक्षा के माध्यम के रूप में क्षेत्रीय भाषाओं का प्रश्न नहीं उठाया। मेकाले ने अपने टिप्पण में क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन को निरर्थक बताते हुए लिखा कि "न तो उनमें साहित्य है और न विज्ञान, तिस पर वे इतनी निर्धन और अनगढ़ हैं कि जबतक किसी दूसरी दिशा से वे समृद्ध नहीं बनाई जातीं उनमें किसी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अनुवाद भी संभव नहीं है।"[1]

क्षेत्रीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध करने के बाद मेकॉले ने प्राच्य भाषाओं के साहित्य को अध्ययन अध्यापन के सर्वथा अयोग्य बताया और बड़ी दृढ़ता के साथ कहा कि अँगरेजी भाषा का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति "आसानी से नब्बे पीढ़ियों के श्रम से, पृथ्वी पर के बुद्धिमान राष्ट्रों के द्वारा अर्जित और संचित विशाल बौद्धिक संपत्ति का ग्रहण कर सकता है।' और इस प्रकार मेकाले ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया कि "अँगरेजी भाषा हमारी प्रजाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी।"[2]

प्रिंसेप की डायरी के उद्धरणों से स्पष्ट है कि प्राच्यवादियों को कौंसिल की बैठक में अपना मत रखने का अवसर भी नहीं दिया गया और मेकाले के टिप्पण का उत्तर देने के लिए प्रिंसेप की भर्त्सना की गई। ७ मार्च १८३५ के संकल्प में विलियम बेंटिक ने मेकाले के सभी सुझावों को मान लिया और इस प्रकार क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का मार्ग अनिश्चित काल तक के लिए अवरुद्ध हो गया। उक्त संकल्प में यह घोषित किया गया कि सरकार भारतीयों में अँगरेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान की शिक्षा का प्रसार करेगी और शिक्षा के लिए निश्चित समस्त निधि केवल अँगरेजी शिक्षा पर खर्च की जायगी।[3]

यह उल्लेखनीय है कि १८३५ ई० के सरकारी संकल्प के मूल में केवल मेकॉले के तर्क ही नहीं थे वरन् बेंटिक के अपने पूर्वाग्रह भी थे। छह वर्ष पहले ही उसने अँगरेजी को न्यायालयों की भाषा बनाने की बात सोची थी और इस सम्बन्ध में, १८३० ई० में अपनी

---

१ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० १०४-१०५ पर उद्धृत।
२ भगवान दयाल (२) पृ० २०१ पर उद्धृत।
३ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० १०९—१०।

के निदेशकों के पास पत्र लिखा था। निदेशकों द्वारा दिये गये उत्तर को देखने से पता चलता है कि वह थोड़े से अंगरेजों की सुविधा के लिए अधिक चिंतित था, भारतीयों की शिक्षा के लिए कम।[१]

जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है १८३५ ई० के सरकारी संकल्प से भाषा सम्बन्धी विवाद समाप्त नहीं हो गया। अनेक दिशाओं से इस संकल्प का विरोध हुआ। पर इस विरोध का कोई विशेष परिणाम न निकला। लार्ड आकलैंड ने अंगरेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य, दर्शन और विज्ञान की शिक्षा के प्रसार की सरकारी नीति का ही समर्थन किया। "उन्होंने समाज के केवल उच्चस्तरीय वर्गों को शिक्षा देने की नीति का समर्थन किया और इसके समर्थन में कहा कि उच्चवर्गीय शिक्षा और संस्कृति छनछनकर जन समूह में फैल जाएगी। यह वही छनछनकर नीचे पहुँचने वाला सिद्धान्त" (डाउन फिल्ट्रेशन थियोरी) था जिस पर आकलैंड ने सरकारी मुहर लगा दी। यहीं से यह सिद्धान्त सरकारी नीति में परिणत हो गया और लगभग १८७० ई० तक सरकार द्वारा किये जाने वाले शैक्षणिक प्रयत्नों पर हावी रहा।[२] लार्ड आकलैंड ने विलियम ऐडम के उन सुझावों को भी ठुकरा दिया जिनमें सरकार से देशी पद्धति के प्राथमिक स्कूलों को प्रोत्साहन देने की माँग की गई थी।

जन शिक्षा की सामान्य समिति ने अँगरेजी शिक्षा के प्रसार का कार्य १८३५ ई० में फोर्ट विलियम और आगरा में अँगरेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने वाले स्कूल खोलकर आरम्भ किया। मकॉले की अध्यक्षता में अँगरेजी शिक्षा के प्रसार का कार्य तेजी से बढ़ा। सन् १८३५ ई० में समिति के नियंत्रण में केवल १४ संस्थाएँ थीं पर १८३७ ई० में इनकी संख्या ४८ हो गई जिनमें ५११६ छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे।[३]

यह उल्लेखनीय है कि जनशिक्षा की सामान्य समिति द्वारा स्थापित अँगरेजी स्कूलों में भी देशी भाषाओं की पढ़ाई की व्यवस्था की गई थी किन्तु उनका स्थान गौण था और उनके लिए कम वेतन पर अति साधारण योग्यता वाले शिक्षक नियुक्त किये जाते थे। सामान्य समिति देशी भाषाओं का विकास नहीं चाहती थी यह इससे स्पष्ट है कि जब फर्रुखाबाद स्कूल ने देशी भाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देना चाही तो सामान्य समिति ने स्कूल के प्रधानाध्यापक और उसकी प्रबन्धकारिणी समिति के पास पत्र लिखकर इसका विरोध किया।[४]

१८४२ ई० में जनशिक्षा की सामान्य समिति के स्थान पर एक शिक्षा परिषद (कौंसिल आफ एजुकेशन) की स्थापना की गयी। १८४४ ई० में सरकार ने शिक्षित भारतीयों को सरकारी सेवाओं में नियुक्त करने की अपनी नीति घोषित की।[५] अँगरेजी

---

१ भगवान दयाल (३) पृ० २१७।
२ नुरुल्ला और नायक (१५), प्रथम परिच्छेद पृ० ११९-२०।
३ भगवान दयाल (३), पृ० २१६।
४ भगवान दयाल (३), पृ० २१६।
५ नुरुल्ला और नायक (१५), पृ० १२८।

शिक्षा का विकास को इस घोषणा से बहुत प्रोत्साहन मिला। सरकारी सेवाओं के लोभ में उच्चस्तरीय समाज के लोगों ने विशेष कर बंगाल में, अंगरेजी शिक्षा का समर्थन किया।

१८४५ ई० में शिक्षा परिषद ने कलकत्ता में विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव रखा, पर कंपनी के निदेशकों ने इसे अस्वीकार कर दिया। १८५४ ई० तक शिक्षा परिषद १५१ शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित कर चुकी थी जिनमें १३१६३ विद्यार्थी पढ़ते थे।

१८५४ ई० के वुड्स डिस्पैच के अनुसार १८५३ ई० तक बंगाल अंगरेजी शिक्षा की दिशा में अन्य सभी प्रांतों की अपेक्षा आगे था। अब तक वहाँ पाँच सरकारी ऐंग्लो वर्नाकुलर कॉलेज थे तथा लगभग प्रत्येक जिले में एक जिला स्कूल स्थापित किया जा चुका था। पर उस समय तक बंगाल में भी जनसमूह की शिक्षा के लिए बहुत कम प्रयत्न किया गया था। १८४४ ई० में सरकार द्वारा कुछ वर्नाकुलर स्कूल स्थापित किये गये थे जिनमें से केवल ३३ स्कूल १८५३ ई० तक चल रहे थे। इनमें १४०० छात्र शिक्षा पाते थे पर इनकी भी स्थिति चिन्त्य थी।[1] भारत की विशाल जनसंख्या को देखते हुए शिक्षा सम्बन्धी यह प्रयत्न कितना अपर्याप्त था, यह स्वतः स्पष्ट है।

विवेच्य काल में हिन्दी पाठकों की स्थिति की जानकारी के लिए पश्चिमोत्तर प्रांतों में शैक्षणिक विकास का इतिहास जानना आवश्यक है। सन १८४० ई० में आगरा, बनारस और दिल्ली में तीन कालेज थे तथा सरकार की तरफ से ९ ऐंग्लोवर्नाकुलर स्कूल स्थापित किये गये थे।[2] १८४० ई० में पश्चिमोत्तर प्रांत की शिक्षण संस्थाओं का नियन्त्रण प्रान्तीय सरकार को सौंपा गया। प्रांतीय सरकार के प्रारम्भिक निर्णयों में से एक जनता को उसकी मातृभाषा के माध्यम से, शिक्षित करना था। प्रान्तीय सरकार ने मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा के विस्तार और विकास के लिए एक योजना तैयार की, जो थॉमसन योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजनानुसार यह निश्चित किया गया कि प्रत्येक तहसीलदारी में एक सरकारी प्रामाण स्कूल होगा। इन स्कूलों के पाठ्यक्रम में स्थानीय भाषाओं (उर्दू और हिन्दी) का लिखना पढ़ना तथा इन भाषाओं के माध्यम से गणित, ज्यामिति, इतिहास, भूगोल आदि की पढ़ाई सम्मिलित की गयी। इस बात की भी व्यवस्था की गयी कि सरकारी स्कूल देशी स्कूलों के लिए बाधक न बनें।

कम्पनी के निदेशकों ने ३१ जिलों में से केवल ८ जिलों के लिए उक्त योजना की स्वीकृति दी।

इसी समय हिन्दी की दृष्टि में एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना घटी। १८३७ ई० में अदालती भाषासम्बन्धी अधिनियम के स्वीकृत होने के बाद अदालतों में उर्दू का एकाधिपत्य शनैः शनैः स्थापित हो गया। अब मुसलमान इस प्रयत्न में लगे थे कि पाठ्यक्रम में भी हिन्दी को स्थान न मिलने पाये। अतः जब सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए सरकार की तरफ से जगह जगह स्कूल खोलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिन्दी पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाए तब प्रभावशाली मुसलमानों के द्वारा इसका

१ द्रष्टव्य नुरुल्ला और नायक (२५), पृष्ठ १२९ पर दिया हुआ उद्धरण।
२ नुरुल्ला और नायक (२५), पृष्ठ १४८।

कड़ा विरोध हुआ। यहाँ तक कि अन्त में सरकार को अपना विचार छोड़ना पड़ा और सन् १८४८ में निम्नलिखित सूचना निकाली गयी।[१]

'ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखते।'

शिक्षा का विकास (१८५४-१८७०)

जुलाई १८५४ ई० में ऊडस एजूकेशन डिस्पैच प्रकाशित हुआ जो भारतीय शिक्षा के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस डिस्पैच के बाद शिक्षासम्बन्धी कई नवीन योजनाएँ आरम्भ की गईं।

(१) कम्पनी शासन के सभी प्रान्तों में एक एक शिक्षा विभाग की स्थापना की गई।

(२) कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया गया, और

(३) समस्त भारत में ग्रेडेड स्कूलों का जाल बिछा देने की योजना बनी। डिस्पैच में प्राथमिक स्कूलों को भी ग्रान्ट इन एड के द्वारा सहायता का प्रबन्ध किया गया।

ऊडस डिस्पैच के प्रस्तावों की तीन प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं— (१) इसमें छनछन कर नीचे फलने (डाउनवार्ड फिल्टरेशन थियोरी) के सिद्धान्त को अस्वीकार किया गया। (२) माध्यमिक स्तर में आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया तथा (३) देशी पद्धति के प्राथमिक विद्यालयों को राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति की नींव के रूप में स्वीकार किया गया।

पर यह एक कटु सत्य है कि उक्त डिस्पैच के कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दीर्घ काल तक कार्यान्वित नहीं किये गये, कुछ विकृत रूप में लागू किये गये और कुछ तो अँगरेजी शासन काल में लागू किये ही नहीं गये। भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने का कार्य जिसके लिए डिस्पैच में जोर दिया गया था कभी आरम्भ नहीं हुआ और ये भाषाएँ दिनोंदिन दरिद्र होती गयीं। देशी पद्धति के स्कूलों को प्रोत्साहन देने का कार्य भी सम्पन्न नहीं किया जा सका। समूह शिक्षा की योजना ब्रिटिश शासनकाल में कभी पूरी न हो सकी और न १९२५ ई० के पूर्व किसी भी उच्च विद्यालय में शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं को स्थान मिल सका। इस प्रकार १८५४ का डिस्पैच अपने उद्देश्य तक पहुँचने में सफल न हो सका।

ऊडस डिस्पैच में शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में भी कुछ सुझाव रखे गए थे जो निम्नांकित हैं—

(क) कॉलेजीय स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में अँगरेजी का व्यवहार हो।

(ख) माध्यमिक विद्यालयों में अगरेजी और आधुनिक भारतीय भाषाएँ दोनों शिक्षा का माध्यम रहें तथा दोनों प्रकार के विद्यालयों का स्तर समान रहे।

(ग) आधुनिक भारतीय भाषाओं का सावधानीपूर्वक अध्ययन जारी रहे जिससे वे उच्च शिक्षा का माध्यम बनायी जा सकें।

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७) पृष्ठ ४३३।

यदि अन्तिम दो सुझावों को लागू किया गया होता तो भारतीय भाषाएँ थोड़े ही दिनों में समृद्ध हो गई होती, पर ऐसा नहीं हुआ। शैक्षणिक संस्थाओं में दिनोदिन अँगरेजी की प्रधानता बढ़ती गयी, जो आज तक कायम है। १८५४ के बाद शिक्षाप्रसार का काय पहले की अपेक्षा तेजी से शुरू हुआ। विश्वविद्यालयीय माध्यमिक और प्राथमिक तीनों प्रकार की शिक्षाओं का विकास परवर्ती काल में अलग अलग हुआ अत इनका अलग अलग विवेचन प्रस्तुत करना उचित है।

कॉलेज और विश्वविद्यालयीय शिक्षा

१८ वी सदी के आरम्भ म राजनैतिक अव्यवस्था के बावजूद, देश मे सवत्र फारसी और सस्कृत पद्धति की उच्च शिक्षण सस्थाएँ विद्यमान थी। अँगरेजी शासन की उपेक्षा के कारण ये सस्थाएँ धीरे धीरे नष्ट हो गयी। १८वा शताब्दी के प्राय अन्त म कलकत्ता मदरसा और बनारस सस्कृत कॉलेज की स्थापना की गई। इसके बाद १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध म कलकत्ता, सिरामपुर शिवपुर, हुगली ढाका, कृष्णनगर आदि स्थानो म सरकारी और गैर सरकारी प्रयत्नो स कुछ कॉलेज खोले गए।[1]

भारतीय जनसख्या को देखत हुए य शिक्षण सस्थाएँ नितान्त अपर्याप्त थीं इसम कोई सदेह नहीं। सन् १८५७ ई० म कलकत्ता, मद्रास और बबई विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। उस समय समस्त भारत म २३ सामान्य शिक्षा के कालेज, ३ मेडिकल कॉलेज, और १ इजिनीयरिंग कालेज था।[2] सन् १८५७ ई० के बाद आधुनिक ढग के कॉलेजो का विकास तेजी से हुआ। सन् १८८२ ई० में सरकार द्वारा स्थापित कॉलेजो की सख्या ३८, सहायताप्राप्त कॉलेजो की सख्या २३ तथा असहायता प्राप्त कालेजो की सख्या ११ थी। इस प्रकार १८८२ तक पहुँचते पहुचते कॉलेजो की सख्या १८५७ की अपेक्षा तिगुनी से भी अधिक हो गयी।[3]

इन कॉलेजों म अगरेजी भाषा का प्रभुत्व था। अँगरेजी शिक्षा का माध्यम थी। विषय के रूप म भी आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन प्राय नहीं होता था। ऊडस डिस्पैच के अभिप्रायो के बावजूद विश्वविद्यालयो न क्षेत्रीय भाषाओं को बिलकुल प्रोत्साहन नहीं दिया। जैसा कि प्रो० ए० एन० बसु न बताया है, "१८६२ ई० तक बँगला (और इसी प्रकार प्रत्येक भारतीय भाषा) कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० की परीक्षा के लिए एक निर्धारित विषय थी पर इस वष म आधुनिक भारतीय भाषाओं के स्थान पर ग्रीक्र भाषाओं को पाठयक्रम म स्थान दिया गया।[4] इस प्रकार आधुनिक भारतीय भाषाएँ उच्च शिक्षा के क्षेत्र म उपेक्षित बनी रहीं। इससे स्पष्ट है कि विवच्य काल (१८०० १८६९) के अन्तिम दो दशकों म देश म कॉलेजीय स्तर की शिक्षा का अत अँगरेजी शिक्षा का विकास तेजी से हुआ। यद्यपि भारतीय भाषाए कालेजो म उपेक्षित रहा पर अगरेजी शिक्षा का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड बिना न रहा। यह उल्लेखनीय है कि समस्त

१ नुरुल्ला और नायक (१५,) पृ० २१९।
२ नुरुल्ला और नायक (१५ पृ० २१९।
३ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० २२८।
४ भगवान दयाल (३) पृ० ३४६।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में 'उपन्यास' साहित्यरूप का उद्भव मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही हुआ, जिसका श्रेय अंगरेजी शिक्षा को ही दिया जा सकता है।

माध्यमिक शिक्षा का विकास (१८५४-१८७०)

१८५४ ई० के पूर्व अँगरेजी माध्यम से शिक्षा देनेवाले स्कूलों की संख्या, उनकी स्थापना पर सर्वाधिक बल दिए जाने के बावजूद अत्यल्प थी और छात्रों की संख्या कुछ हजार तक सीमित थी। १८५४ के डिस्पैच ने माध्यमिक स्कूलों के विकास पर जोर दिया और अगले तीस वर्षों में माध्यमिक स्कूलों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। सरकारी नौकरी पाने के लोभ में इस प्रकार के अँगरेजी माध्यमिक स्कूलों की माँग दिनोदिन बढ़ रही थी। १८५४ और १८७० ई० के बीच सरकार द्वारा स्थापित स्कूलों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। सन् १८६५-७० की अवधि में सरकार ने जनता में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार पर अधिक बल देना आरम्भ किया, जिससे माध्यमिक स्कूलों के प्रसार में कुछ शैथिल्य आया पर इस शैथिल्य के बावजूद १८८२ ई० में माध्यमिक स्कूलों की संख्या १३६३ (छात्र संख्या ४४६०५) हो गयी जबकि १८५४ में माध्यमिक स्कूलों की संख्या केवल १६९ (छात्र संख्या १८३३५) थी।[1] व्यक्तिगत प्रयत्नों से भी इस अवधि में लगभग दो हजार माध्यमिक स्कूल खोले गए थे।[2]

इन माध्यमिक स्कूलों में अँगरेजी का अध्यापन सर्वोपरि था। १८५४ ई० के डिस्पैच ने अँगरेजी माध्यम से शिक्षा देनेवाले स्कूलों के साथ साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देनेवाले स्कूलों के विस्तार पर बल दिया था। यदि डिस्पैच के इस सुझाव पर शिक्षा विभागों ने ध्यान दिया होता तो आज भारतीय शिक्षा का इतिहास सर्वथा भिन्न होता। संभव था कि इस सुझाव के कार्य रूप में परिणत होने से देश में आधुनिक भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देनेवाले माध्यमिक स्कूलों का जाल बिछ जाता और विश्वविद्यालयीय शिक्षा भी देशी भाषाओं के माध्यम से सम्पन्न होने लगती। पर शिक्षा विभागों की नीति भारतीय भाषाओं के विकास के पक्ष में नहीं थी। इन शिक्षा विभागों ने माध्यमिक स्कूलों के सम्बन्ध में कुछ ऐसे नियम लागू किए जिनसे अंगरेजी तथा ऐंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों का भेद घटने के बजाय दिनोदिन बढ़ता ही गया। इन नियमों के परिणामस्वरूप इसके पहले कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषाओं की सम्यक् जानकारी प्राप्त कर सकें उन्हें अंगरेजी की शिक्षा दी जाने लगती थी और इसके पहले कि छात्र अंगरेजी भाषा में लिखना-पढ़ना सीख सकें उन्हें अंगरेजी माध्यम से शिक्षा देना आरम्भ कर दिया जाता था। इस प्रकार इन स्कूलों का उद्देश्य यूरोपीय ज्ञान की शिक्षा देना उतना नहीं था जितना अँगरेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराना।

सन् १८६१-६२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट ने एक कानून पास किया कि मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में जब तक कोई विशेष निर्देश नहीं दिया गया हो सभी विषयों के प्रश्नों के उत्तर अंगरेजी में लिखने होंगे। इसका प्रभाव स्कूलों पर पड़ा और अधिकांश

१ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० २९३।
२ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० २९४।

स्कूलों में अंगरेजी शिक्षा का माध्यम बन गयी।[1] शिक्षासम्बन्धी इन नियमों के फलस्वरूप ऐंग्लो वर्नाकुलर स्कूलों का चल पाना मुश्किल हो गया और धीरे धीरे वे अंगरेजी स्कूलों में बदल गये। मिडिल और माध्यमिक स्कूलों में, विषय के रूप में, आधुनिक भारतीय भाषाओं की पढ़ाई होती थी, पर वह पढ़ाई नाममात्र की थी। उर्दू के सामने हिन्दी उपेक्षित थी। सरकारी कार्यालयों तथा अदालतों में उर्दू का साम्राज्य रहने के कारण अभिभावक अपने बच्चों को उर्दू पढ़ाना ही पसन्द करते थे। बिना उर्दू का ज्ञान प्राप्त किये सरकारी नौकरियों में प्रवेश पाना मुश्किल था। इन सब कारणों से १८६९ में मिडिल की परीक्षा में उर्दू और हिन्दी विषय लेनेवालों का अनुपात ४ : १ था।[2] इससे स्कूलों में हिन्दी भाषा की उपेक्षा का अनुमान लगाया जा सकता है।

प्राथमिक शिक्षा की स्थिति

१८५४ ई० के पूर्व कम्पनी की शिक्षानीति 'छनछन कर नीचे पहुँचने वाले सिद्धान्त' (डाउनवार्ड फिल्ट्रेशन थियारी) पर अवलम्बित थी जिसके परिणामस्वरूप जन समूह की शिक्षा बिलकुल उपेक्षित हो गयी थी। प्राथमिक शिक्षा का विकास होने के विपरीत उसका दिनोदिन ह्रास हो रहा था। १८५४ के डिस्पैच ने प्राथमिक शिक्षा के इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। इस डिस्पैच में सरकार का ध्यान जनसमूह की शिक्षा की तरफ आकृष्ट किया गया। डिस्पैच ने देशी पद्धति के स्कूलों को प्रोत्साहन देने का सुझाव दिया पर अगले वर्षों में नवस्थापित जनशिक्षा विभागों ने डिस्पैच के सुझावों पर ध्यान नहीं दिया। इन शिक्षा विभागों का ध्यान प्राथमिक स्कूलों की अपेक्षा माध्यमिक स्कूलों के विस्तार पर अधिक केन्द्रित था। लगभग १८७० ई० तक यही स्थिति विद्यमान रही।

जहाँ तक प्राथमिक स्कूलों में हिन्दी की स्थिति का प्रश्न है मुसलमान बराबर इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान न मिलने पाए। १८५८ के बाद उनका हिन्दीविरोध और भी उग्र हो गया। हिन्दी विरोधियों के नेता थे सर सैयद अहमद साहब जिनका अंगरेज बहुत ख्याल करते थे। वे हिन्दी को एक 'गँवारी बोली' बताकर अंगरेजों को उर्दू की ओर झुकाने की लगातार कोशिश करते आ रहे थे। उनके जवाब में हिन्दी की रक्षा करने के लिए राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द खड़े हुए थे।[3] हिन्दी उर्दू का यह झगड़ा बीसों वर्ष तक चलता रहा और लगभग ५० वर्षों के बाद हिन्दी उर्दू से अपना वास्तविक अधिकार छीनने में समर्थ हो सकी।

नारीशिक्षा का प्रचार

विवेच्य काल में नारीशिक्षा की स्थिति पर अलग से विचार कर लेना अपेक्षित है। भारत में यूरोपीयों के आगमन के समय लड़कियों के लिए शायद ही कोई स्कूल था।

---

१ भगवान दयाल (३), पृ० २३१।
२ सम्पादकीय (हिन्दी की हार) मर्यादा भाग ५, सं० ५ मार्च १९१३।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० १९०।

लडकियो के लिए शिक्षा प्राप्त करना एक व्यय या पाप, बल्कि हानिकारक, समझा जाता था। विलियम ऐडम ने अपने प्रतिवेदन में लिखा था कि "सामान्यत उनके (स्त्रियो के) हिस्से में अज्ञान ही पडा है। लडकियो को शिक्षा देने का विचार भी उनके मातापिता के मन में कभी नही आता बालिकाएँ उस अपूर्ण घरेलू शिक्षा से भी वचित रखी जाती है, जो कभी कभी लडको को दी जाती है।"[१] विलियम ऐडम के अनुसार किसी सगठित विद्यालय में लडकियो को शिक्षा देने का प्रथम प्रयास १८१८ ई० मे चिनसुरा में किया गया, किन्तु विद्यालय असफल रहा। तत्पश्चात चर्च आफ इगलैड लेडी एमहर्स्ट अमरीकन मिशनरी सोसाइटी आदि के प्रयत्नो के फलस्वरुप १८२३—१८४१ की अवधि में कलकत्ता बम्बई, पूना, मद्रास आदि स्थानो मे तथा उनके आसपास बालिकाओ के लिए स्कूल तथा कालेज खोले गए।[२]

बाद मे भारतीय भी स्त्रीशिक्षा के क्षेत्र मे आगे बढे। राजा राम मोहन राय के अनुगामियो बबई के पारसियो तथा गुजरात के व्यापारियो ने भी स्त्रीशिक्षा में विशेष रुचि दिखलाई। कम्पनी १८४१ ई० तक स्त्रीशिक्षा के प्रति बिलकुल उदासीन रही। कम्पनी के कुछ पदाधिकारियो ने व्यक्तिगत रूप से स्त्रीशिक्षा के प्रसार मे अवश्य योग दिया। इन प्रयासो के फलस्वरूप १८५४ ई० के एजूकेशनल डिस्पैच के प्रकाशित होने तक बगाल में २८८ बम्बई में ६५ और मद्रास मे २५६ बालिका विद्यालय स्थापित हो पाये थे जिनमे कुल १८३६९ बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त करती थी। भारत की तत्कालीन जनसख्या को देखते हुए यह सख्या नितान्त अपर्याप्त थी, इसमे कोई सन्देह नही।

वुडस डिस्पैच के प्रकाशित होने के बाद सरकार ने स्त्रीशिक्षा को प्रोत्साहन देने की सक्रिय नीति अपनाई। इसके परिणामस्वरुप शिक्षाविभाग के कुछ उत्साही निरीक्षको ने कुछ बालिका विद्यालयो की स्थापना की। अकेले ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने १८५५ और १८५८ के बीच लगभग ४० बालिका विद्यालयो की स्थापना की। इसके बाद ढाका हुगली आगरा, बम्बई, अहमदाबाद आदि स्थानो मे भी बालिका विद्यालय खुले। धीरे धीरे इस प्रकार की शिक्षण सस्थाओ की सख्या बढती ही गई। १८७१ ई० तक लडकियो के लिए समस्त देश में १७६० प्राथमिक स्कूल और १३४ माध्यमिक स्कूल थे। पर लडकियो की उच्च शिक्षा के सम्बन्ध मे विश्वविद्यालयो का विचित्र रवया रहा। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने कुछ लडकियो को प्रवेशिका परीक्षा मे बैठने की अनुमति इस आधार पर नही दी कि, निगमन अधिनियम (Act of incorporation) मे उन्हे विश्वविद्यालयीय परीक्षा के लिए किसी स्त्री को स्वीकृति देने का अधिकार नहीं है।"[३]

स्पष्ट है कि विवेच्य काल मे स्त्रीशिक्षा नाममात्र को थी। हिन्दी क्षेत्रो मे तो स्त्रीशिक्षा की स्थिति और भी दयनीय थी। अधिकतर बालिका विद्यालय अहिन्दी प्रान्तो

---

१ भगवान दयाल (३) पृ० १२।
२ नुरुल्ला और नायक (१५) पृ० १८१।
३ भगवान दयाल (३) पृ० ४६६।

मे खुलते थे। ऐसी परिस्थिति म हिन्दी म पाठिकाओ की सख्या कितनी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरणो से हम इस निष्कर्ष पर पहुचत है कि विवेच्य काल (१८०० १८६९ ई०) म देश की शैक्षणिक स्थिति नितात असतोषजनक थी। अँगरेजो के आगमन के पूर्व देश म प्राथमिक और उच्च शिक्षणसस्थाओ का जाल सर्वत्र फैला हुआ था। अँगरेजो की उपेक्षापूर्ण नीति के कारण थोडे ही दिनो म देशी पद्धति की शिक्षणसस्थाएँ नष्ट हो गई। अँगरेज शासक भारतीय जनसमूह को शिक्षित करना अपना कर्त्तव्य नही मानते थे। उनका उद्देश्य केवल कुछ थोडे से उच्चवर्गीय भारतीयो को शिक्षित कर सुचारु रूप से शासनप्रबन्ध चलाना था। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण म कम्पनी सरकार ने भारतीयो की शिक्षा के लिए प्राय कुछ भी नही किया। दूसरे चरण म भी शिक्षाप्रसार के क्षेत्र म कोई उल्लेखनीय कार्य नही किया गया। इस अवधि म (१८२५ ५०) सरकार ने अँगरेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने का निर्णय किया और कुछ अँगरेजी माध्यमिक विद्यालय तथा कालेज खोले गये। १८५४ ई० के बाद शिक्षाप्रसार म कुछ त्वरा आयी। ऊड्स डिस्पैच (१८५४) के बाद के २० वर्षो म कॉलेजीय तथा माध्यमिक शिक्षा का विस्तार पहले की तुलना म काफी द्रुत गति से हुआ। यद्यपि ऊड्स डिस्पैच मे प्राथमिक विद्यालयो के प्रसार पर भी बल दिया गया था, पर इसे कार्यान्वित नही किया जा सका।

जहा तक शिक्षा के माध्यम का प्रश्न है, अँगरेजो के आगमन के समय देश म व्याप्त देशी पद्धति की शिक्षणसस्थाओ म स्थानीय भाषाएँ शिक्षा का माध्यम थी। शनै शनै इन शिक्षणसस्थाओ के नष्ट होने से भारतीय भाषाओ के विकास को बडा आघात पहुँचा। अगरेजो ने आरम्भ म तो संस्कृत और अरबी फारसी आदि प्राच्य भाषाओं के विकास पर बल दिया, पर मेकाले के टिप्पण के प्रकाशित होने के बाद सरकार ने अगरेजी माध्यम से शिक्षा देने की नीति अपनाई। परिणामस्वरूप शिक्षणसस्थाओ म देशी भाषाएँ नितान्त उपेक्षित हो गई। १८५४ के ऊड्स डिस्पैच म माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षणस्तर पर देशी भाषाओ के प्रयोग पर बल दिया गया पर शिक्षा विभागो तथा विश्वविद्यालयो ने ऊड्स डिस्पैच के सुझावो को कार्यान्वित करने म विशेष उत्साह नही दिखलाया। फलस्वरूप १८५४ ई० के बाद भी भारतीय भाषाएँ शिक्षण सस्थाओ म अपना अधिकार न प्राप्त कर सकी।

माध्यमिक और प्राथमिक शिक्षणसस्थाओ मे आधुनिक भारतीय भाषाओ को जो थोडा बहुत स्थान मिलता था हिन्दी उसमे भी बहुत दूर तक वचित थी। हिन्दी का प्राय सारा अधिकार उर्दू दबाए हुए था। उर्दू सरकारी कार्यालयो तथा अदालतो की भाषा था फलस्वरूप अभिभावक गण अपने बच्चो को हिन्दी की अपेक्षा उर्दू की शिक्षा देना अधिक आवश्यक समझते थे। शिक्षा अधिकारी भी उर्दू के प्रति पक्षपात करते थ। इस प्रकार शिक्षणसस्थाओ म हिन्दी का स्थान बिलकुल नगण्य था।

(२) सरकारी कार्यालयों, न्यायालयों और जनजीवन में हिन्दी भाषा का स्थान

शिक्षणसंस्थाओं में हिन्दी उपेक्षित थी, यह हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं। अब हम यह देखना है, कि विवेच्य काल में सरकारी कार्यालयों न्यायालयों और जनजीवन में हिन्दी भाषा की क्या स्थिति थी। राजकीय प्रश्रय भाषा के प्रसार और समृद्धि का बहुत बड़ा कारण होता है। जो भाषा किसी देश के सरकारी कामकाज और न्यायालयों की भाषा होती है उसके पाठकों की संख्या अनायास बढ़ जाती है।

मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल में राजा टोडरमल की प्रेरणा से फारसी राजकाज की भाषा बनी और समस्त मुस्लिमकाल में यह राजभाषा के पद पर विद्यमान रही। प्रशासनकार्य और व्यापार का प्रत्यक्ष संबंध गद्य से होता है अतः जो भाषा किसी देश के शासनकार्य और व्यापार का माध्यम बनने का सौभाग्य प्राप्त करती है उसके गद्य को महत्त्व मिल जाता है और कालान्तर में पाठकों की माग के परिणामस्वरूप उसमें श्रेष्ठ साहित्य की रचना भी होने लगती है। हिन्दी भाषा को अपने जन्मकाल से लेकर ब्रिटिश शासनकाल तक यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका और यही कारण है कि हिन्दी गद्य का समुचित विकास न हुआ। मुस्लिम शासनकाल में फारसी राजभाषा बनी रही और जब मुगल दरबार ने ईस्ट इंडिया कंपनी को चार्टर की मंजूरी दी तो इस शर्त के साथ कि फारसी राजभाषा (कोर्ट लैंग्वेज) बनी रहेगी।[१] कंपनी के अधिकारियों को भी फारसी को राजकाज की भाषा बनाये रखने में सुविधा थी। वे स्वयं इस देश की भाषाएँ नहीं जानते थे, और जिन सरकारी कर्मचारियों (नवाबी शासनकाल में) की सहायता से उन्हें देश पर शासन करना था, वे फारसी जानते थे और फारसी के माध्यम में ही कार्य करने के अभ्यस्त थे। अतः यह स्वाभाविक था कि कंपनी के अधिकारीगण अच्छी तरह या काम चलाऊ फारसी जाननेवाले कर्मचारियों पर विशेष कृपा रखते।[२] १८३६ ई० तक फारसी ईस्ट इंडिया कंपनी की राजभाषा (कोर्ट लैंग्वेज) बनी रही।

मुगल साम्राज्य के पतन के बाद फारसी भाषा का महत्त्व और लोकप्रियता धीरे धीरे क्षीण हो गई। जब तक मुगल साम्राज्य सुसंगठित और शक्तिशाली बना रहा देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक फारसी राजभाषा और अभिजात वर्ग या किसी प्रकार भी शासन से संबद्ध जनसमुदाय की द्वितीय भाषा बनी रही। जीवनयापन के लिये प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति को फारसी पढ़ना अनिवार्य था पर मुगल साम्राज्य के नष्ट होने के बाद फारसी का प्रचार कम हो गया और वह केवल उच्च श्रेणी के मुस्लिम और विशिष्ट हिन्दू परिवारों के अध्ययन का विषय रह गयी। मुगल शासन के अंतिम दिनों में फारसी का स्थान उस भाषा ने लिया जिसे उस समय हिन्दुस्तानी रेख्ता या कभी कभी उर्दू ए मुअल्ला कहा जाता था।

उर्दू का उद्भव और प्रसार

हिन्दुस्तानी या उर्दू भाषा की उत्पत्ति कब हुई, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। उर्दू साहित्य के विद्वानों के अनुसार— दिल्ली के चारों ओर बोली जाने वाली कई बोलियों में फारसी अरबी के शब्दों के मिलने और पश्चिमी हिन्दी की

१ दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जर्नलिज्म (८) पृ० ११।
२ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृ० २।

उस बोली मे, जिसे खडी बोली कहा जाता है रूप ग्रहण करने से एक नई भाषा का
विकास हुआ। आरम्भ म उस पर पजाबी का प्रभाव अधिक रहा पर धीरे धीरे खडी बोली
ही उर्दू के रूप मे निखरती गई।[१] जब से भारत म मुसलमाना का राज्य स्थापित
हुआ, तब से लेकर मुगल शासन के अत तक, यानी लगभग ६०० वर्षों तक, भारत की
राजधानी दिल्ली और आगरा मे रही। मुस्लिम आक्रमणकारी जब पहले पहल भारत
आये तो वे केवल फारसी और अरबी भाषा जानते थे। यहा आने पर उनका सम्पर्क भारत
की बोलिया से, विशेषकर दिल्ली और आगरा के आस पास बोली जानेवाली हिन्दी की
बोलिया से, स्थापित हुआ। मुस्लिम और हिन्दू सनिका तथा हिन्दू व्यापारिया और मुसल
मान नागरिको के परस्पर सपर्क मेलजोल तथा वार्तालाप से फारसी तथा खडी बोली
का सयोग हुआ। चूकि मुसलमाना की सख्या हिन्दुओ की तुलना मे कम थी और हिन्दी
इस देश की भाषा थी जिसकी जड इस देश की जमीन म सदिया से जमी हुई थी, इस
लिय फारसी का हिन्दी के समक्ष हार माननी पडी। अल्पसख्यक मुसलमान दिल्ली
के आसपास बोली जानेवाली हिन्दी बोलियो के निरतर—पीढी दर पीढी—सपर्क म आने
के कारण उन्हे अच्छी तरह बोलने समझने लगे। फिर भी उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी
न रही। उन्होने हिन्दी के क्रियापद विभक्तियो और कुछ हद तक वाक्यगठन को तो अपना
लिया पर शब्दो के मामले म उन्होने अपना वशिष्ट्य बनाये रखा। उनकी भाषा म
फारसी और अरबी शब्दो तथा मुहावरो की भरमार रहती थी जबकि हिन्दी की बोलिया
मे उनके अपने तदभव शब्द, और अधिक से अधिक, सस्कृत शब्द और मुहावरे प्रधान
होते थे। मुसलमानो द्वारा इस नवगृहीत हिन्दी का वाक्यगठन भी अक्सर फारसी
वाक्यगठन से प्रभावित होता था। एक और विशेष बात यह हुई कि मुसलमाना ने
फारसी लिपि का परित्याग न किया। उधर हिन्दी नागरी लिपि म लिखी जाती रही।
विजेता मुसलमाना का भाषासम्बन्धी यह वशिष्ट्य ही उर्दू भाषा के उद्भव और विकास
का प्रधान कारण हुआ।

इस प्रकार अरबी फारसी शब्दो और मुहावरो स युक्त तथा यत्किंचित् फारसी
वाक्यगठन से प्रभावित और फारसी लिपि म लिखित खडी बोली का नाम हिन्दुस्तानी या
रेख्ता पडा। अकबर के जमाने तक यह भाषा भारतीय मुसलमानो तथा मुस्लिम शासन मे
सम्बद्ध हिन्दुओ विशेषकर कायस्थो, की बोलचाल की भाषा बन चुकी थी। साहित्य
और प्रशासन काय की भाषा फारसी थी, पर दनिक व्यवहार म इसी भाषा का, जिस
उस जमाने के मुसलमान यात्रियो न 'जबाने हिन्द', हिन्दी हिन्दुई, 'जबाने देहली',
'जबाने हिन्दुस्तान', 'हिन्दुस्तानी', आदि नामो से अभिहित किया है,[२] प्रमुख था। धीरे
धीरे इस भाषा म साहित्य की भी रचना होने लगी। प० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार
'औरगजेब के समय से फारसीमिश्रित खडी बोली या रेख्ता म शायरी भी शुरू हो गई
और उसका प्रचार भी पढे लिखे लोगो म बराबर बढता गया। इस प्रकार खडी बोली का

१ एहतेशाम हुसेन उर्दू भाषा की उत्पत्ति और उसका प्रारम्भिक 'विकास, आलोचना १,
पृ० ६५।

२ एहतेशाम हुसेन आलोचना १ पृ० ६५।

लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।"[१]

खड़ी बोली का प्रसार—

मुगल शासनकाल में मुसलमानों और प्रशासनकार्य से सम्बन्ध रखने वाले हिन्दुओं में 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू भाषा का प्रचार था, पर शेष जनता, जिसकी संख्या निश्चय ही प्रथम वर्ग की तुलना में बहुत अधिक थी, हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ, जिनमें संस्कृत शब्दों या उनके तद्भव रूपों की प्रधानता थी, बोलती थी। इन बोलियों का कविता साहित्य बहुत समृद्ध है यह हम जानते हैं। इन बोलियों में गद्यसाहित्य की रचना १९ वीं शताब्दी के पूर्व क्यों नहीं हुई, इसके अनेक कारण हैं, जिन पर विचार करना प्रस्तुत प्रसंग में अपेक्षित नहीं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि १९ वीं शताब्दी के पूर्व हिन्दुस्तानी का गद्यसाहित्य भी अविकसित था।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बताया है कि देश के विभिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।[२] शासितों में अपने शासक की भाषा सीखने की जबरदस्त प्रवृत्ति पायी जाती है। चूँकि मुसलमान एक ऐसी भाषा बोलने लगे थे, जो मूलतः यहीं की भाषा थी, इसलिए शासित हिन्दुओं को इस भाषा को सीखने में कोई विशेष कठिनाई नहीं मालूम पड़ी। दिल्ली से मुस्लिम पदाधिकारी और सैनिक शासनप्रबन्ध के निमित्त भारत के विभिन्न भागों में भेजे जाते थे और उनमें से अनेक उन स्थानों में बस भी जाते थे। चूँकि वे शासक थे अतः अनेक हिन्दू उनकी हिन्दुस्तानी सीख लेने का प्रयास करते थे। इस प्रकार खड़ी बोली के व्यापक प्रचार में मुसलमानों का महत्त्वपूर्ण योग है। मुगल साम्राज्य के ध्वंस ने खड़ी बोली के प्रचार में और भी सहायता पहुँचाई। आचार्य शुक्ल के अनुसार दिल्ली आगरा आदि पश्चिमी नगरों की समृद्धि के नष्ट होने के बाद दिल्ली के आसपास की हिन्दू व्यापारी जातियाँ जीविका के लिए देश के पूर्वी नगरों में फैल गयीं और इस प्रकार उनकी भाषा खड़ी बोली का प्रचार समस्त उत्तरी भारत में हो गया।[३]

इस तरह जिस समय अंगरेजों का भारत पर प्रभुत्व स्थापित होना शुरू हुआ उस समय तक खड़ी बोली अपने दोनों रूपों में—अपने ठेठ रूप में जिसे हिन्दू बोलते थे और 'हिन्दुस्तानी' रूप में जिसे बोलनेवाले मुसलमान और शासनकार्य से सम्बद्ध हिन्दू थे—समस्त उत्तरी भारत में सामान्य व्यवहार की भाषा के रूप में प्रचलित हो गयी थी। यों तो इस समय भी उत्तरी भारत के विभिन्न अंचलों में ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही आदि हिन्दी बोलियाँ बोली जाती थीं, पर शहरों में खड़ी बोली का खूब प्रचार हो गया था और उपर्युक्त बोलियाँ बोलनेवाले ग्रामीण हिन्दुओं को भी ठेठ खड़ी बोली को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। खड़ी बोली का हिन्दुस्तानी या उर्दू वाला रूप

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७) ४०८।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृष्ठ ४०७।
३ उपरिवत्, पृष्ठ ४०८।

एक विशिष्ट जनसमुदाय म, जिसका उल्लेख किया जा चुका है, प्रचलित था, जबकि उसका ठेठ रूप विशाल जनसमुदाय मे व्याप्त था। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने एक निबन्ध म १७४० ई० के लगभग की खडी बोली के नमून प्रस्तुत किये थ, जिनम केवल उद्दा अरबी फारसी शब्दो का प्रयाग हुआ है जो जनसाधारण म प्रचलित थ।[1] इससे सिद्ध है कि १८ वी सदी के मध्यकाल मे खडी बोली अपने विशुद्ध रूप म भी प्रचलित थी।

उर्दू, हिंदी और अँगरेज शासक

किन्तु अगरेज शासनाधिकारियो ने राजनीतिक कारणो से हिन्दुस्तानी या उर्दू को विशेष महत्त्व दिया। अँगरेज जब पहले पहल बगाल मे शासक के रूप म प्रतिष्ठित हुए तो वे यहा की कोई भाषा नही जानते थ। उस समय तक फारसी राजकाज की भाषा और हिन्दुस्तानी या उर्दू सरकारी कमचारियो की बोलचाल की भाषा थी। अँगरेजा का सम्पक पहले पहल राजकमचारियो से ही स्थापित हुआ। फारसी को अँगरेजो ने राजकाज की भाषा तो स्वीकार कर ही लिया उन्होने यह भी समझ लिया कि हिन्दुस्तानी या उर्दू ही यहाँ की बोलचाल की भाषा है। अत सुचारु रूप से शासनकाय चलाने के लिये कपनी के अधिकारिया ने अपने अँगरेज कमचारियो के लिये 'हिन्दुस्तानी' का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा। इस विचार से प्रेरित होकर अनेक अँगरेजो ने, जिनम जान बौथविक गिलक्रास्ट का (जो १७८३ ई० म भारत आये थ) नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, हिन्दुस्तानी का अध्ययन करना आरभ किया।

२१ दिसम्बर १७९८ ई० की सरकारी सूचना म यह घोषणा की गयी कि १ जनवरी १८०१ के बाद सिविल सर्विस का कोई भी कमचारी भारतीय भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किये बिना तथा तत्सबन्धी परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हुए बिना किसी भी पद पर नियुक्त नही किया जा सकता। भिन्न भिन्न स्थानो पर न्याय, माल और व्यापार विभागो के लिये जिन भिन्न भाषाओ का ज्ञान आवश्यक समझा गया उनका विवरण निम्नलिखित है।[2] बगाल, बिहार उडीसा और बनारस म न्यायविभाग के पदाधिकारियो के लिये हिन्दुस्तानी और फारसी भाषाएँ, बगाल और उडीसा प्रान्त म मालगुजारी इकट्ठा करने वाले समाहर्ताओ तथा चुगी, व्यापार या नमक के अभिकर्ताओ के लिये बँगला भाषा, बनारस और बिहार प्रान्त म मालगुजारी इकट्ठा करनेवाले समाहर्ताओ तथा चुगी, व्यापार या अफीम के अभिकर्ताओ के लिये हिन्दुस्तानी भाषा।

इस आदेश स स्पष्ट है कि कपनी के शासक समझते थे कि जिस प्रकार बगाल की सामान्य जनता की भाषा बँगला थी, उसी प्रकार बिहार तथा बनारस की सामान्य जनता की भाषा हिन्दुस्तानी या उर्दू थी। भाषासम्बन्धी यह भ्रम बहुत दिनो तक अँगरेज अधिकारियो के मन म बना रहा।

---

१ हजारी प्रसाद द्विवेदी २०० बष पुरानी खडी बोली के नमूने'—'विशाल भारत', भाग ८, अंक ४, पूर्णाङ्क २४८, चैत्र १९९६ अप्रैल १९४० ई० पृष्ठ ३६९ ३७० (आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१२), पृष्ठ ३०८ पर उद्धृत)।

२ फोर्ट विलियम कॉलेज (११), पृ० ७।

फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना और वहाँ के पाठ्यक्रम में हिन्दी का स्थान

१८०० ई० म फाट विलियम कालेज की स्थापना हुई, जिसम देश की कई भाषाओ क साथ हि दुस्तानी क अध्यापन क लिय प्राफेसर नियुक्त करन का निश्चय किया गया।[१] कॉलेज म हिंदी का अ यापन आवश्यक नही समझा गया। हि दुस्तानी' भाषा के १४ मु शी बहाल किय गय।[२] आरम्भ म लल्लूजी 'लाल भी जो हिंदी मु शी थे, रेख्ता म ही ग्र था की रचना या अनुवाद करते थे।

इससे स्पष्ट है कि गिलक्राइस्ट तथा तत्कालीन अगरेज अधिकारी 'हि दुस्तानी का ही बिहार तथा बनारस की सामा य भाषा समझते थ और इसलिय इन प्राता म सामा य जनता के सपक म आनवाले अँगरेज पदाधिकारिया के लिय हि दुस्तानी' सीखना अनिवाय माना जाता था।

कुछ दिनो के बाद धीर धीरे, गिलक्राइस्ट तथा कम्पनी के अधिकारियो का इस बात का भान होन लगा कि हि दुस्तानी या रेख्ता बिहार तथा ऊपरी प्राता (अपर प्राविन्सेज) क सामा य लागा की भाषा नही है। इस दे की लिपि नागरी है इसके सबध म पदाधिकारिया का काई भ्रम नही था। फाट विलियम कालेज म आरभ स ही फारसी सुलेखक के साथ नागरी सुलेखक भी नियुक्त होत थ।[३] गिलक्राइस्ट स्वय रोमन लिपि के समथक हाते हुए भी नागरी लिपि को फारसी लिपि की तरह ही महत्त्व देते थे। बताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी आदि पुस्तकें भाषा रेख्ता या 'हि दुस्तानी' हान क बावजूद नागरी लिपि म प्रकाशित की गयी थी।

गिलक्राइस्ट यद्यपि 'हिन्दुस्तानी के कट्टर समथक थ पर वे भी मानते थे कि हि दुस्तानी का मल हिंदो है और व हि दी के अस्तित्व को अस्वीकार नही कर सकते थे। उ होने लिखा था मूल म हि दुस्तानी और ब्रजभाषा का इतना घनिष्ठ सम्ब ध है कि मु शियो को ब्रजभाषा का बहुत ही अपूण ज्ञान हान क कारण इस अ ग क सबध म समुचित सहायता के अभाव म मुझे प्राय कठिनाई का सामना करना पडता है।[४] फिर भी गिलक्राइस्ट महोदय व्यक्तिगत पूर्वाग्रह क कारण हि दुस्तानी का समथन और हिंदी की उपेक्षा करते थे।

जहाँ तक इस्ट इ डिया कम्पनी क अधिकारिया का प्रश्न है वे हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के महत्त्व से अपरिचित नही थे। जस जस उत्तरी भारत मे कम्पनी की राज्य सीमा बढ़ती जाती थी, वम वैसे नागरी लिपि मे लिखित ब्रजभाषा या हिन्दवी का महत्त्व उनकी दृष्टि म बढ़ता जाता था। १८०४ ई० म लगभग समस्त उत्तरी भारत अँगरेजा के कब्जे म आ गया और २ माच १८०८ को कोट के डाइरेक्टरा ने गवनर जेनरल इन कौंसिल' से हृटफोट कॉलेज म पढ़नेवाले विद्यार्थिया क भारतीय शासनपद्धति म दक्षता प्राप्त करन

१ फार्ट विलियम कॉलेज (११) पृ० १४।
२ वपरिवद्, पृ० २२।
३ वहीवद्, पृ० ५०।
४ फोट विलियम कॉलेज (११), पृ० ५०।

के लिए नागराक्षरों में लिखित हिंदुस्तानी पत्र तथा हिंदवी भाषा की सामग्री माँगी।[१] १८०८ ई० में दिसम्बर में ये पत्र सामग्री सकलित करके कोर्ट के पास भेज दी गई।[२]

इसी प्रकार २२ मई १८११ ई० के पत्र में कोर्ट ने कम्पनी के कर्मचारियों के लिए संस्कृत का ज्ञान आवश्यक बताया था। डाइरेक्टरों की यह धारणा बिलकुल सही थी कि कम्पनी के कर्मचारी संस्कृत भाषा के ज्ञान द्वारा ही हिंदुओं के आचार विचार तथा रीति रिवाज आदि के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकते थे। साथ ही संस्कृत भाषा के ज्ञान के द्वारा उन्हें हिंदुओं में प्रचलित विभिन्न बोलियों को सीखने में आसानी हो सकती थी। इससे स्पष्ट है कि कम्पनी शासक इस बात से अपरिचित नहीं थे कि उत्तरी भारत की प्रधान और सामान्य भाषा हिंदवी (हिंदी) थी, हिंदुस्तानी या उर्दू नहीं।

१९वीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी का कितना प्रचार था इसका पता टॉ० गएवक के ८ सितम्बर १८१८ को कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के पास लिखित पत्र से चलता है। उन्होंने अधिकारियों को अपने पत्र द्वारा सूचित किया था कि बंगला भाषा राजमहल में आगे नहीं बोली या समझी जाती। राजमहल से आगे कम्पनी की राज्यसीमा के अन्त तक हिन्दुस्तानी या उसकी वे बोलियाँ जो ब्रजभाषा और पूर्वी भाषा के नाम से पुकारी जाती हैं सब जगह बोली या समझी जाती हैं। इसलिए फोर्ट विलियम कालेज और हटफोर्ट दोनों स्थानों पर ऐसे प्रबन्ध की आवश्यकता है जिससे भविष्य में न केवल हिन्दुस्तानी का वरन उन बोलियों का भी, अध्ययन हो, जिन्हें ब्रजभाषा और पूर्वी भाषा कहते हैं। अकेले पूर्वी भाषा ही बंगाल प्रान्त से अधिक विस्तृत भूभाग में बोली जाती है।[३] विलियम प्राइस ने भी बंगाल के उत्तर पश्चिम भाग में ब्रजभाषा का प्रचार ही अधिक बताया था।[४]

फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी यद्यपि उपेक्षित थी पर वही उत्तरी भारत की प्रमुख भाषा थी। टेलर ने अपने १४ फरवरी १८१२ ई० के पत्र में, जो कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स के पास लिखा गया था हिन्दी को भारत के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्त की भाषा के रूप में स्वीकार किया था।[५] २५ जुलाई १८१५ ई० को फोर्ट विलियम कॉलेज के वार्षिक अधिवेशन में भाषण देते हुए स्थानापन्न विजिटर आन० एन० बी० एडमान्स्टन ने कहा था —

'हिंदी का हिंदुस्तानी के साथ वही सम्बन्ध है जो ग्यारहवीं या बारहवीं शताब्दी की सैक्सन का आधुनिक अंगरेजी से है। ब्रजभाषा अथवा प्राचीन व्रजप्रदेश की भाषा इसी हिन्दी की एक बोली है। इस समय भारत की अधिकांश जनसंख्या की भाषा हिन्दी है जो विविध रूप धारण करने और अरबी, फारसी शब्दों के सम्मिश्रण के बाद उस शिष्ट और परिमार्जित भाषा का रूप धारण कर लेती है जिसे उर्दू अथवा हिंदुस्तानी को दरबारी भाषा कहते हैं। हिन्दी का अध्ययन भारतीय जनसमाज के सभी वर्गों के साथ व्यापार, समाज और व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करनेवालों के लिए महत्त्वपूर्ण ही नहीं

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृ० ७९-८०।
२ उपरिवत्, पृ० ८०।
३ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृष्ठ ८१।

आवश्यक भी है। कम्पनी के सैनिक अफसरों के लिए तो यह ज्ञान विशेष रूप से आवश्यक है क्योंकि बंगाल क्षेत्र के अधिकतर सिपाही या तो ब्रजभाषा का व्यवहार करते हैं अथवा ऐसी बोली का जिसका प्रधान अंग हिन्दी है। इसलिए यह अत्यन्त वांछनीय है कि ऐसी भाषा कालेज में भी सभी के अध्ययन का विषय बने।[1]

फिर भी १८१५ ई० तक कालेज में गिलक्राइस्ट की भाषानीति का ही अनुसरण होता रहा। बाद में विलियम प्राइस ने कालेज के पाठ्यक्रम में हिन्दी को स्थान दिलाने का सफल प्रयास किया। उन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप कालेज के पदाधिकारियों का ध्यान हिन्दी की ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने इसका महत्त्व समझा।

२८ दिसम्बर १८२४ ई० को प्राइस ने सामान्य (जनरल) विभाग के सरकारी मंत्री सी० लशिंगटन को एक पत्र भेजा था जिसमें उन्होंने भाषासम्बन्धी व्यवस्था की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा था— हिन्दुस्तानी जिस रूप में यह कालेज में पढ़ायी जाती है और जिसे उर्दू, दिल्ली जबान आदि या दिल्ली दरबार की भाषा के नाम से भी पुकारा जाता है, समस्त भारतवर्ष के उच्च श्रेणी के लोगों और विशेष रूप से मुसलमानों में बोलचाल के लिए काम में लायी जाती है। किन्तु, चूँकि इसे मुगलों ने चलाया था और अरबी फारसी तथा अन्य उत्तर पश्चिमी भाषाएं इसका मूल स्रोत हैं इसलिए अधिकांश में अब भी यह एक विदेशी भाषा समझी जाती है। खड़ी बोली ठेठ हिन्दी, हिन्दुई आदि विभिन्न नामों से प्रचलित ब्रजभाषा का सामान्यतः समस्त भारतवर्ष में प्रचार है, विशेषतः जयपुर, उदयपुर और कोटा की राजपूत जातियों में। इसके अतिरिक्त यह उन सभी श्रेणी के हिन्दुओं की बोली है जिनसे हमारी और देशी नरेशों की सेना के सैनिक आते हैं।[2]

तत्पश्चात् कालेज कौंसिल ने गवर्नर जनरल इन-कौंसिल से प्रार्थना की कि बाद में भर्ती होनेवाले विद्यार्थियों को फारसी ज्ञान के अतिरिक्त हिन्दुस्तानी भाषा के स्थान पर बंगला या ब्रजभाषा का, जिसे हिन्दी और हिन्दुई भी कहते थे, अध्ययन आवश्यक कर दिया जाए।[3] कौंसिल का यह अभिमत अधिकारियों द्वारा मंजूर कर लिया गया और इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी की पढ़ाई शुरू हुई।[4]

इस निर्णय का तारीफ करते हुए जुलाई १८२४ ई० को कालेज के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर भाषण देते हुए राइट आनरेबुल विलियम पिट लार्ड एमहर्स्ट ने कहा था— अब आपको लगातार छोटे से छोटे व्यक्ति के साथ न्याय करना पड़ता है और नीची से नीची श्रेणी के व्यक्तियों के अधिकारों, हितों और उनकी संस्थाओं की रक्षा करना पड़ता है। किन्तु यदि आप उनकी भाषा नहीं बोल सकते—फारसी और उर्दू उनके लिए उतनी ही विदेशी है जितनी अंगरेजी—तो अच्छे से अच्छा सरकारी कानून एवं मजाक ही

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (११), पृष्ठ १२४-५।
२ उपरिवत् (११) पृष्ठ ११५-१६।
३ उपरिवत्, पृष्ठ ११६।
४ उपरिवत्, पृष्ठ १२०।

रहेगा। ... इसलिये मैं पश्चिमी प्रान्तों में जानेवाले कर्मचारियों से आग्रह करता हूँ कि वे हिन्दी पर अधिकार प्राप्त करें।'[1]

दुर्भाग्यवश जब फोर्ट विलियम कॉलेज के पाठ्यक्रम में हिन्दी को समुचित स्थान मिला, तभी कॉलेज का अस्तित्व ही संकटग्रस्त हो गया। धीरे धीरे फोर्ट विलियम कालेज का कार्यक्षेत्र सरकारी नीति के फलस्वरूप संकीर्ण होता गया और १८५४ ई० में यह बिलकुल ही बन्द कर दिया गया। फलतः हिन्दी गद्य को फोर्ट विलियम कॉलेज का वह वरदान न मिला जो उर्दू और बँगला भाषाओं को प्राप्त हुआ था।

सरकारी कार्यालयों में हिन्दी और उर्दू का प्रयोग

जहाँ तक दफ्तरों की भाषा का प्रश्न है कंपनी ने अपने शासनकाल के आरम्भ में फारसी को सरकारी भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया किन्तु जनता में इस भाषा का प्रचार न होने के कारण शासनप्रबन्ध में कठिनाई होती थी। उसे दूर करने के लिए १८०३ ई० में सरकार की ओर से प्रत्येक जिले के कलक्टरों तथा न्यायाधीशों को आदेश दिया गया कि वे नये कानूनों को फारसी व नागरी भाषा को अक्षर में लिखाय के कचहरी में लटकावें।[3] धीरे धीरे सरकार को फारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता की कठिनाइयों का अधिकाधिक अनुभव होने लगा। अंततः कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स ने २९ सितम्बर सन १८३० ई० के आज्ञापत्र में यह स्पष्ट कर दिया कि "यहाँ के वासियों को जज की भाषा सीखने के बदले जज को भारतवासियों की भाषा सीखना बहुत सुगम होगा। अतएव हमलोगों की सम्मति है कि न्यायालयों की समस्त कारवाई उस स्थान की भाषा में ही हो।"[4]

पर इस आज्ञापत्र का पालन १८३७ ई० के पूर्व, वह भी विशुद्ध रूप में, न हो सका। सरकार ने सन १८३६ ई० में इस आशय के इश्तहारनामे निकाले कि सभी अदालती काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें। संयुक्त प्रांत के सदर बोर्ड की तरफ से निम्नलिखित इश्तहारनामा हिंदी में निकला था।[4]

इश्तहारनामे बोर्ड सदर—

"पच्छाँह के सदर बोर्ड के साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिये हुकुम दिया गया है कि सन् १२४४ की कुआर बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल अपनी हिन्दी की बोली में और फारसी के नागरी अच्छरन में लिख के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन

---

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृ० १२६।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७) पृष्ठ ४२०।

३ 'पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में मदरसे और प्राइमरी शिक्षा' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग — १८९८ ई०।

४ उपरिवत्, पृ० ४२९ ०।

अच्छरन मे लिखा हो तौने अच्छरन मे और हिन्दी बोली में उस पर हुकुम लिखा जायगा। मिती २६ जुलाई सन् ८३६ ई०।"

१८३७ ई० म अदालती भाषा म सबद्ध जो अधिनियम स्वीकृत हुआ उसके अनुसार हिन्दी हिन्दीप्रदेश की अदालती भाषा स्वीकार की गई। पर मुसलमानो तथा हिन्दू वकीलो और मुन्शियो के षडयंत्र तथा सरकार की उदासीनता के परिणामस्वरूप ऊपरी प्रांतो (अपर प्राविंसेज) की सरकारी अदालतो म उर्दू को स्थान प्राप्त हो गया। सरकारी अमले फारसी और हिन्दुस्तानी के जानकार और उन्ही म काम करने के अभ्यस्त थे। उन्होने एक तरफ तो हिन्दी सीखने का कष्ट न उठाया और दूसरी तरफ उर्दू म अरबी फारसी शब्दो और मुहावरो का अधिकाधिक प्रयोग आरम्भ कर दिया। इसके पहले कम से कम नागरी लिपि का प्रयोग सरकारी कामो म भी चलता था। पर इस अधिनियम के लागू होने के बाद अदालतो म नागरी लिपि बिलकुल ही उपेक्षित होने लगी। १८४० ई० के लगभग देवनागरी लिपि के स्थान पर फारसी का प्रयोग बहुलता से होने लगा।[१] इस प्रकार धीरे धीरे अदालतो म हिन्दी के स्थान पर अरबी फारसी शब्दो, वाक्याशो और मुहावरो से लदी उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रचार हो गया जो १८३७ के ऐक्ट २९ के आशय के विरुद्ध था।[२]

सन १८३७ ई० के बाद हिन्दुस्तानी या उर्दू भाषा ने जो रूप ग्रहण किया—उसका अस्तित्व यद्यपि पहले से भी विद्यमान था—उसमे विदेशीपन अधिक आ गया। उसकी शैली मुन्शियाना हो गयी तथा उसमे अरबी फारसी शब्दो का बाहुल्य रहने लगा। फारसीदाँ कर्मचारी जिस हिन्दुस्तानी का प्रयोग करते थे उस पर फारसी शैली, शब्दावली और मुहावरो का रंग बहुत ज्यादा रहता था। फारसी शब्दावली और मुहावरो के प्रयोग की प्रवृत्ति को रोकने के लिये सरकार की तरफ से भाषासम्बन्धी सशोधन के आदेश मिलते रहते थे, पर कर्मचारियो और अमलो की कृपा से उनका कार्यान्वयन नही हो पाता था। १० अप्रैल, सन् १८३० ई० म सदर दीवानी अदालत ने अरबी फारसी के क्लिष्ट प्रयोगो की निन्दा की और २८ अगस्त १८४० को प्रान्तीय सदर बोर्ड आफ रेवेन्यू ने भी इसी आशय को व्यक्त किया। पश्चिमोत्तर प्रदेश की सरकार ने ७ जनवरी १८५४ ई० के आदेश द्वारा क्लिष्ट उर्दू के स्थान पर सरल हिन्दुस्तानी के प्रयोगो को उचित बताया परन्तु उन आदेशो का बिलकुल ही पालन नही किया गया।[३] फारसी के अदालती भाषा न रह जाने से, ऐसा प्रतीत होता है उसका मोह सरकारी अमलो म और भी अधिक हो गया। यही कारण है कि १८३८ ई० के बाद हिन्दुस्तानी का जो रूप विकसित हुआ वह हिन्दी से अधिक दूर, फारसी के रंग म बिलकुल रँगा हुआ और क्लिष्ट था। १८३७ के पूर्व की हिन्दुस्तानी हिन्दी से अधिक दूर नही थी जैसा कि 'बैताल पचीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' 'चहार दरवेश' आदि की भाषा को देखने म ज्ञात होता है।

१ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१२) पृ० ३३२।
२ आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१२) पृ० ३०७।
३ खड़ी बोली का आन्दोलन (१६), पृ० ७४।

१८३७ ई० के पूर्व हिन्दुस्तानी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग भी होता था। धीरे धीरे फारसी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी का प्रचार अधिकाधिक होने लगा। १८४० ई० के लगभग हिन्दुस्तानी केवल फारसी लिपि में लिखी जाने लगी।[१] इस प्रकार खड़ी बोली का अरबी फारसी प्रधान रूप अदालती भाषा होकर सबके सामने आ गया और जीविका तथा सम्मान प्राप्ति के लिये उर्दू भाषा और फारसी लिपि का ज्ञान प्राप्त करना सबके लिये आवश्यक हो गया। स्कूलों में भी उर्दू की ही प्रधानता हो गयी। इस स्थिति का वर्णन करते हुए बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा था—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिन्दी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई। ... हिन्दी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।[२]

प्रसिद्ध हिन्दीप्रेमी अंग्रेज विद्वान फ्रेडरिक पिंकाट ने अयोध्या प्रसाद खत्री लिखित खड़ी बोली का पद्य नामक पुस्तक की भूमिका में सरकार की हिन्दी के प्रति उपेक्षा तथा अदालतों में हिन्दी के स्थान पर उर्दू के प्रयोग की निंदा करते हुए लिखा था कि "पश्चिमोत्तर प्रदेश के निवासी जिनकी यह भाषा कही जाती है इसे (उर्दू को) एक विदेशी भाषा की तरह स्कूलों में सीखने के लिये विवश किये जाते हैं।[३]

गार्सां द तासी के व्याख्यानों से पता चलता है कि उर्दू के अदालती भाषा स्वीकृत हो जाने के बाद भी कुछ दिनों तक सरल हिन्दी और नागरी अक्षरों में कानूनों और सरकारी आज्ञाओं के अनुवाद छपते रहे पर धीरे धीरे उर्दू के पक्षपातियों की कुचेष्टा के चलते, उनका छपना बिलकुल बंद हो गया।[४] विवेच्य काल में, अर्थात् १८७० ई० तक, अदालतों और सरकारी कार्यालयों में उर्दू का आधिपत्य बना रहा

यों तो आरम्भ में ही अंगरेज अधिकारियों का झुकाव उर्दू की ओर था, पर सर सय्यद अहमद तथा गार्सां द तासी के प्रभाव में अंगरेज अधिकारी उर्दू के और भी हिमायती हो गये। सन् १८६८ ई० में पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग के अध्यक्ष एम० एस० केम्पसन ने निम्नलिखित शब्दों में उर्दू के प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया था।[५]

यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।"

उपर्युक्त तथ्यों और विवेचन से यह स्पष्ट है कि विवेच्यकाल में हिन्दी सदा अंगरेज शासकों की उपेक्षा का शिकार बनी रही। १८३७ ई० के पूर्व कंपनी के उच्च अधिकारियों ने हिन्दी का महत्त्व समझा अवश्य था और उसे फोर्ट विलियम कालेज की शिक्षा में समुचित स्थान देने का प्रयत्न भी किया था पर उसके बाद हवा का रुख बदल गया

---

१ खड़ी बोली का आन्दोलन (१६), पृ० ३३५।
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० ४३१।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० ४४२।
४ वही, पृ० ४३४।
५ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० ४४४।

और अँगरेज शासक उर्दू के पक्षपाती हो गये। विवेच्यकाल में अंगरेजों के प्रोत्साहन से उर्दू गद्य की खूब उन्नति हुई जबकि हिन्दी गद्य उपेक्षित और अविकसित पड़ा रह गया।

जनजीवन में हिन्दी और उर्दू

फिर भी यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी उत्तरी भारत की सामान्य जनता की भाषा थी और सरकार की बड़ी से बड़ी उपेक्षा भी इस मिटा देने में समर्थ न थी। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पूर्व ही हिन्दी में गद्यरचना का सूत्रपात हो गया था। सन् १७४१ ई० में रामप्रसाद निरंजनी रचित भाषा योगवासिष्ठ तथा १७६१ ई० में मध्यप्रदेश निवासी प० दौलतराम द्वारा प्रस्तुत रविषेणाचार्य कृत जैन पद्म पुराण का भाषानुवाद इस बात के प्रमाण हैं कि १८०० ई० के पूर्व भारत में खड़ी बोली का प्रचार पर्याप्त मात्रा में था। पद्मपुराण की भाषा यद्यपि परिमार्जित नहीं है पर है यह स्वाभाविक खड़ीबोली ही, जिसका प्रचार उर्दू फारसी से सम्बन्ध न रखने वाली सामान्य जनता में था। यह ग्रन्थ जन समाज की रुचि का ध्यान से रखकर लिखा गया था अतः यह कहा जा सकता है कि उनके बीच इसी प्रकार की भाषा का प्रचार था।[1] तत्पश्चात् सन् १७७३ और १७८३ के बीच किसी लेखक ने मण्डोवर का वर्णन नामक पुस्तक लिखी थी जिसकी भाषा साधारण बोलचाल की थी।[2] १८०० ई० के लगभग मुंशी सदासुख लाल ने नासिकेतोपाख्यान की एक पुस्तक और इंशा अल्ला खाँ ने रानी केतकी की कहानी नामक पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। इसका अर्थ यह है कि १८०० के पूर्व जिस प्रकार मुसलमान और मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित हिंदू हिंदुस्तानी या उर्दू का प्रयोग करते थे उसी प्रकार प्रकृत खड़ी बोली का व्यवहार जिसमें संस्कृत, व्रजभाषा तथा अन्य हिन्दी बोलियों का भी योग पुट मिला रहता था उत्तरी भारत के हिंदू साधुसंत पंडित कथावाचक और महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। अंगरेजों ने अज्ञान तथा राजनीतिक कारणवश हिंदुस्तानी को प्रोत्साहन दिया पर वे आरम्भ में सामान्य जनता की इस भाषा की बिलकुल उपेक्षा नहीं कर सके थे। फोर्ट विलियम कालेज में उर्दू गद्यग्रन्थों के साथ हिन्दी ग्रन्थों की भी यद्यपि सीमित मात्रा में रचना हुई और बाद में वहाँ के पाठ्यक्रम में हिंदुस्तानी के स्थान पर हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य बनाया गया।

उत्तरी भारत में उर्दू फारसी से युक्त खड़ी बोली का ही अधिक प्रचार था इसका पता ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से भी चलता है। ईसाई पादरियों का उद्देश्य अपने मत का सामान्य जनता में प्रचार करना था। इस उद्देश्य से पादरियों ने अपने धर्म ग्रन्थों का अनुवाद भारत की कई भाषाओं में किया। बाइबिल का हिन्दी अनुवाद सर्वप्रथम विलियम केरे ने किया था। सन् १८०९ ई० में उन्होंने 'नये धर्म नियम' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया। इस सम्बन्ध में ध्यातव्य है कि ईसाई पादरियों ने सदासुख लाल और लल्लू जी लाल की संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली को ही अपना आदर्श माना हिन्दुस्तानी को नहीं। इस प्रसंग में एक घटना उल्लेखनीय है। केरे की अध्यक्षता में १८१३-१८१८ ई०

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास (श) पृ० ४११ १।
२ उपरिवत् पृ० ४१२।

में 'ओल्ड टेस्टामेंट' का अनुवाद अलग अलग हिस्सों में प्रकाशित हुआ। किंतु इस अनुवाद की भाषा में अनेक अरबी फारसी शब्दों का मिश्रण होने से यह आगरा और उसके आसपास के प्रदेश में स्वीकृत न हो सका। तत्पश्चात् बैप्टिस्ट मिशनरी सोसायटी के चम्बरलेन ने उसकी भाषा में आवश्यक संशोधन प्रस्तुत कर उसे फिर प्रकाशित किया।[1] विलियम हंटर कृत हिंदुस्तानी बाइबिल की, जो १८०८ ई० में ही प्रो० गिलक्राइस्ट के हिंदुस्तानी प्रेस में छप चुकी थी, भी पश्चिमोत्तर प्रदेश में यही गति हुई। चम्बरलेन ने आगरा, दिल्ली, मथुरा, बनारस आदि स्थानों में इस बाइबिल के सहारे प्रचार कार्य करने के अनंतर केरे को लिखा कि केवल नागरी रूप उर्दू इस क्षेत्र में नहीं चल सकती। उसने लिखा था कि हिंदी या हिंदवी क्षेत्र में अनेक समृद्ध बोलियाँ हैं जैसे ब्रज, अवधी, कन्नौजी, उदयपुरी, जैपुरी आदि। उसने यह भी सूचना दी थी कि ब्रजभाषा बंगला की तरह मधुर और समृद्ध भाषा है।[2] इससे यही पता चलता है कि सामान्य जनता की भाषा हिंदुस्तानी नहीं, संस्कृत शब्दों में मिलीजुली खड़ी बोली थी। इसी भाषा में साधारण हिन्दू जनता अपने कथापुराण कहती सुनती आ रही थी।[3] बाद में भी ईसाइयों की पुस्तकें और पुस्तिकाएँ बराबर निकलती रहीं जिनकी भाषा में फारसी और अरबी शब्दों का यथासंभव बहिष्कार और ठेठ ग्रामीण शब्दों का धड़ल्ले प्रयोग मिलता है।[4] बैप्टिस्ट पादरियों ने गिलक्राइस्ट की विचारधारा के प्रतिकूल संस्कृतनिष्ठ हिंदी को उत्तरी भारत की प्रधान भाषा के रूप में स्वीकार किया तथा इसी भाषा में अपनी धर्मपुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित किये।

सन् १८४६ ई० में जबकि अदालतों और सरकारी कार्यालयों में उर्दू का बोलबाला हो चुका था, बैप्टिस्ट मिशन, दिल्ली के प्रचारक जे० टी० थाम्पसन ने अपना हिंदी-अँगरेजी कोश प्रकाशित किया, जिसकी भूमिका में उन्होंने लिखा कि 'बँगला आदि अन्य पचीसों भारतीय छोटी बड़ी भाषाओं की तरह हिंदी की पृष्ठभूमि संस्कृत है, स्पष्टतः वह भाषा नहीं जिसमें अरबी फारसी की प्रधानता हो।'[5]

सन् १८५१ ई० में 'प्रेमसागर' की भूमिका में एडवर्ड बी० ईस्टविक ने लिखा था, "जब हम यह स्मरण करते हैं कि हिन्दी भारत के वृहत्तम भाग की भाषा है, जो अपनी विभिन्न बोलियों में सभी ग्रामीणों और कृषकों द्वारा बिहार, अवध, नेपाल, बुंदेलखंड, राजपूताना के एक बड़े भाग, सिंध और पंजाब में बोली जाती है *तो यह नहीं सोचा जा सकता* कि इसके अध्ययन का महत्व बढ़ा चढ़ाकर कहा जाता है। अब बंगाल सरकार ने निर्देश दिया है कि पश्चिमोत्तर प्रांतों में जानेवाले सभी पदाधिकारियों को हिंदी की परीक्षा में उत्तीर्ण होना होगा। सैनिक पदाधिकारियों के लिए यह और भी आवश्यक है।[6]

१ आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (२८), पृ० ४६८।
२ श्री कृष्णाचार्य, 'ईसाई पादरियों की हिंदी सेवा' आकाशवाणी, दिल्ली से २ नवम्बर १९६२ को प्रसारित।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० ४२२।
४ उपरिवत्, पृ० ४२३-२५।
५ श्री कृष्णाचार्य 'ईसाई पादरियों की हिन्दी सेवा' आकाशवाणी, दिल्ली से २ नवम्बर १९६२ को प्रसारित।
६ प्रेमसागर, १८५१, भूमिका।

इससे स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत की सर्वाधिक प्रचलित भाषा हिंदी ही थी, उर्दू नहीं।

विवेच्य अवधि (१८०० १८६९) के अंतिम दशक में, जबकि हिंदी उर्दू का विरोध अपनी चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था, पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय हिंदी की रक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। सन् १८६५ ई० में अंजुमन लाहौर के अधिवेशन में भाषण देते हुए सैयद हादी हुसैन खाँ ने उर्दू को ही देश में प्रचलित होने योग्य बताया। उसी सभा की दूसरी बैठक में नवीन बाबू ने खाँ साहब के व्याख्यान का खण्डन करते हुए कहा[1] उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा केवल मुसलमानों की है। उसमें मुसलमानों ने व्यर्थ बहुत से अरबी फारसी के शब्द भर दिए हैं।

१८६६ ई० में ही इलाहाबाद इंस्टिट्यूट के अधिवेशन में अनेक वक्ताओं ने यह विचार व्यक्त किया था कि अदालतों में उर्दू जारी होने का फल यह हुआ है कि अधिकांश जनता—विशेषतः गाँवों की—जो उर्दू से सर्वथा अपरिचित है बहुत कष्ट उठाती है इसलिए हिंदी का जारी होना बहुत आवश्यक है।[2] १८६६ ई० में ही श्री एफ. एस० ग्राउस ने सम अब्जेक्शन्स टू दि न्यू माडर्न स्टाइल आफ आफिशियल हिंदुस्तानी शीर्षक निबंध जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी में छपाया था जिसमें उन्होंने राजा शिव प्रसाद का यह कथन उद्धृत किया था कि कचहरी की भाषा देश की भाषा नहीं है।[3]

वस्तुतः इस समय भी जैसा कि सैयद अब्दुल्ला ने सिंहासन बत्तीसी के १८६९ ई० के नवीन और परिष्कृत संस्करण की भूमिका में स्वीकार किया था हिंदी का प्रचार उर्दू की अपेक्षा अधिक था। उन्होंने लिखा था हिंदी देश की मूल भाषा है और इसका साहित्य विभिन्न और असंख्य लेखकों द्वारा समृद्ध बनाया गया है। हिंदू राजकुमारों और राजाओं द्वारा शासित सभी हिंदी राज्यों में हिंदी का व्यवहार होता है और इसी भाषा में उनके कानूनी कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। जमींदार तथा किसान इसी भाषा में बात करते हैं और शुद्ध तथा परिष्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः भारत में इस भाषा का वही स्थान है जो यूरोपीय देशों में फ्रेंच का है। हिंदी जिस प्रकार तृतीय एडवर्ड के काल में सैक्सन थी देश की प्रमुख भाषा है। यह उस देश की भाषा है जिसका सम्बन्ध संस्कृत से है और इसका अपना विशाल साहित्य है। समस्त उत्तर पश्चिमी प्रांतों में प्रयुक्त होने के साथ साथ यह बहुत दूर तक बम्बई प्रेसिडेंसी के निवासियों और दक्षिणी जिलों के निवासियों द्वारा भी बोली जाती है। गुजराती और मराठी से यह बहुत मिलती जुलती है और जिस किसी को भी पूरब की प्रचलित हिंदी भाषाओं का थोड़ा भी ज्ञान है वह बड़ी आसानी से इस भाषा पर अल्पकाल में आधिपत्य प्राप्त कर सकता है। जो भी भारत जाता है विशेष कर सिविल सर्विस के सैनिक पदाधिकारी व्यापारी और यात्री उनके लिए हिंदी का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।[4]

---

१ हिंदी साहित्य का इतिहास (७) पृ० ४४।
उपरिवत् पृ० ४४१।
खड़ी बोली का आन्दोलन (१६) पृ० ८३।
४ सिंहासन बत्तीसी बाई लल्लू लाल कवि, ए. यू. एडीशन बाई सैयद अब्दुल्ला। लन्दन १८६९। (राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता में उपलब्ध) प्रिफेस।

इस कथन से विवेच्य अवधि में हिन्दी के प्रचार का पता अच्छी तरह से चलता है।

सन् १८६८ ई० में राजा शिवप्रसाद ने कचहरियों में नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए एक स्मरणपत्र सरकार की सेवा में भेजा था। इस स्मरणपत्र में उन्होंने बताया था कि मुसलमान जब भारत आये उस समय यहाँ सर्वत्र नागरी लिपि का व्यवहार होता था। उनके आने पर फारसी लिपि और भाषा को राजकीय गौरव मिला और धीरे धीरे शासन प्रभाव तथा जीविका के लिए फारसी आवश्यक समझी जाने लगी। फिर भी फारसी कभी जनता की भाषा न हो सकी। मुगलों का अन्त होने पर उर्दू भाषा का प्रचार हुआ और सरकार ने इस भाषा तथा लिपि को हिन्दुओं के ऊपर लाद दिया।[१] सरकार ने राजा शिव प्रसाद के स्मरणपत्र पर कोई ध्यान न दिया और उर्दू अदालतों की भाषा बनी रही।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल (१८००–१८६९ ई०) में यद्यपि हिन्दी राजकीय उपेक्षा का शिकार बनी रही पर इसे उत्तरी भारत के विशाल जनसमूह की मातृभाषा, पारस्परिक व्यवहार की भाषा और सांस्कृतिक भाषा होने का गौरव प्राप्त था। सरकारी कार्यालयों, अदालतों तथा शिक्षणसंस्थाओं में अँगरेजी और एक हद तक उर्दू का, प्रवेश था, पर ये भाषाएँ अल्पसंख्यकों की भाषाएँ थीं। बहुसंख्यक जनता, जो हिन्दीभाषी थी, इन भाषाओं से अपरिचित थी। सरकारी कार्यालयों और अदालतों में हिन्दी उपेक्षित थी। अँगरेज पदाधिकारी राजनैतिक और धार्मिक कारणों से मुसलमानों को खुश रखने के लिए उर्दू का समर्थन करते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह, प० श्रद्धाराम फुल्लौरी, बाबू केशव चन्द्र सेन स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि शिक्षाशास्त्रियों और महात्माओं की चेष्टा के फलस्वरूप हिन्दी आन्दोलन का जन्म हुआ। यद्यपि इस आन्दोलन का परिणाम, सरकारी कार्यालयों और अदालतों में हिन्दी के प्रवेश के रूप में, विवेच्य काल में नहीं दिखाई पड़ा पर इसके फलस्वरूप हिन्दी पढ़नेवालों तथा उसमें रुचि लेनेवालों की संख्या में वृद्धि हुई। निस्सन्देह यह वृद्धि अल्प थी, पर इस काल के साहित्य पर हिन्दी पाठकों की इस अल्प वृद्धि की छाप भी भूकम्पलेख की तरह अंकित है।

(२) हिन्दी प्रदेश की आर्थिक स्थिति और पाठकवर्ग

प्रथम परिच्छेद में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि पठनरुचि पर पाठकों की आर्थिक अवस्था का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। जिस व्यक्ति की आर्थिक स्थिति सतोषजनक नहीं, वह न तो शिक्षा प्राप्त कर सकता है और न पठनार्थ पुस्तकें ही खरीद सकता है। पुस्तकालयों से पुस्तकें प्राप्त करना भी सामान्यतः अच्छी आर्थिक स्थिति के लोगों के लिए ही संभव है। जो लोग अपने तथा अपने परिवार के लिए भरपेट भोजन और वस्त्र का प्रबंध नहीं कर सकते, उनके लिए पढ़ना एक दुर्लभ विलास है। इस दृष्टि से, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन चरणों में हिन्दी पाठकों की स्थिति का आँकन तथा समझने के लिए भारत की, विशेष कर उत्तर भारत की, आर्थिक अवस्था पर विचार कर लेना आवश्यक है।

१ खड़ी बोली का आन्दोलन (१६), पृ० ८६

इस बात को सभी अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि उन्नीसवीं शताब्दी का भारत आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ था। १८ वीं शताब्दी के पूर्व भारत एक महान औद्योगिक कृषिप्रधान देश था तथा भारतीय बुनकरों द्वारा निर्मित वस्त्र एशिया और यूरोप के बाजारों में शोभा पाते थे। मुगल बादशाहों की अतिशय विलासप्रियता अपव्यय और कृषि पर भारी करों के बावजूद देश की जनता खुशहाल थी और समृद्ध व्यक्तियों की संख्या भी अधिक थी। पर ईस्ट इंडिया कम्पनी और ब्रिटिश संसद ने अपनी स्वार्थपूर्ण तथा निर्मम व्यावसायिक, कृषीय एवं राजनीतिक नीति के कारण १०० वर्षों के भीतर भारत को एक दरिद्र और साधनहीन देश के रूप में परिणत कर दिया। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशक और उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के बीच ईस्ट इंडिया कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य भारत को ग्रेट ब्रिटेन के उद्योगों पर आश्रित बना देना तथा उसे केवल कच्चेमाल के उत्पादक के रूप में परिणत कर देना था। इस नीति का पालन अत्यन्त निर्दयतापूर्वक किया गया। भारतीय शिल्पियों को कम्पनी के कारखानों में जबरदस्ती काम करने के लिये बाध्य किया गया। बुनकरों पर अनेक प्रकार की पाबन्दियाँ लगायी गयीं। भारतीय वस्त्र उद्योग पर कड़े कर लाद दिये गये जबकि इंगलैंड से आयातित होनेवाले कपड़ा को करमुक्त रखा गया या उनपर नाममात्र का कर लगाया गया। इस प्रकार, एच० एच० विल्सन के शब्दों में ब्रिटिश उद्योग राजनीतिक अन्याय के बल पर भारतीय उद्योग को दबाने में समर्थ हुआ। परिणामस्वरूप लाखों भारतीय शिल्पी बेकार हो गये। भारतीयों की आय का एक बहुत बड़ा स्रोत नष्ट हो गया और लोगों के जीवननिर्वाह का एकमात्र साधन कृषि रह गया। ब्रिटेन का बना हुआ माल बिना कर के भारत में बिकता था जबकि भारत की बनी वस्तुओं पर इतना कर लाद दिया गया था कि वे विदेशी माल से अधिक महँगी पड़ जाती थीं। कम्पनी भारतीय बुनकरों को नाना प्रकार से सताकर इनसे अपने लिये वस्त्र निर्माण कराती थी। इस प्रकार कुछ ही दिनों में देश के बुनकर सरकारी नियंत्रण में आ गये।[१] श्री रमेश दत्त के अनुसार १८३३ ई० तक भारत का वस्त्रउद्योग प्रायः नष्ट हो गया था। लोग इंगलैण्ड के बने सस्ते कपड़ों का प्रयोग करने लगे थे। देश के कागज चमड़ा रंग आदि के उद्योग भी समाप्त हो गये थे।

सन् १८४८ ई० में हाउस आफ कामन्स द्वारा नियुक्त सेलेक्ट कमिटी के समक्ष अपना विचार प्रस्तुत करते हुए जान बगशा (John Bagshaw) ने बताया था कि सन् १८१६-१७ में भारत न केवल अपनी विशाल जनसंख्या के लिये वस्त्र निर्माण कर लेता था वरन् १६५९४३८ पौंड का सामान निर्यात भी करता था। ३० वर्षों के बाद यह सारा निर्यात समाप्त हो गया और भारत को ५० लाख स्टर्लिंग पौंड का सूती सामान ग्रेट ब्रिटेन से मँगाने को बाध्य होना पड़ा।[२] १८४९ से १८५७ के बीच सूती सामान का आयात दुगुने से भी अधिक हो गया। भारतीय सिल्क का निर्यात, जो इंगलैंड के बुनकरों के लिये कभी ईर्ष्या का विषय था, १८५७-५८ ई० के बाद घटने लगा और अंगरेजी राज्य में फिर यह कभी उन्नत नहीं हो सका। भारतीय वस्त्र उद्योग के नष्ट होने का क्रम अठारहवीं शताब्दी के

१ एकॉनॉमिक हिस्टरी (५) पृ० २६५।

२ एकॉनॉमिक हिस्टरी (५) पृ० १२५।

उत्तरार्ध में लेकर १८६९ ई० तक लगातार चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि सभी बुनकर कृषक मजदूर बनने को बाध्य हो गये और कृषि पर जनसंख्या का बोझ बढ़ गया।[1]

अँगरेजों के भारत आने से पूर्व देश में आंतरिक व्यापार की व्यापक शृंखला विद्यमान थी। भारतीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग आंतरिक व्यापार में नियुक्त था। अँगरेजों ने केवल भारतीय उद्योगों को विनष्ट करने का ही प्रयास नहीं किया, वरन् देश का आंतरिक व्यापार भी भारतीयों के हाथ से छीन कर अपने हाथों में कर लिया जिसके फलस्वरूप बहुत से लोग, जो व्यापार से अपनी जीविका चलाते थे, बेकार हो गये और कृषक मजदूर बनने को बाध्य हुए। अपने शासनकाल के आरम्भ में कम्पनी के गुमाश्ते छोटे छोटे व्यापारियों पर अमानुषिक अत्याचार करते थे तथा भारतीयों के आंतरिक व्यापार मार्ग में अनेक प्रकार की बाधाएँ पहुँचाते थे।[2]

जहाँ भारतीय व्यापारियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर सामान ले जाने के लिए अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे, वहाँ कंपनी के अँगरेज कर्मचारी जिन्हें स्वतंत्र व्यापार करने का भी अधिकार मिला हुआ था, बिना कोई कर दिये व्यापार करते थे। इस अन्याय को रोकने का प्रयत्न हेनरी वाजिटार्ट (Henry Vansittart) और वारेन हेस्टिंग्स ने किया था पर उन्हें सफलता न मिली। १८३३ ई० तक यह स्थिति ज्यों की त्यों विद्यमान रही। १८३३ ई० में ईस्ट इंडिया कंपनी ब्रिटिश सरकार द्वारा व्यापार करने से वंचित कर दी गयी और तब कहीं जाकर उपर्युक्त स्थिति में कुछ सुधार हुआ।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि उद्योगों और आंतरिक व्यापार के नष्ट हो जाने के कारण अधिकांश लोग जीविकानिर्वाह के लिए कृषि पर आश्रित हो गये। परन्तु अँगरेजी शासन ने इस क्षेत्र में भी भारतीयों का पिंड नहीं छोड़ा। ईस्ट इंडिया कंपनी भारत को एक बहुत बड़ी और समृद्ध जमींदारी समझती थी और यहाँ से अधिक से अधिक धन प्राप्त कर इंगलैंड भेजना ही उसका एकमात्र उद्देश्य था। भारतीयों के सुख आराम की उसे कोई चिन्ता नहीं थी। भूमिकर का अत्यधिक होना इस नीति का स्वाभाविक परिणाम था। सन् १७९३ और १८२२ ई० के बीच भूमिकर बंगाल में विशुद्ध मालगुजारी का ९० प्रतिशत और उत्तरी भारत में ८० प्रतिशत था।[3] यह सत्य है कि ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र में मुस्लिम शासकों का अनुगमन कर रही थी, जो अत्यधिक भूमिकर वसूलते थे पर अंतर यह था कि मुस्लिम शासक कभी भी पूरा कर वसूल नहीं कर पाते थे, जबकि ब्रिटिश शासक कठोरतापूर्वक मनमाना कर वसूल कर लेते थे। १७६४ ई० में बंगाल के अंतिम मुस्लिम शासक ने ८१७५५३ पौंड कर वसूल किया था। तीस वर्षों के भीतर ब्रिटिश शासकों ने उसी प्रांत में २६८०००० पौंड कर प्रतिवर्ष वसूल किया। १८०२ ई० में अवध के नवाब ने इलाहाबाद और उत्तर भारत के कुछ अत्यन्त सम्पन्न जिले ब्रिटिश सरकार को समर्पित किये। नवाब इन जिलों से १३५२३४७ पौंड कर वसूलता था, जबकि तीन वर्षों के भीतर कंपनी शासकों ने इन जिलों से प्रतिवर्ष १६८२३०६ पौंड

१ एडवर्ड्स, ... हिस्टरी, (५), पृ० २४४।
२ उपरिवत् (५), पृ० २४।
३ उपरिवत् (५) भूमिका १

भूमिकर वसूल करना प्रारंभ कर दिया।[1] सन १८३० ई० में कर्नल ब्रिग्स ने लिखा था कि भारत में जितना भूमिकर वसूल किया जाता है, उतना यूरोप और एशिया की कोई भी सरकार वसूल नहीं करती।[2] कंपनी के निदेशक अधिकाधिक मात्रा में कर की माँग करते थे और कर्मचारी निर्दयतापूर्वक जनता से कर वसूलते थे। १८०३ ई० के मराठा युद्ध ने उत्तरी भारत को प्राय विध्वस कर दिया था, तिस पर कंपनी ने कोढ़ में खाज की तरह जो कड़ा भूमिकर लगाया उसने नागों की अवस्था को सुधरने का कोई मौका नहीं छोड़ा। परिणामत १८०४ ई० में उत्तर भारत में एक व्यापक और भयानक अकाल पड़ा, जिससे लाखों व्यक्ति मर गये।[3]

विलियम बेंटिंक ने अपने शासनकाल में भूमि कर की नयी व्यवस्था आरंभ की, जिससे जमीदारों और कृषकों को कुछ राहत मिली। १८२२ ई० में उत्तरी भारत में विशुद्ध मालगुजारी का ८३% भूमिकर के रूप में वसूल करने का निश्चय किया गया था। लार्ड विलियम बेंटिंक ने इसे घटाकर ६६% कर दिया तथा भूव्यवस्था ३० वर्षों के लिये कर दी। फिर भी जनता का कष्ट कम नहीं हो सका क्योंकि मालगुजारी का निर्धारण पदाधिकारियों द्वारा मनमाने तौर पर किया जाता था।[4]

कुल मालगुजारी का ६६% भूमिकर भी अत्यधिक था और इसे देने के बाद किसानों के पास जीविकानिर्वाह के लिये बहुत कम साधन बच पाता था। अत १८५५ ई० में 'सहारनपुर नियम' के अनुसार उत्तरी भारत में भूमिकर कुल मालगुजारी का आधा निश्चित किया गया। पर व्यवहार में इस नियम की सदा अवहेलना की गई। उत्तरी भारत और मध्य प्रांत में, जहाँ भूमिकर जमीदारों के माध्यम से वसूल किया जाता था सदा ही किसानों को मालगुजारी के ५० प्रतिशत से बहुत अधिक भूमिकर के रूप में देना पड़ता था।[5] भूव्यवस्था पदाधिकारी भूमिकर प्रचलित मालगुजारी के आधार नहीं, बल्कि कितनी मालगुजारी होनी चाहिए इसके आधार पर निश्चित करते थे।[6] और इसप्रकार किसानों के पास उनकी मजदूरी से अधिक नहीं बच पाता था।

उक्त विवरणों से स्पष्ट है कि विवेच्य काल में किसानों की स्थिति नितांत चिंताजनक थी। भूमिकर की अधिकता तथा कृषिसंबंधी सुविधाओं विशेषकर सिंचाई की सुविधा, के न रहने के कारण किसानों की हालत नितान्त दयनीय थी। यदि किसी वर्ष वर्षा नहीं होती थी तो उन्हें भूखा मरने के सिवा और कोई चारा नहीं था क्योंकि सरकार भूमिकर में कोई छूट नहीं देती थी।

ब्रिटिश सरकार का एकमात्र उद्देश्य भारत से अधिक से अधिक धन लाकर इंगलैंड को समृद्ध बनाना था। उद्योग व्यापार और भूमिकर के माध्यम से तो ब्रिटिश सरकार

१ एकॉनॉमिक हिस्टरी (५), भूमिका, I\

२ उपरिवत्।

३ उपरिवत्, पृ० १७३।

४ एकॉनॉमिक हिस्टरी (६), पृ० ३ ।

५ उपरिवत्, पृ० ०८।

६ उपरिवत्, पृ० ०७।

भारत को लूटती ही थी, कई अन्य तरीका से भी भारत के धन से इगलैंड का घर भरा जाता था। इनमे एक तरीका थो, जिसे 'होमचाज' की सज्ञा दी गयी थी। इस 'होमचाज' के रूप म भारत के राजस्व का लगभग ५०% प्रतिवष इगलैंड के खजाने म चला जाता था। सन १८८८ ई० मे हाउस ऑफ कामस द्वारा नियुक्त सलेक्ट कमिटी के समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए जान बगशा (John Bagshaw) ने बताया था कि भारतवष के राजस्व से प्रतिवष ३० लाख स्टलिंग राशि इस्ट इडिया कपनी के होमचाज के भुगतान के रूप में ली जाती है।[१] १८८२–८७ ई० म ३५ लाख स्टलिंग पौंड होमचाज के रूप म इगलैंड भेजा गया था। १९००–१९०१ ई० म होमचाज के रूप म ७० लाख स्टर्लिंग स भी अधिक राशि इगलैंड भेजी गयी।[२]

अंगरेज पदाधिकारियो के भारी वेतन के रूप म भी भारत का अधिकाश धन इगलड जाता था। राज्य के सभी उच्च पद अँगरेजा को दिये जाते थे। कपनी शासन के आरभ म जब कभी कोई नया व्यक्ति नवाबी प्राप्त करता था, तो उस कपनी के पदाधिकारियो को उपहारस्वरूप भारी रकम देनी पडती थी, जिसका बोझ अन्तिम रूप से सामान्य जनता पर पडता था।[३] कपनी के लाभ के रूप म तथा उसके द्वारा ससार के अन्य भागो मे किये गये व्यय को पूरा करने के लिये भी भारत के धन का एक बहुत बडा अश इगलैंड चला जाता था। देश के आतरिक युद्धा का खच ता जनता के सिर पर पडता ही था, विदेशा से होनवाले युद्धा का खच भी भारतीय जनता को ही पूरा करना पडता था। १८३९ ई० के प्रथम अफगान युद्ध का सारा व्यय, जिसम अतत अँगरेजा को बुरी तरह मुँहकी खानी पडी थी, भारतीय जनता को वहन करना पडा था। इस युद्ध का खच १५० लाख स्टर्लिंग था।[४] १८५७ ई० के स्वातन्त्र्य सग्राम को दबाने म जो व्यय हुआ उसका बोझ भारत को ही उठाना पडा था। विद्रोह को दबाने के लिये जो ब्रिटिश सेना भारत आयी थी उसका खच इगलैंड ने भारत सरकार से निलज्जतापूवक वसूल किया। १८५७ ई० म इगलैंड के सम्राट ने इस्ट इडिया कपनी से भारत का साम्राज्य खरीद लिया और इस क्रयमूल्य का बोझ भारत के सिर पर डाल दिया गया।

मजेदार बात यह थी कि ब्रिटिश सरकार जो धन भारत स वसूल नही कर पाती थी, उसे वह उस पर कज के रूप म डाल देती थी। उपयुक्त व्यय के कारण भारत पर इगलैंड के कज म दिनोदिन वृद्धि होती जाती थी और भारतीय जनता को उसके सूद के रूप म प्रतिवष भारी रकम चुकानी पडती थी।[५] १८५६ ५७ ई० म भारत पर ५९५ लाख स्टर्लिंग कज था। चू कि १८५७ ई० के विद्रोह को दबाने का खच भारत पर डाल दिया गया, अत १८६० ई० म यह कज १००० लाख स्टर्लिंग स भी अधिक हो गया।

---

१ एकोनॉमिक हिस्ट्री, बुक (६), पृ० ९२१।
२ उपरिवत् पृ० १७३।
३ एकोनॉमिक हिस्ट्री, (५), पृ० ३३।
४ एकोनॉमिक हिस्ट्री बुक I, (६) पृ० १०।
५ उपरिवत्, पृ० २१८।

१८६७ ई० में ग्रेट ब्रिटेन और अबीसीनिया में युद्ध हुआ जिसके व्यय का एक बड़ा अंश भारत से वसूल किया गया। इस प्रकार १८७० ई० में भारत का सार्वजनिक कर्ज १०२० लाख स्टर्लिंग हो गया जिसका सूद भारतीय जनता प्रतिवर्ष देने को बाध्य थी।

इन तथ्यों से सिद्ध है कि ब्रिटिश सरकार भारतीय धन की अन्तिम बूँद तक निचोड़ लेने का प्रयास करती थी। इस अवधि में देश बिलकुल दरिद्र हो गया और अनेक अकाल पड़े। १८०३ तथा १८०४ ई० में बम्बई तथा उत्तर भारत में, १८१३ ई० में फिर बम्बई में तथा १८०७, १८२४ और १८३३ ई० में मद्रास में अकाल पड़े। १८३७ ई० में उत्तरी भारत को एक भयानक अकाल का सामना करना पड़ा। इस अकाल के सम्बन्ध में जान लारेंस ने लिखा था कि मैंने अपने जीवनकाल में ऐसा सम्पूर्ण विनाश जैसा कि हाँसी और रोहतक परगनों में दिखायी पड़ा नहीं देखा है।[1] उत्तर भारत में १८६० ई० में फिर अकाल पड़ा जो अपनी व्यापकता और भयंकरता में अद्वितीय था। इस अकाल में दिल्ली, आगरा, इलाहाबाद तथा अन्य स्थानों को अपार क्षति हुई।[2] १८६६ और १८६९ ई० में पुनः लोगों को अकाल का सामना करना पड़ा।

जिस देश में ७० वर्षों के भीतर १० अकाल पड़ें, जहाँ के उद्योगधंधे और व्यापार एक विदेशी सरकार द्वारा अपनी स्वार्थसिद्धि के निमित्त नष्ट कर दिये जाएं, जहाँ दैनिक उपयोग के सामान विदेशों से मंगाने पड़ें, जहाँ किसानों से भूमिकर के रूप में इतनी अधिक राशि वसूल कर ली जाए कि उन्हें मजदूरी के अतिरिक्त कुछ प्राप्त न हो, वहाँ के लोगों की आर्थिक स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। फिर भी इस काल में किये गये आर्थिक दशा सम्बन्धी कुछ सर्वेक्षणों पर दृष्टिपात करना उपयोगी होगा। १८०७ ई० में डा० बुकानन (Dr Buchanan) ने सरकार के आज्ञानुसार उत्तरी भारत के कुछ जिलों की आर्थिक स्थिति का सर्वेक्षण किया जिसके अनुसार उस समय पटना सिटी और बिहार जिले में एक हलवाहे की वार्षिक मजदूरी १६ रुपये से लेकर २२ रुपये तक थी। निरौनी और रोपनी करने तथा पानी पटानेवाले मजदूरों को प्रतिदिन ३ या ४ पक्के सेर मजदूरी मिलती थी।[3] सूत कातने का अधिकांश काम स्त्रियाँ करती थीं। प्रत्येक व्यक्ति को सूत कातने से प्रतिवर्ष ७ रुपये २ आने ८ पाई की आय होती थी जिसमें रूई आदि का खर्च निकाल कर प्रतिवर्ष उन्हें ३ रुपये १२ आने की बचत होती थी।[4]

कपड़ा बुनने का काम असंख्य लोग करते थे। एक करघे पर जिसमें तीन आदमी काम करते थे प्रतिवर्ष १०८ रुपये की बचत होती थी अर्थात् प्रत्येक जुलाहे की वार्षिक आय ३६ रुपये थी। मोटा कपड़ा बुननेवालों की जिनकी संख्या में अधिकता थी आय २८ रुपये प्रतिवर्ष थी। तसर सिल्क बनानेवालों की वार्षिक आय ३३ रुपये से ४० रुपये के बीच होती थी। डॉ० बुकानन ने शाहाबाद, भागलपुर, गोरखपुर, दिनाजपुर, पूर्णियाँ आदि

१ इकॉनॉमिक हिस्ट्री (५) पृष्ठ ४३०-३१।
२ इकॉनॉमिक हिस्ट्री बुक I (६) पृष्ठ ७३।
३ इकॉनॉमिक हिस्ट्री (५), पृष्ठ २३४।
४ उपरिवत्, पृष्ठ २३५।

जिला की आर्थिक स्थिति का भी सर्वेक्षण किया था और वहाँ की स्थिति भी पटना और विहार जिला से भिन्न नहीं पायी थी।[1]

सन् १८१३ ई० में कम्पनी के चार्टर के पुनर्नवीकरण के पूर्व भारत की आर्थिक और व्यापारिक स्थिति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए एक परिपृच्छा का आयोजन की गयी था जिसके समक्ष अपने विचार व्यक्त करते हुए टामस मनरो ने बताया था कि भारत में कृषिश्रम का औसत पारिश्रमिक प्रतिमाह ४ और ६ शिलिंग के बीच था। इसी परिपृच्छा के समक्ष अपना मत प्रस्तुत करते हुए जान स्ट्रेची ने बताया था कि एक भारतीय मजदूर की मजदूरी प्रति माह २½ शिलिंग से ७½ शिलिंग थी।[2] १८४० ई० में ब्रिटिश भारत में एक मजदूर को सामान्यतः २ आना प्रतिदिन मजदूरी मिलती थी।[4]

निष्कर्ष

उपर्युक्त मीमांसा से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल में देश की आर्थिक स्थिति नितान्त चिन्ताजनक थी। भारतीय जनसंख्या का एक बहुत बड़ा समुदाय प्राण बचाये रखने की सीमा-रेखा पर जीवननिर्वाह करता था। जिस देश के निवासी इतने निर्धन हों, जहाँ के श्रमिकों की दैनिक आय दो आना मात्र हो, जहाँ अकाल का भय सदा नंगी तलवार की तरह सिर पर लटका रहता हो, जहाँ किसानों की सारी आय भूमिकर के रूप में ले ली जाती हो, जहाँ के अधिकांश लोग बेकारी और अर्धबेकारी के शिकार हों, जहाँ का उद्योग और व्यापार नष्ट कर दिया गया हो, वहाँ के लोगों में पठनरुचि और पठनाभ्यास की आशा करना घोर विडम्बना है। इस दयनीय आर्थिक स्थिति के कारण लोग अपने बच्चों को विद्यालयों में भेजने तक में असमर्थ थे, पुस्तक खरीदने और पढ़ने की बात तो दूर रहे। यह ध्यातव्य है कि विवेच्यकाल में शिक्षाप्रसार की कमी का कारण केवल अंगरेजी शासन की उपेक्षा ही नहीं, जनता की निर्धनता भी था। ऐसी स्थिति में हिन्दी पाठकों का—अन्य भाषाओं के पाठकों की भी लगभग ऐसी ही स्थिति थी—कमी कोई आश्चर्य का विषय नहीं।

(४) हिन्दी मुद्रण का विकास और पाठकवर्ग

पठनरुचि और पठनाभ्यास के प्रसार में मुद्रणयंत्र का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यों मुद्रणयंत्र के आविष्कार के पूर्व भी पुस्तकें पढ़ी जाती थीं पर उस समय पठनकार्य अल्प मात्रा में और विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रहता था। हस्तलिखित पुस्तकें महँगी पड़ती थीं जिन्हें पठनपाठन में मध्य-वर्ग का व्यक्ति खरीदने में समर्थ नहीं हो सकता था। साहित्यप्रेमी राजाओं, राजपुरुषों, धनीमानी सेठों, समृद्ध व्यक्तियों तथा पंडितों के पास ही हस्तलिखित पुस्तकें रहती थीं। साधारण व्यक्ति की पहुँच इन पुस्तकों तक संभव न थी। इसके अतिरिक्त हस्तलिखित पुस्तकें सीमित मात्रा में ही तैयार की जा सकती

१ एकॉनॉमिक हिस्ट्री (५), पृष्ठ २३७–४१।
२ उपरिवत् पृष्ठ २५९।
३ उपरिवत् (५), पृष्ठ २६०।
४ एकॉनॉमिक हिस्ट्री, I (६) पृष्ठ १०३।

थी, और उन्हें पढ़ना साधारणत कष्टकर होता था। इन कारणों से मुद्रण यंत्र के आविष्कार के पूर्व सभी देशों में पठनमात्रा अत्यंत सीमित थी। प्राक् मुद्रणकाल में सर्वत्र सस्वर पठन की परंपरा थी। भारत में बहुत प्राचीन काल से श्रोताओं के समक्ष कथावाचन की परंपरा विद्यमान थी। सूतों और कथावाचकों की परंपरा भारत में बहुत प्राचीन है। शुकदेव, शौनक काकभुशुण्डि आदि कथावाचकों द्वारा हजारों श्रोताओं के समक्ष कथा पढ़कर सुनाने के प्रमाण संस्कृत साहित्य में मिलते हैं। कथावाचन की यह परंपरा बहुत हाल तक भारतीय समाज में व्यापक रूप में प्रचलित थी और आज भी गांवों में सत्यनारायण भागवत, गरुड पुराण आदि की कथाएं विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों के अवसरों पर सुनायी जाती हैं। सस्वर पठन और श्रवण की यह परंपरा धीरे धीरे लुप्त हो रही है जिसका एकमात्र कारण मुद्रणयंत्र का आविष्कार है। मुद्रणयंत्र के आविष्कार ने मौन वाचन को प्रोत्साहन दिया, जो सस्वर वाचन और श्रवण की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक भी है और अधिक परिमाण में भी किया जा सकता है। इस मौन पठन ने साहित्य के स्वरूप को भी अनेक रूपों में प्रभावित किया है—जिनमें एक, गद्य का व्यापक विस्तार भी है—जिसके सम्बन्ध में परवर्ती परिच्छेदों में विचार किया जाएगा।

जहां तक ज्ञात हो सका है सन १६६७ ई० में रोम से प्रकाशित अथानासी किर्चेरी कृत 'चाइना इलस्ट्रेटा' नामक लटिन पुस्तक में सर्वप्रथम देवनागरी को मुद्रित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किर्चेरी को नागरी लिपि का ज्ञान १६२० ई० में स्थापित आगरा जसुइट कॉलेज के पादरी फादर हाइनरिश रोथ से प्राप्त हुआ था। पादरी रोथ के सहयोग से किर्चेरी ने अपनी पुस्तक में अवतारों के चित्रसहित नाम, व्याकरण अइ उ सूत्र और बारह खड़ी नागरी लिपि में छापी थी। १७१८ ई० में तमिल बाइबिल के अनुवादक जीजनबाल्ग के साथी शूल्स ने हिन्दी भाषा में (तेलुगु में भी) बाइबिल का अनुवाद प्रस्तुत किया जो १७४५-१७५८ ई० के बीच हाल (Halle) में छपा। यह अनुवाद उपलब्ध नहीं है। कलकत्ता की आक्जिलियरी बाइबिल सोसाइटी ने अपने एक वार्षिक प्रतिवेदन में इस अनुवाद का उल्लेख किया था।[1]

सन १८०० ई० में प्रसिद्ध बैप्टिस्ट पादरी विलियम केरे ने विलियम वार्ड और मार्शमन के सहयोग से श्रीरामपुर में प्रेस की स्थापना की और लगभग तीस भारतीय, चीनी, बर्मी आदि भाषाओं के टाइप तैयार किये तथा इन भाषाओं में बाइबिल के अनुवाद छापे।[2] १८०२ ई० में अथवा उसके कुछ पूर्व कलकत्ता में हरकारू प्रेस और कलकत्ता मिरर प्रेस नामक मुद्रणालयों की स्थापना हो चुकी थी जहां से नागरी अक्षरों में ग्रंथ छापे जाते थे। १८०२ ई० में हरकारू प्रेस से सिंहासन बत्तीसी और कलकत्ता मिरर प्रेस से 'बैताल पचीसी' छपी थीं। १८०३ ई० में या उसके कुछ पूर्व गिलक्राइस्ट का हिन्दुस्तानी प्रेस भी स्थापित हो चुका था। इस प्रेस से अन्य पुस्तकों के साथ साथ १८०३ ई० में 'प्रेमसागर' (अपूर्ण) १८०५ ई० में माधोनल, सिंहासन बत्तीसी और बैताल पचीसी तथा १८०९ ई० में सदलमिश्र कृत राजनीति का मुद्रण हुआ था।

---

१ श्री कृष्णाचार्य, हमारे पादरियों की हिन्दी सेवा, (२)।

२ वही।

१८१० ई० में अथवा उसके कुछ पूर्व लल्लूलाल ने कलकत्ता में अपना संस्कृत प्रेस खोला था जहाँ से १८१० ई० में 'प्रेमसागर' १८११ ई० में ब्रजभाषा व्याकरण और १८१७ ई० में 'माधव विलास' नामक पुस्तकें छपी थीं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त *लल्लू जी 'लाल' ने संस्कृत प्रेस से तुलसीदास, बिहारी, नरोत्तम, ब्रजवासी दास आदि* के ग्रंथों को भी प्रथम बार छापा था। सन् १८१८ ई० में श्रीरामपुर के मिशनरियों का 'बैप्टिस्ट मिशन प्रेस' कलकत्ता में स्थापित हुआ था। इस प्रेस में कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी के लिए हिन्दी में पचासों पुस्तकें छपीं। १८२५ ई० तक कलकत्ता में स्कूल बुक सोसाइटी का अपना प्रेस भी खुल चुका था। यहाँ से १८२५ ई० में 'उपदेश कथा' नामक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। १८२७ ई० में अथवा उसके पूर्व कलकत्ता में 'दि एज्युकेशन प्रेस' की स्थापना हुई थी जहाँ से १८२७ ई० में लल्लू जी लाल कृत राजनीति का मुद्रण हुआ था।

सन् १८३२ के आसपास हिंदी क्षेत्र में केवल बनारस टकसाल प्रेस और कानपुर में लीथो प्रेस से 'रामचरित मानस' के छपने का पता लगा है। ये दोनों लीथो प्रेस थे।[1] सन् १८३८ से १८५६ ई० के बीच कलकत्ता, लुधियाना, आगरा, मिर्जापुर, सिकन्दरा, बनारस, इलाहाबाद आदि नगरों में दर्जनाधिक हिंदी मुद्रणयंत्र स्थापित किये गये। १८५८ ई० में नवलकिशोर भार्गव ने लखनऊ में नवलकिशोर प्रेस की स्थापना की, जहाँ से अनेक धार्मिक तथा अन्य प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित हुईं।[2] इसके बाद तो हिंदी क्षेत्र में मुद्रणयंत्रों की बाढ़ सी आ गयी। १८४९ ई० से लेकर १८७० ई० तक बनारस, मथुरा, आगरा, फतेहगढ़ तथा कलकत्ता में दर्जनाधिक हिन्दी मुद्रणालय खुले।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिन्दी मुद्रणालयों और उनमें प्रकाशित पुस्तकों पर सरसरी नजर डालने से स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के मुद्रणालयों की स्थापना सामान्य हिन्दी पाठकों की माँग के फलस्वरूप उतनी नहीं हुई थी जितनी अन्य कारणों से। इनमें से प्रमुख कारण था ईसाई मिशनरियों का धर्म प्रचार। ये पादरी भारतीयों में बाइबिल का व्यापक प्रचार करना चाहते थे, जिसे पूरा करने के लिए इन्होंने भारत की प्रायः सभी भाषाओं के टाइप तैयार करने तथा भारत के भिन्न भिन्न भागों में मुद्रणालय स्थापित करने के प्रयत्न किये थे। १८५० के पूर्व के अधिकांश हिन्दी मुद्रणालय ईसाई पादरियों द्वारा ही स्थापित किये गये थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हिन्दी मुद्रणयंत्रों की स्थापना का दूसरा कारण था फोर्ट विलियम कॉलेज कलकत्ता में अँगरेज कर्मचारियों को हिन्दुस्तानी और हिन्दी की शिक्षा देने की योजना का सूत्रपात तथा प्राथमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम के लिए उपयोगी ज्ञान की पुस्तकें तैयार करने के लिए स्कूल बुक सोसाइटी की स्थापना। फोर्ट विलियम कॉलेज में यद्यपि हिन्दी की अपेक्षा 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था, पर हिन्दी के सौभाग्यवश, कॉलेज में नागरी अक्षरों का प्रयोग नहीं होता था और हिन्दुस्तानी के ग्रंथ भी नागराक्षरों में मुद्रित होते थे। कॉलेज के पाठ्यक्रम की पुस्तकें छापने के लिए

१ [illegible] (१)

२ श्री कृष्णाचार्य (२२)

गिलक्राइस्ट का 'हिंदुस्तानी प्रेस' तो था ही, अन्य निजी नागरीमुद्रणालयों से भी सहायता ली जाती थी। इस प्रकार फोर्ट विलियम कालेज ने नागरी मुद्रण को बहुत प्रोत्साहन दिया। स्कूल बुक सोसाइटियों के लिए छपने वाली पाठ्य पुस्तकों के मुद्रण ने भी नागरी मुद्रण के विकास में सहायता पहुँचाई।

विवेच्य अवधि में प्रेस खोलने वालों का ध्यान सामान्य हिन्दी पाठकों की तरफ बिलकुल ही न गया हो, ऐसी बात नहीं। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि लल्लूलाल ने तुलसी, बिहारी नरोत्तमदास, व्रजवासीदास आदि के काव्यग्रंथ छापे थे तथा १८३२ के लगभग बनारस और कानपुर से रामचरित मानस का मुद्रण हुआ था। १८४६ में कलकत्ता के काश्मीरी यन्त्रालय से कहानी रानी केतकी की छपी थी। इसके काफी पहले किसी मुंशी हरीराम पंडित ने 'रानी केतकी की कहानी' नागराक्षरों में छापी थी। १८४६ ई० में छपी उक्त कहानी रानी केतकी की के आवरण पृष्ठ पर इसके मुद्रण का कारण हिन्दी पाठकों में इसकी लोकप्रियता बताया गया है—'यह कहानी बहुत दिन पहिले मुंशी हरीराम पंडित जी ने देवनागरी अक्षर में छापी थी पर अब नहीं मिलती और बहुत लोगों को ठेठ हिन्दी वालों में इन दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है इसलिए मुंशी जी की मूल कहानी को दूसरी बेर छः सौ चालीस पुस्तक छपवाया।'[1]

१८५० ई० के बाद धर्मप्रचार के आन्दोलन ने और भी जोर पकड़ा। ईसाइयों के साथ हिन्दुओं ने भी धार्मिक आन्दोलन शुरू किये। इस आन्दोलन के फलस्वरूप नागरी मुद्रण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्कूली किताबों को छापने के लिए भी नागरी मुद्रणालय खुलते रहे। पर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सबसे बड़ी बात यह हुई कि सामान्य हिन्दी पाठकों की रुचि की पुस्तकें छापने के लिए अनेक मुद्रणालयों की स्थापना हुई। नवल किशोर प्रेस, लखनऊ (१८५८), बनारस दिवाकर छापाखाना (१८५९), मथुरा प्रेस (१८६०), बनारस मेडिकल हाल प्रेस (१८६०) बनारस लाजरस कम्पनी (१८६७) आदि मुद्रणालयों से सामान्य हिन्दी पाठकों की रुचि की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

निष्कर्ष

नागरी मुद्रण के इतिहास को देखकर यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्थापित मुद्रणालय हिन्दी पाठकों की पठनार्थ केवल उत्कंठित कर पाये थे। पाठकों की पठनरुचि से लाभ उठाना उन्होंने उस शताब्दी के उत्तरार्ध में ही आरम्भ किया था। १९वीं शताब्दी का उत्तरार्ध हिन्दी पाठकों के द्रुत विकास का काल है और इसका श्रेय बहुत दूर तक, हिन्दी मुद्रण व्यवसाय के विकास को है।

हिन्दी समाचारपत्र तथा पत्रिकाओं की स्थिति और पाठकवर्ग

समाचारपत्र और सामयिक पत्रिकाओं की वितरण संख्या किसी भाषा के पाठकों के परिमाण को जानने का उत्तम अभिसूचक है। प्रथम अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि पुस्तकों के पाठक समाचारपत्रों और सामयिक पत्रिकाओं के पाठकों की तुलना में कम होते हैं साथ ही यह भी उल्लेख्य है कि साक्षरमात्र या अल्प शिक्षित व्यक्तियों में पठनाभ्यास

[1] सआदतअली?, इंशा अल्ला खाँ रचित रानी केतकी की कहानी (१३), भूमिका।

जागृत करने या उसे बनाये रखने में, समाचारपत्र और सामयिक पत्रिकाएँ बहुत सहायक होती हैं। पुस्तकों को प्राप्त करना और पढ़ना पत्रपत्रिकाओं को पाने और पढ़ने की तुलना में कठिन होता है। इस दृष्टि से पठनरुचि और पठनाभ्यास के विकास में जिसके अभाव में पुस्तकपठन की कल्पना भी नहीं की जा सकती, पत्रपत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण योग होता है। किसी विशेष अवधि में किसी विशेष भाषा के पाठकों की स्थिति की जानकारी के लिए उस अवधि में उस भाषा की पत्रपत्रिकाओं के विकास का इतिहास जानना आवश्यक है। विवेच्य अवधि में हिंदी पाठकों की स्थिति कैसी थी, इसका पता इस काल के समाचारपत्रों के इतिहास के अवलोकन से चलता है।

देश में मुद्रणयन्त्रों की स्थापना के साथ ही यूरोपीयों का विशेष कर अँगरेजों का ध्यान समाचारपत्र प्रकाशन की ओर आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम १७७६ ई० में श्री विलियम बोल्टस ने कलकत्ता से एक अँगरेजी समाचारपत्र निकालने का असफल प्रयास किया। सन १७८० ई० में जेम्स आगस्टस हिक्की ने कलकत्ता में 'बंगाल गजट या कैलकटा जेनरल एडवर्टाइजर' नामक पत्र निकालना प्रारम्भ किया।[१]

इसके बाद कलकत्ता, मद्रास और बम्बई से अनेक अँगरेजी समाचारपत्र निकले, जिनका विस्तृत उल्लेख प्रस्तुत प्रबन्ध में अनपेक्षित है। इन पत्रों का प्रसार १०० से २०० प्रतियों के बीच था।[२] श्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी के मतानुसार इन पत्रों के पाठकों में अँगरेजों की संख्या शतप्रतिशत नहीं, तो ९८ या ९९ प्रतिशत अवश्य रही होगी।[३]

सन १८१७ ई० तक भारत में जितने पत्र निकले थे सब अँगरेजी में थे। इस वर्ष सीरामपुर के बैप्टिस्ट मिशनरियों ने दिग्दर्शन नामका पहला बंगला पत्र प्रकाशित किया।[४] 'दिग्दर्शन' के प्रकाशन के दो ही महीने बाद कलकत्ते से बंगाल गजट और सीरामपुर से 'समाचार दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र बँगला में निकले।[५] इसके बाद तो बँगला पत्रों की बाढ़ सी आ गयी। राजा राम मोहन राय और उनके समानधर्मा अन्य बंगाली नेताओं के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप बँगला समाचारपत्रों का तीव्र गति से विकास हुआ।

मार्च १८२२ ई० में फारसी भाषा का पहला पत्र जाम जहाँनुमा नाम से, कलकत्ता से हरिहर दत्त के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। इस पत्र की कुल २६ प्रतियाँ प्रकाशित होती थीं, जिनमें ८ बाहर जाती थीं और शेष कदाचित सरकार खरीद लेती थी।[६] इसके बाद १८३८ के पहले कोई उर्दू समाचारपत्र नहीं निकला। १८३८ ई० में देहली अखबार' और इसके थोड़े ही दिनों बाद 'फवायदे नाजरीन' और कुरान उल-सआदीन नामक समाचारपत्र उर्दू में निकले।[७] तत्पश्चात उर्दू और फारसी समाचारपत्रों की दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई।

---

१ रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२) पृ० ४
२ रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२) पृ० ४
३ समाचारपत्रों का इतिहास (१), पृ० ३२
४ उपरिवत्, पृ० ३३
५ उपरिवत्, पृ० ३४
६ उपरिवत्, पृ० ४२—४३
७ उपरिवत्, पृ० ४३

हिंदी में पहला समाचार पत्र १८२६ ई० में, 'उदन्त मार्त्तण्ड' नाम से कलकत्ता में ही, प्रकाशित हुआ। यह पत्र ज्येष्ठ वदी ९ सं० १८८३, तदनुसार ३० मई १८२६ को निकलना आरम्भ हुआ था और लगभग डेढ़ साल चलने के बाद पौष वदी १, सं० १८८४ तदनुसार, ११ दिसम्बर १८२७ को बन्द हो गया।[१] इसके संपादक जुगुल किशोर सुकुल और मुद्रक मुन्न ठाकुर थे।[२] ९ फरवरी १८२६ को शुक्ल जी ने सरकार से पत्र निकालने की अनुमति मांगी थी, और अनुमति मिलने के बाद उन्होंने सरकार से प्राथना की कि उनके पत्र की प्रथम ८ प्रतियाँ को मुफस्सिल क्षेत्र में जहाँ मेरे अधिकांश देशवासी निवास करते हैं सामान्य डाकघर (जनरल पोस्ट आफिस) द्वारा निःशुल्क भेजने की अनुमति दी जाए जिससे कि उनके देशवासी कलकत्ता में प्रकाशित होने वाले इस नागरी पत्र के अस्तित्व का ज्ञान सकें।[३] सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। इन दिनों कलकत्ते में हिंदीभाषियों की संख्या चाहे जितनी हो उनमें से स्वयं महीने खर्च करके उदन्त मार्त्तण्ड को पढ़ने की रुचि अवश्य ही नहीं थी।[४] परिणाम स्वरूप शुक्ल जी को घोर आर्थिक संघर्ष का सामना करना पड़ा। एक वर्ष के भीतर ही उन्होंने सरकार के पास सहायतार्थ प्रार्थना पत्र भेजते हुए लिखा कि अपने पत्र से उन्हें जो आय होती है वह उसके प्रकाशन-व्यय से भी कम है संपादक के रूप में उनके कुछ पारिश्रमिक पाने की बात तो अलग रहे। उन्होंने लिखा था कि पत्र की वितरण संख्या में कोई वृद्धि होने की संभावना नहीं क्योंकि कलकत्ते में हिन्दी पढ़नेवालों का नितान्त अभाव है। उनके पाठक उच्च प्रान्तों (अपर प्राविंसेज) में निवास करते हैं पर चूँकि डाकदरें ऊँची हैं इस कारण वे पत्र के ग्राहक नहीं बन सकते। अतः उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि उन्हें भी वे सुविधाएं प्रदान की जायँ जो बंगला पत्र समाचारदर्पण को प्राप्त हैं अर्थात् उन्हें भी अपने ग्राहकों के पास डाकघर द्वारा निःशुल्क पत्र भेजने की सुविधा दी जाए तथा सरकार उनके पत्र की भी कुछ प्रतियाँ सरकारी कार्यालयों में खरीदे। पर गवर्नर जेनरल इन काउंसिल ने शुक्ल जी की इस प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया।[५] इस प्रकार शुक्ल जी को न अंगरेज सरकार से सहायता प्राप्त हुई और न उस देश के समृद्ध व्यक्तियों तथा हिन्दी पाठकों का सहारा मिला। परिणामस्वरूप यह मार्त्तण्ड असमय ही अस्ताचलगामी होने को विवश हो गया। पत्र को बन्द करते हुए ११ दिसम्बर १८२७ को संपादक ने लिखा।[६]

आज दिवस लौं उग चुक्यो मार्त्तण्ड उदन्त
अस्ताचल को जात है दिनकर दिन अब अन्त।

---

१ समाचार पत्रों का इतिहास (१), पृ० ९३
२ दि इंडियन प्रेस (४) पृ० १५४
३ वही, पृ० १५४
४ समाचारपत्रों का इतिहास (१), पृ० ९८
५ दि इंडियन प्रेस (४) पृ० १५४-५५
६ समाचार पत्रों का इतिहास (१) पृ० ९८

तदनन्तर ब्रजभाषा में वे लिखते हैं, "जब तें या कलकत्ता नगरी में उदन्त मार्त्तण्ड को प्रकार भयो तबने लै आज दिवस लौं वाहू प्रकार ते ढांढस बांध विद्या के बीज बैंक को हिन्दुस्तानियन के जड़ता के खेत को बहुविधि जोत्यो पहिले तो ऐसी कठोर भूमि वाहू को जुत तापै पायो कष्ट कर जैसा तैसा हर चलाय वा क्षेत्र में गांठ की द्रव्य खरच बड़े यतन से मांच फल लेन्यो चाह्यो तो समय लाभ रूपी टाडा परि वा खेत के फल फूल पाती सिगरी चरि गई अब तो फिरि फिरि या नाम क्षेत्र को गाडियो तो हम ही के फल फलेंगे ।

यहाँ मूरख की मान नान चचा का वृक्ष ।
ह्याँ हू अपना राख जगत् अंधियारा हो सूझ ।
जड़ता नर नशि चल्यो ग्यान का होइगा पतझर
वाको है परतीत बहुरि चलिहै सुख बहर ।[१]

यह उल्लेखनीय है कि जो सुविधा उदन्त मार्त्तण्ड को नहीं दी गई वह अँगरेजी बंगला और उर्दू फारसी के पत्रों को प्राप्त थी । १८२६ ई० में ही पादरी जान मार्शमैन को, जो 'समाचार दर्पण' नामक बंगला पत्र निकालते थे सरकारी कार्यालयों में १०० प्रतियाँ, बिना डाकखर्च के भेजने की आज्ञा मिली थी । सरकार ने उक्त पत्र के फारसी भाषान्तरण के लिए भी मार्शमैन को १६० रुपये प्रतिमाह देने का निश्चय किया और बदले में उक्त पत्र की १६० प्रतियाँ विभिन्न कार्यालयों में भेजने का आदेश दिया । 'जामे जहाँनुमा' नामक फारसी पत्र के संपादक हरिहरदत्त को भी डाकघर में छूट की सुविधाएँ थीं ।[२] दुर्भाग्यवश जुगुल किशोर सुकुल को ये सुविधाएँ नहीं मिल सकीं और उनका हिन्दी पत्र जन्मते ही कालकवलित हो गया ।

सन् १८२४ और १८२६ के बीच कलकत्ता से भारतीय भाषाओं के ६ समाचार पत्र (बँगला ३, फारसी २ और हिन्दी १) प्रकाशित होते थे । सीरामपुर से भी दो पत्र (१ बंगला और १ फारसी) प्रकाशित होते थे । इनमें हिन्दी और फारसी पत्रों को खरीदकर पढ़नेवालों की संख्या अत्यल्प थी । उनका अस्तित्व सरकारी सहायता के अभाव में संभव नहीं था, जबकि बँगला पत्रों को खरीदकर पढ़नेवालों का अभाव नहीं था । यही कारण है कि हिन्दी और उर्दू पत्रों की तुलना में बँगला पत्रों की अधिक उन्नति हुई ।

'उदन्त मार्त्तण्ड' के बाद कलकत्ता से ही राजा राम मोहन राय ने चार भाषाओं में—अँगरेजी बँगला हिन्दी और फारसी—एक पत्र निकालने का उद्योग किया और एतदर्थ हिन्दू हेरल्ड नामक प्रेस की स्थापना की । परन्तु कालान्तर में 'हिन्दू हेरल्ड' अँगरेजी में अलग निकला और तीन भाषाओं—बँगला, हिन्दी और फारसी—में 'बंगदूत' नामक पत्र १० मई १८२९ को प्रकाशित होना शुरू हुआ । यह पत्र अधिक दिनों तक नहीं चल सका

१ समाचारपत्रों का इतिहास (२), पृ० ९८

२ दि रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२), पृ० २०

और ११ १२ संख्याएँ प्रकाशित होने के बाद जुलाई १८३० में बंद हो गया।[१] इस पत्र की ७० प्रतियाँ छपती थी।[२]

बंगदूत के बाद १८४५ ई० तक हिन्दी में कोई पत्र प्रकाशित नहीं हुआ। केवल इसी से हिन्दी पाठकों के अभाव का अनुमान किया जा सकता है। इस बीच हिन्दी क्षेत्रों में भी, उर्दू पत्रों का आधिपत्य रहा। इस अवधि मे 'सैयदुल अखबार', 'देहली अखबार' (१८३८) 'फवायदे नाजरीन' 'कुरान उल सआदीन' आदि समाचारपत्र उर्दू में निकले।

सन् १८४५ ई० में बनारस से राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के संरक्षण में 'बनारस अखबार' नामक साप्ताहिक समाचारपत्र प्रकाशित होना शुरु हुआ।[३] यह पत्र नागरी अक्षरों मे प्रकाशित होता था पर इसकी भाषा उर्दू थी। राजा शिव प्रसाद हिन्दुस्तानी नाम की नयी भाषा चलाने के पक्षपाती थे, पर उन्होंने इस भाषा का जो उदाहरण प्रस्तुत किया वह हिन्दी से अधिक उर्दू के निकट थी। फलतः हिन्दी का वह रूप लोगों को स्वीकार्य नहीं हुआ। 'बनारस अखबार' के ग्राहकों की संख्या ४४ थी।[४] ११ जून १८४६ को कलकत्ते के इंडियन सन प्रेस से 'मार्तण्ड' या 'इंडियन सन' नाम का साप्ताहिक पत्र पाँच भाषाओं में—अँगरेजी, हिन्दी, उर्दू, फारसी और बँगला—प्रकाशित हुआ।[५] इसी वर्ष 'ज्ञानदीप' नाम का पत्र निकला, जिसके बारे में अधिक सूचनाएँ नहीं मिल पाती। १८४८ ई० में इन्दौर से पं० प्रेम नारायण ने 'मालवा अखबार' नामका पत्र निकाला जो हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित होता था। १८४९ ई० में कलकत्ता से बँगला हिन्दी में 'जगद्दीपक भास्कर' नामक पत्र प्रकाशित हुआ, जिसके सम्बन्ध में अधिक सूचनाएँ नहीं मिलती।

१९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाचारपत्रों की स्थिति का पुनरवलोकन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बंगाल में बँगला और अँगरेजी पत्रों का तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में उर्दू पत्रों का प्रभुत्व था। उर्दू पत्र न केवल हिन्दुओं द्वारा संपादित किये जाते थे वरन उनके पाठकों और आश्रयदाताओं में भी हिन्दुओं का अनुपात पर्याप्त मात्रा में होता था। 'जुब्दतुल अखबार' नामक फारसी पत्र के, जो १८३३ ई० में आगरा से निकलना आरम्भ हुआ था, आर्थिक सहायक में भरतपुर के राजा, अलवर के राजा तथा सेठ लक्ष्मी चन्द थे, जो हिन्दू थे। उर्दू 'जामे जहाँ' (१८२२), 'फवायदे नाजरीन' और 'कुरान उल सआदीन' (१८३८) के सम्पादक भी हिन्दू ही थे। १८४४ ई० में दिल्ली में ४ समाचारपत्र प्रकाशित होते थे, जिनमें तीन उर्दू के और १ फारसी का था। सन् १८४४ और १८४८ के बीच दिल्ली से तीन उर्दू साप्ताहिक पत्र निकले। १८४७ में बरेली और मेरठ से भी एक एक उर्दू पत्र निकले।[६] सन् १८४८ ५० में शिमला, आगरा, मेरठ बनारस और इन्दौर से

१ समाचार पत्रों का इतिहास (१), पृ० १०१।
२ दि इंडियन प्रेस (४), पृ० २२०।
३ समाचार पत्रों का इतिहास (१), पृ० १०५।
४ रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२), पृ० ५१।
५ समाचार पत्रों का इतिहास (१), पृ० १०७।
६ रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२), पृ० ४८ ४९।

११ उर्दू पत्रों का प्रकाशन आरम्भ हुआ।[1] इधर १८५० ई० के पूर्व विशुद्ध हिन्दी में केवल एक समाचारपत्र 'उदन्त मार्तण्ड' निकला और यह भी १ वर्ष ७ महीने चलने के बाद बन्द हो गया। अन्य पत्र, जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में हम देख चुके हैं, या तो बहुभाषी थे जैसे 'बंगदूत', 'मालवा अखबार' आदि या नागरी लिपि में उर्दू के पत्र थे, जैसे 'बनारस अखबार'। इन साक्ष्यों से हिन्दी पाठकों के अभाव के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

इसके कई कारण थे। जैसा कि हम पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं, उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में सरकारी कार्यों में फारसी और उर्दू का प्राधान्य था। स्कूलों में भी हिन्दी की अपेक्षा उर्दू फारसी का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। देश के अधिकांश व्यक्ति, जो उच्च पदों पर प्रतिष्ठित थे, फारसी भाषा के ज्ञाता और उसके हिमायती थे। हिन्दी जनसाधारण की भाषा थी, जो अशिक्षा और निर्धनता के कारण समाचारपत्र पढ़ने में असमर्थ थी। संचार और परिवहन व्यवस्था के अभाव में भी ग्रामीण जनता तक जो हिन्दीभाषी थी, समाचारपत्र नहीं पहुँच पाते थे। शहरों में हिन्दी भाषा के पाठक अत्यल्प थे। यही कारण है कि केवल हिन्दी भाषा में पत्र निकालने में सम्पादकों को हिचक होती थी। १८५० ई० के पूर्व बहुभाषी पत्रों के प्रचलन का यही रहस्य है। हिन्दुओं में भी उर्दू पढ़नेवालों का आधिक्य था और यही कारण है कि कुछ पत्र नागरी अक्षरों में निकले पर उनकी भाषा उर्दू ही रही। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने इस सम्बन्ध में लिखा है—[2]

हिन्दी प्रदेश में जो पत्र निकले, वे हिन्दी अंगरेजी में नहीं, हिन्दी उर्दू में निकले। इसका कारण यह था कि हिन्दी प्रदेश में अँगरेजी उतना बढ़ी नहीं थी और प्रजा का एक बड़ा समुदाय उर्दू ही जानता था। इसलिए इन्दौर में पं० प्रेम नारायण ने १८४८ में 'मालवा अखबार' नाम का जो पत्र प्रकाशित किया था, वह भी हिन्दी उर्दू में था। और चूँकि फारसी का प्रभाव लोगों पर बना हुआ था, 'मालवा अखबार' तथा ऐसे ही दो भाषावाले पत्रों में उर्दू को हिन्दी की अपेक्षा अधिक स्थान मिलता था।

सन् १८५० ई० से हिन्दी पत्रों के विकास का नया दौर आया या कहें कि हिन्दी पत्रों का वास्तविक विकास शुरू होता है। सन् १८५० १८६७ ई० की अवधि में, हिन्दी में तीन प्रकार के पत्र दिखायी पड़ते हैं—

(क) विशुद्ध हिन्दी भाषा के पत्र—इस प्रकार के पत्र संख्या में अधिक नहीं थे। ऐसे पत्रों में सामदन्ड मार्त्तण्ड (१८५०), प्रजाहितैषी (१८५५), 'धर्म प्रकाश' (१८६९), 'तत्त्व बोधिनी पत्रिका' (१८६५), 'सत्यदीपक (१८६६) आदि के नाम लिये जा सकते हैं।[3] इन पत्रों में से अधिकांश के सम्बन्ध में बहुत कम सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इनकी कितनी प्रतियाँ छपती थीं इसका भी पता नहीं चलता, यद्यपि यह असन्दिग्ध है कि इनमें से किसी की भी १०० से अधिक प्रतियाँ नहीं छपती होंगी। इस काल के अन्य पत्रों की प्रकाशित होने वाली प्रतियों की संख्या के आधार पर, जिसका विवरण बाद की पंक्तियों में दिया गया है यह अनुमान गलत नहीं होना चाहिए।

---

१ रिपोर्ट ऑफ प्रेस कमीशन (२) पृ० ५२।
२ हिन्दी समाचारपत्रों का इतिहास (१) पृ० १००।
३ ये सूचनाएं हिन्दी समाचार पत्रों का इतिहास (१) से संगृहीत की गयी हैं। विवादों में उलझना प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक का उद्देश्य नहीं रहा है।

(ख) इस अवधि में कुछ ऐसे हिन्दी पत्र भी प्राप्त होते हैं जो छपते तो नागरी अक्षरों में थे पर जिनकी भाषा उर्दू होती थी। कुछ हिन्दी पत्र उर्दू पत्रों के अनुवाद मात्र होते थे। ऐसे पत्रों में 'सुधाकर' (१८५०) 'बुद्धिप्रकाश' (१८५२), 'पयामे आजादी' (१८५७), 'लोकमित्र' (१८६७) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[1] 'सुधाकर' नागरी अक्षरों में शिलामुद्रित होता था, पर इसकी भाषा उर्दू थी। इसकी कुल ७४ प्रतियाँ छपती थीं, जिनमें ५० हिन्दुओं द्वारा, २२ यूरोपीयों द्वारा तथा २ मुसलमानों द्वारा खरीदी जाती थीं।[2] उपर्युक्त शेष पत्र उर्दू पत्रों के अनुवाद थे। इनमें 'बुद्धि प्रकाश' की २०० प्रतियाँ सरकार खरीदती थी २ प्रतियाँ विनिमय में जाती थीं और १७ उसके स्थायी ग्राहक थे।

(ग) इस अवधि में प्रकाशित होनेवाले पत्रों में सर्वाधिक संख्या द्विभाषी पत्रों की, विशेषकर उर्दू हिन्दी पत्रों की थी। इस प्रकार के पत्रों में 'मजहरुल सरूर' (१८५२) 'ग्वालियर गजेट' (१८५३) 'सर्वहितकारक' (१८५५) 'सूरज प्रकाश' 'जगतलाभचिंतक' (१८६१), 'भारतखंडामृत' (१८६४), 'ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका' (१८६६) 'रतन प्रकाश' (१८६७) 'विद्याविलास' (१८३७) आदि प्रमुख हैं। 'समाचार सुधावर्षण' भी जिसे हिन्दी का पहला दैनिक पत्र होने का गौरव प्राप्त है एक द्विभाषी पत्र था जो हिन्दी और बंगला में (१८५४ ई० में) कलकत्ता में प्रकाशित होना शुरू हुआ था।

१८५० ६७ अवधि के हिन्दी पत्रों का पुनरवलोकन करने में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि इस अवधि में भी उर्दू हिन्दी पत्रों पर छायी हुई थी पर हिन्दी धीरे धीरे अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाने लग गयी थी। यह इससे सिद्ध होता है कि इस अवधि में कई पत्र पहले हिन्दी उर्दू में एक साथ प्रकाशित होने शुरू हुए पर थोड़े ही दिनों बाद ये हिन्दी में स्वतंत्र रूप में प्रकाशित होने लगे। उदाहरण के लिए 'सुधाकर' १८५० ई० में बंगला और हिन्दी में प्रकाशित होना शुरू हुआ था पर तीन वर्षों के बाद १८५३ ई० में यह केवल हिन्दी में छपने लगा।[3] 'पयामे आजादी' पहले उर्दू में प्रकाशित होता था पर बाद में हिन्दी में निकलने लगा।[4] आगरा से 'मुफीद उल खलाइक' अथवा 'सर्वोपकारक' नामक द्विभाषी पत्र निकलता था पर १८६५ में 'सर्वोपकारक' स्वतंत्र रूप में प्रकाशित होने लगा।[5] अजमेर से मोहन लाल के सम्पादकत्व में पहले 'खैरख्वाहे खलाइक' नामक पत्र निकलता था जिससे हिन्दी रूप 'जगलाभचिंतक' प्रकाशित हुआ।[6] इससे सिद्ध होता है कि हिन्दी के पाठकों में दिन दिन वृद्धि हो रही थी और वे हिन्दी पत्रों की माँग करने लगे थे। डा० राम रतन भटनागर ने बताया है[7] कि १८५७ के सिपाही विद्रोह के बाद हिन्दी पत्र उर्दू पत्रों को दबाकर आगे बढ़ने लगे थे। १८६१ ई० में कुल १७ नये पत्र प्रकाशित

१ समाचारपत्रों का इतिहास (१)
रिपोर्ट ऑफ दि प्रेस कमीशन (२) पृ० ५२
३ समाचार पत्रों का इतिहास (१), पृष्ठ ११
४ उपरिवत् पृष्ठ ११०
५ उपरिवत्, पृष्ठ १२१
६ उपरिवत्।
७ दि राइज ग्रोथ एण्ड डेवलपमेंट ऑफ हिन्दी जर्नलिज्म (८) पृष्ठ ७१

हुए थे, जिनमे ६ हिन्दी के पत्र थे। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा, जैसा कि उपयुक्त तथ्यो से भी सिद्ध होता है, कि १८५० ६७ ई० की अवधि मे भी हिन्दी पत्र उर्दू की छाया म अग्रसर हो रहे थे। हिन्दी पत्रो की तुलना मे उर्दू पत्रो की सख्या भी अधिक थी।

१८६७ ई० हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास म एक महत्त्वपूर्ण वर्ष है। इस वर्ष कई महत्त्वपूर्ण पत्र, जैसे, 'कविवचन सुधा', 'वृत्तान्त विलास', और 'ज्ञानदीपक', विशुद्ध हिन्दी म प्रकाशित हुए। इनमे 'कविवचन सुधा' का महत्त्व सर्वाधिक है। अम्बिका प्रसाद वाजपेयी ने इसके सम्बन्ध म लिखा है कि "यद्यपि हिन्दी भाषा के प्रेमी उस समय बहुत कम थे, तो भी हरिश्चन्द्र के ललित लेखो ने लोगो के जी म ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन सुधा के हर नम्बर के लिये लोगो को टकटकी लगाये रहना पडता था।[१] सरकार इस पत्र की सौ प्रतिया खरीदती थी, पर जब इसम राजनीतिसम्बन्धी लेख प्रकाशित होने लगे तो कुछ लोगो के बहकावे मे आकर सरकार ने इसे खरीदना बन्द कर दिया। पदाधिकारियो के इस बरताव से क्षुब्ध होकर भारतेन्दु ने ऑनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद कविवचन सुधा' का प्रचार सर्वसाधारण म खूब हुआ।[२] और यह पत्र भारतेन्दु के जीवनकाल तक प्रकाशित होता रहा।

सन १८६७ ६९ ई० म हिन्दी के कई पत्र प्रकाशित हुए। १८६८ ई० म प्रयाग से 'वृत्तान्त दर्पण नामक पत्र प्रकाशित हुआ। १८६९ ई० म विभिन्न स्थानो से १० पत्र प्रकाशित हुए, जिनम 'मगल समाचार', पापमोचन, 'विद्यादर्श आदि एक साथ उर्दू और हिन्दी म प्रकाशित होते थे। १८६९ ई० म ही आगरा एजूकेशनल गजट' उर्दू और हिन्दी म अलग अलग प्रकाशित होना शुरु हुआ। उर्दू सस्करण की १५० और हिन्दी सस्करण की ५० प्रतिया छपती थी।[३] इसी वर्ष उदयपुर से उदयपुर गजट हिन्दी मे निकला। २७ नवम्बर के 'अवध अखबार' म इसकी नोटिस निकली तो इसने दुख प्रकट किया कि नागरी अक्षरो म निकलने के कारण पत्र सफल न होगा। यदि उर्दू म छपता तो लोकप्रिय होता।[४] इससे ज्ञात होता है कि उर्दू पाठको की तुलना म हिन्दी पाठको की सख्या अल्प थी। फिर भी हिन्दी पाठको का शनै शनै विकास हो रहा था, यह निर्विवाद है।

निष्कर्ष

उपयुक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १८५० ई० के पूर्व हिन्दी पत्रकारिता अकुरित तो अवश्य हो गयी थी, पर पाठको की कमी तथा सरकारी सहानुभूति के अभाव म वह पनप न सकी थी। १८५० ई० के बाद इस अकुर म पत्ते और डालियाँ दिखाई देने लगी, पर उर्दू की अमरबेलि से हिन्दी पत्रकारिता का पौधा इस प्रकार जकडा हुआ था कि उसका समुचित विकास न हो सका। १८५० १८७० ई० की अवधि हिन्दी-उर्दू पत्रकारिता के सघर्ष की एक मनोरजक कहानी है।

१ समाचारपत्रों का इतिहास (१), पृष्ठ १२९ ३०।

२ उपरिवत्, पृष्ठ १३०।

३ उपरिवत्, पृष्ठ १३४।

४ उपरिवत्, पृष्ठ १३४।

साराश और निष्कर्ष

हिंदी पाठकसमुदाय के परिमाण और प्रकार को निर्धारित करनेवाले प्रमुख हेतुओं पर विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं।

(१) विवेच्य काल के आरंभ में कंपनी शासन की उपेक्षा के कारण भारत में परंपरा से चली आती हुई देशी पद्धति की शिक्षणसंस्थाएँ नष्ट हो गयी। बाद में कंपनी सरकार ने केवल उच्चवर्गीय भारतीयों को अँगरेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने की नीति अपनायी। सरकार द्वारा स्थापित स्कूलों में भारतीय भाषाएं उपेक्षित थीं। जो थोड़ा बहुत स्थान भारतीय भाषाओं को मिलता था हिंदी उससे भी वंचित था, क्योंकि उर्दू उसका हिस्सा हड़प लेती थी। १८५४ ई० के बाद सरकार की शिक्षानीति में, सिद्धांत रूप में, कुछ परिवर्तन हुआ। सन १८५४-७० ई० में कॉलेजीय और माध्यमिक शिक्षा के विकास में गति आयी। पर समूह शिक्षा या प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में कोई वृद्धि न दिखायी पड़ी। इस अवधि में भी शिक्षणसंस्थाओं में अंगरेजी का प्रभुत्व रहा। हिंदी और उर्दू का भी संघर्ष चलता रहा जिसमें अंगरेज पदाधिकारियों के पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण उर्दू का पलड़ा हिंदी से सदा भारी रहा।

स्वभावतः विवेच्यकाल में हिंदी पढ़नेवाले अत्यल्प थे और हिंदी के जो पाठक थे, वे साक्षरमात्र थे।

(२) विवेच्यकाल के आरंभ में यानी १८३६ ई० तक फारसी अदालतों की भाषा थी। १८३७ ई० में हिन्दी क्षेत्रों में उर्दू अदालतों की भाषा बना दी गयी। विवेच्यकाल के अंतिम दशक में अदालतों में नागरी लिपि के प्रवेश के लिए प्रयत्न किये गये पर सरकार ने इसे स्वीकार न किया। इस प्रकार विवेच्यकाल में हिंदी अदालतों में बिलकुल उपेक्षित रही।

विवेच्यकाल के आरंभ में अंगरेज पदाधिकारियों को भ्रम था कि उर्दू या हिंदुस्तानी ही भारत की जनभाषा है। इस कारण फोर्ट विलियम कालेज में अंगरेज पदाधिकारियों को हिंदुस्तानी और फारसी सिखाने पर विशेष बल दिया जाता था। जब शासकों को अपनी भूल मालूम हुई तो उन्होंने फोर्ट विलियम कॉलेज के पाठ्यक्रम में हिंदुस्तानी की जगह पर हिंदी को प्रतिष्ठित किया। इसी समय राजनैतिक कारणों से अँगरेज मुसलमानों की तरफ झुक गये। वे आँख मूँदकर उर्दू का समर्थन करने लगे। १८३०-१८७० ई० की अवधि में हिंदी अँगरेजों की उपेक्षा का निरंतर शिकार बनी रही।

पर जनजीवन में हिंदी का व्यापक प्रचार था। ईसाई मिशनरियों के कार्यों तथा उदार अँगरेजों के भाषणों और लेखों से ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत में हिंदी का व्यापक प्रचार था।

(३) देश की आर्थिक स्थिति चिंत्य थी। अधिकांश लोगों को भर पेट अन्न और पहनने को वस्त्र नहीं मिलता था। देश के उद्योगधंधे नष्ट हो चुके थे। कृषि जीविका निर्वाह का एकमात्र साधन बन गयी थी। लोगों की आय बहुत कम थी। अकाल पड़ने का भय सदा लगा रहता था। ऐसी स्थिति में लोगों का शिक्षा प्राप्त करना या पढ़ना कथमपि संभव न था।

(४) विवेच्यकाल के आरभ म हिंदी मुद्रणयन्त्र ता खुल गये थे पर उनका व्यापक व्यावसायिक उपयोग १८३० ई० के बाद शुरू हुआ । १८६० ७० ई० की अवधि तक आते आते अनेक हिंदी मुद्रणालयो की स्थापना हो गयी, जिनम तत्कालीन पाठको के रुच्यनुरूप पुस्तकें छपती थी । हिंदी पाठको के विकास मे मुद्रणालयो की स्थापना का विशेष महत्त्व है । जसे जैसे मुद्रणालयो की सख्या बढती गयी, मुद्रित पुस्तको का मूल्य कम हाता गया जिसका प्रभाव पाठको की सख्या पर पडा ।

(५) सन १८५० ई० तक हिंदी पत्रकारिता बिलकुल पिछडी अवस्था मे रही । इसका कारण हिंदी पाठका का अभाव तथा सरकार की उपेक्षा था । १८५० ई० के बाद हिंदी पत्रकारिता के विकास का नया दौर आया । १८५० ७० ई० की अवधि म हिंदी पत्रा की सख्या म द्रुतगति से वद्धि हुई । यह इस बात का सूचक है कि इस अवधि म हिंदी पढनेवालो की सख्या म वद्धि हो रही थी क्योकि जहा तक सरकारी सहायता की बात थी वह पहले की तरह अब भी हिंदी पत्रा को दुर्लभ थी । फिर भी उर्दू पत्रो की तुलना मे हिंदी पत्रो तथा उनके पाठका की सख्या कम थी ।

कुल मिलाकर विवेच्य काल म हिंदी पाठकसमुदाय का जो चित्र सामने आता है वह नितात निराशाजनक है । यह पाठकसमुदाय लघु था साक्षरमात्र था निधन था तथा उपेक्षित था । हिंदी को न शिक्षणसस्थाओ म स्थान प्राप्त था न अदालतो म न सरकारी कार्यालयो म फिर इसके पढनेवाले कहाँ से आते ? हिंदी की बस एक ही शक्ति थी । वह जनसामान्य की भाषा थी तथा उसम अपूव आतरिक शक्ति थी । अपनी इस आतरिक शक्ति के बल पर वह विरोधी शक्तिया से जूझती और अपना माग बनाती रही । जैसे जैसे हिंदी की शक्ति बढती गयी उसके पाठको की सख्या मे भी वद्धि होती गयी।



१८०१-१८६६ : हिन्दी कथासाहित्य
और
उसके विकास पर तत्कालीन पाठकवर्ग की रुचि का प्रभाव

रानी केतकी की कहानी

प्रश्न है इस काल में जो गद्यकथाएँ लिखी, अनूदित और प्रकाशित की गयीं उनकी मूल प्रेरकशक्ति या उनका पाठकवर्ग कौन था? 'रानी केतकी की कहानी' इस अवधि की एकमात्र मौलिक गद्यकथा है। इसकी रचना के संबंध में कहा जाता है कि एक दिन सआदत अली खाँ के दरबार में जहाँ इंशा अल्ला खाँ की बड़ी प्रतिष्ठा थी, एक मुसलमान शायर ने हिन्दी को 'गवारी जबान' कहा। सैयद इंशा अल्ला खाँ ने इसका प्रतिवाद किया और जवाब में 'रानी केतकी की कहानी' लिख डाली जिसकी लिखावट पर लोग फड़क फड़क उठे और उस आग्रही मुसलमान शायर को अंत में हार माननी पड़ी।[1] स्वयं इंशा साहब इस कहानी को लिखने का कारण यह बतलाते हैं— एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवाला में से एक कोई बड़े पढ़ेलिखे पुराने धुराने डाँग बूढ़े घाग यह खटराग लाए ... लगे कहने—यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो, यह नहीं होने का।[2]

इससे स्पष्ट है कि इंशा अल्ला खाँ ने अपनी व्यक्तिगत इच्छा से प्रेरित हो और कुछ कुछ उस आग्रही मुसलमान शायर को अपनी बात मनवा देने की आन पर 'रानी केतकी की कहानी' की रचना ठेठ हिन्दी में की थी। अवश्य ही पुस्तक रचना में प्रवृत्त होते समय इंशा को तत्कालीन सामान्य पाठकवर्ग की रुचि का ध्यान नहीं था। यदि किसी की रुचि का ध्यान उन्हें रहा होगा तो सआदत अली खाँ और उनके दरबारियों की रुचि का हो। इंशा को अपने आश्रयदाता तथा दरबारी श्रोतावर्ग को चमत्कृत करने में सफलता मिली। 'रानी केतकी की कहानी पर लोग (दरबारी लोग) फड़क उठे' इस वाक्यांश से स्पष्ट है कि पुस्तक दरबारी श्रोताओं की रुचि के सर्वथा अनुरूप सिद्ध हुई।

'रानी केतकी की कहानी' बहुत दिनों तक हस्तलिखित रूप में रही इस कारण पाठकों में इसका प्रचार होना संभव न था। फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों का ध्यान भी इस पुस्तक की ओर न गया। जिस समय इस कथा की रचना हुई थी उन्हीं दिनों फोर्ट विलियम कॉलेज में हिन्दुस्तानी और हिन्दी में अँगरेज पदाधिकारियों के निमित्त पुस्तकें निर्मित और प्रकाशित कराई जा रही थीं। इन्हीं दिनों 'बैताल पचीसी'

१ किशोरी लाल गोस्वामी, 'सैयद इंशा अल्ला खाँ', सरस्वती, भाग ३, सं० १, नवंबर १९११।

२ सं० श्यामसुन्दर दास, रानी केतकी की कहानी (१४), पृष्ठ २।

'सिंहासन बत्तीसी' 'प्रेमसागर', 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तकें फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्वावधान में, और उसकी सहायता से, प्रकाशित हुई थीं। 'रानी केतकी की कहानी' को अपने जन्म के तुरत बाद मुद्रित होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। कुछ दिनों के बाद (संभवतः १९वीं शताब्दी के तृतीय दशक में) किसी मुंशी हरीराम पंडित ने इसे देवनागरी अक्षरों में छपाया। सन् १८८६ ई० (पौष सुदी एकम, सं० १९०३) में काश्मीरी यन्त्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित 'कहानी रानी केतकी की' के अंत में इसकी सूचना निम्नांकित रूप में दी हुई है—"यह कहानी बहुत दिन पहिले मुनशी हरीराम पण्डित जी ने देवनागरी अक्षर में छापी थी। पर अब नहीं मिलती और बहुत लोगों को ठेठ हिन्दी बोली में इन दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है। इस लिए मुनशी जी की मूल कहानी को दूसरी बेर छ सौ चालीस छपवाया।[१]

इससे स्पष्ट है कि मुंशी हरीराम पंडित ने हिन्दी के सामान्य पाठकों में इस कहानी के लोकप्रिय होने की संभावना को ध्यान में रखकर ही इसे छपाने का साहस किया होगा। उस जमाने में आज की अपेक्षा छपाई का व्यय बहुत ज्यादा था और बिना सरकारी सहायता के किसी पुस्तक को छपाकर उससे उसकी लागत भी वसूल कर लेना कठिन था। सन १८८७ ई० में यह पुस्तक बाजार में उपलब्ध नहीं थी तथा उस समय 'बहुत लोगों को ठेठ हिन्दी में कहानी पढ़ने की चाह' रहती थी, ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि १९वीं शताब्दी के मध्यकाल तक पहुँचते पहुँचते 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी पाठकों में बहुत लोकप्रिय हो गयी थी।

बाबू ब्रजरत्न दास ने किसी पंडित बदरीनाथ पाठक का हवाला देते हुए इस पुस्तक की लोकप्रियता के बारे में लिखा है। "हिन्दी साहित्य दुर्ग के फाटक पंडित बदरीनाथ पाठक का कथन है कि इस कहानी (रानी केतकी की कहानी) का किसी समय इतना प्रचार था कि इसको कुछ लोग याद कर लय के साथ आल्हा की भाँति अन्य लोगों को सुनाया भी करते थे तथा इस प्रकार जीविकोपार्जन करते थे।[२]

अँगरेज विद्वानों तथा शिक्षाशास्त्रियों का ध्यान भी इस पुस्तक की ओर अपेक्षाकृत बाद में गया। सन १८५२ ई० में यह फारसी अक्षरों में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में छपी तथा १८७४ ई० में राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके में इसे स्थान दिया। तत्पश्चात् इसके और भी संस्करण निकले। इससे सिद्ध है, कि रानी केतकी की कहानी सर्वप्रथम अपने विशिष्ट गुणों के कारण जनता में प्रचलित हुई और फिर अपनी भाषा के कारण शिक्षाविदों का ध्यान आकृष्ट करने में समर्थ हुई। किशोरी लाल गोस्वामी ने नवम्बर १९११ की मर्यादा में लिखा था[३] —

"आजकल के हिन्दी लेखक कदाचित् लल्लू लाल जी के प्रेमसागर या इन्शा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' से पूरे परिचित न हों या उन्होंने इन्हें देखा भी न हो, पर आज से तीस चालीस वर्ष पहले इन पुस्तकों का बड़ा प्रचार था और ये स्कूलों

१ ब्रजरत्न दास, 'इंशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी', भूमिका।
२ वही।
३ किशोरी लाल गोस्वामी, 'सैयद इंशा अल्ला खाँ', 'मर्यादा', भाग ३, संख्या १, नवम्बर १९११।

में पढ़ायी जाती थी, जिन्हें पढ़कर लोग हिन्दी पढना लिखना सीखते थे। राजा शिव प्रसाद के पुराने गुटके में प्रेमसागर के साथ ही साथ रानी केतकी की कहानी भी संग्रह की गई थी पर अब इधर कदाचित हिन्दी जाननेवालों में इस पुस्तक का नाम कम ही सुनाई देता होगा।'

इन साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि १९वीं शताब्दी में यह पुस्तक सामान्य हिन्दी पाठकों में काफी लोकप्रिय थी। १८४७ ई० में जबकि हिन्दी पढनेवाले इने गिने थे, किसी प्रकाशक का इसकी ६८० प्रतियाँ छापने का साहस करना इसकी लोकप्रियता का ही प्रबल प्रमाण है।

रानी केतकी की कहानी यदि पद्य में रचित होती तो इसे मसनवी शैली का प्रेमाख्यानक काव्य कहना सर्वथा युक्तिसंगत होता। हिन्दी के सूफी प्रेमाख्यानों और 'रानी केतकी की कहानी' में केवल इतना ही अन्तर है कि सूफी काव्य पद्य में है और यह गद्य में। सूफी मसनवियों की तरह इसमें भी आरंभ में ईश्वर की वन्दना की गयी है तथा ग्रंथरचना का कारण बताया गया है। मसनवियों के ढंग पर इस कहानी के प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में लम्बा शीर्षक दिया हुआ है जिसमें संक्षेप में, उस परिच्छेद की कथा का सार प्रस्तुत है। उदाहरणार्थ एक परिच्छेद का शीर्षक है—"**आना जोगी महेन्दर का कैलास पहाड़ पर से और कुँवर उदैभान और उसके माँ बाप को हिरनी हिरन कर डालना।**" रानी केतकी की कहानी' की कथा भी सूफी प्रेमकहानियों की तरह अनेक अस्वाभाविकताओं, अतिलौकिक तत्त्वों, ईरानी कथानकरूढियों तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों से भरी प्रेमकथा है, जिसमें उदयभान नाम का राजकुमार शिकार खेलने के क्रम में राजकुमारी केतकी को देखता है और दोनों एक दूसरे में प्रेम करने लगते हैं। राजकुमार को केतकी के विरह में बहुत दुखी देख उसके मातापिता केतकी के पिता जगतप्रकाश के पास विवाह का संदेश भेजते हैं और जगतप्रकाश के अस्वीकार करने पर वे उसपर आक्रमण करते हैं। जगतप्रकाश अपने गुरु महेन्दर गिरि की सहायता से उदयभान तथा उसके मातापिता को हरिणहरिणी बना देता है। केतकी विरह में दुखी रहने लगती है और अन्त में अपनी आँखों में अलौकिक अंजन लगाकर अदृश्य होकर उदयभान को खोजने निकल जाती है। केतकी के गायब होने का समाचार सुनकर उसके मातापिता को बहुत दुख होता है और मदनबान उसे खोजने निकलती है तथा उसे साथ ले आती है। अन्त में केतकी के मातापिता उसका विवाह उदयभान के साथ करने को तैयार हो जाते हैं। महेन्दर गिरि इन्द्र की सहायता से उदयभान तथा उसके मातापिता की खोज निकालते हैं और खूब धमधाम से केतकी तथा उदयभान का विवाह हो जाता है। उदयभान दोनों राज्यों का राजा बनता है।

कथाप्रवाह के बीच बीच में मसनवी काव्यों की शैली पर नायिका के नखशिख, सौन्दर्य तथा विवाहिक तैयारियों का अतिशयोक्तिपूर्ण और वस्तुपरिगणनात्मक वर्णन मिलता है। अतिलौकिक तत्त्व कथा में भरे हुए हैं। जगत प्रकाश का गुरु महेन्दर गिरि मन्त्र के बल पर मनचाहे को बदल सकता है, मुँह में गुटका रखकर आकाश में उड़ सकता है तथा मनचाही की वर्षा करा सकता है। उसके सामने छह राग तथा छत्तीस रागिनियाँ आठो

पहर पत्थर की प्रतिमा का रूप धारण कर विद्यमान रहती है। वह मंत्र के द्वारा किसी आदमी को पशु रूप में परिणत कर सकता है। उसके पास एक ऐसी विभूति है जिसे आँखों में लगाकर कोई व्यक्ति अपने को अदृश्य कर सकता है।

रानी केतकी की कहानी को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट है कि यद्यपि इसके पात्र, स्थान और भाषा भारतीय हैं, पर इसकी कथा पूर्णत: फारसी शैली और ईरानी संस्कृति में रंजित है और इसलिए मुसलमान श्रोताओं की रुचि के अधिक अनुकूल है। जैसा कि हमने देखा है इसकी रचना लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ और उनके दरबारियों को सुनाने के लिए हुई थी और इसके लिखनेवाले फारसी काव्य के मर्मज्ञ एक मुसलमान कवि थे। अतः इस पर मुस्लिम रुचि का प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक ही था।

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि लिखे जाने के थोड़े ही दिनों बाद हिंदू पाठकों में इसकी लोकप्रियता की संभावना देखकर पं० हरिराम ने इसे नागराक्षरों में छपाया और जब सभी मुद्रित प्रतियाँ समाप्त हो गयीं तो पुनः पाठकों की माँग पर सन् १८४७ ई० में इसकी ६८० प्रतियाँ काश्मीरी यंत्रालय में छपीं। तात्पर्य यह कि हिंदू पाठकों ने भी इस कहानी को अपनी रुचि के अनुकूल पाया। यह भी सर्वथा स्वाभाविक है। ईसा की चौदहवीं शताब्दी से लेकर १९ वीं शताब्दी तक हिन्दी में सूफी प्रेमाख्यानों की सुदीर्घ और समृद्ध परम्परा प्राप्त होती है जिसके श्रोता हिंदू मुसलमान दोनों थे। सूफी कवियों ने विशेष कर जायसी, मंझन, उसमान, नूर मुहम्मद आदि ने अपनी प्रेमकहानियों के द्वारा हिंदू मुसलमान दोनों जातियों के पाठकों में एक विशेष प्रकार की काव्यरुचि उत्पन्न कर दी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी भारत में एक ऐसा श्रोतावर्ग मौजूद था जिसे सूफी काव्यों के ढंग की रूमानी और अतिलौकिक तत्त्वों से भरी कथा पढ़ने में विशेष रुचि थी। उस समय का पाठक बात बात पर 'यह असंभव है', 'ऐसा नहीं हो सकता' के मापदंड पर कहानी को नहीं कसता था। कथा में यथार्थता की माँग उस समय के पाठक के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं थी। आधुनिक विज्ञान की ज्योति अभी उसकी आँखों को स्पर्श नहीं कर पायी थी। विज्ञान हर घटना का कारण जानना चाहता है पर उस समय का जनसमूह आधुनिक विज्ञान तथा आधुनिक शिक्षा से अपरिचित रहने के कारण घटनाओं की शृंखला में कारणत्व की खोज नहीं करता था। भूतप्रेत, मंत्रतंत्र, जादूटोना, देवीदेवता जैसे अतिलौकिक तत्त्वों में भारतीय जनता का पूर्ण विश्वास था। सिद्धों और नाथों के जमाने से ही भारतीय जनजीवन में इन तत्त्वों का बुरी तरह समावेश हो गया था, और अशिक्षा, अज्ञान, दासत्व तथा निर्धनता में जीवनयापन करनेवाली जनता की इनसे मुक्ति भी असंभव थी। मुगलों के जमाने में भारत की समृद्धि चाहे जितनी चकाचौंध उत्पन्न करनेवाली रही हो, साधारण जनता निर्धनता और अज्ञान से बुरी तरह आक्रान्त थी। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ का भारतीय जनसमूह भी आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टि से बिल्कुल पिछड़ा हुआ था।[1] ऐसी परिस्थिति में यदि उत्तरी भारत का सामान्य हिन्दी पाठक अतिलौकिक तत्त्वों से भरी कथा पसंद करता था तो इसमें कोई चौंकने की बात नहीं।

---

१ द्रष्टव्य, प्रस्तुत अध्याय का पूर्वार्ध।

इसके साथ यह भी ध्यातव्य है कि उत्तरवर्ती मध्यकाल का काव्यरसिक कथा को उतना महत्त्व नहीं देता था जितना सरस शृंगार, और अलंकृत वस्तुवर्णन को। काव्य में जीवन की अभिव्यक्ति उसके लिए उतना महार्घ नहीं थी जितना काल्पनिक रूमानी प्रेम और साहसपूर्ण अभियान का वर्णन। काव्य में वह कल्पना के संसार को अधिक महत्त्व देता था, कटुता और जटिलताओं से भरे यथार्थ जीवन को कम।

ऐसे पाठकों के बीच रानी केतकी की कहानी ने लोकप्रियता प्राप्त की और यह नितांत स्वाभाविक था। जब इस प्रकार के पाठक नहीं रह गये, या कम हो गये तो इस कथा की लोकप्रियता भी समाप्त हो गयी। जैसा कि किशोरी लाल गोस्वामी ने लक्ष्य किया था बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही इसकी लोकप्रियता बिलकुल कम हो गई थी, और आज साहित्य के विशिष्ट अध्येताओं को छोड़ कर अन्य लोग इसके नाम से भी अपरिचित मिलेंगे।

'बेताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी'

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में फोर्ट विलियम कालेज के तत्त्वावधान में, कई पुस्तकों का अनुवाद हुआ, जिनमें 'बेताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'प्रेमसागर', 'राजनीति' और 'चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान' उल्लेखनीय हैं। इनमें भी प्रथम दो यानी 'बेताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों की भाषा के सम्बन्ध में ही विवाद है और अक्सर इनकी भाषा को उर्दू कहकर इन्हें खड़ी बोली के विकास के इतिहास में विवेच्य नहीं समझा जाता। उधर काफी विचित्र बात है कि उर्दू के इतिहास लेखक भी इन पुस्तकों को उर्दू साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं देते। हिन्दी के श्रेण्य इतिहासलेखक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पचीसी' की भाषा को बिलकुल उर्दू कहा है।[1] हिन्दी के अन्य इतिहास लेखकों ने भी शुक्ल जी की बात दुहराई है। स्वयं लल्लू जी लाल कवि अपनी आत्म कथा में इनकी भाषा को 'रेखते की बोली' कहते हैं—

'एक दिन साहिब ने कहा कि 'ब्रजभाषा में कोई अच्छी कहानी हो उसे रेखते की बोली में कहो।' मैंने कहा 'बहुत अच्छा पर इसके लिये कोई फारसी लिखने वाला दीजै तो भलीभांति लिखी जाय।' उन्होंने दो शायर मेरे तनात किये मजहर अली खान विला और काजिम अली जवां। एक बरस में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया। सिंहासन बत्तीसी, बैताल पचीसी, शकुंतला नाटक औ माधोनल।'[2]

१८०५ ई० में हिंदुस्तानी प्रेस कलकत्ता से छपी 'बैताल पचीसी' के आरंभ में इसकी भाषा और इस अनुवाद के उद्देश्य के विषय में अनुवादक ने निम्नलिखित सूचनाएं दी हैं—

---

१. रामचंद्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास (७) पृ० ४२१।
२. फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृ० ४८।

" अब शाह आलम बादशाह के अह्द में मुताबिक इरशादि जनाबि जान गिलक्रिस्त साहिबि वाला मनाकिब—सनि बारह सौ पंदरह हिजरी मुताबिक सनि अठारह सौ एक ईसवी—काजिम अली शाइर ने (जिसका तखल्लुस जवां है) श्री लल्लू जी लाल कवि की मदद से मुहावरे ऐ खास ओ आम में अहलिहिंद के लिखी—इसलिये कि नौसिख साहिबों के सीखने और समझने को सहज हो और हर एक के रोजमर्रे की तरह समझ हो—हिंदू मुसलमान शहरी देहाती—अहला अदना के कलाम को आपसे दूसरे के समझाने के मुहताज न हो।"

इस घोषणा की भाषा असंदिग्ध रूप से उर्दू है। 'मुहावरे ऐ खास ओ आम में अहलिहिंद' से इसकी भाषा के उर्दू होने का ही पता चलता है पर जब हम पुस्तक पढते हैं तो उसकी भाषा जितनी हिन्दी के निकट जान पड़ती है, उतनी उर्दू के नहीं। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित उद्धरण से होती है।

'राजा यिह कौतुक छिपा हुआ देख रहा था—इतने में निगाह उसकी ऊपर गई। क्या देखता है कि उस हवेली पर एक बालाखाना है। जब दरख्त पर चढ गया तो देखा कि वहाँ एक पलंग बिछा है और सब ऐश का असबाब धरा है तब मन में कहा अभी जाहिर होना अच्छा नहीं—पहले यहाँ मालूम करूं कि कौन आता है और कौन जाता है।

जब ठीक दो पहर हुई—एक सिद्ध वहाँ आया—बाईं तरफ जो कूआ था उसमें से उसने ऐक तोला जल निकाला कि बदरिया उतर आई। सिद्ध ने एक चुल्लू पानी उस पर डाल दिया वह खूबसूरत स्त्री हो गई और उस रूपवती स्त्रिया से जोगी ने भोग किया। जब तीसरा पहर हुआ—जोगी ने दाहने कूऐ से पानी खैंच उस पर छींटा मारा फिर वुह बदरी की बदरी बन गई और और दरख्त पर चढी—जोगी भी पहाड की गुफा में जा बैठा और अपना जोग करने लगा।"[1]

यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती। यदि इसे उर्दू कहा जाएगा तो राजा शिवप्रसाद के 'इतिहास तिमिर नाशक' या १८०१ ई० में फोर्ट विलियम कॉलेज के तत्वावधान में रचित 'बागो बहार' की भाषा के लिए कोई और संज्ञा ढूँढनी होगी। १८०० ई० के लगभग की उर्दू पुस्तकों की भाषा से उपर्युद्धृत भाषा नितान्त भिन्न है। लल्लूजी लाल ने इस भाषा को 'रेख्ता' और गिलक्राइस्ट ने 'हिंदुस्तानी' की संज्ञा दी, तो इसका एकमात्र कारण यही जान पड़ता है कि वे उस भाषा को 'हिंदवी' (हिन्दी) समझते थे, जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुलता होती थी। साधारण बोलचाल की भाषा को, जिसमें अरबी फारसी के प्रचलित शब्द मिले जुले रहते थे, उस समय 'हिंदुस्तानी' या 'रेख्ता' ही कहा जाता था। 'बैताल पचासी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा को उर्दू कहने के लिए इससे बड़ा कोई आधार नहीं।

सन् १८६९ ई० में, 'सिंहासन बत्तीसी' के 'नूतन संस्करण' की भूमिका में, उसके संपादक सैयद अब्दुल्ला ने इसकी भाषा के सम्बन्ध में लिखा था,[1] 'जिस भाषा में 'सिंहासन बत्तीसी' लिखी गया है वह हिन्दी, हिंदुस्तानी, संस्कृत फारसी और अरबी

१ बैताल पचीसी, हिंदुस्तानी प्रेस, १८०५, पृ० ७३ ७४।

मिश्रित भाषा है पर प्रधानता हिन्दी तत्त्व की है। इसमें वसे अरबी फारसी शब्द प्रयुक्त हुए है जो सामान्य व्यवहार में प्रचलित हैं और जो वस्तुत घरलू शब्द बन चुके है।" एक मुसलमान लेखक का 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा को उर्दू में कहना काफी महत्त्व रखता है, जबकि इसकी भाषा भी, जसा कि हम देख चुके है, उर्दू से अधिक हिन्दी के निकट है।

जो बात 'सिंहासन बत्तीसी' की भाषा के सम्बन्ध में कही गयी है, ठीक वही बैताल पचीसी की भाषा के सम्बन्ध में भी सत्य है। बैताल पचीसी' की भाषा को आचार्य शुक्ल ने उर्दू, लल्लूजी लाल कवि ने 'रेखता' और गिलक्राइस्ट ने 'हिन्दुस्तानी' की संज्ञा दी थी। सन १८०५ ई० में हिन्दुस्तानी प्रेस से छपी बैताल पचीसी में इसे ट्रांसलेटेड इन्टू हिन्दुस्तानी कहा गया था। पर विचार करने पर इसकी भाषा को भी उर्दू की अपेक्षा हिन्दी कहना अधिक उचित जान पड़ता है। बैताल पचीसी की भाषा का उदाहरण निम्नलिखित है —

वैताल बोला कि राजा विक्रम कुसमावती नामक एक नगरी है वहाँ के राजा का नाम सुविचार उसकी बेटी का नाम चन्द्रप्रभा जब वह वर योग्य हुई तब एक दिन वसन्त ऋतु में सखियों को साथ ले बाग की सैर को चली वहाँ राजकन्या के आने से पहिले एक ब्राह्मण का लडका बरस बीस का अति सुन्दर मनस्वी नाम कही से फिरता हुआ उस बाग में आ एक वृक्ष के नीचे ठढी छाँह पाकर सो रहा था। राजा के लोगों ने आ उस बाग में जनाने के उतरने का बन्दोबस्त किया पर इत्तिफाकन उस ब्राह्मन को किसी ने न देखा और वह उस वृक्ष के निचे सोता रहा।"

यह भाषा हिन्दी है उर्दू नहीं। सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पचीसी' के संबंध में एक विशेष बात यह है कि ये दोनों नागरी अक्षरों में छपी थी। इस कारण यह कहा जा सकता है कि ये पुस्तकें उर्दू पाठकों की जो फारसी लिपि के विशेष अभ्यस्त थे तुलना मे हिन्दी पाठकों की रुचि के अधिक अनुरूप सिद्ध हुई। इन कारणों से प्रस्तुत प्रबन्ध मे इन पुस्तकों का विवेचन करना युक्तिसंगत समझा गया है।

सर्वप्रथम हम 'सिंहासन बत्तीसी' और बैताल पचीसी' की लोकप्रियता पर विचार करें। यह स्मर्तव्य है कि इन पुस्तकों का अनुवाद किसी विशेष पाठकवर्ग का रुचि का ध्यान में रख कर नहीं, वरन् एक विशेष उद्देश्य से किया गया था। भारत में जब अंगरेजी राज्य स्थापित हुआ तो शासनप्रबन्ध के लिए अंगरेज पदाधिकारियों को वहाँ की भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझा गया। इस उद्देश्य से १८०१ ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना की गयी जिसमें हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष गिलक्राइस्ट नियुक्त हुए। गिलक्राइस्ट ने अनुभव किया कि 'हिन्दुस्तानी में ऐसे ग्रंथों का नितांत अभाव है, जिनका थोड़ा बहुत भी सहारा लिया जा सके।'[1] अत उन्होंने लल्लू जी लाल कवि से ब्रजभाषा की किसी 'अच्छी कहानी' को रेख्ते की बोली में कहने का आग्रह किया। और लल्लू जी ने दो मुन्शियों मुन्शियों की सहायता से इन पुस्तकों का अनुवाद प्रस्तुत किया।

---

१ १२ जनवरी का गिलक्राइस्ट का पत्र, फोर्ट विलियम कॉलेज (११), पृ० ४४।

इससे स्पष्ट है कि 'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' का अनुवाद अँगरेज साहबों को हिंदुस्तानी सिखाने के उद्देश्य से किया गया था। 'सिंहासन बत्तीसी' की आरम्भिक घोषणा में यह साफ लिखा हुआ है कि" इसलिये कि नौसिख साहिबों के सीखने और समझने को सहज हो और हर एक के राजमर्रे की उन्हें समझ हो—हिंदू मुसलमान शहरी देहाती अहला अदना के कलाम को जानें दूसरे के समझाने के मुहताज न हों।

बहुत दिनों तक ये पुस्तकें सरकारी सहायता से प्रकाशित और पाठ्यपुस्तकों के रूप में प्रयुक्त होती रहीं। १८०४ ई० में जब 'सिंहासन बत्तीसी' प्रथम बार पूर्णरूप में छपी तो इसका मूल्य १६ रु० प्रति पुस्तक रखा गया। बैताल पचीसी का मूल्य १३ रु० निश्चित किया गया था। उस समय का सामान्य हिन्दी पाठक इतने मँहगे मूल्य पर इन पुस्तकों को खरीदने में समर्थ नहीं था। इन पुस्तकों की समस्त प्रतियाँ सरकारी अनुदान से कॉलेज के लिए खरीदी जाती थीं और आरम्भ में अँगरेज साहबों को मुफ्त में दी जाती थीं। १३ मार्च १८०५ को कॉलेज कौंसिल ने १६ रु० की प्रति के हिसाब से 'सिंहासन बत्तीसी' की सौ प्रतियाँ खरीदने का निश्चय किया था।[1] १ अगस्त १८०७ को 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पचीसी' की ५०-५० प्रतियाँ (२५ २५ फोर्ट विलियम कॉलेज के पुस्तकालय से और २५ २५ क्रमशः २० रु० और १६ रु० प्रति पुस्तक की दर से खरीद कर) बम्बई सरकार को भेजी गयीं।[2] फिर १६ फरवरी १८१३ को २२ रु० की प्रति की दर से 'सिंहासन बत्तीसी' की १० प्रतियाँ और १८ रु० की प्रति की दर से 'बैताल पचीसी' की १० प्रतियाँ फोर्ट सेंट जार्ज के विद्यार्थियों के लाभार्थ भेजी गयीं थीं।[3] यह स्पष्ट है कि इतने अधिक मूल्य पर सामान्य जनता के लिए उस समय पुस्तकें खरीदना संभव नहीं था। बहुत बाद बाद तक इन पुस्तकों के प्रकाशकों को सरकारी अनुदान की अपेक्षा रहती थी। १ नवम्बर १८५१ ई० को थामस एण्ड पण्डित राजकृष्ण बनर्जी ने 'बैताल पचीसी' का नया संस्करण प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। इस सम्बन्ध में मार्शल ने बंगाल के सरकारी मंत्री ज० पी० ग्राट को लिखा। १७ नवम्बर १८५१ को अधिकारियों ने ढाई रुपया की प्रति के हिसाब से सौ प्रतियाँ खरीदने का वचन दिया।[4] इससे १८ वीं शताब्दी के हिन्दी पाठकों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

यद्यपि इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता कि सामान्य जनता को ध्यान में रखकर 'बैताल पचीसी' का मुद्रण पहले पहल कब हुआ, पर १८३९ में प्रकाशित इसका 'श्रीमान् विक्रमादित्य महाराजा की सिंहासन बत्तीसी की पोथी' शीर्षक संस्करण संभवतः जनता को ध्यान में रखकर प्रकाशित प्रथम प्रयास था। 'सिंहासन बत्तीसी' के विभिन्न संस्करणों के प्रकाशनकालों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस कथापुस्तक को १८४० ई० के बाद पाठकों में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई। जहाँ १८०० ई० से लेकर १८४० ई० तक 'सिंहासन बत्तीसी' के कुल तीन संस्करण हुए, वहाँ १८४० ७० ई० के बीच उसके

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (२१) पृ० ७४।
२ वही, पृ० १९६।
३ फोर्टविलियम कॉलेज, पृ० २०४।
४ वही, पृ० १४३।

तेरह संस्करण निकले। १८७० के बाद इसकी लोकप्रियता में और भी वृद्धि हुई। १८७० से १८८० के बीच इसके कम से कम १४ संस्करण देखने को मिलते हैं।

'वैताल पचीसी' को भी सामान्य पाठकों में लोकप्रियता १८४० ई० के बाद ही मिली। १८४० ई० के पहले इसके केवल दो संस्करणों का पता चलता है, पर १८४० और १८७० ई० के बीच इसके कम से कम २१ संस्करण उपलब्ध होते हैं। १८७० ई० के बाद भी इस पुस्तक की लोकप्रियता बनी रही, १८७१-८० ई० के बीच इसके कम से कम १९ संस्करणों की सूचना मिलती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि १८४० ई० के बाद 'सिंहासन बत्तीसी' और 'वैताल पचीसी' का जनता में प्रचार होना शुरू हुआ और इनकी लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ती ही गयी। बीसवीं शताब्दी के आते आते तो इन ग्रन्थों की लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि अदना से अदना प्रकाशक भी रद्दी कागज और मोटे टाइप में इन कथाओं को छापकर लाभ में रहने लगा। जनता के बीच इन कथाओं का जितना प्रचार हुआ उतना शायद ही हिन्दी की अन्य किसी पुस्तक का हुआ हो।

१८६९ ई० में सिंहासन बत्तीसी के संपादक सैयद अब्दुल्ला ने इसकी लोकप्रियता की चर्चा करते हुए लिखा था कि कहार, नाई (सदैव सफर करने वाले) और अन्य लोग जब अपनी दिनभर की यात्रा के अन्त में पहुँचते हैं तो उनमें से कोई एक जो पढ़ना जानता है इन कहानियों को सुनाकर अन्य लोगों का मनोरंजन करता है।'[१] सिंहासन बत्तीसी के अब तक कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं यह बताना प्रायः असंभव है। मेलों में चौराहों पर तथा ठेलों पर सिंहासन बत्तीसी और 'वैताल पचीसी' बिकती दिखायी पड़ती हैं, और गाँव के साधारण किसान मजदूर भी इन किताबों को खरीदते दिखायी देते हैं। इन पुस्तकों पर अब अनिवार्य रूप से संस्करणसंख्या और प्रकाशनकाल नहीं दिया रहता। इन कथापुस्तकों की लोकप्रियता अपनी उस सीमा पर पहुँच चुकी है, जहाँ पहुँच कर कोई वस्तु सार्वजनिक हो जाती है।

यह अविवाद्य है कि वैताल पचीसी और 'सिंहासन बत्तीसी' की कहानियाँ कम पढ़लिखे या साक्षरमात्र पाठकों में अधिक लोकप्रिय हैं। प्रथम अध्याय में यह देखा जा चुका है कि अर्द्धशिक्षित पाठकों की रुचि कथा में अर्थात् औत्सुक्यप्रधान और आश्चर्यजनक घटना शृंखला में विशेष होती है। ऐसे पाठकों की कथा में माँग केवल इतनी होती है कि वह कहीं भी उत्सुकता उत्पन्न करने के गुण से रहित न हो। यदि कथा उत्सुकता से भरी है तो वह चाहे कितनी ही अविश्वसनीय और अलौकिक हो बौद्धिक दृष्टि से अविकसित पाठक उन्हें पसन्द करेंगे ही।

सिंहासन बत्तीसी और 'वैताल पचीसी' की कहानियों में औत्सुक्य उत्पन्न करने की अपरिमित क्षमता है। सिंहासन बत्तीसी की कहानी आश्चर्य और औत्सुक्य उत्पन्न करने वाले तत्त्वों से भरी हुई है। मिट्टी के टीले पर, जिसमें विक्रमादित्य का सिंहासन गड़ा हुआ है बैठकर एक साधारण बालक का अद्भुत न्याय करना, राजा भोज का उस टीले

---

१ सिंहासन बत्तीसी सं० सैयद अब्दुल्ला, १८६९ भूमिका।

को खुदवाना और ३२ पुतलियोंवाले सिंहासन का निकलना, राजा भोज के सिंहासन पर बैठने का उपक्रम करते ही एक पुतली का मानव स्वर में बोलना आरम्भ करना और राजा विक्रमादित्य की महानता सिद्ध करने वाली एक कहानी सुनाकर राजा भोज से कहना कि पहले ऐसा बनो तो सिंहासन पर बैठो इस प्रकार बत्तीसों पुतलियों का ३२ कहानियाँ सुनाना, जिनमें विक्रमादित्य के पराक्रम, न्याय, दानशीलता, महानता आदि का वर्णन आदि बातें अर्धशिक्षित पाठकों के मन में उत्सुकता जागृत करने की अद्भुत क्षमता रखती हैं। विक्रमादित्य के कब्जे में दो देव हैं, जो उन्हें कंधे पर चढ़ाकर मनचाहे स्थान पर पहुँचा देते हैं। इस प्रकार के अतिलौकिक तत्वों से कथा भरी हुई है। बत्तीसों कहानियाँ स्वतंत्र होते हुए भी इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं कि एक के समाप्त होते ही दूसरी को जानने की उत्कंठा पाठक के मन में हो जाती है। अविकसित बुद्धि वाले पाठकों में किसी कथा के लोकप्रिय होने के लिए इतना ही पर्याप्त है। इसके साथ साथ इन कहानियों से दानशीलता, उदारता, पराक्रम आदि का उपदेश भी मिल जाता है, जिसकी माँग एक सामान्य हिन्दू पाठक को कहानियों से अक्सर रहती है।

चूँकि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर आजतक, साक्षरता की निरंतर वृद्धि के कारण, हिन्दी में अर्धशिक्षित और अविकसित पाठकों की संख्या में सतत वृद्धि होती रही है, इस कारण 'सिंहासन बत्तीसी' की निरंतर वर्धमान लोकप्रियता बोधगम्य है।

जो बात सिंहासन बत्तीसी के विषय में कही गयी है, वही 'बैताल पचीसी' के सबंध में भी सत्य है। वरन् यह कहना ज्यादा उचित है कि रोमांचकारी वर्णनों और द्विधा तथा औत्सुक्य जागृत करने की दृष्टि से बैताल पचीसी की कथा सिंहासन बत्तीसी' से अधिक रोचक है। इसमें २५ कहानियाँ हैं, जो एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र होती हुई भी इस कौशल से परस्परगुम्फित हैं कि एक कहानी के समाप्त होते ही दूसरी कहानी को जानने की उत्सुकता उद्बुद्ध हो जाती है। ये सभी कहानियाँ विक्रमादित्य की मूलकथा से जुड़ी हुई हैं। सभी कहानियों में अतिलौकिक तत्वों की भरमार है। भूतबैताल, मंत्रतंत्र सिद्धगुटका, जादूटोना, परकाय प्रवेश, प्रत्युत्पत्ति की सञ्जीवनी विद्या से जीवित कर देना, मरे हुए आदमी का बातें करना जैसे रोमांचक तथा अतिलौकिक तत्वों की योजना सर्वत्र दिखायी पड़ती है। इन्हीं रोमांचक घटनाओं की योजना से कहानी में द्विधा और औत्सुक्य की सृष्टि की गयी है। बैताल पचीसी की एक विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक कहानी के अंत में विक्रमादित्य के सामने, और इसलिए पाठक के सामने भी, बैताल रूपी लेखक एक पहेली रख देता है और अपने पाठकों या श्रोताओं से उसके उत्तर की माँग करता है। फिर अपने पाठकों की परेशानी को मानो दूर करने के लिए विक्रमादित्य से वह उसका उत्तर भी दिला देता है। इस पहेली तत्व के द्वारा भी 'बैताल पचीसी' की कथाओं में अनिश्चित औत्सुक्य और द्विधा की सृष्टि हो जाती है।

'बैताल पचीसी' का अधिकांश कथाओं का विषय प्रेम है, जिसमें अधिकांश युवक पाठकों की रुचि होती है साथ ही, इसकी कथाओं में पाठकों को धर्म, दया, परोपकार आदि की शिक्षा भी प्राप्त होती है। इस प्रकार मनोरंजन और उपदेश दोनों विशेषताओं

से युक्त रहने के कारण सामान्य बौद्धिक स्तर के पाठक इस पुस्तक की तरफ बहुत अधिक आकृष्ट होते हैं। 'बैताल पचीसी' की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

राजनीति (१८०२)

सन १८०२ ई० में लल्लू जी लाल कवि ने हितोपदेश का ब्रजभाषा में राजनीति शीर्षक से अनुवाद प्रस्तुत किया।[1] यद्यपि १८०२ ई० से लेकर १८७० ई० तक 'राजनीति' के दशाधिक संस्करण उपलब्ध होते हैं, पर इसके अधिकतर संस्करण पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रस्तुत किये गये थे। फोर्ट विलियम कालेज में विलियम प्राइस की अध्यक्षता में फौजी अफसरों को ब्रजभाषा का ज्ञान कराया जाता था और राजनीति उनके लिये एक स्वीकृत पाठ्य पुस्तक थी। यह पुस्तक 'रानी केतकी की कहानी', 'बैताल पचीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की तरह जनता में अधिक लोकप्रिय न हो सकी, न आज यह उतनी लोकप्रिय है। कारण स्पष्ट है। हितोपदेश की कहानियों में उपदेश, नीति, लोकव्यवहार आदि के तत्त्व जितनी मात्रा में हैं उतनी मात्रा में उनमें औत्सुक्य, द्विधा और रोमांच उत्पन्न करने का गुण नहीं है। कथाप्रवाह के बीच में आये नीति और लोकव्यवहार संबंधी श्लोक, जीवन के उच्चतर मूल्यों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से चाहे जितने महत्त्वपूर्ण हों, वे कथा को नीरस और औत्सुक्यरहित बना देते हैं। अतः केवल कथाप्रेमी पाठकों को—और अधिकतर अल्पशिक्षित पाठक कथाप्रेमी ही होते हैं—हितोपदेश की कहानियों में अधिक रस नहीं मिलता। 'राजनीति' के सामान्य जनता में लोकप्रिय न होने का यही रहस्य है। यों स्कूलों के पाठ्यक्रम में 'हितोपदेश' तथा उसकी कहानियों को सदा निर्विरोध रूप में स्थान मिलता आया है। यही कारण है कि सामान्य पाठकों में विशेष लोकप्रिय न होने पर भी 'राजनीति' या 'हितोपदेश' के इतने अधिक संस्करण देखने को मिलते हैं।

प्रेमसागर (१८०३)

सन १८०३ ई० में लल्लू जी लाल कवि ने जान गिलक्राइस्ट के आदेश से अंगरेज पदाधिकारियों को हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रेमसागर की रचना की। 'प्रेमसागर' के १८१० वाले संस्करण के 'आरम्भिक व्याख्यान' में यह वाक्य मिलता है: 'संवत १८६६ में पूरा कर छपवाया पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।' बहुत दिनों तक यह पुस्तक सरकारी सहायता से पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रकाशित होती रही। फोर्ट विलियम कॉलेज में फौजी विद्यार्थियों की ब्रजभाषा शिक्षा के लिए प्रेमसागर पाठ्यपुस्तक के रूप में स्वीकृत था।[2] पाठ्यपुस्तक के रूप में 'प्रेमसागर' इतना लोकप्रिय था कि कलकत्ते से बाहर भी इसकी प्रतियाँ भेजी जाती थीं।[3] शुरू शुरू में इसकी एक प्रति का मूल्य १३ रु० स्थिर किया गया था और १८१० ई० में सरकार ने इसकी १०० प्रतियाँ खरीदी थीं।[4] १६ फरवरी १८१३ ई० को १९ रु० फी प्रति की दर से

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (११), पृ० ८२।

२ उपरिवत्।

३ उपरिवत्, पृ० १४७।

४ उपरिवत्, पृ० [illegible]।

१० प्रतियाँ फोर्ट सेंट जॉर्ज के विद्यार्थियों के लिये भेजी गई थीं।[१] स्पष्ट है कि इतने अधिक मूल्य पर साधारण पाठकों के लिये इस पुस्तक को खरीदना नितांत कठिन था। लगभग १८५० ई० तक यही स्थिति रही और 'प्रेमसागर' केवल पाठ्यपुस्तक के रूप में सरकारी सहायता से छपता रहा। २० जुलाई १८४१ ई० को फोर्ट विलियम कालेज के मंत्री जी० टी० मार्शल ने बंगाल के सरकारी मंत्री, जी० ए० बुशबाई के पास गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के पंडित योगध्यान मिश्र का एक प्रार्थनापत्र भेजा जिसमें मिश्र जी ने 'प्रेमसागर' का एक नया संस्करण प्रकाशित करने के लिये सरकार से प्रार्थना की थी कि वह छपने पर छह रुपये फी प्रति के हिसाब से उसकी दो सौ प्रतियाँ खरीद ले। सरकार ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर 'प्रेमसागर' की दो सौ प्रतियाँ खरीदी थीं।[२] नवम्बर १८४१ ई० में 'प्रेमसागर' की २० और प्रतियाँ ६ रु० फी प्रति के हिसाब से खरीदी गईं।[३] तात्पर्य यह कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक 'प्रेमसागर' का सरकारी सहायता के बिना छपना मुश्किल था। उस समय की सामान्य भारतीय जनता इतनी समृद्ध नहीं थी कि वह छह रुपये खर्च कर 'प्रेमसागर' खरीदती।

संभवतः १८६० ई० में प्रेमसागर प्रथम बार सामान्य पाठकों की माँग को ध्यान में रखकर कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके बाद बम्बई, पटना, दिल्ली, मेरठ, आगरा, कलकत्ता, प्रयाग, काशी आदि स्थानों से प्रेमसागर के अनेक संस्करण सामान्य पाठकों की माँग पर निकले। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम तथा बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में 'प्रेमसागर' ने हिन्दी पाठकों के बीच काफी लोकप्रियता प्राप्त की, और आज भी धर्मप्राण ग्रामीण हिन्दू जनता में इसे अमित लोकप्रियता प्राप्त है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि १९२५ ई० के लगभग हिन्दी पुस्तक एजेंसी से प्रकाशित प्रेमसागर का मूल्य केवल चौदह आना था।[४]

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि विवेच्य काल में सामान्य पाठकों के लिये प्रेमसागर के अधिक संस्करण नहीं हुए। इसका कारण पाठकों में इसकी माँग का कम होना था। उस समय श्रीमद्भागवत की कथाएँ गाँव गाँव में होती थीं और अधिकांश लोग श्रीकृष्ण की कथाओं से परिचित थे। सामान्य जनता सामूहिक रूप से कथाश्रवण कर अपनी धार्मिक पिपासा तृप्त कर लेती थी। पठनाभ्यास का विकास भी उन दिनों कम हो पाया था। यही कारण है कि 'प्रेम सागर' में वर्णित श्रीकृष्ण की कथाएँ जनता में अतिशय लोकप्रिय होने पर भी 'प्रेम सागर' के अधिक संस्करण, पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त में हो सके।

चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (१८०३)

सन् १८०३ ई० में ही सदल मिश्र ने 'चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान' की रचना की थी। यह पुस्तक न तो पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रसिद्ध हो सकी न सामान्य पाठकों

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृष्ठ २०४।
२ फोर्ट विलियम कॉलेज (११) पृष्ठ ११५।
३ उपरिवत्, पृष्ठ १५३।
४ सरस्वती, मार्च १९२५, पुस्तक परिचय (प्रेमसागर)।

के बीच ही इस लोकप्रियता मिली, यद्यपि हिन्दी गद्य के विकास में इसकी भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। कदाचित् यह पुस्तक कॉलेज के अधिकारियों को भी पसन्द नहीं आयी।

'नासिकेतोपाख्यान' के पाठ्यपुस्तक रूप में तथा सामान्य पाठकों के बीच लोकप्रिय न हो पाने का कारण इसका उत्सुकता, द्विधा तथा रोमांच उत्पन्न करने के गुणों से रहित कथा है। इस पुस्तक में योगशास्त्र और विद्या का महत्त्व दिखाया गया है तथा उपदेशों से समूची कथा बेतरह लदी हुई है। संभवतः नीरस होने के साथ साथ अत्यधिक धार्मिक रंग होने के कारण भी 'नासिकेतोपाख्यान' फोर्ट विलियम कॉलेज के अधिकारियों की उपेक्षा का शिकार हुआ और इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि सामान्य पाठकों ने कथा की नीरसता के कारण इस पुस्तक को नहीं अपनाया था। निम्नलिखित उद्धरण से 'नासिकेतोपाख्यान' की कथा की नीरसता का अनुमान किया जा सकता है—

इस प्रकार से नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किये से भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गो ब्राह्मण, मातापिता मित्र बालक स्त्री, स्वामी वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं जो झूठी साक्षी भरते, झूठी ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप में गड़े रहते हैं वो मातापिता की हित बात को नहीं सुनते सबसे वैर करते हैं ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।'

इस प्रकार की कथापुस्तक कौतूहलप्रधान घटनाओं को पसन्द करनेवाले पाठकों के बीच कैसे लोकप्रिय होती?

अन्य कथापुस्तकें

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों में माधोनल, माधव विलास, नीति कथा गोरा बादल की बात और उपदेश कथा नामक कथापुस्तकें लिखी गयीं। ये सभी अनूदित हैं। गोरा बादल की बात को छोड़कर शेष सभी पुस्तकों की रचना पाठ्यपुस्तकों के रूप में की गई थी। सामान्य पाठकों के बीच इनका प्रचार नहीं हुआ।

किस्सा हातिमताई (१८३८)

सन् १८३८ ई० में किस्सा हातिमताई का हिन्दी अनुवाद कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। १८४२ ई० में इस कथापुस्तक का एक दूसरा अनुवाद बनारस से प्रकाशित हुआ जिसका दूसरा संस्करण भी १८५१ ई० में निकला। हातिमताई के दूसरे संस्करण के मुखपृष्ठ पर दी गई सूचना से ज्ञात होता है कि इसकी ५५०० प्रतियाँ छपी थी, जो पाठकों में इसकी लोकप्रियता का असंदिग्ध प्रमाण है।

यद्यपि इस कथापुस्तक की भाषा उर्दू है, फिर भी देवनागरी लिपि में छपी होने के कारण यह हिन्दी पाठकों को भी आकृष्ट करने में समर्थ हुई होगी। यह भी स्मरणीय है कि उस जमाने में फारसी और उर्दू पढ़लिखे हिन्दुओं की संख्या बहुत अधिक थी। 'हातिमताई' के संस्करणों की उपलब्ध सूचना के अनुसार १८७० ई० के बाद इसकी लोकप्रियता और

। वढी। १८७० ई० से लेकर १८८९ ई० तक इसके, कम से कम, सात सस्करणों की
चना मिलती है, जो इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

'हातिमताई' का किस्सा तत्कालीन पाठकों मे उनकी रुचि के सर्वथा अनुकूल होने के
कारण लोकप्रिय हुआ। इस कहानी म असम्भव घटनाओ, अतिलौकिक तत्वो और भद्दे शृगार
चित्रण की प्रधानता है, जिनकी तरफ निम्नस्तरीय पाठको का झुकाव सर्वाधिक होता है।
इस कथा में कौतूहल और द्विधा उत्पन्न करने की पर्याप्त शक्ति है, यद्यपि इसकी घटनाओ,
दृश्यो और वर्णनो मे विश्वास करने की उदारता या तो बच्चे दिखला सकते हैं या कम
बुद्धि के अशिक्षित पाठक। तत्कालीन हिन्दी पाठक चूँकि इस कोटि के थे, अत उनके बीच
लोकप्रिय होने म यह कथापुस्तक सफल हुई।

किस्सा चहारदरवेश (१८४७)

सन् १८४७ ई० म किसी लक्ष्मी नारायण नामक लेखक ने 'किस्सा चार दरवेश' का
नागरी 'लिप्यतरण' प्रस्तुत किया जो काश्मीरी यत्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके
पहले यह कहानी उर्दू मे 'बागोबहार' शीर्षक से काफी लोकप्रिय थी। सम्भवत उर्दू म
इसकी लोकप्रियता देखकर ही लक्ष्मी नारायण ने इसका हिन्दी लिप्यतरण प्रस्तुत किया।
पर लगता है, विवेच्य अवधि मे हिन्दी पाठको के बीच यह पुस्तक लोकप्रिय न हो सकी
क्योकि १८४७ के बाद और १८७७ के पूर्व इसके किसी अन्य सस्करण का पता नही चलता।
इसका कारण कदाचित् इसकी भाषा रही हो। लिप्यतरण म लक्ष्मी नारायण ने उर्दू की
जगह केवल नागरी लिपि कर दी, भाषा प्राय ज्यो की त्यो उर्दू रह गयी। यह उर्दू ऐसी
थी, जिसे उस काल का सामान्य हिन्दी पाठक ठीक से नही समझ सकता था।

सन १८७७ ई० में जीवाराम जाट न 'बागोबहार' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया
जो नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसके बाद यह कहानी हिन्दी पाठको के बीच
बहुत लोकप्रिय हुई। १९२१ तक केवल नवल किशोर प्रेस से इसके १० सस्करण प्रकाशित
हो चुके थे। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में इस कथापुस्तक के और भी कई अनुवाद
प्रस्तुत किये गये जिनके कई कई सस्करण प्रकाशित हुए। यह 'चहार दरवेश' की लोकप्रियता
सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

'चहार दरवेश' की लोकप्रियता के कारणो पर जब हम विचार करते हैं तो पाते
हैं, कि अतिलौकिक तत्वो और असामान्य घटनाओ की योजना से कथा को रोमांचपूर्ण
तथा कौतूहलवर्धक बनाने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इस पुस्तक मे दशाधिक
कहानियाँ है पर उनकी योजना इस कौशल से की गई है कि एक कहानी से दूसरी कहानी
निकलती जाती है और अत मे सभी कहानियो की समाप्ति, उनके समाधान के साथ, हो जाती
है। कहानियो म आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्धक घटनाओं की भरमार है। कहीं देव
हैं, कही परियाँ हैं, कहीं जमीन खोदने पर लाल और रत्न निकलते हैं, कहीं जादू का
नगर है कहीं जिन्नों की फौज है कहीं जिन्न अपनी बात न माननेवाले के सरपर आसमान
से ईंट पत्थर बरसाते है कहा परियो का बादशाह मलिक शहपाल अपनी बेटी के लिए
पृथ्वी से दूल्हा मँगाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अतिलौकिक और रोमांच उत्पन्न

करनेवाली घटनाओं की योजना ही कहानीकार का एकमात्र उद्देश्य है। कहानी की समस्त घटनाओं का उद्देश्य पाठकों में केवल औत्सुक्य और कौतूहल उत्पन्न करना है, वे कारणकार्य की शृंखला में बद्ध नहीं हैं। अधिकांश घटनाएँ कथाकार की मरजी पर घटती हैं, न पूर्ववर्ती घटनाओं के स्वाभाविक विकास के रूप में नहीं आतीं। अपने उद्देश्य की पूर्ति में, यानी श्रोता में कौतूहल और द्विधा उत्पन्न करने के प्रयत्न में, कथाकार इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं करता कि घटनाएँ कहीं अस्वाभाविक और अविश्वसनीय तो नहीं हो रही हैं। वह वस्तुतः अपने को श्रोता की रुचि का बिलकुल अनुगामी बना लेता है। इन कहानियों का श्रोता घटनाओं की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता की परवाह नहीं करता वह केवल इतना चाहता है कि वे कौतूहल और द्विधा से रहित न हों।

'चहार दरवेश' की अधिकांश कहानियाँ प्रेम या इश्क का विषय लेकर चलती हैं। नायक के पक्ष में प्रेम की तीव्रता और प्रेमिका का प्राप्त करने के लिए प्रेमी के मार्ग में पड़नेवाली बाधाओं एवं विपत्तियों का वर्णन इन कहानियों में प्रमुख है। बड़ी कुशलता से इनमें प्रेम के साथ अपराध का तत्त्व भी मिला दिया गया है। प्रेम और वासनाजनित ईर्ष्या तथा धन के लोभ के कारण हत्या आदि अपराध की घटनाएं कहानी में घटती हैं। बीचबीच में परोपकार और दान का महत्त्व, इस्लाम की श्रेष्ठता, सज्जनता के लाभ अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा आदि उपदेशपूर्ण बातें दिखलानेवाली घटनाएँ भी हैं। तात्पर्य यह कि 'चहार दरवेश' की कहानी सब तरह से अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि के अनुकूल है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हिन्दी पाठकों की स्थिति को देखते हुए इस कथापुस्तक की लोकप्रियता आश्चर्यजनक नहीं।

अन्य कथाएँ

उन्नीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक में तीन कहानियाँ विशेष लोकप्रिय हुई, श्रीलालरचित धर्म सिंह का वृत्तांत और 'सूरजपुर की कहानी' तथा शुक बहत्तरी कथा। धर्म सिंह का वृत्तान्त' की कोई प्रति मुझे उपलब्ध नहीं हो पाई है। इसकी एक प्रति इंडिया आफिस पुस्तकालय, लंदन में है जिसकी सूचना कैटेलग ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ दि इंडिया आफिस में मिलती है। उक्त सूचना से यह नहीं ज्ञात होता कि यह कथा मौलिक है या अनुवाद। इससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि इसमें एक सत्यनिष्ठ जमादार की कहानी वर्णित की गयी है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस कहानी के २३ संस्करण हुए थे—१८७० ई० तक ११ संस्करण और १८७०-७७ के बीच १२ संस्करण। पता नहीं स्कूलों में पाठ्यपुस्तक रहने के कारण इतने इतने संस्करण हुए या सामान्य पाठकों में लोकप्रियता के कारण। अनुमानतः यह राजा शिवप्रसाद की पुस्तकों की तरह पाठ्यपुस्तक ही रही होगी।

'सूरजपुर की कहानी' श्रीलाल द्वारा अनूदित होकर १८५३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इसके मूल लेखक (उर्दू में) कोई मुंशी नज्म असदीन थे। यह पुस्तक भी मुझे प्राप्त नहीं हो सकी है। इसकी एक प्रति इंडिया ऑफिस पुस्तकालय, लंदन में है, जिसकी सूचना कैटेलग ऑफ दि लाइब्रेरी ऑफ दि इंडिया ऑफिस में दी गई है। उक्त सूचना

के अनुसार इस पुस्तक मे एक बेईमान पटवारी की कथा वर्णित है। पुस्तक उपलब्ध न होने
के कारण इसकी कथा तथा इस पर पाठकों की रुचि के प्रभाव का विवेचन सभव नही।

सन १८५९ ई० म सस्कृत की कथापुस्तक 'शुक सप्तति' का 'शुक बहत्तरी भाषा'
शीर्षक अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा अनुवाद १८६४ ई० मे हुआ। केवल इतने
से ही पाठको मे इस कथा की लोकप्रियता सिद्ध होती है क्योकि इसे अन्य पुस्तकों की
तरह पाठ्यपुस्तक होने का सौभाग्य प्राप्त नही हुआ था। १८७० ई० के बाद इस कथा
को और भी अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। सन १८७४ और १८८४ ई० के बीच इसके ७
सस्करणों का पता चलता है।

सन १८३० १८५९ ई० म रचित प्रकाशित अन्य गद्यकथाओ म पडित रतनलाल
द्वारा अनूदित 'कथासार' (१८३९ ई०) एम० टी० ऐडम द्वारा अनूदित 'मनोरजन
इतिहास' (१८४६ ई०) एम० गार्सों द तासी द्वारा सकलित 'क्रेस्टोमैथी हिन्दी एट
हिन्दुई' (१८४९ ई०) तथा राजा शिव प्रसाद द्वारा रचित 'वीर सिंह का वृत्तान्त' (१८५५
ई०), 'वामामनरजन' (१८५६ ई०) तथा 'लड़कों की कहानी' (दूसरा सस्करण १८६१)
आदि हैं। हिन्दी कथा साहित्य के विकास म इन कथाओं का विशेष योगदान नही है। ये
कथाएँ पाठ्यपुस्तको के रूप मे लिखी गई थी, सामान्य पाठकों से इनका कोई नाता नही था।

विवेच्य अवधि का अन्तिम दशक (१८६० ६९) एक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।
१८६० ई० मे हिन्दी म पहली उपन्यास नामधारी पुस्तक अनूदित होकर प्रकाशित हुई।
यह पुस्तक थी डैनियल डीफो रचित प्रसिद्ध अँगरेजी उपन्यास 'राबिन्सन क्रूसो' का अनुवाद
जिसे किसी प० बदरी लाल ने 'रॉबिन्सन क्रूसो का इतिहास' शीर्षक से प्रस्तुत किया
था। यह पुस्तक मेडिकल हाल प्रेस बनारस से प्रकाशित हुई थी। प० बदरी लाल ने यह
अनुवाद मूल अँगरेजी से न करके उसके बँगला अनुवाद से किया था। जान पडता है यह
उपन्यास हिन्दी पाठकों म काफी लोकप्रिय हुआ क्योकि इसका दूसरा सस्करण १८७३ ई०
म प्रकाशित हुआ।

प्रस्तुत प्रबन्ध का लेखक इस पुस्तक को प्राप्त करने म असमर्थ रहा है। इसकी
प्रतियाँ इण्डिया आफिस पुस्तकालय लदन मे उपलब्ध है। यदि पुस्तक सामने होती तो
इसकी भूमिका आदि से पता चलता कि अनुवादक ने किस बात म प्रेरित होकर इसका
अनुवाद प्रस्तुत किया था। इतना अनुमेय है कि १८६० ई० तक हिन्दी लेखक बगला म
उपन्यासरचना और अँगरेजी उपन्यासों के अनुवादों को देखकर स्वय भी उनकी तरफ
आकृष्ट होने लगे थे। 'राबिन्सन क्रूसो' का अनुवाद इस कथन की पुष्टि करता है। १२ वर्षों
म इसके एक सस्करण का समाप्त हो जाना जबकि हिन्दी म पाठकों की सख्या अत्यल्प था
इस बात का परिचायक है कि विवेच्य अवधि म उपन्यासपाठकों का समाज बन रहा था
जो हिन्दी उपन्यास के उदभव के लिए अनिवार्य शर्त थी। यदि एक उपमा का सहारा लें
तो कह सकते हैं कि विवेच्यकाल के अन्तिम दशक म उपन्यास पादप के लिए उचित भूमि
तैयार हो गई थी, जरूरत एक कुशल कृषक और परिश्रमी श्रमिकों की थी जिसकी पूर्ति
भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों ने की।

इसी दशक म सन १८६७ ई० म, जॉन बन्यन लिखित 'पिल्ग्रिम्स प्रॉग्रेस' का 'यात्रा स्वप्नोदय' शीर्षक अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इसी वर्ष इसका एक और अनुवाद 'यिसुई यात्री की यात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। १८८५ ई० मे 'यात्रा स्वप्नोदय' का दूसरा और १९०६ ई० मे तीसरा सस्करण प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद ईसाई पादरियो के उत्साह और व्यय से धर्मप्रचारार्थ प्रस्तुत किया गया था अत हिन्दी पाठकों की पठनरुचि से इसका विशेष सम्बन्ध नही।

एक वर्ष बाद सन् १८६८ ई० म उर्दू 'गुलबकावली' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ। १८७४ ई० मे इसका एक दूसरा अनुवाद बकावलीसुमन के नाम से प्रकाशित हुआ, जिसके अनेक सस्करण परवर्ती काल म हुए। इससे इस कथा की लोकप्रियता स्वयसिद्ध है।

'गुलबकावली म इश्क का रग चहार दरवेश स भी गहरा है। इस कथा का एक मात्र उद्देश्य रूमानी प्रेम, रोमाचक घटनाओ तथा नायक के साहसपूर्ण अभियान का वर्णन करके अपने श्रोता या पाठक का दिल बहलाना है। इस कथा मे कथाकार के दो ही उद्देश्य जान पडते है। एक तरफ तो वह अजीबोगरीब अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओ की योजना कर पाठको का कौतूहल जगाये रखना चाहता है और दूसरी तरफ अश्लील वर्णनो के द्वारा उसके मन को गुदगुदाते रहने का प्रयास करता है। कहानी म परियो तथा उनके अदभुत लोक का अमर्यादित वर्णन है, जहाँ की मिट्टी सोने की है, तथा मकानो म हीरे मोती जडे हुए हैं। ये परियाँ जादू और उडने की विद्या जानती हैं। नायक एक पोस्त की टोपी पहनता है जिससे वह स्वय तो सबको देखता है, पर उस कोई नही देखता। कहानी की नायिका इन्द्र के शाप से पत्थर बन जाती है। इस कहानी के फल हँसते हैं और एक एक अनार का फल एक एक घडे के बराबर है। इस प्रकार की घटनाओ म विश्वास कर कोई अपरिपक्व बुद्धि का पाठक ही कथा का आनन्द ले सकता है। हिन्दी के कथापाठक अभी इसी अवस्था म थ अत उनके बीच इस कथा को लोकप्रियता मिली।

विवेच्य दशक म प्रकाशित अन्य पुस्तकें 'नल प्रसग', नया काशी खण्ड, राज दूतों की कथा', फूलमणि और करुणा का वृत्तात', शनैश्चरजी की कथा', 'सिकन्दर शाह पातशाह के शहजादे रमनशाह का किस्सा' 'प्रह्लाद चरित, 'बुद्धिफलोदय', 'कृष्ण जन्म खण्ड' 'हिन्दी सलेक्सस, रामाश्वमेध', 'तीन देवों की कहानी' आदि हैं। ये सभी कथाएँ या तो अनुवाद हैं या सग्रह या रूपातरण। इनम स 'नया काशी खण्ड' और 'फूलमणि और करुणा का वृत्तात', ईसाई मत के प्रचारार्थ तथा 'राजदूतों की कथा बुद्धिफलोदय', 'हिन्दी सलेक्शस और 'तीन देवों की कहानी, पाठ्य पुस्तको के रूप म लिखी गयी थी। शेष कथाओ का प्रकाशन पाठको की अधिकतर हिन्दू पाठको की रुचि का ध्यान म रख कर किया गया था। इसस पता चलता है कि विवेच्य अवधि के अन्तिम दशक तक पहुचते पहुँचते हिन्दी पाठको का एक वर्ग तैयार हो गया था, भले ही यह वर्ग बहुत सीमित और अल्पबुद्धि तथा अपरिष्कृत रुचि का था।

सिंहावलोकन और निष्कर्ष

विवेच्य काल (१८००-१८६९) के हिन्दी कथासाहित्य का सिंहावलोकन करने पर कई रोचक तथ्य सामने आते हैं—

(१) इस अवधि में केवल एक मौलिक गद्यकथा लिखी गयी 'रानी केतकी की कहानी'। शेष कथाएँ या तो अनुवाद हैं या संग्रह या रूपांतर।

(२) ७० वर्षों की विवेच्य अवधि में केवल ३९ कथापुस्तकों की रचना हुई, औसतन लगभग दो वर्ष में एक पुस्तक की। इनमें से प्रथम दशक में ८ और अंतिम दशक में १५ पुस्तकें प्रकाशित हुईं। बीच के ५० वर्षों में केवल १६ पुस्तकें छपीं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना बिलकुल सही है कि "संवत् १७६० के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्तन हो गया, पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। इधर उधर दो चार पुस्तकें अनगढ़ भाषा में लिखी गई हों तो लिखी गई हों पर साहित्य के योग्य स्वच्छ सुव्यवस्थित भाषा में लिखी कोई पुस्तक संवत् १९१५ के पूर्व की नहीं मिलती।"[१] यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है, पर जब हम इसके कारणों पर विचार करते हैं, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं दिखाई पड़ती। अर्थशास्त्र का उत्पादन संबंधी नियम—किसी वस्तु का उत्पादन मुख्यतः उसकी माँग पर निर्भर करता है—साहित्य के क्षेत्र में भी लागू होता है। साहित्य की रचना पाठकों के लिए होती है, और यदि किसी भाषा में पाठक नहीं हैं, तो उसमें साहित्य भी नहीं होगा। पिछले अध्यायों में यह भली भाँति दिखाया जा चुका है कि १८६० ई० तक हिंदी पाठकों की संख्या बहुत कम थी। हिंदीभाषी प्रदेशों के पढ़ेलिखे लोग भी उर्दू या अँगरेज़ी साहित्य के पाठक थे। १८४०-१८६० ई० की अवधि में हिंदी पढ़नेवालों का एक वर्ग तो अवश्य था पर यह वर्ग आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक दृष्टियों से इतना महत्वपूर्ण नहीं था कि इसकी माँग साहित्य के उत्पादन का कारण बनती। फलतः इस अवधि में मौलिक कथापुस्तकें नहीं लिखी गयीं। १८६० के बाद जब हिंदी पाठकों की संख्या में वृद्धि होने लगी तब अनूदित कथापुस्तकों की संख्या में भी वृद्धि दृष्टिगोचर हुई और १८७० ई० के बाद लोगों का ध्यान मौलिक कथापुस्तकों की रचना की तरफ भी गया।

(३) १८५९ ई० तक प्रकाशित २४ पुस्तकों में से केवल ३ स्वतंत्र रूप से लिखी गयी थीं शेष २१ पुस्तकों की रचना पाठ्यपुस्तकों के रूप में हुई थी। स्वतंत्र रूप से लिखी गयी पुस्तकों के नाम हैं—'रानी केतकी की कहानी' (१८०० ई० के लगभग), 'गोरा बादल की कथा' (१८२४) और 'गुलसागर' (१८४६)। 'हातिमताई' (१८३८) 'किस्सा चहार दरवेश (१८४७) और 'तूक बहत्तरी भाषा' (१८५९) का नागरी लिप्यंतरण या हिंदी अनुवाद, यद्यपि हिंदी पाठकों की रुचि का ध्यान में रखकर बाद में किया गया पर इनका अनुवाद भी उर्दू में १९वीं शताब्दी के प्रथम दशक में, पाठ्यपुस्तकों के रूप में हो चुका था। किस्सा चहार दरवेश, बागोबहार के नाम से और तूक बहत्तरी

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (७), पृ० ४२२-२३।

तोता कहानी के नाम से, उर्दू में, पहले पहल पाठ्यपुस्तक के रूप में ही अनूदित प्रकाशित हुई थी।[1]

(४) १९ वीं शताब्दी के चौथे दशक तक जो कथापुस्तकें प्रकाशित हुईं (या उनके जो संस्करण निकले) वे मूल्य की दृष्टि से सामान्य जनता की पहुँच के बाहर थीं। फोर्ट विलियम कॉलेज तथा सरकारी संरक्षण में प्रकाशित पुस्तकों का मूल्य इतना अधिक था कि उन्हें सामान्य हिंदी पाठक खरीदने में समर्थ नहीं हो सकता था। विवेच्य शताब्दी के पाँचवें दशक से इन कथापुस्तकों का मुद्रण सामान्य पाठकों के लिए भी होने लगा। इस काल में प्रकाशित कुछ पुस्तकों के आवरणपृष्ठों पर प्राप्त होने वाले विज्ञापनों से इस कथन की पुष्टि होती है। १८४६ ई० में प्रकाशित 'रानी केतकी की कहानी' के आवरण पृष्ठ पर निम्नलिखित विज्ञापन छपा था—

"मोल कम्पनी सिक्का आठ आना। यह ग्रंथ जिनको लेने की कामना होवे उन्हें महानगर कलिकत्ते बाग तले की गली ३० संख्या इस यंत्रालय में मिलेगी।'

१८५१ ई० में मुद्रित 'हातिमताई' के आवरणपृष्ठ पर निम्नलिखित विज्ञापन प्राप्त होता है—

'ईश्वर के गोविंद रघुनाथ थत्ते ने इस किताब को आम के फायदे के वास्ते छपवाया।"

१८६३ ई० में प्रकाशित 'सिंहासन बत्तीसी' के आवरणपृष्ठ पर निम्नलिखित विज्ञापन मिलता है—

"यह केताब जिनको लेने की इच्छा होवे उन्ह महानगर कलकत्ते शोभा बाजार के बटतल्ले की २४५ संख्या हवेली इस छापेखाने में तलास करने से मिलेगा।'

इन विज्ञापनों से सिद्ध होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग पाँचवें दशक से सामान्य पाठकों को उद्दिष्ट कर कथापुस्तकें छपने लगी थीं। इसके लिए आवश्यक था कि पुस्तकें सस्ती हों। प्रकाशकों ने पुस्तकों को सस्ती बनाने के लिए सस्ते से सस्ता कागज लगाना आरम्भ किया। इस बीच अनेक मुद्रणयंत्र भी स्थापित हुए, जिससे छपाई कुछ सस्ती हो गई। इन मुद्रणालयों में छपाई का स्तर अत्यंत निम्न था। पुस्तकों को सस्ती बनाने के लिए मुद्रक मुद्रणसंबंधी सुघड़ता की अधिक चिन्ता नहीं करते थे। उनका उद्देश्य कम से कम मूल्य पर पाठकों के हाथ में किस्साकहानी की पुस्तकें देना था। इस स्थिति का संकेत देते हुए १८८३ ई० में मुद्रित 'चाहार दरवेश' के मुद्रक ने लिखा था—"किस्सा अति पुराचीन औ सुसम्वाद मनोरम फलदाइक था मगर अब छपानेवाला ने किफायत के वास्ते उसकी दुरगती कर डाली और पुरातिन किताब जा कि खूब शुद्ध छपि थि सा मिलनि नहीं।

यद्यपि स्वयं इस विज्ञापन में भाषा की दुर्गति कर डाली गई है, फिर भी, इससे वास्तविक स्थिति की सूचना अवश्य मिल जाती है। १८६९ ई० में छपी 'बैताल पचीसी' की भूमिका में इसके सम्पादक श्री सयद अब्दुल्ला ने लिखा था कि जब १८६६ ई० में

१ फोर्ट विलियम कॉलेज (२१), पृ० १८२ तथा १८४।

सिविल सर्विस कमीशन ने 'सिंहासन बत्तीसी' को इण्डियन सिविल सर्विस के उम्मीदवारों की परीक्षा के लिए पाठ्यपुस्तक के रूप में चुना तो उस समय यूरोप में इस पुस्तक का कोई भी शुद्ध संस्करण उपलब्ध नहीं था। तब भारत से बहुत व्यय करके और बहुत दिक्कत के बाद 'बैताल पचीसी' के जो संस्करण मँगाये गये उनकी न केवल छपाई दयनीय थी, वरन उनमें मुद्रणसंबंधी भूलें भी अत्यधिक थीं।[१]

१८८४ ई० में मुद्रित 'बैताल पचीसी' के अंतिम पृष्ठ के विज्ञापन से पता चलता है कि उस समय एन० एल० शील, कलकत्ते के यन्त्रालय से 'गुलबकावली' ४ आने में, 'बहार दरवेश' १ रुपये में, 'प्रेमसागर' १० आने में और बैताल पचीसी तीन आने में मिलती थी। १८४६ ई० में रानी केतकी की कहानी का मूल्य ८ आने था। फोर्ट विलियम कालेज के संरक्षण में छपी पुस्तकों के मूल्य को देखते हुए उपर्युक्त पुस्तकों का मूल्य नगण्य कहा जा सकता है।

इससे स्पष्ट है कि उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल से ही हिंदी पाठकों की रुचि और आर्थिक स्थिति के अनुरूप कथापुस्तकों का प्रकाशन होने लगा था।

(५) इस काल की, लगभग १८५० के बाद की, सामान्य हिंदी पाठकों को उद्दिष्ट कर प्रकाशित जितनी भी पुस्तकें हैं, सबमें मोटे टाइप का उपयोग किया गया है। चूँकि उस समय के अधिकतर हिंदी पाठक अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र थे, इसलिए, उनके लिए मोटे टाइप में छपी पुस्तकें ही सर्वाधिक उपयुक्त थीं। यह हम देख चुके हैं कि विवेच्य अवधि में हिंदी की पढ़ाई केवल प्राथमिक स्तर तक होती थी। उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अँगरेजी थी और विषय के रूप में हिंदी की अपेक्षा उर्दू को माध्यमिक स्कूलों में प्राथमिकता दी जाती थी। इस समय हिंदी क्षेत्रों में उच्चशिक्षा प्राप्त व्यक्ति या तो अंगरेजी के प्रेमी थे या संस्कृत के या उर्दू फारसी के। हिंदी पढ़ना हिंदी क्षेत्रों में भी नीची नजर से देखा जाता था। ऐसी स्थिति में हिंदी कथापुस्तकों के पाठक यदि अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र थे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उनके लिए मोटे टाइप में पुस्तकों का मुद्रित होना भी सर्वथा स्वाभाविक था।

इससे यह सिद्ध होता है कि न केवल कथापुस्तकों के विषय पर, बल्कि उनके आकार, मुद्रण, मूल्य और बाह्य सज्जा पर भी पाठकों की रुचि, उनकी शिक्षादीक्षा और आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है।

(६) इस अवधि की सार्वप्रिय पुस्तकों में केवल एक—रानी केतकी की कहानी—मौलिक है। हम देख चुके हैं कि इसकी विषयवस्तु पर मध्यकालीन सामन्तीय मुस्लिम रुचि की स्पष्ट छाप है। चूँकि इस पुस्तक की रचना सामान्य हिंदी पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर नहीं की गयी थी, इसलिए इसमें तत्कालीन सामान्य भारतीय जीवन की झाँकी नहीं मिलती। इस कहानी में कहीं भी तत्कालीन समाज के हर्षविषाद, आचार-विचार रीति रस्म संस्कृति-सभ्यता, आदि का चित्रण नहीं किया गया है। केवल दरबारी मुस्लिम रुचि को ध्यान में रखकर सूफी प्रेमकथाओं की नकल पर कुछ घटनाएँ एक

१ बैताल पचीसी, लंदन, डब्लयू० एच० एलन एंड कंपनी, १८६०।

शृंखला में जोड़ दी गयी हैं और फिर नखशिख वर्णन, विरह वर्णन संयोग वर्णन युद्ध वर्णन आदि के द्वारा, जिनमें भोगविलास का जीवन व्यतीत करनेवाले पतनकालीन नवाबों और उनके खुशामदी दरबारियों की सर्वाधिक रुचि थी, कथा को फुला दिया गया है। ऐसी कथा में सामान्य पाठकों की रुचि कब तक बनी रह सकती थी? विवेच्य काल के उत्तरार्ध में यह कथा सामान्य हिन्दी पाठकों में इसलिए लोकप्रिय होने में सफल हुई कि इसमें जादू मंतर, सिद्ध गुटका तथा कुछ रोमांचकारी घटनाओं की योजना द्वारा पाठकों में कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता है। फिर भी 'बैताल पचीसी' 'सिंहासन बत्तीसी' और प्रेमसागर की तरह यह कथा हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सकी, यह उक्त पुस्तकों की संस्करणसंख्या से स्पष्ट है। 'रानी केतकी की कहानी' की लोकप्रियता बहुत दिनों तक बनी भी नहीं रही। बीसवीं शताब्दी तक आते आते लोग इसके अस्तित्व को भूलने लगे और अब यह ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तक बनकर रह गयी है।

(७) इस अवधि की लोकप्रिय अनूदित कथाएँ दो स्रोतों से आयी हैं। संस्कृत स्रोत से आनेवाली कथाओं में 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पचीसी', 'प्रेमसागर' और 'शुक बहत्तरी' हैं, जबकि 'हातिमताई' 'चहार दरवेश' और 'गुलबकावली' फारसी स्रोत से अनूदित कथाएँ हैं। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत स्रोत से आयी कथाएँ हिन्दी पाठकों में जितनी लोकप्रिय हुईं, उतनी फारसी स्रोत से आयी कथाएँ न हो सकीं। इसके कई कारण हैं। संस्कृत कथाओं में हिन्दू जीवन, हिन्दू भावना और हिन्दू आदर्श की अभिव्यक्ति हुई है जिसे पढ़ने और अपने जीवन में अपनाने की लालसा उस समय के प्रत्येक हिन्दू में स्वाभाविक थी। इनमें से प्रेमसागर का महत्त्व तो धार्मिक भी है। उस समय का प्रत्येक हिन्दू यह विश्वास करता था कि भगवान् कृष्ण की लीलाओं को पढ़ने सुनने से मुक्ति मिलती है। यों शृंगारजन्य सरसता और रोमांचकारी घटनाओं के वर्णन की दृष्टि से भी प्रेमसागर बहुत बढ़ाचढ़ा है। कथा के बीच बीच में ऐसे उपदेश पिरोये हुए हैं जो एक आस्तिक हिन्दू के लिए अत्यन्त लाभनीय है। अपनी इन विशेषताओं के कारण 'प्रेमसागर' हिन्दी पाठकों में विशेष लोकप्रिय हुआ।

'सिंहासन बत्तीसी' और 'बैताल पचीसी' की कथाएँ विक्रमादित्य से सम्बद्ध हैं, जिनके नाम और यश से प्रत्येक हिन्दू परिचित है। विक्रमादित्य के प्रताप, वीरता, दानशीलता, दयालुता, न्यायशीलता और प्रजाप्रेम की कहानियाँ पढ़कर एक हिन्दू पाठक को अपने गौरवपूर्ण अतीत के प्रति हर्ष का बोध होता है। इसके साथ साथ राजाप्रजा स्वामी-सेवक, पति-पत्नी भाई-बहन, मित्र मित्र आदि के पारस्परिक सम्बन्ध विषयक जो हिन्दू आदर्श हैं, उनकी झाँकी इन कथाओं में स्थान स्थान पर देखने को मिलती है। परोपकार, दयालुता स्वामिभक्ति प्रजाप्रेम, पातिव्रत्य, सात्विक जीवन, आस्तिकता, ज्योतिष सम्बन्धी विश्वास आदि के संस्कार हिन्दू पाठकों में रूढ़िबद्ध हैं जिनका वर्णन इन कहानियों में पाकर उन्हें महान आत्मसंतोष होता है। रोचकता में तो ये अद्वितीय हैं ही।

रोचकता की दृष्टि से 'चहार दरवेश' 'हातिमताई' और 'गुलबकावली' भी घटकर नहीं हैं बल्कि रोमांचक तथा कौतूहलपूर्ण घटनाओं की दृष्टि से ये संस्कृत कथाओं से बढ़कर हैं। पर इन कहानियों में ऐसी बातें वर्णित हैं जो हिन्दू आस्थाओं के सर्वथा प्रतिकूल हैं।

इन कहानियों के पात्र—पुरुष और स्त्रियाँ दोनों—अक्सर शराब पीते हैं, शाहजादियाँ अविवाहितावस्था में ही एकाधिक पुरुषों के साथ संयोग करती हैं और उनके प्रेमी इसे जानकर भी उनके लिए जान देने को तैयार रहते हैं। पुरुष पात्र जहाँ भी किसी सुन्दर स्त्री को देखते हैं उसके प्रेम में आहें भरने लगते हैं। इन कहानियों की स्त्रियाँ पुरुषों के सहवास का उपकरणमात्र हैं। दगाबाजी धनता अपराध, व्यभिचार हत्या आदि की घटनाओं से ये कहानियाँ भरी हुई हैं। इनमें स्थान स्थान पर इस्लाम धर्म की अन्य धर्मों से श्रेष्ठता सिद्ध की गई है और मूर्तिपूजकों की निंदा की गयी है। एक आचारविचार प्रधान तथा हिंदू आदर्शों को माननेवाले पाठक की रुचि ऐसी कथाओं में कैसे हो सकती थी? यही कारण है कि रोचकता में बढ़ चढ़ कर होने पर भी फारसी स्रोत की कहानियाँ संस्कृत कहानियों की तुलना में हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सकीं।

(८) निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवेच्यकाल में हिन्दी उपन्यास डिंभावस्था में था। हिन्दी उपन्यास के जन्म के लिए जिन परिस्थितियों और भौतिक उपकरणों की आवश्यकता थी वे धीरे धीरे जुट रही थीं। मुद्रणयंत्रों की स्थापना सरकारी कामकाज में खड़ी बोली (अधिकतर उसके उर्दू रूप का) का प्रयोग आधुनिक शिक्षा का विकास, अँगरेजी साहित्य से परिचय वैज्ञानिक विचारधाराओं और रेल तार आदि का प्रचार यूरोप के सामाजिक आदर्शों से भारतीयों का परिचय ब्रह्म समाज की स्थापना तथा बंगाल के सामाजिक नेताओं द्वारा आरम्भ किए गए क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन और सबसे महत्त्वपूर्ण, हिन्दी पाठकों का विकास। इन विविध हेतुओं ने मिलकर हिन्दी उपन्यास को जन्म दिया। इस अवधि में एक नया युग अपनी समस्त विविधताओं और जटिलताओं के साथ प्रसववेदना से छटपटा रहा था जिसकी अभिव्यक्ति उपन्यास के रूप में हुई। उपन्यास अपने युग की आशाआकांक्षाओं जटिलताओं, संघर्षों और परिवर्तनों का सुयोग्य वाहन बनकर आया।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी उपन्यास का उद्भव और शैशवकाल (१८७०-१८८९ ई०)

हिन्दी उपन्यास
का
उद्भव और शैशवकाल
(१८७०-१८८९)

हिन्दी पाठकों का विकास

विवेच्य काल म यद्यपि हिन्दी पाठको की स्थिति म कोई उत्साहवधक परिवतन नही हुआ, फिर भी उच्च शिक्षा के विकास, हिन्दीसेवियो की निःस्वाथ सेवा तथा हिन्दी पत्र पत्रिकाओ के विकास के फलस्वरूप पाठको की सख्या और स्तर मे पहले की अपेक्षा कुछ वृद्धि अवश्य हुई। पाठको के इस विकास का प्रभाव तत्कालीन कथासाहित्य पर स्पष्टत देखा जा सकता है। आगे के पृष्ठो म हिन्दी पाठको की स्थिति को निर्धारित करनेवाले हेतुओ का विवेचन किया जा रहा है।

(१) शिक्षा का प्रसार और हिन्दी पाठको के विकास पर उसका प्रभाव

गत अध्याय म सन १८७० ई० तक की देश की शैक्षणिक स्थिति का सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। बाद के १० वर्षों म शिक्षा के प्रसार के सम्बन्ध मे कोई उल्लेखनीय बात नही हुई। सन १८८२ ई० म भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई जिसने देश की शैक्षणिक समस्याओ और उनके समाधान के सम्बन्ध मे अभिस्ताव प्रस्तुत किये थे।

विश्वविद्यालयीय शिक्षा का विकास और शिक्षा का माध्यम

जहाँ तक विश्वविद्यालयीय शिक्षा का प्रश्न है, उक्त आयोग ने उसकी प्रगति मे बहुत कम भाग लिया। सरकारी निर्देशो के कारण उपयुक्त आयोग कॉलिजीय शिक्षा की समस्या का अध्ययन व्यापक रूप म न कर सका, जिसके परिणामस्वरूप आयोग के एतत्सम्बन्धी अभिस्ताव उतने महत्त्वपूर्ण नही, जितने महत्त्वपूर्ण उसके माध्यमिक या प्राथमिक शिक्षासम्बधी अभिस्ताव हैं। फिर भी आयोग के शिक्षासम्बन्धी अन्य अभिस्तावो का प्रभाव विश्वविद्यालयीय शिक्षा पर अप्रत्यक्ष रूप से पडा ही। इन अभिस्तावो के फलस्वरूप १८८२ ई० के बाद माध्यमिक शिक्षा का प्रसार तेजी स हुआ, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कॉलिज म प्रवेश पाने की इच्छा रखनेवाले छात्रो की सख्या म प्रतिवर्ष वृद्धि होती गयी। यही कारण है कि अननुकूल नीति के बावजूद १८८२ ई० के बाद कॉलिजो की सख्या म बहुत द्रुत वृद्धि हुई। १८८२ ई० म भारतीय विश्वविद्यालयो स सबद्ध कॉलिजो की सख्या ६८ थी, जिनम ४९ प्रथम कोटि (ग्रेड) के कॉलिज थे और १९ द्वितीय कोटि (ग्रेड) के। परवर्ती दशक म, यानी १८८२–१८९१ ई० मे ६१ नये कॉलिजो को विश्वविद्यालयों की सबद्धता (एफिलिएशन) प्राप्त हुई, जिनम ३० प्रथम कोटि के और ३१ द्वितीय कोटि के थे।

थे।[1] इससे स्पष्ट है कि विवेच्य काल के उत्तरार्ध में विश्वविद्यालयीय शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई।

विवेच्य अवधि में दो विश्वविद्यालयों की सन १८८२ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय की तथा १८८७ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की, स्थापना हुई। पंजाब विश्वविद्यालय इसलिए विशेष उल्लेखनीय है कि इसमें प्राच्य विद्या का एक अलग निकाय था, जिसमें छात्रों को उर्दू के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में योग्यता और उच्च योग्यता की परीक्षाएँ भी इसके द्वारा चलायी जाती थीं।

कॉलेजीय शिक्षा में अँगरेजी शिक्षा का माध्यम थी। विषय के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं का अध्ययन भी कालेजों में स्वीकृत था, पर इनका अध्ययन नाममात्र को ही होता था। हिन्दी और भी उपेक्षित थी। सरकारी कार्यालयों और कचहरियों में सर्वत्र उर्दू का बोलबाला था, इसलिए हिन्दू अभिभावक भी अपने लड़कों को उर्दू पढ़ाना ही पसंद करते थे। कॉलेजों में उर्दू पढ़नेवाले छात्रों की तुलना में हिन्दी छात्रों की संख्या नगण्य थी। रसिक पंच नामक मासिक पत्र के भाग १ अंक १ (१७ अप्रैल १८८५ ई०)[2] में प्रकाशित 'हिन्दी प्रचलित क्यों नहीं होती' शीर्षक संपादकीय के निम्नोद्धृत अंश से उक्त कथन की पुष्टि होती है। संपादक ने हिन्दी के अप्रचलन के दो कारण बताये थे—प्रथम, अँगरेज सरकार का उर्दू के प्रति पक्षपात और दूसरे वह चंडाल चौपटा हिन्दू जो अपने लड़कों को हिन्दी नहीं सिखाते मधभाषा[?] उर्दू का बड़ा उत्तम समझे हुए हैं। अजी बिना उर्दू के दीन कॉफ दुरुस्त नहीं होता' यही कहा करते हैं जब तक ये काठ के उल्लू अपनी संतति को नागरी अर्थात निज भाषा की शिक्षा न देंगे तबतक हिन्दी के समाज की देश की उन्नति किस प्रकार संभव है ... लखनऊ के इतने बड़े कैनिंग कालेज में पाँच या चार छात्र केवल हिन्दी पढ़ने वाले हैं। इस उद्धरण से कॉलेजों में हिन्दी अध्ययन की स्थिति का अनुमान सहज रूप से लगाया जा सकता है।

माध्यमिक शिक्षा और शिक्षा का माध्यम

१८८२ ई० के भारतीय शिक्षा आयोग ने यद्यपि प्राथमिक शिक्षा के विकास पर विशेष बल दिया, फिर भी माध्यमिक स्कूलों और उनमें शिक्षा पानेवाले छात्रों की संख्या प्राथमिक स्कूलों और उनमें शिक्षा पानेवाले छात्रों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से बढ़ती रही। भारतीय शिक्षा आयोग ने पाया था कि सन १८५४-१८८२ ई० की अवधि में प्राथमिक शिक्षा की तुलना में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति अधिक तेजी से हुई थी और इसलिए उसने यह अभिस्तावित किया था कि सरकार को भविष्य में प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए अनवरत प्रयास करना चाहिए और माध्यमिक शिक्षा के विस्तार को मुख्यतः निजी प्रयत्नों के भरोसे छोड़ देना चाहिए। पर हुआ यह कि १८८२-१९०२ ई० की अवधि में भी माध्यमिक शिक्षा का प्रसार बहुत द्रुतगति से हुआ जबकि प्राथमिक शिक्षा का प्रश्न पहले की तरह उपेक्षित पड़ा रहा।

---

१ तुलना और नादके (११) पृ० २२४।

२ प्राप्ति स्थान—सिन्हा पुस्तकालय गायघाट पटना सिटी।

भारत की प्रान्तीय सरकारों ने आयोग के निजी शैक्षणिक प्रयत्नों को प्रोत्साहन देने में सबद्ध अभिस्तावों को मान लिया। फलस्वरूप अगले दो दशकों में (१८८२ १९०२) माध्यमिक शिक्षा का, विशेष कर निजी स्कूलों के रूप में, द्रुत विकास हुआ। सन १८८१ ८२ ई० में माध्यमिक स्कूलों की संख्या ३९१६ थी, जिनमें २,१४,०७७ छात्र शिक्षा पाते थे। १९०१ ०२ ई० में स्कूलों की संख्या बढ़कर ५१२४ और छात्रों की संख्या ५,९०,१२९ हो गयी।[1] विभिन्न विश्वविद्यालयों की मैट्रिकुलेशन परीक्षाओं में प्रत्येक वर्ष बैठनेवाले परीक्षार्थियों की संख्या भी यही कहानी दुहराती है। १८८२ ई० में समस्त विश्वविद्यालयों में मैट्रिकुलेशन के परीक्षार्थियों की संख्या ७४२९ थी, १८८५ ८६ ई० में यह संख्या १२०९३ और १८८९ ई० में ११११३८ हो गयी। यदि केवल बंगाल को लिया जाए तो वहाँ मैट्रिकुलेशन के परीक्षार्थियों की संख्या १८७२ ई० में २१४४, १८८२ ई० में ३०००, १८८५ ई० में ४३१७, १८८८ ई० में ६१३४ और १९०० ई० में ६३०७ थी।[2]

दुर्भाग्यवश माध्यमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में आधुनिक भारतीय भाषाओं को अपनाने की दिशा में, १८८२ १९०२ ई० की अवधि में कोई प्रगति नहीं हुई। शिक्षा के माध्यम की समस्या के संबंध में उक्त आयोग के विचार सर्वथा निराशाजनक थे। इसमें हाई स्कूल स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषाओं के व्यवहार के संबंध में कुछ नहीं कहा गया था और स्पष्टतः अँगरेजी के व्यवहार का समर्थन किया गया था। आयोग ने केवल मिडिल स्कूल स्तर पर शिक्षा के माध्यम के संबंध में विचार किया पर इस संबंध में भी वह किसी निश्चित निष्कर्ष पर न पहुँच सका।[3] फलस्वरूप इस अवधि में मातृभाषाओं के माध्यम से शिक्षा देनेवाले उच्च विद्यालयों को विकसित करने का विचार निश्चित रूप में त्याग दिया गया और १९०२ ई० में समस्त ब्रिटिश भारत में कोई छात्र अपनी मातृभाषा के माध्यम में जो उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर सकता था वह अधिक से अधिक मिडिल स्कूल स्तर तक सीमित थी।[4] इस समय तक अँगरेजी की पढ़ाई ही माध्यमिक पाठ्यक्रम का प्रधान उद्देश्य माना जाने लगा था। स्कूलों और कॉलेजों में भारतीय भाषाओं का अध्ययन उपेक्षित था। 'हिन्दी प्रदीप,' खंड ११, संख्या १२ (अगस्त १८८८) में प्रकाशित 'हिन्दी का अपमान' शीर्षक निबंध[5] (पृ० १३) में स्कूलों के पाठ्यक्रम में हिन्दी की उपेक्षा पर प्रकाश डालते हुए सूचित किया गया था, कि 'हिन्दी भाषा इलाहाबाद युनिवर्सिटी के इन्ट्रेंस क्लास से निकाल दी गयी है परीक्षा में अँगरेजी के साथ दूसरी भाषा अरबी फारसी लाचारी से अथवा गौण में संस्कृत भी रखी गयी है। लाचारी से यह कि अठारह करोड़ हिन्दू प्रजा पर सुलाखुली अन्याय बयाकर शोभित होगा।' बच्चों को अँगरेजी सिखाने का काम प्रायः उसी समय आरंभ करा दिया जाता था जबकि अभी उन्हें अपनी मातृभाषा का भी

१ नुरुल्ला और नायक (११) पृ० ३१७।

२ टी० एन० सिकेरिया, दि एजुकेशन ऑफ इंडिया, पृ० ८९ भगवान दयाल (५), पृष्ठ २३२ पर उद्धृत।

३ नुरुल्ला और नायक (११) पृष्ठ ३१८।

४ उपरिवत् पृष्ठ ३२१।

५ प्राप्ति स्थान—चैतन्य पुस्तकालय गायघाट, पटना सिटी।

सम्यक् जानकारी नहीं हो पायी रहती थी और माध्यमिक पाठ्यक्रम में शिक्षा के माध्यम के रूप में अंगरेजी का व्यवहार इतना पहले आरंभ कर दिया जाता था कि छात्रों का अधिकांश समय शिक्षा के माध्यम की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने में ही समाप्त हो जाता था और पाठ्यक्रम के अन्य विषय उपेक्षित रह जाते थे। यह स्थिति माध्यमिक और विश्वविद्यालयीय स्तर पर दीर्घकाल तक बनी रही, और सच पूछा जाए, तो आज भी, कुछ हद तक, विद्यमान है। मिडिल स्कूल स्तर में १८९० ई० के लगभग हिन्दी की क्या दशा थी इसका पता 'हिन्दी प्रदीप' (जनवरी मार्च १८९०) में प्रकाशित निम्नोद्धृत पंक्तियों से चलता है—

हर साल मिडिल की परीक्षा में संस्कृत हिन्दी में उमेदवार घटते जाते हैं इस समय इलाहाबाद सेंटर में ४०० विद्यार्थी ऐंग्लो वरनाकुलर की परीक्षा में थे, उनमें हिन्दी के ७० से भी कम हिन्दी और संस्कृत मिला कर थे और खाली वर्नाकुलर की परीक्षा में २२१ में केवल १७ हिन्दी के थे—पार साल शायद इतने भी न रहें क्योंकि इस वर्ष तक हिन्दी परीक्षा में थी—औसत के हिसाब से देखिये तो अंगरेजी स्कूलों में सैकड़ा पीछे १८ और दो प्रती मदर्सों में सैकड़ा पीछे ८ ही होते हैं इस्से अनुमान होता है कि दिहातों से बहुत जल्द हिन्दी उठ जायगी और अंग्रेजी मदरसों में ४ या ५ वर्ष में हिन्दी वा संस्कृत बिलकुल निर्मूलित हो जायगी—जिस स्कूल में हर एक दर्जे में बीस पचीस विद्यार्थी हिन्दी संस्कृत के थे वहाँ अब देखा जाता है कि किसी क्लास में एक किसी में दो हैं और ५ से अधिक तो किसी दर्जे में हई नहीं इन्ट्रेन्स या मिडिल तक पहुँचते पहुँचते कदाचित कोई विद्यार्थी रह जाय वा न रहे।[१]

प्राथमिक शिक्षा और हिन्दी

जैसा कि पिछले परिच्छेद में देखा जा चुका है ऊडस डिस्पैच के अनुकूल अभिस्तावों के बावजूद १८७० ई० तक प्राथमिक शिक्षा के विकास की ओर सरकार का ध्यान नहीं गया। सन १८६८ ७० ई० की अवधि में सरकारी आदेशानुसार भारत की शैक्षणिक प्रगति के सम्बन्ध में लगातार कई जाँचपड़तालें की गयीं जिनमें जनसमूह के बीच प्राथमिक शिक्षा के विस्तार पर बल दिया गया। फलस्वरूप सरकार का ध्यान प्राथमिक शिक्षा के विकास की तरफ गया। १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा आयोग के प्रतिवेदन के अनुसार १८७१ और १८८२ ई० के बीच विभागीय स्कूलों (विभाग में समाविष्ट प्राचीन पद्धति के स्कूलों के साथ) की संख्या १६,४७३ से बढ़कर ८२९१६ तथा छात्रों की संख्या ६ ०७ ३२० से बढ़ कर २० ६१ ५४१ हो गयी।[२] किन्तु देश की आवश्यकता को देखते हुए यह प्रगति सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा आयोग ने तत्कालीन शैक्षणिक स्थिति का संक्षेप में बहुत स्पष्ट वर्णन किया है—'अभी भी भारत के सर्वाधिक उन्नत प्रान्तों में स्कूल जाने योग्य आयु वाले लड़कों में ७५% और उसी आयु की लड़कियों में ९८% शिक्षा से वंचित रह जाती हैं।[३]

---

१ हिन्दी प्रदीप जनवरी मार्च १८९० (११)।
२ मुकर्जी और नायक (११), पृष्ठ ११९।
३ दि रिपोर्ट ऑफ दि इंडियन एजुकेशन ऑफ १८८२ पृष्ठ ५८४ भगवान दयाल (५) पृ० १०२ पर उद्धृत।

इस प्रकार १८५४-८२ ई० की अवधि में प्राथमिक शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही। फलतः १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा आयोग का ध्यान इस समस्या की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। आयोग के प्रतिवेदन में प्राथमिक शिक्षा सम्बन्धी विचार और सुझाव प्रमुख हैं और उनके कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभिस्ताव जनसमूह में प्राथमिक शिक्षा के विस्तार से सम्बद्ध हैं, पर आयोग के अभिस्ताव सम्यक् रूप से कार्यान्वित नहीं किये जा सके और देशी पद्धति के प्राथमिक स्कूल दिनोदिन समाप्त होते गये। प्रान्तीय सरकारों ने आयोग के अभिस्तावों पर ध्यान नहीं दिया और अगले २० वर्षों तक कॉलेजों और माध्यमिक स्कूलों का द्रुत विस्तार होता रहा। १८८२ ई० में लार्ड रिपन ने स्थानीय संस्थाओं का संगठन किया तथा प्राथमिक स्कूलों का प्रबन्ध इन्हीं स्थानीय संस्थाओं के हाथ में सौंप दिया गया। पर इन संस्थाओं को इतने बंधनों में काम करना पड़ता था, तथा सरकारी सहायता इतनी कम मिलती थी, कि ये प्राथमिक शिक्षा के विकास में कोई महत्वपूर्ण योग न दे सकीं। निम्नांकित आंकड़ों से, जो १९०४ ई० के भारतीय सरकार के संकल्प से लिये गये हैं, विवेच्य काल में प्राथमिक शिक्षा की स्थिति का पता चलता है।[१]

ब्रिटिश भारत (१८८२-१८९१) में प्राथमिक स्कूल और छात्र

वर्ष	प्राथमिक स्कूलों की संख्या	छात्रों की संख्या
१८८१-८२	८२,९१६	२०,६१,५४१
१८९१-९२	९७,१०७	२८,३७,६०७

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल के प्रथम दशक में शिक्षाप्रसार के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय काम नहीं हुआ। १८८२ ई० के भारतीय शिक्षा आयोग के अभिस्तावों के परिणामस्वरूप प्राथमिक शिक्षा का, जो १८७० ई० तक बिलकुल ही उपेक्षित थी, कुछ विकास हुआ, पर आँकड़ों को देखते हुए इस प्रगति को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। उधर आयोग के अननुकूल अभिस्तावों के बावजूद माध्यमिक और कॉलेजीय शिक्षा का द्रुतगति से प्रसार हुआ। चूँकि स्कूलों और कॉलेजों में अँगरेजी शिक्षा का माध्यम थी तथा इन संस्थाओं में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन को बहुत कम महत्त्व दिया जाता था इस कारण इस अवधि में उच्च शिक्षा के विकास से हिन्दी पाठकों की संख्या में कोई उल्लेखनीय वृद्धि न हो सकी। हिन्दी पाठकों की उच्चतम शिक्षा, अधिकतर प्राथमिक स्कूलों तक सीमित थी। हिन्दी के जो भी परिष्कृत पाठक थे, वे अधिकतर संस्कृत के विद्वान थे जिन्होंने हिन्दी का अभ्यास कर लिया था। अधिकांश हिंदू उर्दू पढ़ते थे। शेष हिन्दी पाठक केवल प्राथमिक स्तर तक हिन्दी की शिक्षा प्राप्त हुए थे। इससे स्पष्ट है कि विवेच्य युग में हिन्दी पाठकों की संख्या अल्प थी और हिन्दी के अधिकांश पाठक अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र थे।

---

१ भगवान दयाल (५), पृ० १०९।

(२) सरकारी कार्यालयों, अदालतों और जनजीवन में हिंदी का स्थान

१८५० ई० तक सरकारी अदालतों तथा अन्य सरकारी कार्यालयों में उर्दू का एकाधिपत्य स्थापित हो चुका था। गदर के बाद हिन्दीप्रेमियों ने हिन्दी भाषा और नागरी लिपि की स्वत्वोपलब्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, राजा लक्ष्मण सिंह, श्री केशवचन्द्र सेन, पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि ने अपने लेखों तथा भाषणों के द्वारा इस सरकारी और सार्वजनिक क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिलाने का प्रयत्न किया। इनके प्रयत्नों के फलस्वरूप १८६० ई० के बाद हिन्दी का प्रचार तेजी से बढ़ा। पर जहाँ तक सरकारी अदालतों, कार्यालयों और शैक्षणिक संस्थाओं का प्रश्न है १८७० ई० तक स्थिति में प्रायः कोई परिवर्तन नहीं हुआ और हिन्दी, जनसामान्य की भाषा होने पर भी, सरकार तथा सरकारी कर्मचारियों की निरंतर उपेक्षा का शिकार बनी रही।

विवेच्य काल (१८७०-८९) में हिन्दी-उर्दू संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। एक तरफ तो भारतेन्दु मंडल के हिन्दीप्रेमियों ने पत्रपत्रिकाओं में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों में स्थान दिलाने का आंदोलन किया, दूसरी तरफ, उर्दूप्रेमियों की सारी कोशिश इस आंदोलन को नाकाम कर देने में लगी रही। इस संघर्ष के इतिहास को देखने से हिन्दी की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

सन् १८६८ ई० में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद ने कचहरियों में नागरी के प्रवेश के लिए असफल प्रयास किया था। विवेच्य अवधि (१८७०-८९) में भी कचहरियों में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रवेश के लिए प्रयत्न किये जाते रहे पर वहाँ उर्दू भाषा और फारसी लिपि का ही बोलबाला बना रहा। १८७०-८० ई० में अदालतों में हिन्दी की क्या स्थिति थी इसका पता अप्रैल १८७९ ई० के हिन्दी प्रदीप में प्रकाशित एक पाठक के पत्र से चलता है। श्री महावीर प्रसाद नामक सज्जन ने जो हजारीबाग में विद्यालय उपनिरीक्षक थे लिखा था, "और लोग यथाशक्ति हिन्दी की कुछ उत्साह भी देते हैं पर कायस्थवर्ग हिन्दी की उन्नति का नाम ही सुनकर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं मानो हिन्दी उनकी सौतेली माँ है और ये ही लोग औरों की अपेक्षा इस देश में प्रायः पढ़े लिखे और सभ्य होते हैं पर मातृभाषा हिन्दी के परम शत्रु हैं खासकर इस बिहार प्रान्त के कायस्थ जो उर्दू ही को मातृभाषा और अपने जीवन का सर्वस्व माने बैठे हैं इस प्रदेश में केवल यही जाति है जो कचहरियों में हिन्दी जारी होना नहीं चाहते क्या चाहेंगे हिन्दी का नाम तक नहीं जानते न उर्दू का सा मजा इन्हें मिल सकता है उरदू उठ जाय तो गवर्नमेण्ट का अच्छा काम करेगी भाइयों का गला रेतने का सुबीता कैसे मिले।"[1]

इस अवधि में कचहरियों में नागरी लिपि के प्रवेश के लिए बराबर प्रयत्न होते रहे थे। सन् १८८१ ई० में बिहार की कचहरियों में नागरी या कैथी लिपि को प्रवेश मिला। इसी वर्ष मध्यप्रदेश की कचहरियों में भी हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग की अनुमति मिली[2] पर लगता है सरकारी अनुमति प्राप्त हो जाने पर भी अमल और

१ हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८७९ (४)।

२ पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा अवध में अदालती अक्षर और प्रारम्भरी शिक्षा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २ १८९८ ई० पृ० १८०-१७।

वकील मुख्तार हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रयोग म उत्साह नहीं दिखाते थ।
उपयु क्त श्री महावीर प्रसाद ने अपने एक दूसरे पत्र म लिखा था—

" अभी बिहार बन्धु की चेष्टा से नागरी अक्षरो का प्रचार कचहरियो म हो चला था और हिंदी इस योग्य हो गई थी कि दो चार कदम चल फिर सके तो अब यार लोग रुपये की ३ अठन्नी के आने की जुगत बन्द होते जान भात भात की करामात करने से बाज नहीं आते जिसम हिंदी के पैर फिर टूट जाय।"[1]

बिहार और मध्य प्रदेश की अदालतों म १८८१ ई० म नागरी अक्षरों और हिंदी भाषा को प्रवेश मिला और ज्यों-त्यों करके इनका थोडा बहुत व्यवहार भी यहाँ की कचहरियो म होने लगा पर उत्तर प्रदेश म जो हिंदी भाषा का प्रमुख क्षेत्र था, विवेच्य अवधि म अदालतों की भाषा उर्दू ही बनी रही। मई १८८२ ई० म बाबू महाबीर प्रसाद ने अपने एक पत्र मे लिखा था—" कचहरियों मे उर्दू अपना दबदबा जमाए हुए है अपने सहोदर पुत्र मुसलमानो के सिवा हिन्दू जो उसके सौतेले पुत्र हैं उन्हे भी ऐसा फसाय रखा है कि उसी के असगत प्रेम म वध ऐसे महानीच निठुर स्वभाव हो गए कि अपनी निज जननी सकल गुण आगरी नागरी की ओर नजर उठाय भी अब नही देखते।"[2]

अप्रल १८८२ ई० के 'हिंदी प्रदीप' म प० बालकृष्ण भट्ट ने पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध म हिंदी की दयनीय दशा पर प्रकाश डालते हुए लिखा था—"इस बात को सब लोग मानते हैं कि हिन्दुस्तान म मुसलमानो की अपेक्षा हिंदू कहीं जियादह हैं और मुसलमानो म भी थोडे से शहर के रहनेवाले पढ लिखे को छोडकर बाकी सब मुसलमान हिन्दी ही बोलते हैं वरन देहातो मे बहुत से मुसलमान ऐसे मिलते है जो उर्दू फारसी एक अक्षर नही जानते तो कुछ थोडा बहुत शोद गाद लेते है वह सब हिंदी नही तो क्या मे तब न जानिये सरकार ने प्रजा के दुखदायी होने के लिए यह अनरीति कहाँ से सीखी जो उर्दू फारसी के अक्षर अदालतो म जारी कर रक्खा है।[3]

अगस्त १८८२ ई० के हिन्दी प्रदीप म प० बालकृष्ण भट्ट ने 'आनरबिल डब्ल्यू० हटर साहिब एल० एल० डी० सी० आई० ई० शिक्षा कमीशन के सभापति के नाम एक खुलापत्र (दिनांक २६ अगस्त सन १८८२ ई०) छापा था, जिसम उन्होंने अदालतो तथा स्कूलो म हिन्दी को उचित स्थान देने के लिए प्रार्थना की थी। उन्होने हिंदी के व्यापक प्रचार का उल्लेख करते हुए लिखा था— ब्राह्मण से लेकर चमार तक इसी भाषा को बोलते है। क्या राजा रक क्या पडित क्या मूर्ख सब अपनी हिंदी को बोलते है गाव के लोग जब अपने वकील मुख्तारो के पास आते हैं तो प्रथम अपना वृत्तात हिंदी म कह सुनाते है फिर जब उसी भाषा म फारसी अरबी की गढंत गढी जाती है तो फिर वे दीनहीन प्रजागण उसके समझने म असमर्थ हो जाते है, जब उनके वकील मुख्तार हिन्दी भाषा म बतला देते है तो उनका जी भर जाता है यह बात नित्यप्रतिदिन देखी जाती है इसमे सदेह नहीं कि हिन्दी को पढा अनपढा सब समझता है और उर्दू को केवल फारसी अरबी वाले खूब समझते हैं इसी विचार पर गवर्नमेंट भी सबके जताने के लिए कभी २ हिन्दी म उल्था कराके अपना प्रयोजन करती है जब छोटे २ लड़के फारसी की किताबें पढने

---

१ प्रेरित पत्र, हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८० (७)।
२ हिन्दी प्रदीप मई १८८२ (८)।
३ पश्चिमोत्तर और अवध में हिन्दी की हीन दशा, हिन्दी प्रदीप, अप्रैल १८८२ (७)।

लगन है तो उन्हें फारसी शब्दों का अर्थ इन्हीं हिंदी शब्दों में बतलाया जाता है तो उनकी समझ में आता है इसीलिए लडकों को खालिकबारी किताब पढ़ाई जाती है जिसको बहुत दिन हुए खुसरो सुलतान ने फारसी शब्दों का अर्थ हिंदी में लिखा है तो भी जो चौदह पंद्रह वर्ष तक फारसी अरबी को नहीं पढ़ते उर्दू ठीक २ उनकी समझ में नहीं आती इसी कारण बहुत से मुसलमान ताजियों के दिनों में हिन्दी का मर्सिया पढ़ते सुनते हैं क्या शहर क्या गाँव सब ठौर मुसलमानों के भी घर की स्त्रियाँ हिन्दी के गीत गाती है, धर्म संबंधी गीतों मे नबी पैगम्बर रसूल का नाम छोड़कर और सब शब्द हिंदी के रहते हैं और दूसरे प्रकार के गीतों में केवल हिन्दी के रसीले शब्द भरे रहते हैं।

'इस पश्चिमोत्तर देश और अवध में सब मिल के ४,४१ ७० ११८ मनुष्य हैं इनमें से ४८,२२,८८६ मुसलमान हैं और शेष हिंदू कि जिनकी मातृभाषा किसी न किसी प्रकार हिन्दी ही है रहे मुसलमान सो उनमें भी जितने गाँव के रहने वाले है वे तो अवश्य ही हिंदी बोलते है और समझने को तो कोई ऐसा नहीं है कि हिंदी को न समझ बोलने में भी १० मुसलमानों में ९ हिंदी बोलते है कारण यह कि हिन्दी देश की भाषा और उर्दू किताबी भाषा है कि जिसके लिए बहुत समय चाहिये।

हिन्दी के सहज और रोचक होने के कारण आल्हा ऊदल की लडाई का कडखा जब ढोल बजाय के गाया जाता है तब सुननेवालों की भीड़ में जगह नहीं मिलती यही गति पादरियों की है कि हिन्दी भाषा में उपदेश करने के कारण एक बड़ी भीड उनके पास इकट्ठी हो जाती है और उनकी पुस्तकें हाथोंहाथ बिक जाती है और हमारी सरकार विद्यारूपी अमृत कुण्ड को अरबी फारसी के कठिन शब्द रूपी वज्र केवाड से ऐसा बंद कर रक्खा है कि जिससे सर्वसाधारण प्रजा मूर्ख और निरक्षर होती जाती है इस बात के ध्यान को छोड़ कोई कोई बड़े लोग थोड़े से अरबी फारसी के पक्षवालों के कहने से सन्देह में पड़े है कि कदाचित हिन्दुस्तानियों की भाषा हिंदी के सिवाय और ही हो।

श्रीमान ग्रिफिथ साहब ने अपनी सन १८७७ वा १८७८ की रिपोर्ट में यह बात खोलकर लिख दिया है कि इस देश की भाषा हिन्दी है और अवध के इन्सपेक्टर श्रीमान नेसफील्ड साहब ने अवध में विद्या के न फैलने का कारण यही लिखा है कि वहाँ के लोगों की भाषा (हिंदी) में शिक्षा न दी जाकर उर्दू में पढाई होती है जिस कारण से लोग अपने बालकों को स्कूल कम भेजते है।

'स्त्री शिक्षा जो कि जातीय शिक्षा का एक बडा भारी अंग है कभी उर्दू *के द्वारा हो सकेगी, यह सर्वथा असम्भव है हमारे देश की स्त्रियाँ कभी उर्दू भाषा के* पढने मे प्रीति करें यह विचारना ही व्यर्थ है। इस विषय में एक यही बडा भारी प्रमाण है कि स्त्रियों के पढ़ने के लिये जो पुस्तकें हिंदी और उर्दू भाषा में सर विलियम म्योर साहब ने छपवाई थी, उनमें से हिंदी पुस्तकें उर्दू पुस्तकों से बहुत ही अधिक बिकीं और कई बार छप चुकी हैं।'[१]

अपने इस पत्र में भट्ट जी ने सरकार से प्रार्थना की थी कि हिंदी जैसी जनभाषा और नागरी जैसी जनलिपि को स्कूलों और कचहरियों में उचित महत्त्व प्रदान किया जाए।

---

१ हिंदी प्रदीप अगस्त १८८२ (१०)।

सन १८८२ ई० में 'मित्र विलास' के संपादक पं० गोपीनाथ ने उर्दू के स्थान पर हिंदी को प्रतिष्ठित करने के लिए लाहौर के रईसों की ओर से शिक्षा आयोग के पास एक स्मरणपत्र (ममोरियल) भिजवाने का प्रयत्न किया था। पं० बालकृष्ण भट्ट ने मार्च १८८२ ई० के 'हिंदी प्रदीप' में पं० गोपीनाथ को इस कार्य के लिए धन्यवाद देते हुए उत्तर प्रदेश के नागरिकों को भी इस प्रकार का प्रयत्न करने के लिए उत्साहित किया था।[1] उत्तर प्रदेश के अन्य हिंदीहितैषी भी अदालतों में नागरी लिपि के प्रयोग के लिए सरकार के पास स्मरणपत्र (ममोरियल) भेजने का विचार कर रहे थे।

फलत: इसी वर्ष स्मरणपत्र भेजने का निश्चय किया गया जिसकी अंतिम तिथि ३० नवम्बर १८८२ ई० रखी गयी। अक्टूबर १८८२ ई० के 'हिंदी प्रदीप' में श्री राधाचरण गोस्वामी ने एक विज्ञापन निकाला था, जिसमें लोगों से निवेदन किया गया था कि वे अदालतों में हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों के प्रचलन के लिए अधिकाधिक संख्या में मुद्रित ममोरियल पर हस्ताक्षर करके भेजें। अनेक हिंदी प्रेमी और हिंदी की संस्थाएँ इस कार्य में संलग्न थीं। अलीगढ़ की भाषा वर्द्धिनी सभा बहुत उत्साह से हस्ताक्षर संकलन का कार्य कर रही थी।[2]

सन् १८८२ ई० में ही हजारों लोगों द्वारा हस्ताक्षरित स्मरणपत्र, जिसमें पश्चिमोत्तर प्रदेश की अदालतों में नागरी लिपि जारी करने की माँग की गयी थी हंटर आयोग के समक्ष प्रस्तुत किया गया। पर सर सैयद अहमद खाँ, जिनकी बात सरकार में ज्यादा सुनी जाती थी, आयोग के प्रभावशाली सदस्य थे और उन्होंने आयोग को समझा दिया कि यह मामला शिक्षा आयोग से संबद्ध नहीं है बल्कि एक राजनैतिक मामला है। इस पर आयोग को विचार करने का अधिकार नहीं है।[3]

फलत: हिंदी भाषा और नागरी लिपि के दावे को अस्वीकार कर दिया गया।[4] फरवरी १८८४ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में पं० बालकृष्ण भट्ट ने हिंदीभाषियों से अपील की कि वे अब महारानी विक्टोरिया के पास अपनी प्रार्थना भेजें और यदि वहाँ भी सफलता न मिले तो रूस, जर्मनी तथा फ्रांस के राजाओं से इस संबंध में निवेदन किया जाए।[5]

सितंबर १८८५ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'म्युनिसिपैलिटी का दफ्तर हिन्दी में क्यों न हो' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की, जिसमें म्युनिसिपलिटी के कार्यालयों में फारसी अक्षरों के स्थान पर नागरी अक्षरों के प्रयोग की अपील की गयी थी।[6] 'हिन्दी प्रदीप' के ही अक्टूबर १८८५ ई० के अंक में 'प्रेरित' शीर्षक स्तंभ में एक पाठक ने उर्दू के स्थान पर नागरी अक्षरों के प्रयोग का समर्थन किया था।[7] तत्पश्चात अगस्त १८८८ ई०

१ हिंदी प्रदीप मार्च १८८२ (६)।
२ हिंदी प्रदीप, अक्टूबर १८८२ (११)।
३ खड़ी बोली का आंदोलन (१?) पृ० ८९।
४ हिंदी प्रदीप फरवरी १८८४ (१४)।
५ इंटर स्माव हिंदी प्रदीप, फरवरी १८८४ (१४)।
६ हिंदी प्रदीप सितम्बर १८८५ (१७)।
७ उपरिवत् अक्टूबर १८८ (१८)।

कथा (फिक्शन) कहना और मनोरंजनप्रधान या रूमानी कथाओं की व्यापक श्रेणी में रखना ही अधिक उपयुक्त है।

उपन्यास की 'नवीनता' वैयक्तिक अंतर्दृष्टि की नवीनता और मानवीय व्यक्तित्व के अनोखेपन में निहित है। इस प्रकार की नवीनता में तत्त्व और गहराई होती है, इसकी चमक समय के व्यतीत होने या निकट के परिचय से कभी समाप्त नहीं होती।[१]

इस विवेचन के आधार पर हम उपन्यास की एक संक्षिप्त किन्तु यथासंभव दोष रहित परिभाषा का निर्माण कर सकते हैं। कहा जा सकता है कि उपन्यास पर्याप्त लंबाई में लिखित वह गद्यकथा है जो पाठक को एक काल्पनिक पर यथार्थ संसार में, जो लेखक द्वारा सृष्ट होने के कारण नवीन होता है, ले जाती है।[२] इसके विपरीत साहित्य का कोई भी अन्य रूप जो मौखिक कविता, वर्णन, दृष्टान्तीकरण, नाटक, तथ्य, मन:कल्पना, उपदेशाख्यान या सूत्र होता है, उपन्यास नहीं होता।

उपन्यास की इस निश्चित कसौटी पर अब हम इस बात की परीक्षा कर सकते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी की किस हिंदी गद्यकथा को उपन्यास कहा जा सकता है, या किसमें उपन्यास के अधिक से अधिक गुण हैं।

'रानी केतकी की कहानी' के संबंध में विचार किया जा चुका है।[३] उपन्यास की उपर्युक्त कसौटी पर इस कृति की परीक्षा करने पर इसे 'उपन्यास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यह एक पर्याप्त लम्बाई की लिखित गद्यकथा तो है, इसमें चित्रित संसार काल्पनिक भी है, पर उपन्यास के सर्वप्रमुख गुण 'यथार्थता' और 'नवीनता' का इसमें सर्वथा अभाव है। जैसा हम देख चुके हैं, यह गद्यकथा सूफी प्रेमाख्यानों की हू-ब-हू नकल है। अतिलौकिक तत्त्वों, साहित्यिक रूढ़ियों और प्रेम के आदर्शवादी चित्रण से भरा हुआ यह एक अयथार्थवादी रूमानी प्रेमाख्यान है। इसमें हम तत्कालीन जीवन की झलक नहीं पाते। इसके पात्र हमारे संसार के जीते जागते व्यक्ति न होकर रूमानी कल्पलोक के असामान्य और अतिलौकिक प्राणी हैं। इसकी भाषा गद्य होने के बावजूद सभी प्रकार की साहित्यिक रूढ़ियों, अलंकृत वर्णनों, तुकों और अनुप्रासों से पूर्ण कृत्रिम भाषा है। अतः 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी का प्रथम उपन्यास नहीं कही जा सकती जैसा कि हिंदी के कुछ आलोचकों ने लिखा है।[४]

'रानी केतकी की कहानी' के बाद हमारे सामने उसके लगभग ७० वर्ष बाद लिखित, 'देवरानी जेठानी की कहानी' (१८७० ई०) नामक मौलिक गद्यकथा आती है। इस कथा पुस्तक के नाम में ही नवीनता के दर्शन होते हैं जो उपन्यास की विशेषता है। यह 'रानी केतकी' की नहीं 'देवरानी जेठानी' की कहानी है। 'रानी केतकी' का अस्तित्व

१ दि नॉविल एंड दि रीडर (४), पृ० २७।

२ उपरिवत्।

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबंध, तृतीय अध्याय, पृ० १४०।

४ 'रानी केतकी की कहानी' से हिन्दी उपन्यास का आरंभ माननेवालों में श्री नलिनविलोचन शर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अपने एक निबंध में हिंदी उपन्यास के संबंध में यह नवीन स्थापना प्रस्तुत की थी—'हिन्दी उपन्यास : प्रारंभिक काल', दृष्टिकोण, अगस्त १९५४, पृ० ४३।

मानवप्राणी के रूप म सभव नही, वह अपने काल (१८०० ई० क लगभग) की रानिया का प्रतिनिधित्व नही करती। वह एक काल्पनिक लोक की अयथाथ स्त्रीपात्र है जिसका शरीर और मन साहित्यिक रूढ़िया द्वारा निर्मित है। इसके विपरीत 'देवरानी जेठानी' तत्कालीन (१८७० के लगभग) परिवारा की यथाथ स्त्रिया हैं। इसमे 'देवरानी' के रूप म तो लेखक ने अपने आदश और इच्छित विश्वास को वाणी दी है, पर 'जेठानी' के रूप म उसने तत्कालीन अशिक्षित और मूख स्त्रियो का सच्चा तथा विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया है।

'देवरानी जेठानी की कहानी' यद्यपि स्त्रिया के पढनपढान के लिए, तथा उन्हें गहस्थधम का उपदेश देने के लिए लिखी गयी थी, पर लेखक अपनी कथा की 'नवीनता' से पूणत अभिज्ञ था। उसने लिखा है, कि "मैंने इस कहानी को नय रग ढग मे लिखा है।"[१] यह 'नया रग ढग' कहानी की भाषा और विषयवस्तु दोनो रूपों मे दिखाई पडता है। यथाथता के प्रति लेखक का स्पष्ट आग्रह है। वह अपनी कथा को अधिक से अधिक विश्वसनीय और जीवन का प्रतिनिधि बनाना चाहता है। पुस्तक की 'भूमिका' म यह यथाथवादी दष्टिकोण निम्नलिखित शब्दा म व्यक्त हुआ है—

इस पुस्तक म स्त्रियों ही की बोलचाल और वही शब्द जहाँ जसा आशय है लिखे हैं और यह वह बोली है जो इस जिले के बनियों के कुटुम्ब में स्त्री पुरुष वा लडके बाल बोलते चालते हैं सस्कृत के बहुत शब्द और पुस्तकों जसे इसलिये नही लिखे कि न कोई चित्त से पढ़ता है और न सुनता है इस पुस्तक में यह भी दर्शा दिया है कि इस देश के बनिये जन्म मरण विवाहादि म क्या २ करते हैं पढी और बपढी स्त्रियों में क्या २ अतर है बालको का पालन और पोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिये स्त्रियों का समय किस २ काम में व्यतीत होता है और क्योंकर होना उचित है बपढी स्त्री जब एक काम को करती है उसमें क्या २ हानि होती है पढी हुई जब उसी काम को करती है तो उससे क्या २ लाभ होता है स्त्रियों की यह बातें जो आजतक नहीं लिखी गईं मैंने खोजकर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक २ वही लिखा है जैसा आजकल बनियों के घरों में हो रहा है बाल बराबर भी अन्तर नही है।[२]

इस कथन की अतिम पंक्ति यथाथवाद के उस आग्रह से युक्त है, जो उपन्यास का प्राण है। इस यथाथवादी आग्रह की पूर्ति कथा के कलेवर म भी हुई है यद्यपि कथा का मूल स्वर यह नहीं है। तत्कालीन वश्य समाज की सास्कृतिक और पारिवारिक स्थिति—उनके आचारविचार, पवत्योहार, रीतिरिवाज तथा घरलू वातावरण—का इस कथापुस्तक म यथाथ वणन उपलब्ध होता है। १८७० ई० के लगभग एक वश्य परिवार म शिशु के जन्म, विवाह और वृद्ध की मृत्यु के समय कौन कौन सी रस्म प्रचलित थीं, इसका सविस्तर वणन कथाकार ने किया है।

इस कथा म आये व्यक्तिया और स्थाना के नाम प्राचीन कहानिया के विपरीत, विशिष्ट और यथाथ हैं। 'रानी केतकी की कहानी' का कुअर उदमान किसी देश के

१ प० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, भूमिका।
२ उपरिवत्।

किसी राजा' का लडका है रानी केतकी 'महाराज जगत परकास" की बेटी है पर जगत परकास' कहाँ क राजा है, इसका कोई उल्लेख नहा मिलता। देवरानी जेठानी की कहानी के पात्र जिन स्थाना के निवासी हैं उनका इस पृथ्वी पर वास्तविक अस्तित्व है। उदाहरणत मेरठ दिल्ली, हापुड खरजा, गुडगाँव आदि जितने स्थाना क नाम इस कथा पुस्तक मे आये है उनकी वास्तविक भौगोलिक स्थिति है। पात्रा क नाम भी—पावती, सुखदेई दौलतराम छोटे—वास्तविक व्यक्तियो के नाम है, भावो या विचारो क मानवीकृत रूप नहा। पात्रो और स्थाना के नामो की वास्तविकता के कारण जसा हम देख चुके हैं कथा म यथार्थता और विशिष्टता का गुण आ जाता है जो उपन्यास के लिए अनिवाय है। इस दृष्टि से 'देवरानी जेठानी की कहानी' उपन्यास के अत्यत निकट है।

देवरानी जेठानी की कहानी की भाषा भी प्राचीन गद्यकथाओ की भाषा से सवथा भिन्न और यथाथ चित्रण के अनुरूप है। यद्यपि इसम साहित्यिक गुणो का अभाव है, पर दैनिक जीवन की भाषा के निकट और अनलकृत तथा निराडबर होने के कारण इसमे म यथाथ का भ्रम उत्पन्न करने की क्षमता है। भाषा के निम्नोद्धृत उदाहरण स बात स्पष्ट हो जाएगी।

मेरठ म सवसुख नाम एक अग्रवाला बनियाँ था मडी म आडत की दूकान थी आसपास के गावो से लोग सौदा लाते इसकी दूकान पर बेच जाते पसा रुपया तुलाई का इसके हाथ भी लग जाता और जब कभी भाव चढा देखता हजार दो हजार का नाजपात लेकर दूकान में डाल देता फायदा देख उस बच डालता व्याज बट्टे और गिर्वी पाने की भी उस बहुतेरी आमदनी थी हाट हवेली धन दौलत दूध पूत परमेश्वर का दिया उसके सबकुछ था और यह इसने अपने ही पुरुषार्थ स किया था मा बाप तो पिछले हैज में पाँच वष का छोडकर मर गय थ चाचा ने पाला था थोडे ही दिन हुए हो ग जब तो कुकडिया बेचा करे था चना चबेना करता खाता सिर प लिये गलियों म फिरा करे था फिर इसने परचन की दूकान कर ली मुशी टिकन नारायण और हरसहाय कावली शहर के अमीरो की इसके यहाँ उचापत उठने लगी इसम परमेश्वर ने एसी सुनी की आडत की दूकान हो गई।[१]

इसकी तुलना म 'रानी केतकी की कहानी' की भाषा कृत्रिम है। उसम तुकों के प्रति लेखक का स्पष्ट आग्रह है जो यथाथ चित्रण का बाधक है।

इस यथार्थवादी चित्रण और अकृत्रिम भाषा के बावजूद देवरानी जेठानी की कहानी को पूर्ण अर्थों म उपन्यास की सज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि इसम उस जटिल वस्तुविन्यास नाटकीय शिल्प और मनोवैज्ञानिक तथा विश्वासोत्पादक चरित्रचित्रण का अभाव है जो उपन्यास के लिए आवश्यक माना जाता है।

देवरानी जेठानी की कहानी की कथावस्तु इकहरी सरल और वशिष्ट्यरहित है। सामान्य समयानुक्रम मे नियोजित घटनाओ या कार्यो की शृखला से इसकी कथावस्तु का निर्माण हुआ है। समयानुक्रम म उलटफर नाटकीय पद्धति पर कार्यों की योजना, समय

१ प० गौरीदत्त, देवरानी जेठानी की कहानी, पृ० ७९।

के निर्वन्ध द्वारा कथा में रहस्य की सृष्टि, और घटनाओं में कार्यकारण संबंध की स्थापना—कथानक (प्लाट) या औपन्यासिक शिल्प की इन विशेषताओं का इस कथा में सर्वथा अभाव है। इस कथा में वर्णित घटनाएँ या कार्य जीवन में नित्यशः घटित होनेवाली वे आधारभूत घटनाएँ या कार्य हैं, जिनमें अतिपरिचय के कारण हमारी विशेष रुचि नहीं होती। उदाहरणार्थ भोजन, शयन या नित्यक्रियाएँ जीवन के अनिवार्य अंग हैं, पर हमारे मन में इनके प्रति साधारणतः कोई जिज्ञासा नहीं होती। जीवन के कार्य हमारी जिज्ञासा के विषय तब बनते हैं, जब उनमें कोई नवीनता होती है और यह नवीनता उनमें तब आती है जब वे किसी विशिष्ट उद्देश्य, भावना या अभिप्राय से युक्त होते हैं। किसी विशिष्ट उद्देश्य भावना या अभिप्राय से युक्त होने पर जीवन के सामान्य कार्य भी विशिष्ट और संकट बिन्दु से युक्त हो जाते हैं उनमें हमारी रुचि हो जाती है वे हमारी जिज्ञासा को आकृष्ट करने में सफल होते हैं। 'देवरानी जेठानी की कहानी' में वर्णित कार्य इस गुण से रहित हैं। अज्ञात परिणाम से युक्त संकटबिन्दुसम्पन्न तथा जिज्ञासा को उत्तेजित करने की क्षमता रखनेवाले कार्य इस कथापुस्तक में विरल हैं। इसके अतिरिक्त इस कथा पुस्तक में वर्णित समस्त कार्यों की सृष्टि किसी न किसी उपदेश के निदर्शन के निमित्त हुई है उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से भी यह कथापुस्तक महत्त्वरहित है। यह ठीक है कि इसमें मुख्य रूप से देवरानी और जेठानी का चरित्र वर्णित है पर लेखक इन पात्रों को विशिष्ट व्यक्तित्व देने में सफल नहीं हो सका है। देवरानी और जेठानी वास्तविक व्यक्ति नहीं, कथाकार द्वारा कल्पित आदर्श देवरानियों और तत्कालीन अशिक्षित तथा मूर्ख स्त्रियों के प्रतिरूप (टाइप) हैं। इन्हें विशिष्ट व्यक्तित्व देने की बात तो अलग रहे कथाकार ने विशिष्ट नाम तक देना आवश्यक नहीं समझा है। इस कहानी में देवरानी के जो चारित्रिक गुण हमारे सामने आते हैं, वे विश्वासोत्पादक नहीं हैं। वह सुशील है, सुशिक्षिता है, सलाहवाली है नम्र है, समझदार है गृहप्रबन्ध में प्रवीण है—ये सभी उस जमाने में एक आदर्श स्त्री के गुण माने जाते थे—पर इन गुणों की प्राप्ति के लिए देवरानी को जटिल और संकटपूर्ण परिस्थितियों से गुजरना नहीं पड़ता। ये गुण उसे सहजरूप में कथाकार से प्राप्त हो गए हैं। देवरानी का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं वह उपन्यासकार का प्रवक्तामात्र है। वह व्यक्ति नहीं विचार है यथार्थ नहीं आदर्श है। उपन्यासकार ने उसके चरित्र के माध्यम से अपनी मान्यताओं और तत्कालीन नैतिक मूल्यों का परिचय दिया है।

'जेठानी अशिक्षित मूर्ख और सभी दुर्गुणों से युक्त नारी का प्रतिरूप है। वह भी देवरानी की तरह लेखक के आदर्श के 'पूर्वपक्ष' का उदाहरण करती है। एक आदर्श नारी का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए यह भी आवश्यक था कि लेखक एक 'यथार्थ' नारी का उदाहरण प्रस्तुत करे। यही कारण है कि जेठानी का चरित्र व्यक्तित्व विहीन और प्रतिरूप होने पर भी यथार्थ और विश्वसनीय जान पड़ता है। इसके चरित्र द्वारा तत्कालीन नारीसमाज में फैली अशिक्षा, अंधविश्वास, कलहप्रियता, अज्ञान आदि का परिचय हमें यथार्थ रूप में मिल जाता है।

स्पष्टत 'देवरानी जेठानी की कहानी' का उद्देश्य स्त्रियो को गृहधर्म का उपदेश देना है। इस कथा का केन्द्रीय विचार यह है कि अशिक्षित और मूर्ख स्त्रियाँ पारिवारिक जीवन को नरकतुल्य बना डालती है जबकि शिक्षित और विवेकशील स्त्रियाँ नरकतुल्य घर को भी स्वर्ग म परिणत कर देती हैं। लेखक कथा का आरभ करने के पूर्व इस विचार को स्थिर कर लिये हुए है। कहा जा सकता है कि कथाकार द्वारा चित्रित जीवन से यह निष्कर्ष नही निकला है, वरन इस निष्कर्ष से कथा म चित्रित जीवन उद्भूत हुआ है। समूची कथा इस केन्द्रीय विचार का निदर्शनमात्र है। इस कारण इस कथा म जीवन नही, विचार या आदर्श का पुतलामात्र है। कथा के बीच बीच म कथाकार प्रत्यक्ष रूप म आकर उपदेश भी दे जाता है। ये सभी विशेषताए उपदेशाख्यान (मोरल फेबुल) की हैं, इसलिये देवरानी जेठानी की कहानी उपदेशाख्यान' के बहुत निकट आ जाती है।

पर हमने इस विवेचन के आरभ म देखा है कि 'देवरानी जठानी की कहानी' कई अर्थों मे प्राचीन कथाओ से, इसलिये प्राचीन 'उपदेशाख्यानो से भी भिन्न है, इसकी कथावस्तु पात्रचित्रण और भाषा में एक ऐसी नवीनता तथा यथार्थता है जो इस प्राचीन उपदेशाख्यानो से सर्वथा भिन्न श्रेणी में ला देती है। अत हिन्दी उपन्यास का आरभ 'देवरानी जठानी की कहानी' से ही माना जाना चाहिए और इसे 'उपदेशाख्यानक उपन्यास' की सज्ञा मिलनी चाहिये। यह इसलिए और भी उचित है कि 'भाग्यवती और 'परीक्षागुरु' भी जिन्हे हिन्दी के आलोचक हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानते हैं इसी प्रकार के 'उपदेशा,ख्यानक उपन्यास' हैं। आगे हम उनके सबध मे विचार करेंगे।

विवेच्यकाल की दो पुस्तकें, मुशी ईश्वरी प्रसाद और मुशी कल्याणराय लिखित वामा शिक्षक' (१८७२ ई०) तथा प० श्रद्धाराम फुलौरी रचित भाग्यवती' (१८७७) बिलकुल 'देवरानी जेठानी की कहानी' के ढग की कथापुस्तकें है। चाहे यह सयोग ही हो, पर 'वामा शिक्षक 'देवरानी जेठानी की कहानी की प्रतिकृतिमात्र है। इसम पात्रो और स्थानो की नवीनता तथा नारी आदर्श सबधी कुछ अधिक उदाहरणो के अतिरिक्त और कोई मौलिकता नही है। इसम भी एक सीधी सरल कहानी के उदाहरण मे स्त्रियो को आदर्श नारी बनने का उपदेश दिया गया है। घटनाओ तथा वार्त्तालापो के द्वारा स्त्रीशिक्षा से होनेवाले लाभो को उदाहृत करना ही इस कथा का लक्ष्य है। समूची पुस्तक उपदेशो म भरी हुई है। एक आदर्श नारी के जितने भी सभव गुण हो सकते है—यथा शिक्षित होना बडो का सम्मान करना परिश्रम करना, घर का समुचित प्रबन्ध करना सभालकर खर्च करना, छोटो से स्नेह करना, बच्चो का उचित ढग से लालनपालन करना सभी काम समझबूझ कर करना आदि—उनका सोदाहरण वर्णन प्रस्तुत कथापुस्तक म किया गया है। लेखक के मतानुसार आदर्श नारी के जो भी गुण हो सकते हैं व मथुरादास की बहू तथा उनकी लडकियो, गगा और किशोरी मे भर दिये गये है तथा स्त्रियो म जितने भी दुर्गुण सभव हो सकते हैं वे जमुनादास की स्त्री और उसकी लडकियो, राधा और पार्वती म दिखाये गये हैं। इसकी भाषा कथावस्तु तथा पात्रो और स्थानो के नामकरण म यथार्थ का रग है। सक्षेप म जो बातें देवरानी

जेठानी की कहानी' के संबंध में कही गई है वे 'वामा शिक्षक' के संबंध में भी कही जा सकती हैं। यह भी एक 'उपदेशाख्यानक उपन्यास' है।

पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी रचित 'भाग्यवती' का सविस्तर विवेचन पहले ही किया जा चुका है।[1] जैसा कहा जा चुका है, फुल्लौरी जी ने इसकी रचना स्त्रियों को गृहस्थधर्म का उपदेश देने के लिये की थी। यद्यपि 'भाग्यवती' का विषय पूर्वोक्त दोनों कथापुस्तकों से व्यापक है—इसमें आदर्श नारी का उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ साथ तत्कालीन समाज की अनेक कुप्रथाओं का भी वर्णन किया गया है—पर है यह भी निदर्शन ही। इस कथापुस्तक की प्रत्येक घटना या कार्य किसी न किसी उपदेश का उदाहरण है। इसमें जो जीवन चित्रित हुआ है, उसका अस्तित्व नहीं। 'भाग्यवती' भी पूर्वोक्त दोनों कथापुस्तकों की तरह, तत्कालीन जीवन का यथार्थ चित्र नहीं प्रस्तुत करती वरन् तत्कालीन जीवन के लिए एक आदर्श रखती है। इसके पात्र भी यथार्थ मनुष्य नहीं, वरन् विचारों और आदर्शों के उदाहरण हैं। इसका केन्द्रीय विचार भी पूर्वोक्त दोनों पुस्तकों के समान 'शिक्षित स्त्री घर को स्वर्ग में परिणत कर देती है' है, और कथा का समस्त ढांचा इसी नींव पर खड़ा किया गया है। जटिल वस्तु विन्यास, समयानुक्रम में उलटफेर नाटकीय शैली, मनोवैज्ञानिक और विश्वासोत्पादक चरित्रचित्रण का इसमें नितान्त अभाव है। इस प्रकार 'भाग्यवती' भी उपदेशाख्यान की श्रेणी में आती है। पर साथ साथ इसकी भाषा, कथावस्तु तथा पात्रों के नामकरण और चित्रण में नवीनता और यथार्थता की झलक भी दिखायी पड़ती है। तत्कालीन हिन्दू समाज की अनेक कुरीतियां, यथा बालविवाह, विवाह के समय प्रचलित अनेक अंधविश्वास, श्राद्धकर्म में किये जाने वाले अपव्यय आदि का सविस्तर वर्णन इस कथापुस्तक में मिलता है। काशी के ठगों, पुलिस कर्मचारियों तथा साधुवेश में पारा को चाँदीसोना में परिणत कर देने का लोभ दिखाकर लोगों को धोखा देनेवाले वंचकों का विश्वसनीय वर्णन भी इसमें है। सूद के लोभ में स्त्रियाँ किस प्रकार ठगी जाती हैं, मेल ठेल में किस प्रकार यात्री ठगों के चक्कर में आ जाते हैं, तथा साधुवेश और यात्रियों की कैसी भीड़ होती है इसका यथार्थ चित्रण इस कथापुस्तक में उपलब्ध है। तत्कालीन संयुक्त परिवारों के ईर्ष्या द्वेषपूर्ण वातावरण की झलक भी पुस्तक में मिल जाती है। इस प्रकार नारी का आदर्श रूप प्रस्तुत करना और उपदेश देना पुस्तक का मुख्य लक्ष्य होते हुए भी इसमें यथार्थ चित्रण का आग्रह है जो इसे उपन्यास के निकट ला देता है। 'भाग्यवती' की भाषा भी सरल, निराडंबर और यथार्थ चित्रण के अनुरूप है। उदाहरण निम्नलिखित है।

काशी नगर में पं० उमादत्त जी के घर में एक पुत्र हुआ कि जिसका नाम "लालमणि" और एक पुत्री हुई कि जिसका नाम 'भाग्यवती' रखा। यह लालमणि चाहे छोटी सी अवस्था में ही कुछ व्याकरण शास्त्र पढ़ चुका और संस्कृत बोलने की परीक्षा देकर एक पाठशाला में पन्द्रह रुपैये मासिक पाता था परन्तु सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त इसका विवाह नहीं हुआ था। चाहे काशी के भीतर और बाहर में कई एक पंडितों ने लालमणि का गुण

[1] द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबंध, पृ० १०९।

यौवन और प्रतिष्ठा सुनके अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करना चाहा परन्तु उसके पिता की यही इच्छा थी कि मैं लालमणि का विवाह अठारह वर्ष के पीछे करूंगा।"[१]

इस प्रकार मूल ढाँचा और उपदेश तथा दृष्टान्तीकरण को देखते हुए 'भाग्यवती' को उपदेशाख्यान कहना उचित जान पडता है, पर भाषा, पात्र और विषयवस्तु की नवीनता तथा यथार्थवादी आग्रह के कारण यह कथा 'उपन्यास' के काफी निकट है। अतः 'भाग्यवती' को 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामामनोरंजक' की तरह उपदेशाख्यानक उपन्यास' कहना ही अधिक युक्तिसंगत है। विषय, शिल्प और भाषा चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए, उपर्युक्त तीनों पुस्तकें एक परिवार की सदस्याएँ हैं। इनमें देवरानी जेठानी की कहानी अग्रजा है, अतः हिंदी उपन्यास का आरम्भ, यदि किसी पुस्तक से माना जा सकता है, तो इसी से। 'भाग्यवती' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानना उचित नहीं।

देवरानी जेठानी की कहानी और इस परिवार के उपदेशाख्यानक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न राधाकृष्णदास रचित 'निःसहाय हिन्दू' है। यद्यपि उपन्यासकला की कसौटी पर 'निःसहाय हिंदू' को एक साधारण कोटि का ही उपन्यास कहा जा सकता है, पर यह विशुद्ध 'उपन्यास' तो अवश्य है। देवरानी जेठानी की कहानी' आदि उपदेशाख्यानक उपन्यासों की तरह इस कथापुस्तक में पूर्व निश्चित कोई केन्द्रीय सिद्धान्त या आदर्श , जिसको कल्पित कथा द्वारा दृष्टान्तीकरण लेखक का लक्ष्य हो। प्रथम कथापुस्तक ... 'रतन ब्रह्मचारी' में, उनका केन्द्रीय जीवन अतः पुस्तक के मुखपृष्ठ पर सूत्ररूप में अंकित मिलेगा ... रेंगे। है, जो उपदेशाख्यानों की विशेषता और उपन्यास का दोष है। 'निःसहाय हिंदू' इस दोष से ... और मुक्त है। इस कथापुस्तक में तत्कालीन जीवन का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया गया ... है। निःसहाय हिंदू का मुख्य प्रतिपाद्य गोवध समस्या है। यह एक सुज्ञात तथ्य है कि ... सिपाही विद्रोह की समाप्ति के बाद अंगरेज शासक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट ... हैं। ... डाल कर शासन करने की नीति पर अधिक बल देने लगे थे। उनकी कुचेष्टाओं ... की प्र... अधि... फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दिनोदिन भेदभाव बढ़ता गया। अँगरेज न केवल ... मुसलमानों का पक्षपात करते थे, वरन् वे हिंदुओं के विरुद्ध उन्हें भड़काते भी थे। मुसलमान ... कहानी ... तथा ... अंगरेज शासकों का शह पाकर हिंदुओं की धार्मिक भावना पर आघात पहुचाने के उद्देश्य ... खुल्लम खुल्ला, बल्कि घोषणा करके, गोवध करते थे। हिन्दुओं को मुसलमानों के इस कार्य से ... था का ... बड़ी चोट पहुंचती थी पर सरकार में इसकी कोई सुनवाई नहीं थी। गोवध निवारण तत्का... सभव ... तत्कालीन हिंदू समाज की एक प्रमुख समस्या थी। राधाकृष्ण दास ने इस समस्या को अपने उप... रना, घ... उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया है, और इसके सभी पक्षों पर हिंदू दृष्टिकोण से प्रकाश डाल... ो का ... है। कथा की एक आश्चर्यजनक नवीनता इस बात में है कि इसमें एक मुसलमान पात्र ग... सोदा... गोवधनिवारण के लिए प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में अपनी जान तक दे देता है। ... री के ... इस प्रकार का चित्रण, जिसमें एक मुसलमान पात्र हिंदुओं के हित की रक्षा के लिये प्रयत्न ... री, ... रे और अपने प्राण तक दे दे बाद के लगभग ३५ वर्षों के हिंदी उपन्यास साहित्य में नहीं ... म दिखाई पड़ता। इस दृष्टि से राधाकृष्ण दास अपने युग से बहुत आगे थे ऐसा कहा जा ... सकता ... न।

१ पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, भाग्यवती, जेबी संस्करण, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृ० १।

है। गोवधनिवारण के लिये हिन्दुओ क प्रयत्न तथा मुसलमानो की अधजातीयता और साम्प्रदायिक कट्टरता का लेखक ने अत्यत यथाथ चित्रण किया है। पाठका की रुचि का प्रभाव

मुख्य विषय क चित्रण क साथ साथ उपन्यासकार न तत्कालीन जीवन क अय पक्षा पर भी यथाथवादी ढग स प्रकाश डाला है। बनियो क दयनीय जीवन काशी के गुडा की शरारत अगरजा क मुहल्ल की रौनक मदनमोहन क घर के पारिवारिक कलह पुलिस की घूसखोरी दलाला क काय अब्दुल अजीज क सुखी दाम्पत्य जीवन आदि क बिलकुल यथाथवादी दश्य प्रस्तुत किय हैं। कही भी उपन्यासकार न प्रत्यक्ष रूप से पाठका का कोई उपदेश नही दिया है जो इस अवधि क उपन्यासा का सामान्य दोष है। बीच बीच म पात्रा क वार्तालाप या भाषणा क माध्यम स कही कही स्वय सामन आकर भी लेखक भारत की दयनीय अवस्था पर आँसू बहा जाता है पर वह नीतिवाक्या की शरण म नही जाता।

नि सहाय हिन्दू म शिल्पगत नवीनता भी दिखाई पडता है। यह हिन्दी की पहली कथापुस्तक है जिसम औपन्यासिक शिल्प—नाटकीय पद्धति पर घटनाओ का चित्रण तथा कथाओ का युगपत सक्रमण आदि—क दशन होत हैं। हिन्दी कथासाहित्य म औपन्यासिक शिल्प क प्रथम प्रयोग का श्रेय परीक्षा गुरु को दिया जाता है और इसम परीक्षा गुरु की तुलना म कही विकसित औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग हुआ है। नाटकीय पद्धति पर घटनाओ का चित्रण तो दोनों कथापुस्तको म है पर परीक्षा गुरु म कथाओ का युगपत सक्रमण (साइमल्टेनियस प्रोग्रेशन) नही दिखायी पडता जिसके दशन नि सहाय हिन्दू म होत हैं।

पर हम देख चुक हैं कि नि सहाय हिन्दू की रचना परीक्षा गुरु स पहल हुई थी

यह उल्लेखनीय है कि नि सहाय हिन्दू क पूव लिखित प्रकाशित कुछ अधूरी गद्यरचनाओ म नाटकीय कथाशिल्प का प्रयोग प्रथम बार हुआ था। सन १८७५ ई० म हरिश्चन्द्र चन्द्रिका म प्रकाशित मालती शीषक अपूर्ण उपन्यास म इस औपन्यासिक वस्तुशिल्प का प्रयोग प्रथम बार देखन को मिलता है। इस कथा का आरभ प्राचीन कथाओ क ढग पर पात्रा क परिचय म न होकर दो पात्रा के जगल म जान और वहाँ शराब पीन क वणन स हुआ है। पात्रा का परिचय लेखक बाद म निम्नलिखित पक्तियो म देता है— यह चन्द्रगुप्त कौन है और एस दुष्ट मनुष्य का क्या इतना वशीभूत हो गया जिसन उदय को अपनी विपत्ति का कारण जानता हुआ भी हारकर पा गया इस भेद क जानन की सबको इच्छा होगी वह भेद यह है कि । मालती क बाद इस नाटकीय शिल्प प्रयोग प० बालकृष्ण भट्ट लिखित रहस्यकथा उपन्यास म हुआ। इस प्रकार कथायोजना नाटकीय शैली का समावेश करनवाल प्रथम उपन्यासकार न लाला श्रीनिवास दास हैं, न राधाकृष्ण दास हीं नि सहाय हिन्दू वह पहला लिखित पुस्तक और परीक्षा गुरु वह पहली प्रकाशित पुस्तक है जिनम नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार वस्तुशिल्प की दृष्टि म नि सहाय हिन्दू रानी केतकी की कहानी' आदि कथापुस्तको स अग्रसर है।

यौवन और प्रतिष्ठा सुनकर अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करना चाहा परन्तु उसके पिता की यही इच्छा थी कि मैं ज्ञानमणि का विवाह अठारह वर्ष के पीछे करूंगा।"[1]

इस प्रकार मूल ढांचा और उपदेश तथा दृष्टान्तीकरण को देखते हुए भाग्यवती का उपदेशाख्यान कहना उचित जान पड़ता है, पर भाषा, पात्र और विषयवस्तु की नवीनता तथा यथार्थवादी आग्रह के कारण यह कथा 'उपन्यास' के समीप निकट है। अतः भाग्यवती को 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामाशिक्षक' की तरह उपदेशाख्यानक उपन्यास कहना ही अधिक युक्तिसंगत है। विषय, शिल्प और भाषा चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए उपर्युक्त तीनों पुस्तकें एक परिवार की सदस्याएं हैं। इनमें देवरानी जेठानी की कहानी अग्रजा है अतः हिंदी उपन्यास का आरम्भ यदि किसी पुस्तक से माना जा सकता है तो इसी से। भाग्यवती को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानना उचित नहीं।

देवरानी जेठानी की कहानी और इस परिवार के उपदेशाख्यानक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न राधाकृष्णदास रचित 'निःसहाय हिंदू' है। यद्यपि उपन्यासकर्ता ने इसको पर 'निःसहाय हिंदू' को एक साधारण कोटि का ही उपन्यास कहा जा सकता है, पर यह विशुद्ध उपन्यास तो अवश्य है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' आदि उपदेशाख्यानक उपन्यासों की तरह इस कथापुस्तक में पूर्व निश्चित कोई कथा विशेष या जीवनदर्शन नहीं जिसका रञ्जित कथा द्वारा दृष्टान्तीकरण लेखक का लक्ष्य हो। परवर्ती कथापुस्तकों में, जैसे परीक्षागुरु और नूतन ब्रह्मचारी में, उनका कोई सहज दर्शन पुस्तक के मुखपृष्ठ पर सूत्ररूप में अंकित मिलता है, जो उपदेशाख्यानों की विशेषता और उपन्यास का दोष है। 'निःसहाय हिंदू' इस दोष से मुक्त है। इस कथापुस्तक में तत्कालीन जीवन का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'निःसहाय हिंदू' का मुख्य प्रतिपाद्य गोवध समस्या है। यह एक सुज्ञात तथ्य है कि सिपाही विद्रोह की समाप्ति के बाद अंगरेज शासक हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट डाल कर शासन करने की नीति पर अधिक बल देने लगे थे। उनकी कुचेष्टाओं के फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दिनोदिन भेदभाव बढ़ता गया। अंगरेज न केवल मुसलमानों का पक्षपात करते थे वरन् वे हिंदुओं के विरुद्ध उन्हें भड़काते भी थे। मुसलमान अंगरेज शासकों का प्रोत्साहन पाकर हिंदुओं की धार्मिक भावना पर आघात पहुंचाने के उद्देश्य से न केवल आम, बल्कि घोषणा करके गोवध करते थे। हिंदुओं को मुसलमानों के इस कार्य से बड़ी चोट पहुंचती थी, पर सरकार में इसकी कोई सुनवाई नहीं थी। गोवध निवारण तत्कालीन हिंदू समाज की एक प्रमुख समस्या थी। राधाकृष्ण दास ने इस समस्या को अपने उपन्यास का प्रतिपाद्य बनाया है, और इसके सभी पक्षों पर हिंदू दृष्टिकोण से प्रकाश डाला है। इस वर्णनात्मक [illegible] की एक आश्चर्यजनक नवीनता इस बात में है कि इसमें एक मुसलमान पात्र गोरक्षा के लिए प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में अपनी जान तक दे देता है। [illegible] का चित्रण, जिसमें एक मुसलमान पात्र हिंदुओं के हित की रक्षा के लिये प्रयत्न करते [illegible] अपने प्राण तक दे दे, बाद के लगभग ३५ वर्षों के हिंदी उपन्यास साहित्य में नहीं [illegible] पड़ता। इस दृष्टि से राधाकृष्ण दास अपने युग से बहुत आगे थे ऐसा कहा जा [illegible]

1 पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, भाग्यवती, जेबी संस्करण, हिंदी प्रचारक पुस्तकालय पृ० १।

है। गोवधनिवारण के लिए हिन्दुओं के प्रयत्न तथा मुसलमानों की अधजातीयता और पाठकों की रुचि का प्रभाव साम्प्रदायिक कट्टरता का लेखक ने अत्यंत यथार्थ चित्रण किया है।

मुख्य विषय के चित्रण के साथ साथ उपन्यासकार ने तत्कालीन जीवन के अन्य पक्षों पर भी यथार्थवादी ढंग से प्रकाश डाला है। बनिया के दयनीय जीवन, काशी के गुंडों की शरारत, अंगरेजों के मुहल्ले की रौनक, मदनमोहन के घर के पारिवारिक कलह, पुलिस की घूसखोरी, दलालों के काम, अब्दुल अजीज के सुखी दाम्पत्य जीवन आदि के लेखक ने बिलकुल यथार्थवादी रूप प्रस्तुत किये हैं। कहीं भी उपन्यासकार ने प्रत्यक्ष रूप से पाठकों को कोई उपदेश नहीं दिया है जो इस अवधि के उपन्यासों का सामान्य दोष है। बीच में पात्रों के वार्तालाप या भाषणों के माध्यम से कहीं कहीं स्वयं सामने आकर भी लेखक भारत की दयनीय अवस्था पर आँसू बहा जाता है पर वह नीतिवाक्यों की शरण में नहीं जाता।

निःसहाय हिन्दू में शिल्पगत नवीनता भी दिखाई पड़ती है। यह हिन्दी की पहली कथापुस्तक है जिसमें औपन्यासिक शिल्प—नाटकीय पद्धति पर घटनाओं का चित्रण तथा कथाओं का युगपत् संक्रमण आदि—के दर्शन होते हैं। हिन्दी कथासाहित्य में औपन्यासिक शिल्प के प्रथम प्रयोग का श्रेय परीक्षा गुरु को दिया जाता है पर हम देख चुके हैं कि निःसहाय हिन्दू की रचना परीक्षा गुरु से पहले हुई थी और इसमें परीक्षा गुरु की तुलना में कहीं विकसित औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग हुआ है। नाटकीय पद्धति पर घटनाओं का चित्रण तो दोनों कथापुस्तकों में है पर परीक्षा गुरु में कथाओं का युगपत् संक्रमण (साइमल्टेनियस प्रोग्रेस) नहीं दिखाया गया जिसके दर्शन निःसहाय हिन्दू में होते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि निःसहाय हिन्दू के पूर्व लिखित प्रकाशित कुछ अधूरी कथाओं में नाटकीय कथाशिल्प का प्रयोग प्रथम बार हुआ था। सन् १८७५ ई० में हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में प्रकाशित मालती नामक अपूर्ण उपन्यास में इस औपन्यासिक वस्तुशिल्प का प्रयोग प्रथम बार देखने को मिलता है। इस कथा का आरंभ प्राचीन कथाओं के ढंग पर पात्रों के परिचय से न होकर दो पात्रों के जंगल में जाने और वहाँ शराब पीने के वर्णन से हुआ है। पात्रों का परिचय लेखक बाद में निम्नलिखित पंक्तियों में देता है— यह चन्द्रगुप्त कौन है और एक दुष्ट मनुष्य का क्या इतना वशीभूत हो गया जिससे उसको अपनी विपत्ति का कारण जानता हुआ भी हारकर पा गया इस भेद के जानने की सबको इच्छा होगी वह भेद यह है कि ... । मालती के बाद इस नाटकीय शिल्प का प्रयोग प० बालकृष्ण भट्ट लिखित रहस्यकथा उपन्यास में हुआ। इस प्रकार कथायोजना में नाटकीय शैली का समावेश करनेवाले प्रथम उपन्यासकार न लाला श्रीनिवास दास हैं न राधाकृष्ण दास। हाँ निःसहाय हिन्दू वह पहली लिखित पुस्तक और परीक्षा गुरु वह पहली प्रकाशित पुस्तक है जिसमें नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार वस्तुशिल्प की दृष्टि से निःसहाय हिन्दू स्वर्णलता, जटाना की कहानी आदि कथापुस्तकों से अग्रसर है।

यौवन और प्रतिष्ठा सुनके अपनी कन्याओं का सम्बन्ध करना चाहा परन्तु उसके पिता की यही इच्छा थी कि मैं लालमणि का विवाह अठारह वर्ष के पीछे करूँगा।"[1]

इस प्रकार मूल कथा और उपदेश तथा दृष्टान्तीकरण को देखते हुए 'भाग्यवती' को उपदेशाख्यान कहना उचित जान पड़ता है, पर भाषा, पात्र और विषयवस्तु की नवीनता तथा यथार्थवादी आग्रह के कारण यह कथा 'उपन्यास' के काफी निकट है। अतः 'भाग्यवती' को 'देवरानी जेठानी की कहानी' और 'वामाशिक्षक' की तरह उपदेशाख्यानक उपन्यास कहना ही अधिक युक्तिसंगत है। विषय, शिल्प और भाषा चाहे जिस दृष्टि से देखा जाए उपर्युक्त तीनों पुस्तकें एक परिवार की सदस्याएँ हैं। इनमें 'देवरानी जेठानी की कहानी' अग्रजा है अतः हिंदी उपन्यास का आरम्भ यदि किसी पुस्तक से माना जा सकता है तो इसी से। 'भाग्यवती' को हिन्दी का प्रथम उपन्यास मानना उचित नहीं।

'देवरानी जेठानी की कहानी' और इस परिवार के उपदेशाख्यानक उपन्यासों से सर्वथा भिन्न राधाकृष्णदास रचित 'निःसहाय हिन्दू' है। यद्यपि उपन्यासकला की दृष्टि से 'निःसहाय हिंदू' को एक साधारण कोटि का ही उपन्यास कहा जा सकता है पर यह विशुद्ध उपन्यास तो अवश्य है। 'देवरानी जेठानी की कहानी' आदि उपदेशाख्यानक उपन्यासों की तरह इस कथापुस्तक में पूर्व निश्चित कोई कथन [illegible] या जीवनदर्शन नहीं जिसका कल्पित कथा द्वारा दृष्टान्तीकरण लेखक का लक्ष्य हो। परवर्ती कथापुस्तकों में, जैसे 'परीक्षागुरु' और [illegible] ब्रह्मचारी में, उनका [illegible] दर्शन पुस्तक के मुखपृष्ठ पर सूत्ररूप में अंकित मिलता है, जो उपदेशाख्यानों का [illegible] और उपन्यास का दोष है। 'निःसहाय हिंदू' इस दोष से [illegible] मुक्त है। इस कथापुस्तक में तत्कालीन जीवन का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। 'निःसहाय हिंदू' का मुख्य प्रतिपाद्य गोवध समस्या है। यह एक सुज्ञात तथ्य है कि [illegible] सिपाही विद्रोह की असफलता के बाद अँगरेज शासक हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालकर शासन करने की नीति पर अधिक बल देने लगे थे। उनकी कुचेष्टाओं के [illegible] फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दिनोदिन भेदभाव बढ़ता गया। अँगरेज न केवल [illegible] मुसलमानों का पक्षपात करते थे, वरन् वे हिन्दुओं के विरुद्ध उन्हें भड़काते भी थे। मुसलमान [illegible] अँगरेज शासकों का शह पाकर हिंदुओं की धार्मिक भावना पर आघात पहुँचाने के उद्देश्य से [illegible] केवल आम, बल्कि घोषणा करके, गोवध करते थे। हिंदुओं को मुसलमानों के इस कार्य से [illegible] बड़ी चोट पहुँचती थी पर सरकार में इनकी कोई सुनवाई नहीं थी। गोवध निवारण तत्कालीन [illegible] हिंदू समाज की एक प्रमुख समस्या थी। राधाकृष्ण दास ने इस समस्या को अपने उपन्यास का [illegible] प्रतिपाद्य बनाया है, और इसके सभी पक्षों पर हिंदू दृष्टिकोण से, प्रकाश डाला है। [illegible] की एक आश्चर्यजनक नवीनता इस बात में है कि इसमें एक मुसलमान पात्र गोवध [illegible] के लिए प्रयत्न करता है, और इस प्रयत्न में अपनी जान तक दे देता है। [illegible] का चित्रण, जिसमें एक मुसलमान पात्र हिंदुओं के हित की रक्षा के लिये प्रयत्न [illegible] अपने प्राण तक दे दे बाद के लगभग ३५ वर्षों के हिंदी उपन्यास साहित्य में नहीं [illegible] पड़ता। इस दृष्टि से राधाकृष्ण दास अपने युग से बहुत आगे थे, ऐसा कहा जा [illegible]

---

१ पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी, भाग्यवती, जैनी मरकरण, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय पृ० १

है। गोवधनिवारण के लिये हिंदुओ के प्रयत्न तथा मुसलमानो की अधजातीयता और साम्प्रदायिक कट्टरता का लेखक ने अत्यत यथार्थ चित्रण किया है।

मुख्य विषय के चित्रण के साथ साथ उपन्यासकार ने तत्कालीन जीवन के अन्य पक्षो पर भी यथार्थवादी ढग से प्रकाश डाला है। बनियो के दयनीय जीवन, काशी के गुडो की शरारत अगरेजो के मुहल्ले की रौनक मदनमोहन के घर के पारिवारिक कलह, पुलिस की घूसखोरी दलालो के काय, अब्दुल अजीज के सुखी दाम्पत्य जीवन आदि के लेखक ने बिलकुल यथार्थवादी दृश्य प्रस्तुत किये हैं। कही भी उपन्यासकार ने प्रत्यक्ष रूप से पाठको को कोई उपदेश नही दिया है जो इस अवधि के उपन्यासो का सामान्य दोष है। बीच बीच मे पात्रो के वार्त्तालाप या भाषणो के माध्यम से कही कही स्वय सामने आकर भी लेखक भारत की दयनीय अवस्था पर आँसू बहा जाता है पर वह नीतिवाक्यो की शरण मे नही जाता।

नि सहाय हिन्दू मे शिल्पगत नवीनता भी दिखाई पडती है। यह हिन्दी की पहली कथापुस्तक है जिसमे औपन्यासिक शिल्प—नाटकीय पद्धति पर घटनाओ का चित्रण तथा कथाओ का युगपत सक्रमण आदि—के दर्शन होते हैं। हिन्दी कथासाहित्य मे औपन्यासिक शिल्प के प्रथम प्रयोग का श्रेय परीक्षा गुरु को दिया जाता है पर हम देख चुके हैं कि नि सहाय हिन्दू की रचना परीक्षा गुरु' से पहले हुई थी और इसमे परीक्षा गुरु की तुलना मे कही विकसित औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग हुआ है। नाटकीय पद्धति पर घटनाओ का चित्रण तो दोनो कथापुस्तको मे है, पर परीक्षा गुरु मे कथाओ का युगपत सक्रमण (साइमल्टेनियस प्राग्रेसन) नही दिखायी पडता जिसके दर्शन नि सहाय हिन्दू मे होते हैं।

यह उल्लेखनीय है कि नि सहाय हिन्दू के पूर्व लिखित प्रकाशित कुछ अधूरी गद्यकथाओ मे नाटकीय कथाशिल्प का प्रयोग प्रथम बार हुआ था। सन १८७५ ई० मे हरिश्चन्द्र चन्द्रिका मे प्रकाशित मालती शीर्षक अपूर्ण उपन्यास मे इस औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग प्रथम बार देखने को मिलता है। इस कथा का आरभ प्राचीन कथाओ के ढग पर पात्रो के परिचय मे न होकर दो पात्रो के जगल मे जाने और वहाँ शराब पीने के वर्णन मे हुआ है। पात्रो का परिचय लेखक बाद मे निम्नलिखित पक्तियो मे, देता है— यह चद्रगुप्त कौन है और ऐसे दुष्ट मनुष्य का क्या इतना वशीभूत हो गया जिसने मद्य को अपनी विपत्ति का कारण जानता हुआ भी हारकर पी गया इस भेद के जानने की सबको इच्छा होगी वह भेद यह है कि । मालती के बाद इस नाटकीय शिल्प का प्रयोग प० बालकृष्ण भट्ट निर्मित रहस्यकथा उपन्यास मे हुआ। इस प्रकार कथायोजना मे नाटकीय शैली का समावेश करनेवाले प्रथम उपन्यासकार न लाला श्रीनिवास दास हैं, न राधाकृष्ण दास हाँ नि सहाय हिन्दू वह पहली लिखित पुस्तक और परीक्षा गुरु वह पहली प्रकाशित पुस्तक है जिनमे नाटकीय शैली का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार वस्तुशिल्प की दृष्टि से नि सहाय हिन्दू' देवरानी जेठानी की कहानी' आदि कथापुस्तको मे अग्रसर है।

नि सहाय हिन्दू' की भाषा देवरानी जेठानी की कहानी आदि कथापुस्तकों की तरह सरल, तद्भव शब्दप्रधान तथा अलकारों के निर्मोक से मुक्त है। परवर्तीकाल की अनेक कथापुस्तकों में जहाँ कथा का वर्णन और पात्रों का वार्तालाप होता है, वहाँ की भाषा तो सरल और स्वाभाविक रहती है, पर ज्योंही लेखक को प्रकृति और विरह वर्णन का अवसर मिलता है, वह संस्कृत गद्यकाव्यों की विडबना प्रस्तुत करने लगता है। नि सहाय हिन्दू इस दोष से मुक्त है।

इस प्रकार विषय, शिल्प और भाषा सभी दृष्टियों में 'नि सहाय हिन्दू हिन्दी का पहला विशुद्ध उपन्यास है। कथानक और चरित्रचित्रण सम्बन्धी अनेक दोष तथा न्यूनताएँ इस उपन्यास में है इसे उत्तम कोटि का उपन्यास नहीं कहा जा सकता, पर यह उपन्यास अवश्य है और यही इस पुस्तक की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

देवरानी जेठानी की कहानी वामा शिक्षक और 'भाग्यवती' से भिन्न पर उसी परिवार की दो और कथापुस्तकें विवेच्य काल में उपलब्ध होती हैं। ये हैं लाला श्री निवास दास लिखित 'परीक्षा गुरु और प० बालकृष्ण भट्ट लिखित नूतन ब्रह्मचारी। ये दोनों कथापुस्तकें हिंदी के सर्वस्वीकृत आरभिक उपन्यास हैं और 'परीक्षा गुरु तो हिंदी के प्रथम उपन्यास के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। अत पहले हम 'परीक्षा गुरु की औपन्यासिकता पर विचार करें।

कथावस्तु, केन्द्रीय विचार और चित्रणपद्धति को देखते हुए 'परीक्षा गुरु को उपन्यास की अपेक्षा उपदेशाख्यान कहना अधिक उपयुक्त है। न केवल समूची पुस्तक, पूर्ण ईकाई के रूप में, वरन इसका प्रत्येक परिच्छेद किसी न किसी विचार या सिद्धान्त के निदर्शन के रूप में लिखा गया है। देवरानी जेठानी की कहानी आदि कथापुस्तकों में एक केन्द्रीय विचार है पर वह सूक्ति रूप में पुस्तक के आवरणपृष्ठ पर मुद्रित नहीं है। इसके विपरीत 'परीक्षा गुरु का केन्द्रीय विचार पुस्तक के मुखपृष्ठ पर संस्कृत और हिंदी दोनों में मुद्रित है।

ऐश्वर्य मद पापिष्ठा मदा मान मदादय
एश्वर्य मदमत्ता हि नापतित्वा विबुध्यते

भावार्थ

और मदन ते विभव मद अति पापिष्ट लखाय।
वह उतर अपने समय यह बिन बिपति न जाय॥

पुस्तक की समूची कथा इस सिद्धात वाक्य का दृष्टान्तीकरण है। इतना ही नहीं प्रत्येक परिच्छेद के आरभ में कोई न कोई नीतिवाक्य दिया हुआ है जिसे उस परिच्छेद की कथा उदाहृत करती है। उदाहरणार्थ दूसरे प्रकरण के आरभ में निम्नलिखित दोहा उद्धृत है।

अप्राप्ति के दिनन मै खर्च होत अविचार।
घर आवत है पाहुनो बणिज न लाभ लगार॥ '

और इस प्रकरण में लाला मदनमोहन के अपव्यय तथा एक कर्ज मांगनेवाले के आगमन का वर्णन है।

इस प्रकार के सिद्धात वाक्यो की सीमा यह होती है कि इनमे सत्य का अधूरा और एकपक्षीय रूप होता है। इसलिये इन सिद्धान्तवाक्यो को उदाहृत करनेवाली कथाओ मे भी जीवन का एकागी और अयथार्थ रूप ही आ पाता है। परीक्षा गुरु मे जिस जीवन का चित्रण है, उसे जीवन का पूर्ण और यथार्थ प्रतिनिधि नही कहा जा सकता। मनुष्य का जीवन उसके कार्यों मे व्यक्त होता है और सोचने तथा अनुभव करने से लेकर खाने पीने और सोने तक की क्रियाएँ कार्य कहलाती है। अत उपन्यास मे जीवन के चित्रण का अर्थ होता है, उसमे वर्णित व्यक्तियो या पात्रो के कार्यकलापो का चित्रण। पर परीक्षा गुरु' मे कार्यों का नितान्त अभाव है। इस कथा के पात्र कार्यरत कम, वार्त्तालापरत अधिक दीख पड़ते है। यो वार्त्तालाप भी कार्य मे ही परिगणित होता है, पर यह कार्य का गौण रूप है। 'परीक्षा गुरु के वार्त्तालापो मे उपदेश, नीति, विज्ञान, व्यवहारनीति, व्यापार नीति आदि की चर्चा अधिक है, पात्रो के दु खसुख आशानिराशा सफलता असफलता की अभिव्यक्ति कम। इस पुस्तक की पूरी कथा दो तीन पक्तियो के एक वाक्य मे सक्षिप्त की जा सकती है, और यह इसलिए सभव है कि इस कथापुस्तक मे कार्यों की सख्या अत्यल्प है। इस कथा के एक प्रमुख पात्र लाला ब्रजकिशोर पेशे से वकील हैं, पर उन्हे वकालत करते हम बहुत कम देखते हैं। समस्त कथा मे वे एक उपदेशक के रूप मे ही दिखायी पडते हैं। वे दर्जनो कवियो और लेखको की पक्तियाँ इस प्रकार एक साँस मे उद्धृत कर जाते हैं जिन्हे श्रोतापात्र भले ही सुनने का धैर्य रखते हो, पाठक उन्हे पढ़ने का धैर्य नही रख पाता। लाला ब्रजकिशोर को न केवल शेक्सपीयर, विलियम कूपर अलक्जेंडर पोप, बायरन, हितोपदेश हरिवश पुराण, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण विदुर प्रजागर, विष्णु पुराण, रघुवश, चाणक्य नीति दर्पण नलोपाख्यान, सुभाषित रत्नाकर, प्रसग रत्नावली नाना प्रबध सार, श्री मद्भागवत गीता, शृगार सग्रह भर्तृहरि शतक हजरत सादी, कुरान, वृद, कबीर, गग आदि कवियो और पुस्तको के लम्बे लम्बे उद्धरण याद हैं, वरन् वे हिंदीतर भाषाओ के उद्धरणो का हिंदी पद्यानुवाद भी धडाधड सुनाते जाते हैं। इस प्रकार लाला ब्रजकिशोर का चरित्र विश्वासोत्पादक नही बन पाया है। वस्तुत ब्रजकिशोर लेखक के विचारो के प्रवक्ता या ध्वनिविस्तारक यत्रमात्र है। उनका अपना व्यक्तित्व अपना जीवन नही है।

इस कथा के अधिकाश पात्र जीतजागते मनुष्य न होकर किसी न किसी गुण या 'दोष के प्रतीक हैं। लाला मदनमोहन अपव्यय के, उनके सभासद खुशामद के, लाला ब्रजकिशोर सत्परामर्श और सच्ची मित्रता के तथा मदनमोहन की पत्नी पातिव्रत्य का उदाहरण है। इन प्रतीको मे वार्तालाप तथा कार्य कराकर लेखक ने पाठको को यह उपदेश दिया है कि खुशामदपसन्द, अपव्ययी, दभी, झूठा आत्मसम्मान चाहनेवाला तथा कामचोर व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता।

परीक्षा गुरु मे लम्बे लम्बे उपदेशवचनो की भरमार तो है ही नीति और उपदेशवाक्यो को उदाहृत करनेवाली अनेक ऐतिहासिक और दन्तकथाएँ भी स्थानस्थान पर उद्धृत की गई हैं। कही कही इन कथाओ की शृखला कई कई पृष्ठो तक चली गई है। यदि नीति और उपदेशवाक्यो तथा उनका समर्थन करनेवाली कथाओ को, जिनका उपन्यास

में कोई महत्त्व नहीं, पुस्तक से निकाल दिया जाए तो पुस्तक का कलेवर पिचक कर कुछ पृष्ठों में सीमित रह जाएगा।

चूंकि इस कथापुस्तक का मुख्य उद्देश्य पाठकों को शिक्षा देना है इसलिए लेखक अपने पात्रों को निजी व्यक्तित्व देने तथा उनके कार्यों में 'खासियत' (पार्टिकुलरिटी) उत्पन्न करने का प्रयास नहीं करता। कथा के पात्रों तथा उनके कार्यों में वशिष्ट्य तब आता है, जब वे किसी विशेष स्थान और विशेष समय में नियोजित होते हैं। उपन्यासकार अपने पात्रों के कार्यों के स्थान और समय का ब्योरेवार वर्णन कर यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने का प्रयास करता है, पर 'परीक्षा गुरु' में जो कार्य घटित होते हैं उनके स्थान और समय की चर्चा प्रायः नहीं है। जीवन सामान्य नहीं विशिष्ट होता है इसके विपरीत उदाहरण सामान्य होता है। चूंकि 'परीक्षा गुरु' का उद्देश्य एक सिद्धान्त का दृष्टान्तीकरण है, जीवन को उसकी यथार्थता में प्रस्तुत करना नहीं इसलिए इसमें जीवनसबंधी वशिष्ट्य के दर्शन नहीं होते।

उपयुक्त दृष्टियों से विचार करने पर परीक्षा गुरु भी उपन्यास्यान की कोटि में ही आता है किन्तु इसमें कतिपय औपन्यासिक विशेषताएँ भी दीख पड़ती हैं।

प्रथमतः हम इसकी कथावस्तु और पात्रों पर विचार करें। परीक्षागुरु की कथावस्तु और पात्र प्राचीन कथाओं की तरह किसी मानवेतर लोक या कायरूढिजन्य काल्पनिक सामन्ती वातावरण से नहीं लिये गये हैं। यद्यपि इस कथा के अधिकांश पात्र 'विचारों' या गुणों के उदाहरण हैं तथा इनके कार्यों की सख्या अत्यल्प है फिर भी ये हमारे वास्तविक ससार के प्राणी हैं। लाला व्रजकिशोर जैसे व्यक्ति की बात तो नहीं कही जा सकती पर लाला मदनमोहन, मुंशी चुन्नीलाल मास्टर शिभूदयाल लाला हरकिशोर मिस्टर ब्राइट आदि पात्रों का चरित्र अविश्वसनीय नहीं है। लाला व्रजकिशोर भी उन्हें उनके उपदेशों से अलग कर देने पर एक विश्वासोत्पादक पात्र बन जाते हैं। इन पात्रों के अधिकांश कार्य यथार्थ और विश्वासोत्पादक हैं। मिस्टर ब्राइट की दूकान में लाला मदन मोहन का अपने खुशामदी दोस्तों के साथ सौदा खरीदना[1] ब्राइट की ठगचाल[2] चुन्नीलाल, शिभूदयाल पुरुषोत्तम दास आदि द्वारा लाला मदनमोहन की खुशामद[3] मदनमोहन का अपने खुशामदी मित्रों द्वारा लूटा जाना,[4] मदनमोहन की विलासप्रियता तथा फिजूलखर्ची,[5] बिना कुछ किये लाला मदन मोहन की यशप्राप्ति की अभिलाषा[6] हरकिशोर द्वारा लोगों में मदन मोहन की साख कम करने का प्रयत्न लाला मदन मोहन पर तकाजा होना, दिवाला पिटने पर मदन मोहन के मित्रों का छोड़कर भाग जाना नौकरों की लूटखसोट आदि घटनाएँ वास्तविक ससार की सामान्य घटनाएं हैं। यदि इन कार्यों के चित्रण द्वारा लेखक पात्रों

१ परीक्षा गुरु, प्र० मोतीलाल सेठ, तृतीय सस्करण प्रथम प्रकरण।
२ उपरिवत्।
३ उपरिवत् (बाद के प्रकरण भी)।
४ उपरिवत्, तृतीय प्रकरण, (बाद के प्रकरण भी)।
५ उपरिवत्, आठवाँ प्रकरण (पश्चात् प्रकरण भी)।
६ उपरिवत् १०वाँ प्रकरण।

के बाह्य और आन्तरिक जीवन की जटिलता, वैषम्य, संघर्ष और हलचल का चित्रण करता तो 'परीक्षा गुरु' एक सुन्दर उपन्यास होता, पर चूँकि ये कार्य पूर्वनिश्चित विचारों और सिद्धान्तों के दृष्टान्तीकरणमात्र हैं इसलिए इसे 'उपदेशाख्यान' की संज्ञा देने में अनौचित्य नहीं।

वस्तुशिल्प की दृष्टि से भी 'परीक्षा गुरु' में नवीनता दृष्टिगोचर होती है। इस कथापुस्तक में पुरानी कथाओं की तरह समयानुक्रम को सामान्य रूप में न रहने देकर उसे अस्तव्यस्त कर दिया गया है, तथा नाटकीय पद्धति पर घटनाओं का चित्रण किया गया है। स्वयं लेखक के शब्दों में, "पहले तो पढ़नेवाले इस पुस्तक में सौदागर की दुकान का हाल पढ़ते ही घबरावेंगे क्योंकि अपनी भाषा में अब तक वार्तारूपी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें अक्सर नायक नायिका वगैरे का हाल ठेठ से सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है 'जैसे कोई राजा बादशाह, सेठ साहूकार का लड़का था उसके मन में इस बात से यह रुचि हुई और उसका यह परिणाम निकला' ऐसा सिलसिला इसमें कुछ भी नहीं मालूम होता। लाला मदन मोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दुकान में असबाब देख रहे हैं लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिंभूदयाल उनके साथ हैं इन मदनमोहन कौन? ब्रजकिशोर कौन? चुन्नीलाल कौन? और शिंभूदयाल कौन हैं? इनका स्वभाव कैसा है? परस्पर संबंध कैसा है? हरेक की हालत क्या है? यहाँ इस समय किस लिये इकट्ठे हुए हैं? यह बात पहले से कुछ भी नहीं जनाई गई। हाँ पढ़नेवाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायगा और आदि से अंत तक सब मिल जायगा परंतु जो साहब इतना धैर्य न रक्खेंगे वह इसका मतलब भी नहीं समझ सकेंगे।"[1]

यह औपन्यासिक शिल्प है और इसका प्रयोग 'परीक्षा गुरु' में हुआ है। शिल्पविषयक इस नवीनता के कारण ही लाला श्रीनिवास दास ने इसे अपनी भाषा में नई चाल की पुस्तक कहा था।

'परीक्षा गुरु' की भाषा 'देवरानी जेठानी की कहानी' आदि कथापुस्तकों की तरह, सरल, दैनिक बोलचाल की तथा निराडंबर है। लेखक का भाषासंबंधी यथार्थवादी दृष्टिकोण निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है

यह पुस्तक में दिल्ली के एक कल्पित (फ़र्ज़ी) रईस का चित्र उतारा गया है और उसको जैसा का तैसा (अर्थात् स्वाभाविक) दिखाने के लिये संस्कृत अथवा फ़ारसी अरबी के कठिन कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोलचाल पर ज़्यादः दृष्टि रक्खी गई है।

लेखक के इस भाषासंबंधी दृष्टिकोण का अक्षरशः पालन विवेच्य कथापुस्तक में हुआ है। उदाहरण द्रष्टव्य है

'हम प्रथम लिख चुके हैं कि हरकिशोर साहसी पुरुष था और दूर के संबंध में ब्रजकिशोर का भाई लगता था जब तक उसके काम उसकी इच्छानुसार हुए जाते थे वह सब कामों में बड़ा उद्योगी और दृढ़ दिखाई देता था उसका मन बढ़ता जाता था और वह लड़ाई भिड़ाई वगैरे के भयंकर और साहसिक कामों में बड़ी कारगुज़ारी दिखलाया करता था।' आदि।

---

1 लाला श्री निवास दास, परीक्षागुरु द्वि॰ संस्करण १८८४, निवेदन।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि यद्यपि केन्द्रीय विचार, उसके दृष्टान्ती करण तथा चित्रित जीवन म वशिष्टय क अभाव के कारण 'परीक्षा गुरु' उपदेशाख्यान' की कोटि म आता है, पर पात्रो और उनके कार्यों का यथार्थता, वस्तुशिल्प की नवीनता और भाषासंबंधी यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण यह 'उपन्यास' के अधिक निकट है। अत देवरानी जेठानी की कहानी' आदि कथापुस्तका की तरह 'परीक्षा गुरु का भी उपदेशाख्यानक उपन्यास' की संज्ञा देना युक्तिसंगत है।

प० बालकृष्ण भट्ट कृत नूतन ब्रह्मचारी' म भी एक 'उपदशाख्यान' क सभी गुण उपलब्ध होते हैं। इस कथा म भी एक केन्द्रीय विचार है जो निम्नलिखित सूक्ति क रूप मे पुस्तक के मुखपृष्ठ पर मुद्रित है।

"भीम वन भवति तस्य पुरप्रधानम्।
सर्वजना सुजनतामुपयान्ति तस्य ॥
कृत्स्ना च भूभवति सन्निधि रत्नपूर्णा।
यस्यास्ति शुभ्र चरित विपुल नरस्य ॥"

इस पुस्तक की समूची कथा इस केन्द्रीय विचार का दृष्टातीकरण है। इस कथा का नायक विनायक नामक एक बालक है, जो सत्यवक्ता नम्र दयालु, निष्कपट, अतिथिसेवी, आज्ञाकारी सहिष्णु निर्लोभी तथा असहाया की सेवा करने वाला है। इस बालक (विनायक) के घर का लटने के लिये कुछ डाकू आते है पर डाकुओ का सरदार विनायक के भोले और निष्कपट आचरण को देखकर इतना प्रसन्न होता है कि वह उसके घर से, बिना लूटपाट किये, लौट जाता है। विनायक के शुभ चरित्र स प्रभावित होकर डाकू सरदार का चरित्र भी बदल जाता है। एकबार डाकुओ का दल विनायक के स्वामी, ठाकुर को लूटने की योजना बनाता है। डाकूसरदार विनायक को सावधान करना चाहता है। डाकुओ को इसकी खबर लग जाती हैं, और वे अपने सरदार को अकेले मार्ग म घेर कर घायल कर देते है। इसी बीच विनायक डाकूसरदार के पास आता है और उसकी सेवा करता है। डाकू सरदार विनायक को डाकुओ की सारी योजना बताकर मृत्यु को प्राप्त होता है। रात म डाकू ठाकुर के खेमे पर हमला करते हैं, पर उन्हे हारकर लौट जाना पड़ता है।

इस कथा म जीवन का स्पदन नहीं। यह एक उदाहरण मात्र है। विनायक का चरित्र विश्वसनीय नहीं बन पाया है। विनायक के रूप म लेखक ने अपनी मान्यताओ के अनुरूप एक आदर्श बालक की की प्रतिमा गढ दी है जो लेखक के इशारे पर बोलती और नाचती है। वह व्यक्ति नहीं, उदाहरण' है जीवित प्राणी नहीं, विचार है, यथार्थ नहीं, आदर्श है। 'विनायक' के चरित्र द्वारा लेखक पाठको को यह उपदेश देना चाहता है कि जिसका चरित्र शुभ्र होता है उसके जीवन म सदा सुख ही सुख होता है। पर यह जीवन का एकपक्षीय और अयथार्थवादी दर्शन है। जीवन म सदा यह नियम लागू नहीं होता।

नूतन ब्रह्मचारी' म कार्यों या घटनाओ की अत्यल्पता है। इस ५२ पृष्ठो की पुस्तक का आधा स अधिक भाग परपरागत अलकृत प्रकृतिवर्णनो तथा उपदेश वाक्या स

भरा हुआ है। इन वर्णनों की तुलना में कार्यों का वर्णन बहुत कम है। एकाध वाक्य में कहानी कहने के बाद लेखक किसी न किसी काव्यात्मक वर्णन में प्रवृत्त हो जाता है। लेखक को अनुपात का ज्ञान नहीं। कथाप्रवाह के बीच में पाठकों को उपदेश देने के लिये अत्यंत नीरस वर्णनप्रसंगों की योजना करने में वह द्विधा का अनुभव नहीं करता। पृष्ठ ८ पर पर्दा प्रथा की बुराइयों का विस्तृत वर्णन किया गया है। विट्ठल राव अपने पुत्र को गायत्री जपने, पूरक, कुंभक, रेचक युक्त प्राणायाम करने, मौन रहने तथा अतिथि सत्कार करने आदि का लंबाचौड़ा उपदेश देते हैं। इस प्रकार के और भी अनेक उपदेशवाक्य विवेच्य कथापुस्तक में भरे हुए हैं। अतः इसे उपन्यास कहने के बदले 'उपदेशाख्यान' कहना अधिक उचित है।

'नूतन ब्रह्मचारी' की भाषा भी 'उपन्यास' की भाषा नहीं। 'परीक्षागुरु' की भाषा के विपरीत 'नूतन ब्रह्मचारी' की भाषा अलंकृत, कृत्रिम और काव्यात्मक है। इस प्रकार की अलंकारप्रधान भाषा यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती। जहाँ जहाँ प्रकृति वर्णन आया है—और इस कथापुस्तक में प्रकृतिवर्णनों का बाहुल्य है—वहाँ वहाँ लेखक ने संस्कृत गद्यकाव्यों की अलंकृत शैली का अंधानुकरण किया है। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत प्रकृतिवर्णन—

"सहस्रांशु की सहस्र सहस्र किरणें उदय होने के साथ ही एक बारगी आकर इन वृक्षों के कोमल प्रवाल सदृश पल्लवों पर जा टूट पड़ती थीं यह उसी का परिणाम है जो इन वृक्षों में एका न था क्योंकि जहाँ एका है वहाँ यह कब संभव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके।"[1]

यह प्रकृतिवर्णन तीन पृष्ठों में समाप्त हुआ है। पात्रों के अंगविन्यास या वेशभूषा का वर्णन करते समय भी लेखक रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की धारासार वर्षा शुरू कर देता है। उपदेशों की भाषा भी तत्समप्रधान है। सामान्य वर्णनों के लिये ऐसी कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया गया है जो कथा को अरोचक बना देती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित वर्णन की भाषा —

"दूसरे विट्ठल राव धर्माचार संयमी अपना धर्म संबंधी नित्य नैमित्तिक क्रियाओं में इस स्थान के माहात्म्य को चतुर्गुण प्रकाश हुए थे। यहाँ उसी ठौर देखा गया कि इनके स्वच्छ और उज्ज्वल खानपान, रीति और व्यवहार के कारण कृष्णता संकुचित और भयभीत सी हो केवल हरेकृष्ण इत्यादि नारायण के नामोच्चारण में आ बसी (परिसंख्या अलंकार) और सब ओर से निराश हो मलिनता ने इनकी अग्नि होमशाला के धूम का आसरा पकड़ा और इस होनहार यज्ञोपवीत उत्सव के कारण ऐसे रम्य स्थान को भी विट्ठल राव ने इतना स्वच्छ बना डाला था कि यह कहना सर्वथा अत्युक्ति न होगी कि इस स्थान के आसपास की वायु में भी पवित्र करनेवाली एक अद्भुत शक्ति भर गयी थी।"[2]

इस प्रकार, विषय और भाषा, किसी दृष्टि से भी 'नूतन ब्रह्मचारी' को 'उपन्यास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद शर्मा ने अपने पं० बालकृष्ण भट्ट विषयक

---

१. पं० बालकृष्ण भट्ट, नूतन ब्रह्मचारी, तृतीय संस्करण, पृ० ५।

२. नूतन ब्रह्मचारी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १३।

शोधप्रबंध में 'नूतन ब्रह्मचारी' को "उपन्यास की आधुनिकतम कसौटी पर भी" "खरा" सिद्ध किया है।[1] डा० शर्मा ने 'नूतन ब्रह्मचारी' में वे विशेषताएं ढूंढ निकाली हैं जिनका अस्तित्व इस कथापुस्तक में है ही नहीं। शोध इससे आगे और कहाँ जा सकता है?

फिर भी 'नूतन ब्रह्मचारी' में विषय और शिल्प की दृष्टि से, पुरानी कथाओं को देखते हुए, कुछ नवीनता है। पिंडारियों की लूटमार का, जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में भारत की एक मुख्य समस्या थी, वास्तविक वर्णन लेखक ने किया है।[2]

पृष्ठ ८ पर पर्दा प्रथा की बुराइयों का वर्णन है। कहीं कहीं मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास[3] का भी प्रयोग मिलता है जो प्राचीन कथाओं में, 'परीक्षागुरु' आदि पूर्व विवेचित पुस्तकों में भी नहीं प्राप्त होता। उदाहरणार्थ डाकुओं के आने पर विनायक राव द्वारा घर की सब वस्तुएँ सोत्साह दिखाए जाने पर लेखक इस मनोवैज्ञानिक टिप्पणी के साथ प्रस्तुत होता है —

यह कौन नहीं जानता कि लड़कों को अपना गौरव प्रगट करने में एक प्रकार का घमंड होता है यदि उनको कोई ऐसा अवसर मिले जिसमें वे अपने बड़ों का कोई कृत्य प्रकाश कर सकें। यही दशा उस दिन विनायक की थी उसे इस बात का घमण्ड सा हो रहा था कि आज मेरे बाप के मित्रों और नातेदारों की मेहमानी का इन्तजाम मुझे सौंपा गया है।[4]

नूतन ब्रह्मचारी के शिल्प में भी औपन्यासिक नवीनता है। इसमें कथा का वर्णन सिलसिलेवार रूप में न करके नाटकीय शैली पर घटनाओं का विन्यास किया गया है।

कथावस्तु और शिल्पसंबंधी इन विशेषताओं के कारण ही नूतन ब्रह्मचारी में उपन्यास के कुछ गुण आ गए हैं अन्यथा यह एक विशुद्ध उपदेशाख्यान है। निष्कर्ष रूप में नूतन ब्रह्मचारी को, पूर्वविवेचित कथापुस्तकों की तरह 'उपदेशाख्यानक उपन्यास' तो नहीं पर औपन्यासिक उपदेशाख्यान कहा जा सकता है।

औपन्यासिकता की दृष्टि से विवेच्य काल की पाँच और कथापुस्तकें विचारणीय हैं। ये हैं ठाकुर जगन्मोहन सिंह लिखित 'श्यामा स्वप्न' (१८८५) रत्नचन्द्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र' (१८८७) तथा किशोरी लाल गोस्वामी लिखित 'प्रणयिनी परिणय' (१८८७) 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' (१८८८) और 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' (१८८९)।

'श्यामा स्वप्न' को, उसके आवरणपृष्ठ पर हिन्दी में एक कल्पना और अंगरेजी में 'एन ओरिजिनल नावल' कहा गया है। पर पुस्तक को पढ़ जाने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसे नावल या उपन्यास की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसकी हिन्दी संज्ञा 'कल्पना' सार्थक है। अंगरेजी में एक प्रकार की कथाएं होती हैं, जिन्हें 'फन्टेसी' कहते हैं। श्यामा

१ हिन्दी गद्य के निर्माता पंडित बालकृष्ण भट्ट (८), पृष्ठ ३८७।
२ नूतन ब्रह्मचारी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १।
३ इस शब्द का प्रयोग डॉ० देवराज उपाध्याय ने अपने शोधप्रबंध 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' में किया है।
४ नूतन ब्रह्मचारी, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३२।

स्वप्न भी एक 'फैंटमी' या मन कल्पना है। इस कथा में जिन घटनाओं का वर्णन किया गया है वे वास्तविक जीवन की नहीं, स्वप्न की घटनाएँ हैं। इन घटनाओं का अस्तित्व केवल स्वप्न में ही संभव हो सकता है यथार्थ जीवन में नहीं। इस कथा के पात्र स्वप्न के अयथार्थ व्यक्ति हैं जिनके जीवन में केवल रंगीनी और भोगविलास की प्रधानता है। ये पात्र हिन्दी के मध्यकालीन प्रेमाख्यानों की छायामूर्तियाँ हैं, इनका कोई स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं।

इस कथा का शिल्प नवीन होते हुए भी अयथार्थता का बोध उत्पन्न करने वाला है। रात्रि के चार प्रहर होते हैं। कथानायक इन चार प्रहरों में चार स्वप्न देखता है। मानो स्वप्न भी समय देखकर ही आते और समाप्त होते हैं। कोई व्यक्ति रातभर स्वप्न देखता रहे, जगने पर उस स्वप्न के प्रत्येक ब्योरे ही नहीं स्वप्न के पात्रों द्वारा लिखित पत्रों के एक एक शब्द याद रहें इस बात पर विश्वास कोई मूढ़मति पाठक ही कर सकेगा।

नायक के चारों स्वप्न मिलकर एक कहानी का रूप ग्रहण करते हैं। स्वप्न की अनेक असंगत बातों के बीच से श्याम सुन्दर और श्यामा की प्रेमकथा कुछ स्पष्ट होकर सामने आती है और इसके आधार पर इसे प्रेमाख्यान की संज्ञा दी जा सकती है। इस प्रेमाख्यान में प्राचीन प्रेमकाव्यों की ही तरह उद्दीपन विभाव के रूप में प्रकृति के अलंकृत और काव्यात्मक वर्णन, नायिका के नखशिख सौन्दर्यवर्णन तथा प्रेमीप्रेमिका के आलिंगन चुंबन रतिक्रीड़ा और फिर उनके विरहमिलन के चमत्कारपूर्ण वर्णन प्रधान हैं। काव्य रूढ़िगत और अयथार्थ प्रकृतिवर्णन का एक उदाहरण निम्नोद्धृत है :

'देखता क्या हूँ कि मैं एक अपूर्व मनोहर भूमि पर विचरता हूँ। सामने सामने पर्वत, उत्तर भाग में एक बड़ी भारी नदी, कमल फूल रहे, कोकनद की पांती शोक को हटाती है, कुमुद भी एक ओर मुदयुक्त होकर निरख रहे हैं, इधर चातक पी २ रट २ कर अपने पुराने पातक का प्रायश्चित करता है, उधर काली कोकिल भी अमराइयों में पंचम सुर से गा रही है, आम की मंजरी सभा का सम्मान करती है, वन और अधखुले पलास अपने पलासों के गर्व में टेढ़ हो रहे हैं, पर्वत की अनुपम शोभा कही नहीं जाती, सरिता उसी की नववधू सी हो उसकी गोद से निकलकर और भी प्रमोद को बढ़ाती है। पर्वत की कंदरा सिंह के नाद से प्रतिध्वनित हो रही है—इधर उस नाद के सुन गयंद और गज भी भीत होकर पलाते व चिंघार मार मार भागते हैं—हरिन अपनी प्यारी हरिणी के साथ—[हा हरिणनयनि !] कूदते जाते हैं। आदि।[1]

इस वर्णन के पर्वत, नदी, कमल, कुमुद, चातक, कोयल, आम्रमंजरी, पलाश, सिंह, गज, हरिण सभी अवास्तविक और काव्यपरंपरा में अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। इसकी नायिका, जिसका नखशिखसौन्दर्य वर्णन छह सात पृष्ठों में किया गया है, तथा बीच बीच में नखशिख वर्णन संबंधी रीतिकालीन कविताएँ उद्धृत की गयी हैं, वास्तविक लोक का हाड़मांस की नारी न होकर कवियों की कल्पना के संसार में जीनेवाली एक अवास्तविक सौन्दर्यप्रतिमा है। इस कथा की घटनाएँ और पात्र एक सूक्ष्ममात्र हैं, स्वप्न का मूल उद्देश्य

1 ठाकुर जगमोहन सिंह, श्यामा स्वप्न, प्रथम संस्करण, पृ० २।

प्रकृति और नारीसौंदय का परपरागत वणन तथा शृ गाररस का सागोपाग चित्रण है। लेखक का एकमात्र उद्देश्य प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि को तृप्त करना जान पडता है, उपन्यास लिखना नही। कथा तथा वणनो के बीच बीच म जो रीतिकालीन कविताएँ उद्धृत की गयी हैं वे इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है।

इस प्रकार विषयवस्तु शिल्प और भाषा, तीनो ही दृष्टियो स 'श्यामास्वप्न' एक प्रेमाख्यानक मनोकल्पना है। इसे 'उपन्यास की सज्ञा दना युक्तिरहित है।

रत्नच द्र प्लीडर लिखित 'नूतन चरित्र भी श्यामास्वप्न की तरह एक प्रेमाख्यान ही है अतर केवल इतना है कि जहाँ श्यामास्वप्न का दृश्यपट काव्यपरपरागत और अयथाथ है, वहाँ नूतन चरित्र' का दृश्यपट वास्तविक और यथाथ। नूतन चरित्र' की भाषाशली तथा 'कथाशिल्प भी 'श्यामास्वप्न' की तुलना म आधुनिक और उपन्यासोचित है। अत 'नूतन चरित्र क लिये औपन्यासिक प्रमाख्यान' की सज्ञा अधिक युक्तिसगत होगी।

'नूतन चरित्र म प्रेमियो के दो जोडे है। एक जोडा विवकराम और चित्रकला का तथा दूसरा चेतराम और चित्रवल्लभा का है। इन प्रेमियो के परस्पर प्रेम प्रेमी द्वारा प्रेमिका को प्राप्त करने के प्रयत्न तथा विरह और मिलन के वणनो से कथा का कलेवर निर्मित हुआ है। इस कथा के पात्रो के काय और घटनाए इतनी अविश्वसनीय तथा अस्वाभाविक है कि पुस्तक मे चित्रित ससार के यथाथ होने का भ्रम नही उत्पन्न होता। पात्रो और घटनाओ के साथ कथाकार द्वारा जितनी मनमानी इस कथापुस्तक म बरती गई है वह शायद ही अन्यत्र दिखायी पडे। उदाहरण के लिये एक घटना का उल्लेख पर्याप्त होगा। जिस गाडी पर विवेकराम और चित्रकला सवार होकर दिल्ली जा रहे है वह गाडी विपरीत दिशा स आनेवाली गाडी से लड जाती है पर इस दुघटना स विवेकराम के अतिरिक्त और कोई घायल नही होता। जो गाडी उलट गयी थी वह भी थोडी देर म दिल्ली के लिये रवाना हो जाती है। रेलगाडियो का एसा लडना शायद ही कभी देखा सुना गया हो। कथाकार का उद्देश्य विवेकराम को घायल कराकर चित्रकला के मन म उसके प्रति प्रम उत्पन्न करना है। इसके लिय वह गाडियो को लडा दता है, पर उस घटना की अस्वाभाविकता का परवाह नही है। कदाचित लखक को इस बात का विश्वास हो कि हिंदी पाठकों का यथार्थबोध अभी (१८८७ ई० के आसपास) उतना विकसित नही हुआ कि वे घटनाओ की यथार्थता अयथार्थता पर विचार कर सकें। इस प्रकार की *अनगल और अविश्वसनीय घटनाओ स कथा भरी हुई है। नवाब द्वारा चित्रकला का हरा* जाना विवकराम द्वारा चित्रकला की रक्षा, चेतराम का एक अपरिचित स्त्री का चित्र देख कर प्रमासक्त होना तथा उसके विरह म बीमार पड जाना, चित्रवल्लभा का एक मकान म चेतराम को देखकर बेतहाशा नाचना और देखते देखते हवा की तरह जमीन म गायब हो जाना पात्रो को बेहोश करने और फिर उन्ह होश म लाने की क्रियाए सवथा अविश्वसनीय और अपरिष्कृत पाठको की रुचि को ध्यान म रखकर लिखी गयी हैं जो कौतूहलवधक घटनाओ को पढते वक्त उनकी स्वाभाविकता अस्वाभाविकता की चिन्ता नही करते। कथा की घटनाए और काय ही नही पात्रो के आचरण भी अस्वाभाविक और देशकाल विरुद्ध है। चेतराम और चित्रकला भाई बहन हैं, पर चेतराम अपनी बहन का हाथ चूमने

म कोई सकोच नही करता और अपनी बहन से ऐसी बातें करता है, जो एक भारतीय भाई के लिए नितात अविश्वसनीय ह। यथा "चेतराम न अपनी बहन का प्यार से हाथ चमकर कहा कि अब तुमको भी इस दुनिया की खुशिया हासिल होगा और कुछ जिन्दगी का मजा हासिल होगा। ' आदि। इस प्रकार चेतराम का अपनी चित्रवाली प्रमिका के विरह ज्वर म पीडित होना, अपनी बहन से अपनी विरहव्यथा का वर्णन करना, तथा पात्रो का वश बदल कर काम निकालना ये आचरण विश्वासोत्पादक नही कहे जा सकते। तात्पर्य यह कि 'नूतन चरित्र म जावन का विश्वसनीय और यथार्थवादी चित्रण नही हुआ है। इस कथा के पात्र विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न जीवित प्राणी नहीं, वरन परपरागत काव्यलोक की नायकनायिकाओं के प्रतिरूप है। इस दृष्टि से 'नूतन चरित्र के लिय 'प्रेमाख्यानक' सना सवथा उपयुक्त है।

पर 'नूतन चरित्र प्राचीन प्रेमाख्यानो से, कई दृष्टियों से, सवथा भिन्न भी है। प्रथमत इसका शिल्प औपन्यासिक और नवीन है। घटनाओं की योजना म नाटकीय पद्धति समयानुक्रम म परिवतन तथा समय के विलबन द्वारा कथा म रहस्य की सृष्टि आदि औपन्यासिक कौशलो का प्रयोग सफलतापूवक किया गया है। 'नूतन चरित्र मे उस शिल्प पद्धति का प्रयोग हुआ ह जिसे कथाओं का युगपद सक्रमण (साइमल्टेनियस प्रोग्रेसन) कहते हैं। हिन्दी कथा साहित्य म, पहली बार दो प्रेमकथाओं का एक साथ विकास, इस कथा पुस्तक म, दिखाया गया है। परवर्ती हिंदी उपन्यासकारो ने कथाओ के युगपत सक्रमण की प्रणाली का प्रचुर उपयोग अपने उपन्यासो म किया, पर हिंदी म इस शिल्प प्रणाली के प्रवत्तन का श्रेय राधाकृष्णदास और रत्नचन्द्र प्लीडर का ही है। 'नूतन चरित्र के पूव की हिंदी कथापुस्तको का वस्तुविन्यास इकहरा और सरल है। नूतन चरित्र' म प्रथम बार जटिल वस्तुविन्यास क दशन होते हैं। इस दृष्टि स हिंदी कथा साहित्य म इस उपन्यास का विशेष महत्त्व है।

'नूतन चरित्र' का दृश्यपट प्राचीन प्रेमाख्यानों की तरह काव्यरूढ़िगत न होकर बहुत कुछ यथाथ है। उपन्यास की अधिकाश घटनाए हरथला स्टेशन दिल्ली और फरीद पुर म घटती हैं, जो वास्तविक भौगोलिक स्थान हैं। स्टेशन, रेलगाडी आदि वस्तुओ का उल्लेख भी दृश्यपट को आधुनिक तथा यथाथ बनाने म योग देता है। प्राचीन कथाओं की तरह इसम प्रकृति और नखशिखसबधी अलकृत वणन नही पाये जाते। पर बीच बीच म तिलस्मी ढग क मकानों तथा सुरगो के वणन स कथा का दृश्यपट अयथाथ भी हो जाता है। कहा जा सकता है कि इस उपन्यास का दृश्यपट काव्यपरपरागतमात्र नही इसमें यथार्थ का भी तत्त्व है, जो उपन्यास का गुण है।

'नूतन चरित्र' की भाषा भी उपन्यासोचित है। श्यामास्वप्न' क विपरीत 'नूतन चरित्र' में सरल निराडबर और दनिक बोलचाल क गद्य का प्रयोग किया गया है। उदाहरणत

'चित्रकला ने बडी आधीनताइ स उत्तर दिया साहब मुझे छोड दीजिये मैंन अपने धमशास्त्र में पढा है कि स्त्री को शील पालन और अपने धम में दृढ़ रहना उचित है चाहे जीवन न रहे और धमविरुद्ध काम न करना पड़े वह अच्छा मैं उन स्त्रियो में नहीं

हू जो नाममात्र पढ लिख उचित अनुचित का कुछ भी ध्यान नही रखता अथवा अक्षर मात्र सिख दिन रात बुरी पुस्तको के पढते २ हर तरह की खटाई उनके जी में बस जाती है।"[१]

इस प्रकार, भाषा, शिल्प और दृश्यपट, सभी दृष्टियो म 'नूतन चरित्र' उपन्यास क निकट है पर मलत यह प्रेमाख्यान है। अत इसे 'औपन्यासिक प्रेमाख्यान' की सज्ञा देना युक्तिसगत है।

हिंदी उपन्यासो पर बँगला उपन्यास का प्रभाव

विवेच्यकाल की मौलिक गद्यकथाओ पर सरसरी दृष्टि डालन म कई तथ्य सामने आते हैं। प्रथमत हिंदी आलोचको न जो यह धारणा फला रखी है कि हिंदी उपन्यास का उदभव बगला उपन्यास के अनुकरण पर हुआ, वह तथ्यहीन है। हिन्दी वालो न बँगला म उपन्यास लिखना अवश्य ली पर बगला उपन्यासो का अनुकरण इस काल के लेखको न नही किया। बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय और रमेशचन्द्र दत्त इस काल क प्रमुख बगला उपन्यासकार थ पर इस काल की हिंदी कथाओ पर इनम से किसी का भी प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। इस काल की कथाओ पर यदि किसी का प्रभाव दीख पडता है तो वह सस्कृत क गद्यकाव्यो, मध्यकालीन पद्यात्मक प्रेमाख्यानो प्राचीन उपदेशाख्यानो और अँगरेजी उपन्यासो का है। देवरानी जठानी की कहानी परीक्षा गुरु नूतन चरित्र, 'उचित दक्षिणा' और नूतन ब्रह्मचारी पर किसी न किसी रूप में अगरेजी उपन्यासो का प्रभाव है। उपयुक्त कथाओ में किसी की भाषाशली पर किसी क विषयचित्रण पर और किसी के कथाशिल्प पर अगरेजी उपन्यासो की छाप है। केवल 'नि सहाय हिंदू पर बँगला क प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है पर वह भी बहुत स्पष्ट नही है। दूसरी तरफ इस काल की अधिकतर कथाएँ किसी न किसी रूप में सस्कृत गद्यकाव्यो से भी प्रभावित है। मालती तपस्विनी गुप्तवरी, श्यामास्वप्न' 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सदभाव के अभाव'[२] पर सस्कृत गद्यकाव्यो की भाषा का स्पष्ट प्रभाव है। 'नूतन चरित्र' की कथा पर प्राचीन गद्यकाव्यो और मध्यकालीन रूमानी कथाओ की स्पष्ट छाप है। साहित्यरचना लेखक और पाठक दोनो की रुचिद्वारा नियन्त्रित होती है इसका सकेत किया जा चुका है। विवेच्यकाल म हिन्दी म वसे लेखको की प्रधानता थी, जिनकी रुचि प्राचीन काव्यो म थी। जिन लेखको को अँगरेजी का ज्ञान था व अगरेजी उपन्यासो के ढग की कथापुस्तकें रचकर पाठको म नवीन रुचि उत्पन्न करन का प्रयास कर रहे थे। जिन लेखको ने प्राचीन काव्यरसिको की रुचि का भी ध्यान रखा और नवीन रुचि का निर्माण भी करना चाहा उन्होन अपनी कथापुस्तको म सस्कृत गद्यकाव्यो और अगरेजी उपन्यासो का समन्वय प्रस्तुत किया। प० बालकृष्ण भट्ट ऐसे ही कथाकार थे। लाला श्री निवास दास और रत्नचद्र प्लीडर अगरेजी की तरफ अधिक झुके हुए थे और ठाकुर जगमोहन सिंह की रुझान प्राचीन गद्यकाव्यो की तरफ थी।

---

१ नूतन चरित्र, हिंदी प्रदीप, जुलाई १८८३, पृ० ११।
२ हिन्दी का पहला उपन्यास नागरी प्रचारणी पत्रिका वष ६८, अक ३ ४।

औपन्यासिक कथाशिल्प सबंधी नवीन प्रयोग

विवेच्यकाल म १८७५ ई० से ही हिंदी कथाकारो न कथाशिल्प सबधी नवीन प्रयोग आरभ किय । इसके पूव की कथाओ म कथाकार वक्ता या और और पाठक श्रोता । श्रव्यकथाओ म कथावाचक और श्रोता की सहवतमानता अनिवाय थी । प्राचीन कथावाचक कथा सुनान के क्रम म श्रोताओ का ध्यान किसी विशिष्ट बात या घटना की ओर आकृष्ट करता रहता था । वह यह भी देखता रहता था कि श्रोता उत्सुकता के अभाव या मन न लगन के कारण कही ऊब तो नही रहा है । इस प्रकार प्राचीन कथाओ म श्रावकिता और श्रोता का प्रत्यक्ष सबध बना रहता था । जब कथाएँ पढी जान क लिए मुद्रित होन लगी तो उनके शिल्प म भी परिवतन की आवश्यकता पडी । अब कथाकार और श्रोता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहा, उनके बीच म छपे हुए पृष्ठ माध्यम क रूप म आ गय । कथाकार न पाठको से अपन इस नय अप्रत्यक्ष सम्बध को बिना कोई ननुनच किय स्वीकार कर लिया बल्कि इन सबध को उसन और भी अप्रत्यक्ष बनान का प्रयास किया । उसन नाटकीय पद्धति का सहारा लिया जिसम लखक और पाठक का सबध बिलकुल अप्रत्यक्ष होता है नाटककार कभी प्रत्यक्ष रूप म प्रक्षको क समक्ष नहीं आता । उपन्यासकार न भी धार धार श्रोता को प्रेक्षक म बदल दिया । इस प्रयास की चरम परिणति हम उन उपन्यासो म दिखायी पडती है जिनम कथाकार कभी सामन आता ही नही, और पाठक सदा प्रेक्षक बना रहता है । यद्यपि अब भी वस उपन्यासो का आधिक्य है जिनम कथाकार अपना प्राचीन रूप किसी न किसी रूप म बनाय हुए हैं ।

हिन्दी कथाकारो न जब कथाओ का वस्तुविन्यास नाटकीय पद्धति पर करना आरभ किया तो उनक सामन उनक पाठक समस्या बनकर आय । अभी तक हिन्दी पाठक पुरानी कहानियाँ पढन सुनन क अभ्यस्त थ जिनम कथा नायकनायिका के परिचय स आरभ होकर आग बढ़ती थी । अब कथाकारो न उनक सामन एक एसी कथा प्रस्तुत की जिसका आरभ नाटकीय पद्धति पर कथा क बीच की किसी घटना स होता था । हिन्दी पाठक इससे अभ्यस्त नहीं थ । सभव था, व इस प्रकार की कथा पढन हो नहीं । अत कथाकारो न अपन पाठको की रुचि और पठनक्षमता का ध्यान रखकर बीच का माग ग्रहण किया । एक तरफ तो उन्होने नाटकीय पद्धति पर घटनाओ की योजना की और दूसरी तरफ व पाठको स अपना प्रत्यक्ष सबध भी बनाय रह । जहाँ भी उन्ह यह सन्देह होता कि पाठक उनकी बात नही समझ रहा है या रहस्योद्घाटन म विलम्ब स ऊब रहा है वहीं व तुरत अपना टिप्पणी और आश्वासन क साथ पहुँच जात है । यह स्मरणीय है कि कथाश्रोता म और उपन्यासपाठक म मौलिक अतर होता है । कथा का श्रोता अपनी जिज्ञासा की पूर्ति तुरत चाहता है वह उत्सुकता स चालित होकर कथा सुनता है । कथाश्रवण क लिए धय स्मरणशक्ति और तक की उतनी अपेक्षा नही होती जितनी उपन्यासपठन क लिए । विवेच्यकाल म हिन्दी का पाठक कथाओ का आदी था उपन्यास का कथानक उसक लिए सवथा अपरिचित वस्तु था । अत तत्कालीन हिन्दी कथाकारो न औपन्यासिक कथानक का प्रयोग करत समय यह आवश्यक समझा कि व अपन

अपरिपक्व पाठकों के साथ वर्तमान रहे। 'मालती' (१८७५) से लेकर 'नूतन चरित्र' (१८८७) तक के सभी उपन्यासों में लेखकों ने नाटकीय पद्धति पर घटनाओं की योजना करते हुए भी पाठकों से प्रत्यक्ष संबंध बनाये रखा है। 'मालती' का लेखक प्रथम परिच्छेद में चन्द्रगुप्त और उसके एक प्रवंचक मित्र के जंगल में बैठकर शराब पीने का वर्णन करने के बाद पाठकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर पात्रों का परिचय देना आरंभ करता है।[१] 'परीक्षागुरु' का लेखक अपने पाठकों के समक्ष बहुत कम आता है। आठ प्रकरणों तक वह अप्रत्यक्ष रहकर नाटकीय पद्धति पर घटनाओं की योजना करता है, पर नवें प्रकरण में उसे पाठकों के समक्ष प्रत्यक्ष रूप में आना ही पड़ता है—

"इससमय मदनमोहन के वृत्तांत लिखने में अवकाश पाकर हम थोड़ा सा हाल लाला मदनमोहन के सभासदों का पाठकगण को विदित कराते हैं'।[२]

कदाचित यह कथाकार की नाटकीय शिल्प के निर्वाह की अक्षमता का परिणाम हो, क्योंकि लाला श्रीनिवास दास अपने पाठकों की रुचि और पठनक्षमता की विशेष चिन्ता करते नहीं प्रतीत होते।

प० बालकृष्ण भट्ट भी नाटकीय पद्धति पर आधारित कथाशिल्प का प्रयोग करते हुए अपने पाठकों को भूलते नहीं। अपने अपूर्णतः प्रकाशित उपन्यास 'सद्भाव के अभाव' के तीसरे परिच्छेद में वे पाठकों को संबोधित करते हुए कहते हैं

'अस्तु अब केवल माई जी की महिमा गाते रहेंगे तो डर लगती है कि कहीं हमारे पाठकों को ऊब न पैदा हो जाय इसलिये कोई दूसरे दृश्य के अभिनय से उनकी ऊब दूर करें।"[३] तत्पश्चात कमला नामक स्त्रीपात्र का वर्णन है। वर्णन के अंत में उपन्यासकार कहता है— पाठकजन आप इन दोनों और रेवतीदास से भरपूर परिचय कर रखिये क्योंकि ये दोनों हमारी इस दृश्तकथा के अभिनय में मुख्य हैं।[४]

'नूतन चरित्र' का लेखक अपने पाठकों से अपने शिल्पप्रयोग के संबंध में सफाई देना भी आवश्यक समझता है। एक स्थान पर वह लिखता है

"चेतराम की प्यारी का नाम हमने जानबूझकर इस कारण नहीं लिखा कि उसमें कुछ चिन्ह ऐसे पाये जाते थे जिनके नामके जानने से लोगों को उसकी बाबत जो कुछ हम आगे लिखा चाहते हैं बहुत सरलता से प्रगट हो जावेगा। और तब वह मजा इस कहानी का जाता रहेगा जो एक साथ उसका नाम प्रगट होने से प्राप्त होगा। नाम के न लिखने से बहुत सा लिखना पड़ता है इस कारण हम उसका नाम अपनी ओर से चेतवल्लभा कर लिखा करेंगे।[५]

---

१ मालती उपन्यास, हरिश्चन्द्र चन्द्रिका, फरवरी १८७५।
२ परीक्षा गुरु तृतीय संस्करण पृ० ९०।
३ हिं० प्र० पि०, जिल्द १२, सं० ९, मई १८८९।
४ उपरिवत्।
५ नूतन चरित्र, प्रथम संस्करण पृ० १८८।

इस काल के केवल एक लेखक (राधाकृष्ण दास) ऐसे है, जो नवीन औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग करते हुए भी अपने पाठको के साथ वतमान नही रहते और पग पग पर उन्हे आश्वासन और भय नही देते। इसका कारण यह है कि इनके उद्दिष्ट पाठक हिंदी के सामान्य पाठक न होकर भारतेन्दु मडल के प्रबुद्ध पाठक और आलोचक थे। इससे सिद्ध है कि उपन्यासो के शिल्प पर भी उनके उद्दिष्ट पाठको की रुचि और पठनक्षमता का प्रभाव पडे बिना नही रहता।

निष्कर्ष

तात्पर्य यह कि विवेच्य काल के हिंदी कथालेखक औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग करके भी पाठको के समक्ष किस्सागो के रूप मे विद्यमान रहते थे। सभव है यह उनके शिल्पकौशल की अपूर्णता भी रही हो, पर तत्कालीन पाठको की पठनरुचि और पठनक्षमता भी इसके मूल मे था, इस तथ्य का अस्वीकार करना कठिन है।

जहाँ तक विषयवस्तु का प्रश्न है, विवेच्य काल के हिन्दी कथाकारो ने पाठको की रुचि की अधिक परवाह नही की है। इस काल की अधिकाश कथाओ मे, 'निस्सहाय हिंदू' को अपवादस्वरूप छोडकर, उपदेश तत्व की प्रधानता है, जिसे सुनने की विशेष रुचि पाठको मे नही होती। इस काल के कथाकार अपने मन मे जसे यह समझते थे कि उनका कर्तव्य हिंदी पाठको के बौद्धिक स्तर को बढाना है। वे कभी भी यह नही सोचते थे कि सामान्य पाठकों की रुचि के अनुरूप कथाएँ लिखकर पुस्तकों की बिक्री बढ़ायी जा सकती है। उनके लिए साहित्यरचना व्यवसाय नही, सेवा थी। इन कथाकारो ने समाज की कुरीतियो का यथार्थ वणन इस उद्देश्य से किया कि पाठक उन्हे पढकर उनसे बचने तथा समाज से दूर करने का प्रयत्न करें। उन्होने आदर्श पात्रो को इस उद्देश्य से पाठको के सामने रखा कि वे अपने चरित्र का निर्माण उस नमूने पर कर सकें। यह स्वाभाविक ही था कि हिंदी के सामान्य पाठको की रुचि ऐसी कथाओ मे नही थी। ये कथाएँ पाठको मे लोकप्रिय न हो सकीं। पर हिन्दी उपन्यास के इतिहास मे इन कथाओ का विशेष महत्त्व है। इन्ही कथाओ मे हिंदी उपन्यास के बीज के प्रथम दर्शन होते हैं। विवेच्य काल के प्राय अत मे पाठको की रुचि अधिक प्रमुख होती दिखायी पडती है। धीरे धीरे कथालेखन मे पाठको की रुचि की प्रमुखता इतनी अधिक हो जाती है कि परवर्ती काल मे विशुद्ध उपन्यास की धारा रूमानी कथाओ के अहरह प्रवाह मे लुप्त होती दिखायी पडती है और इसका उद्धार तबतक नही होता जब तक साहित्यगगन मे प्रेमचद का आविर्भाव नहीं होता।

अनूदित कथाएँ
और उनका पाठकवर्ग

विवेच्य काल (१८७०-८९) की अनूदित हिंदी गद्यकथाओं को, मोटामोटी रूप में पांच प्रकारों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

(१) अरबी फारसी की प्राचीन कथाओं के मुक्त अनुवाद, (२) संस्कृत गद्यकाव्यों, नाटकों तथा प्रबंधकाव्यों के अनुवाद और रूपांतर (३) धार्मिक कथाओं के अनुवाद और रूपांतर (४) बंगला उपन्यासों के अनुवाद तथा रूपांतर और (५) अँगरेजी कथाओं के अनुवाद तथा रूपांतर।

अरबी फारसी की कथाओं के अनुवाद और रूपांतर विवेच्य काल के पूर्वयुग में भी हुए थे। 'चहारदरवेश' 'किस्सा हातिमताई' आदि पुस्तकें १८७० ई० के पूर्व अनूदित प्रकाशित, तथा साक्षर पाठकों में लोकप्रिय हो चुकी थीं। विवेच्य काल में इन कथापुस्तकों की लोकप्रियता में और भी वृद्धि हुई। सच तो यह है कि विवेच्य काल में हिंदी पाठकों के बीच इन कथापुस्तकों का जितना प्रचार हुआ उतना उसके पूर्व नहीं हो सका था। कदाचित यही देखकर तत्कालीन हिंदी प्रकाशकों ने अरबी फारसी तथा उर्दू की अबतक अननूदित कथाओं का हिंदी अनुवाद कराना तथा छापना शुरू किया। सन् १८७३ ई० में मिर्जा रज्जब अली सरूर लिखित प्रसिद्ध कथा 'फसाने अजायब' का पंडित प्राणकृष्ण कृत 'मोहिनी चरित्र' शीर्षक अनुवाद प्रकाशित हुआ। १८९० ई० तक 'फसाने अजायब' के विभिन्न अनुवादों तथा संस्करणों की कुल संख्या कम से कम ९ अवश्य थी, जिससे इसकी लोकप्रियता सिद्ध होती है।

'फसाने अजायब' या 'मोहिनी चरित्र' की लोकप्रियता से उत्साहित होकर १८७६ ई० में अरबी की प्रसिद्ध कथापुस्तक 'अलिफलैला' का प्यारे लाल ने 'सहस्र रजनी चरित्र' शीर्षक हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसके कम से कम ४ संस्करण विवेच्य काल में अवश्य हुए थे। १८७७ ई० में जीवाराम जाट द्वारा उर्दू से अनूदित 'गुल सनोवर' नामक गद्यकथा प्रकाशित हुई जिसके कई संस्करण विवेच्य अवधि में निकले। सन् १८७९ ई० में पं० कालीचरण और महेश दत्त द्वारा उर्दू से अनूदित 'अमीर हमजा की दास्तान' शीर्षक वृहद कथापुस्तक प्रकाशित हुई जिसके कम से कम दो संस्करण तो अवश्य ही विवेच्य काल में प्रकाशित हुए। २० वर्षों में इस ६-७ सौ पृष्ठों की पुस्तक के केवल दो संस्करणों का प्रकाशित होना भी महत्त्व रखता है क्योंकि इस काल में हिंदी पाठकों की संख्या अत्यल्प थी और १०० पृष्ठों की मौलिक पुस्तक के भी, पाठकों के बल पर दो संस्करण नहीं हो पाते थे।

इन कथाओं की लोकप्रियता का कारण इनका हिंदी पाठकों की पठनक्षमता और रुचि के बिलकुल अनुरूप होना है। उन दिनों उच्च शिक्षाप्राप्त भारतीयों में हिन्दी पढ़ने और उसमें रुचि रखने वाले लोग बहुत थोड़े थे। हिंदी पाठक संसार मुख्यतः साक्षरों और प्राथमिक शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों का समूह था। इस कोटि के पाठक किस प्रकार की

कथाएँ पसंद करते हैं इसका सविस्तर विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है।[1] विवेच्य कथाओं में कौतूहलप्रधान अतिलौकिक तथा अविश्वसनीय घटनाओं की समयानुक्रम में नियोजित शृङ्खलाएँ हैं जिन्हें अपरिष्कृत तथा बालबुद्धि पाठक ही पसंद कर सकते हैं। इन कथाओं में कहीं जादू का लोक है, कहीं परकायप्रवेश है कहीं देवों और जिन्नों की बस्ती है कहीं पचास मन की तलवार है कहीं साठ हाथ का सर है कहीं पाँच हाथ का बच्चा पैदा होता है जो पैदा होते ही हाथी की सूँड उखाड़ लेता है, कहीं सात सौ मन की गदा है कहीं कोई पात्र कई मन रोटी और कलियाँ खा जाता है तथा साढ़े तीन मन गोश्त पा जाता है कहीं मुर्ग के बच्चे की घड़ हाथी के बराबर है। इस प्रकार के अतिलौकिक वर्णन बालबुद्धि वाले पाठकों को ही विश्वास पा सकते हैं जिनमें विवेकशक्ति कम, मूढ़ उत्सुकता अधिक होती है। विवेच्य काल के अधिकांश हिंदी पाठक इसी कोटि के अपरिष्कृत पाठक थे। यही कारण है, कि जहाँ इन तत्त्वों से रहित मौलिक कथाओं के एक संस्करण का बिकना भी कठिन था वहाँ अनूदित कथाओं के कई संस्करण बिक जाते थे।

विवेच्य उर्दू फारसी की कथाओं में शृङ्गारिक तत्त्वों या उत्तेजक कामव्यापारों के चित्रण की भी प्रधानता है। इन कथाओं के पाठक बालबुद्धि के होते हुए भी बालकों की तरह काम दृष्टि से अपरिपक्व नहीं थे। अतः उनकी रुचि के सर्वथा अनुरूप इन कथाओं में, जो अनिवार्यतः प्रेमकथाएँ हैं, कामवर्णन को अधिकाधिक चटपटा बनाने का प्रयत्न किया गया है। भारतीय कहानियों में जिनका उल्लेख तनिक बाद में किया जायगा काम शृंगार का ऐसा नग्न वर्णन नहीं मिलता। कदाचित् इसी कारण अरबी फारसी स्रोत की कहानियाँ संस्कृत स्रोत की कहानियों की तुलना में पाठकों के बीच अधिक लोकप्रिय हुई।

विवेच्य कथाओं की भाषा भी तत्कालीन हिन्दी पाठकों की पठनक्षमता के अनुरूप साहित्यिक गुणों से रहित सरल बोलचाल की भाषा थी। उर्दू फारसी स्रोत की कहानियों के विवेच्यकाल के हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय होने का यह भी प्रमुख कारण है।

विवेच्य काल में संस्कृत गद्यकाव्यों नाटकों तथा प्रबन्धकाव्यों के मुक्त अनुवाद और रूपान्तर भी काफी संख्या में प्रस्तुत किए गए। १८७३ ई० के लगभग बाबू गदाधर सिंह ने कादम्बरी का अनुवाद किया। सन् १८७५ ई० में पं० लालाराम मिश्र ने भवभूति के प्रसिद्ध नाटक मालती माधव का हिंदी रूपान्तर प्रस्तुत किया। १८७९ ई० में श्याम लाल स्वामी द्वारा संस्कृत से रूपान्तरित नलचरितामृत अर्थात ढोलामारू नामक कथा प्रकाशित हुई। सन् १८८६ ई० में बाणभट्ट कृत हर्षचरित के प्रथम उच्छ्वास का हिंदी अनुवाद हुआ। उल्लेखनीय है कि इन कथापुस्तकों में से किसी किसी का भी दूसरा संस्करण ६० वर्षों के भीतर नहीं हुआ, जो उनके लोकप्रिय न होने का असंदिग्ध प्रमाण है।

संस्कृत से अनूदित गद्यकाव्यों के तत्कालीन हिंदी पाठकों में लोकप्रिय न होने का मुख्य कारण उनकी अलंकृत तथा साहित्यिक भाषा थी जिसे समझने की क्षमता अधिकांश हिंदी पाठकों में नहीं थी। उदाहरणार्थ कादम्बरी का आरम्भ निम्नलिखित पंक्तियों में होता है।

---

१ प्रस्तुत प्रबन्ध प्रथम अध्याय।

"शूद्रक नाम एक परम बुद्धिमान प्रबल महाप्रतापी राजा अपने बाहुबल और पराक्रम से क्रमश अशेष देश जीतकर वेत्रवती नदी के तीर पर विदिशा नामक नगरी म अकटक राज करता था। एक दिन प्रात काल राजा अपने मत्री कुमार पालित और अनेक राजाओ के सग सभा मडप म बठे थे कि प्रतिहारी ने आकर निवेदन किया।"[१]

विवेच्य काल के साक्षरमात्र हिन्दी पाठक इस प्रकार की परिष्कृत और काव्यात्मक भाषा को समझने की क्षमता से युक्त नहीं थे। मालती माधव', की कथा हर्षचरित' आदि कथापुस्तको की भाषा भी, इसी प्रकार काव्यगुणो स मडित और अलकृत है।

इन कथाओ के तत्कालीन पाठकों म लोकप्रिय न होने का एक कारण यह भी है कि इनम अरबी फारसी स्रोत की कहानियो की तुलना म कौतूहलप्रधान तथा अजीबोगरीब घटनाओ की न्यूनता है। इसक विपरीत इनम काव्यात्मक प्रकृतिवर्णनो, सौंदर्यवर्णनो तथा विरह और मिलन वर्णनो की अधिकता है, जिनमे साधारण पाठको की रुचि प्राय नहीं होती। विवेच्य काल म हिंदी म, साहित्यिक रुचि के कथापाठको का अभाव था अत इन कथाओ की अलोकप्रियता आश्चर्यजनक नहीं।

अनूदित सस्कृत गद्यकाव्यो की तुलना मे सस्कृत से ही अनूदित या रूपान्तरित धार्मिक और पौराणिक कथाएँ तत्कालीन हिन्दी पाठको म अधिक लोकप्रिय हुई। सन १८७४ ई० म ईश्वरचद्र विद्यासागर लिखित सीतार वनवास' नामक कथापुस्तक का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक हिंदी पाठको के बीच, विशेष कर बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण म बहुत लोकप्रिय हुई। इडियन प्रेस, प्रयाग स १९१२ ई० म प्रकाशित सीता वनवास के तीसरे सस्करण की भूमिका मे प्रकाशक ने लिखा था इस पुस्तक की उत्तमता का अनुमान पाठक इसी म कर सकते है कि आजतक इसके पचासो सस्करण छपे हैं और लाखो कापियाँ बिक चुकी हैं। इससे इस कथा की लोकप्रियता सहज अनुमेय है।

सन १८८५ ई० म दुर्गा प्रसाद द्वारा अनूदित 'श्री बराह पुराण भाषा (पूर्वार्ध) का दूसरा सस्करण प्रकाशित हुआ। १८८६ ई० म पडित काली प्रसाद त्रिपाठी लिखित भाषा रामायण नामक कथापुस्तक का चौथा सस्करण प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक की रचना वाल्मीकि, अध्यात्म और तुलसीकृत रामायणा के आधार पर हुई थी। इसी वर्ष प० प्यारे लाल रुगू द्वारा अनूदित शिव पुराण प्रकाशित हुआ, जिसके कम से कम दो सस्करण १८९० ई० तक अवश्य हो चुके थे। सन् १८८७ ई० के लगभग प० छोटू राम तिवारी लिखित 'राम कथा' प्रकाशित हुई जिसका दूसरा सस्करण १८८८ ई० म निकला। १८८७ ई० मे ही मुन्शी सकटा प्रसाद लिखित 'बालबोध रामायण' छपा, जिसक १८९९ ई० तक तीन सस्करण हुए। इसी वर्ष शुक्ल देवी सहाय शर्मा द्वारा अनूदित 'बृहन्नारदीय पुराण भाषा प्रकाशित हुआ, जिसका दूसरा सस्करण १८९२ ई० मे निकला। सन १८८८ ई० म प० कुज बिहारी लाल शर्मा द्वारा अनूदित 'महाभारत' (आदि पर्व) प्रकाशित हुआ जिसका तीसरा सस्करण १९०७ ई० म छपा। सन् १८८९ ई० म प० काली चरण द्वारा

---

१ गदाधर सिंह, कादबरी, उपक्रमणिका, हरिश्चन्द्र मैगजीन १५ अक्टूबर १८७३, प्राप्तिस्थान—आ० भा० पु०, काशी।

अनूदित 'महाभारत भाषा' (मौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व), पं० माधव प्रसाद शर्मा द्वारा अनूदित 'श्री मदवराह पुराण' (उत्तरार्ध) तथा कृष्ण वल्लभ पंडित द्वारा संगृहीत 'महारामायण' प्रकाशित हुआ। इनमें से प्रथम पुस्तक का दूसरा संस्करण १८९८ ई० में, तथा तीसरी पुस्तक का तीसरा संस्करण १८९३ ई० में छपा। इससे स्पष्ट है कि संस्कृत से अनूदित प्रायः सभी धार्मिक-पौराणिक कथापुस्तकों के दो दो संस्करण १० वर्ष के भीतर अवश्य हुए, जो अन्य प्रकार की कथापुस्तकों को देखते हुए हिन्दी पाठकों में इनकी लोकप्रियता का प्रमाण है।

तत्कालीन हिन्दी पाठकों की रुचि को देखते हुए यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। भारत की सामान्य हिन्दू जनता एक तो यों ही धर्मप्राण है, दूसरे कम पढ़ेलिखे लोगों में धर्म के प्रति झुकाव अपेक्षाकृत अधिक होता है। विवेच्य काल के अधिकांश हिन्दू पाठक अल्पशिक्षित थे, अतः उनका धार्मिक कथाओं के प्रति झुकाव होना सर्वथा स्वाभाविक था। उस काल के युवक पाठक उर्दू फारसी स्रोत की प्रेमकथाओं को पढ़ते अवश्य थे पर प्रकाश्य रूप से नहीं। प्रकाश्य रूप से ये धार्मिक कथाएँ ही पढ़ी जाती थीं। जवान से लेकर बूढ़े तक सभी प्रकार के पाठक इन धार्मिक कथाओं को पढ़ते या पढ़कर दूसरे को सुनाते थे। अभी हाल हाल तक गाँवों में कथावाचन और श्रवण की प्रथा काफी प्रचलित थी। धीरे धीरे इसका लोप होता जा रहा है।

विवेच्य अनूदित धार्मिक कथाओं की भाषा तत्सम शब्दावली से युक्त होने पर भी सरल और साधारण पाठकों के लिए बोधगम्य है। संस्कृत से अनूदित गद्यकाव्यों की तरह इनकी भाषा आलंकारिक और काव्यात्मक नहीं। यह भी इनकी लोकप्रियता का एक मुख्य कारण है।

विवेच्य काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना बंगला उपन्यासों का हिन्दी में अनूदित होना है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में बँगला में उपन्यासों की धड़ाधड़ रचना होने लगी था। बंकिमचन्द्र चटर्जी तथा रमेशचन्द्र दत्त के उपन्यासों ने बंगला में धूम मचा दी थी। बंगला साहित्य की इस नवीन हलचल ने हिन्दी के सुधी लेखकों का, विशेष कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का, ध्यान आकृष्ट किया। हिन्दी में उपन्यासलेखन के अनेक प्रयत्न हुए। पर चूंकि हिन्दी लेखकों और पाठकों का अंगरेजी साहित्य से उतना निकट का परिचय नहीं था जितना बंगालियों का, इसलिए मौलिक उपन्यासरचना में हिन्दी बंगला की समकक्षता नहीं कर सकती थी। इस परिस्थिति में हिन्दी लेखकों ने बंगला उपन्यासों का अनुवाद करने का निश्चय किया। बाबू गदाधर सिंह ने १८८० ई० के लगभग रमेशचन्द्र दत्त के 'बंग विजेता' का तथा इसके कुछ पहले ही बंकिमचन्द्र चटर्जी की 'दुर्गेश नंदिनी' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था। 'दुर्गेश नंदिनी' का प्रथम खंड १८८२ ई० में तथा दूसरा खंड १८८४ ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। १८८० ई० में ही राधाचरण राम भट्ट द्वारा बँगला से अनूदित 'एक जोड़ अंगूठी' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से बंगमहिला मल्लिका देवी ने बंगला से तीन उपन्यासों के अनुवाद—(१) 'चन्द्र प्रभा और पूर्ण प्रकाश' (१८८० ई० के लगभग) (२) 'राधारानी' (१८८३ ई०), और (३) 'सौन्दर्यमयी' (१८८७ ई०)—प्रस्तुत किये थे।[1] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की ही प्रेरणा और

१ ब्रजरत्न दास, हिन्दी उपन्यास साहित्य, प्र० सं०, पृ० १२९।

प्रोत्साहन से १८८१ ई० में व्यास रमाशंकर शर्मा ने बँगला से 'मधुमती' नामक, तथा १८८४ ई० में राधाकृष्ण दास ने 'मरता क्या न करता' शीर्षक अनुवाद प्रस्तुत किये थे। किशोरी लाल गोस्वामी ने भी सन् १८८८ ई० में 'लावण्यमयी' तथा १८८९ ई० 'प्रेममयी' नामक उपन्यास बँगला से रूपान्तरित किये थे।

विवेच्य काल में बँगला से अनूदित उपन्यासों को देखने से ज्ञात होता है कि ये अनुवाद हिन्दी पाठकों की माँग पर नहीं प्रस्तुत किये गये थे। इन अनुवादों के मूल में हिंदी के लिए सर्वस्व समर्पण करनेवाले तथा वास्तविक अर्थों में साहित्य की सेवा करने वाले हिंदी लेखकों का उत्साह था। एक उदाहरण से इस कथन की पुष्टि होती है। बाबू गदाधर सिंह ने बंकिम चंद्र चटर्जी के 'दुर्गेशनंदिनी' नामक उपन्यास का हिंदी में अनुवाद किया। यह उपन्यास सर्वप्रथम 'कविवचन सुधा' में क्रमशः प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था। जब यह अनुवाद 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित हो रहा था, अनुवादक के मित्र पं० रामनारायण प्रभाकर ने उन्हें ग्रंथकर्ता से सलाह माँगने की सम्मति दी। गदाधर बाबू ने बंकिम बाबू के पास पत्र लिखा पर बंकिम बाबू से सहायता प्राप्त होने की बात तो अलग रही अनुवादक को उनके क्रोध और धमकी का शिकार होना पड़ा। बंकिम बाबू अनुवादक द्वारा अपने उपन्यास के बिना अनुमति लिए अनुवाद करने पर बहुत कुपित हुए। बहुत पत्रव्यवहार के बाद उन्होंने इस शर्त पर अनुवाद के पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की आज्ञा दी कि उपन्यास की बिक्री का कोई लाभांश उन्हें भी दिया जाए। वस्तुतः बंकिम बाबू बँगला पाठकों के बीच अपने उक्त उपन्यास की लोकप्रियता और तज्जन्य आर्थिक लाभ को देख चुके थे। पर हिंदी में यह स्थिति नहीं थी। हिंदी पाठक उस समय थे ही कितने। जो हिंदी पाठक थे भी, उनकी रुचि और पठनक्षमता किस्साकहानियों तक थी। हिंदी प्रदेश में हर क्षेत्र में उर्दू का बोलबाला था और हिंदी एक उपेक्षित भाषा के रूप में किसी प्रकार कालयापन कर रही थी। भारतेंदु और उनके सहयोगी पाठकों के अभाव में भी हिंदी को सर्वाङ्गसमृद्ध बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। उस समय साहित्यरचना का उद्देश्य हिंदी की सेवा करना था। आर्थिक लाभ के लिये पुस्तक लिखने की बात उस समय सोची भी न जा सकती थी। बंकिम बाबू द्वारा पुस्तक का लाभांश माँगे जाने पर हिंदी अनुवादक ने जो किया वह उपर्युक्त कथन का असंदिग्ध प्रमाण है। स्वयं अनुवादक के शब्दों में "जो कि मैंने इस ग्रंथ को केवल देशहित के अभिप्राय से प्रस्तुत किया है मैंने इसका मुद्रण और विक्रय कुल बाबू साहब को समर्पण किया किंतु उनका स्वीकृत न हुआ अतएव इतने दिनों तक उनकी माँग प्रतीक्षा कर अब इस प्रथम खंड को आपलोगों के चित्तविनोदार्थ अर्पण करता हूँ कृपा कर ग्रहण कीजिए। दूसरा खंड भी छप रहा है शीघ्र उपस्थित हो जायेगा।"[1] यह दूसरा खंड दो वर्ष बाद १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ। पता नहीं यह विलंब क्यों हुआ पर इसके मूल में पाठकों का अभाव अवश्य रहा होगा। अनुवादक ने सूचना में इतना ही लिखा है कि "इसके प्रकाश में इतना विलंब क्या हुआ इसका कारण न लिखना ही उचित है।"[2]

---

१ दुर्गेशनंदिनी प्रथम संस्करण १८८२ ई० सूचना।

२ दुर्गेशनंदिनी, दूसरा खंड प्रथम संस्करण १८८४, सूचना।

रमेशचन्द्र दत्त का 'बंग विजेता' १८७९ ई० के लगभग अनूदित हुआ, पर पाठकों की रुचि का प्रभाव के अभाव के कारण १८८६ ई० के पूर्व पुस्तकाकार प्रकाशित न हो सका। विवेच्य काल में हिन्दी में अनूदित बँगला उपन्यासों में किसी का भी द्वितीय संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ। इससे प्रमाणित होता है कि विवेच्य काल में बँगला से अनूदित हिन्दी उपन्यास पाठकों में लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सके थे।

इसके दो कारण थे। इन अनूदित उपन्यासों की भाषा काव्यात्मक संस्कृतनिष्ठ तथा प्रायः अलंकृत होती थी जो तत्कालीन हिंदी पाठकों की पहुँच के बाहर थी। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत गद्यांश— पाड़सीकुलीन कुमारी चन्द्रप्रभा एक दिन तीसरे पहर निराले में बैठकर चिन्ता कर रही है ० प्रफुल्ल शतदल सदृश मुख प्रतिभा कुम्भला गई है ० आँख के पक्ष्माग्र में दो एक अश्रुबिंदु दिखलाई पड़ते हैं ० निविड़ कृष्ण कुंचित कुन्तल जाल नितम्ब के ऊपर गिरकर मेघमाला की भाँति शोभा कर रहा है ० तप्त कांचन निभ उज्ज्वल गौर कांति विद्युत की प्रभा विकीर्ण कर रही है ०।[1]

यह भाषा हिन्दी के साक्षरमात्र पाठकों के योग्य नहीं थी। इस प्रकार की अबोधगम्य भाषा में लिखित कथाओं में उनकी रुचि क्योंकर होती। इन उपन्यासों की अलोकप्रियता का दूसरा कारण इनका नाटकीय शिल्प तथा उर्दू फारसी की किस्साकहानियों की तुलना में कौतूहलवर्द्धक घटनाओं का अभाव है। तत्कालीन अधिकांश हिंदी पाठक सीधीसादी कौतूहलप्रधान घटनाओं को, कथावाचक की शैली में, पढ़ना पसंद करते थे।

विवेच्यकाल में कुछ कथापुस्तकें अँगरेजी से भी अनूदित हुईं। यह उल्लेखनीय है कि अँगरेजी उपन्यास साहित्य के अत्यंत समृद्ध होने पर भी हिंदी में किसी भी अँगरेजी उपन्यास का अनुवाद, विवेच्यकाल में नहीं हुआ। इसका एकमात्र कारण हिंदी लेखकों का अँगरेजी भाषा और साहित्य में सुपरिचित न होना ही नहीं था वरन पाठकों का अभाव भी था। अभी हिन्दी में वह परिष्कृत और विवेकशील पाठकों की बहुत कमी थी जो जटिल शिल्पविधान और यथार्थ जीवनचित्रण से युक्त अँगरेजी उपन्यासों की सराहना करते। परिणामतः इस काल में अँगरेजी की गौण कथापुस्तकों या नाटकों के हिंदी रूपान्तर ही प्रस्तुत किये जा सके। यह भी उल्लेखनीय है कि विवेच्य काल की अधिकतर पुस्तकें सीधे अँगरेजी भाषा से नहीं वरन उनके उर्दू या बँगला अनुवादों से हिंदी में अनूदित हुईं। यह हिन्दी लेखकों के अँगरेजी से सुपरिचित न होने का प्रमाण है।

सन् १८७७ ई० में टामस डे लिखित प्रसिद्ध अँगरेजी उपदेशाख्यान (मारल फेबुल)[2] 'सैंडफोर्ड एंड मर्टन' का राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द कृत 'सैंडफोर्ड और मरटन' शीर्षक हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके बाद १८८३ ई० में कार्तिक प्रसाद खत्री ने 'सतीत्व रक्षणी' नामक कथापुस्तक अँगरेजी से रूपान्तरित की। मूल पुस्तक का पता नहीं चलता। सन् १८८३ ई० में काशी प्रसाद ने चार्ल्स लैम्ब लिखित 'टेल्स फ्राम शेक्सपीयर' की नौ कहानियों, और १८८४ ई० में शेष ११ कहानियों का अनुवाद दो खंडों में प्रस्तुत किया।

---

१ कुलीन कन्या अथवा चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश हरि प्रकाश यंत्रालय काशी पृ० १

२ रैन ई ट्रु इवरान टू इंग्लिश नॉवेल (२) पृष्ठ ५४।

'टेल्स फ्रॉम शेक्सपीयर' का प्रथम खंड हिंदी पाठकों में काफी लोकप्रिय हुआ था। स्वयं अनुवादक के शब्दों में —

" शेक्सपीयर के सब असल नाटकों के अनुवाद करने में ग्रंथ का बहुत विस्तार हो जाता और हिंदी भाषा की वर्त्तमान दशा देखकर पूर्ण आशा न होती थी कि अधिक मूल्य के ग्रंथ होने पर देश में उसका यथोचित प्रचार होगा, इस कारण मैंने मेरी लम्बस सम्पादित ग्रंथ से प्रथम नौ नाटकों का, जो सुगमता के अर्थ उपन्यास की रीति पर लिखे हुए हैं, अनुवाद करके १८८३ में प्रकाशित किया, मुझे तनिक निश्चय न था कि सर्वसाधारण में मेरे अनुवाद को इतना अधिक आदर मिलेगा और लोग इतने अधिक चाव और रुचि से इसको पाठ करेंगे कि आठ मास के अन्दर इस ग्रंथ के १) मूल्य होने पर भी एक सहस्र प्रतियां बिक जायगी और कई देश के दिव्यभूषण महाराजे और रईस उसको पसंद करके मुझे पारितोषिक प्रदान करेंगे, और कई सरकारी कर्मचारी उसकी सैकड़ा प्रतियाँ मोल लेकर मेरे विद्योत्साह को बढ़ावेंगे।"[१]

इस उद्धरण से यह स्पष्ट आभासित होता है कि इस कथासंग्रह की लोकप्रियता का प्रमुख कारण सरकारी कर्मचारियों तथा रईसों का इसकी तरफ आकृष्ट होना था। लम्बस कृत 'टेल्स फ्राम शेक्सपीयर' नामक पुस्तक बहुत दिनों से स्कूलों तथा कालेजों के अँगरेजी पाठ्यक्रम में स्थान पाती आयी है। फलतः अँगरेजी पढ़ेलिखे रईसों और सरकारी कर्मचारियों का इसके हिंदी अनुवाद की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक था। इस कथा के प्रेमी सरकारी कर्मचारियों ने इसके हिंदी अनुवाद को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करा दिया। इस पुस्तक की लोकप्रियता का यही रहस्य है।

इस संबंध में यह भी उल्लेखनीय है कि 'टेल्स फ्राम शेक्सपीयर' के प्रथम खंड में अनुवादक ने पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर अंगरेजी नामों के स्थान पर कल्पित हिंदी नाम रख दिये थे पर दूसरे खंड में, मूल नाम में कोई परिवर्तन नहीं किया।

सन् १८८८ ई० में राजा शिव प्रसाद ने कुमारी सी० एम० टक्कर लिखित 'राजाज ड्रीम' नामक अँगरेजी पुस्तक का 'राजाभोज का स्वप्न' शीर्षक अनुवाद प्रस्तुत किया। यह अनुवाद बिलकुल ही लोकप्रिय न हुआ। १८८८ ई० में ही अयोध्या सिंह उपाध्याय द्वारा अँगरेजी से रूपांतरित 'वेनिस का बाँका' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई। यह पुस्तक मूल अंगरेजी पुस्तक के उर्दू रूपान्तर से अनूदित की गयी थी। संभवतः यह शेक्सपीयर के अंगरेजी नाटक 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' का रूपांतर था। इस कथापुस्तक का दूसरा संस्करण प्रथम संस्करण के ४० वर्ष बाद हुआ जो इसकी अलोकप्रियता का प्रमाण है। इसी वर्ष चार्ल्स लैंब द्वारा रूपांतरित शेक्सपीयर के किसी नाटक के आधार पर श्री ब्रजमोहन लाल श्रीवास्तव ने 'धोखे की टट्टी' नामक कथापुस्तक की रचना की। इस कथापुस्तक का दूसरा संस्करण नहीं निकला।

इन तथ्यों से स्पष्ट है कि अंगरेजी से अनूदित या रूपान्तरित कथापुस्तकें हिंदी पाठकों में लोकप्रिय न हो सकीं। कारणों का उल्लेख आरंभ में ही किया जा चुका है।

---

१ टेल्स फ्रॉम शेक्सपीयर, दूसरा भाग, अनु० लाला काशीनाथ खत्री, सं० १९४१, भूमिका।

साराश और निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि विवेच्यकाल म हिंदीतर भापाओ से अनूदित होनेवाली कथापुस्तका क मूल म तत्कालीन पाठकसमुदाय की रुचि का प्रमुख हाथ था। प्रकाशक घटनाप्रधान, शृ गार चित्रणप्रधान, और धार्मिक कथाओ के अनुवाद, जिसम तत्कालीन पाठको की रुचि अधिक थी, छापने म विशप उत्साह दिखाते थे। घटनाप्रधान शृ गारप्रधान और धार्मिक कथापुस्तकें इस अवधि म विशप लोकप्रिय थी। उर्दू फारसी से अनूदित रूमानी कथापुस्तका का जिनम अतिलौकिक और अयथाथ पर कौतूहलोत्पादक घटनाओ तथा कामव्यापारा के नग्न वणना का बाहुल्य रहता है प्रचार इस काल म अत्यधिक हुआ। धार्मिक कथापुस्तकें भी विवच्यकाल क पाठको के बीच खूब लोकप्रिय हुई।

कौतूहलोत्पादक घटनाओ और कामव्यापारवणनो की तरह धार्मिक बाता मे अल्पशिक्षिता की विशप रुचि होती है। यही कारण है कि इस काल म एक तरफ ता उर्दू फारसी स अनूदित रूमानी कथाए लोकप्रिय हुई दूसरी तरफ धार्मिक कथापुस्तका क अनुवाद।

सम्कृत गद्यकाव्या बगला उपन्यासा और अँगरेजो कथापुस्तका क अनुवाद हिंदी पाठको म लोकप्रिय न हुए। इस काल का हिंदी पाठक समुदाय, अधिकाशत अल्पशिक्षित था जिसके लिए अलङ्कृत और काव्यात्मक विरहवणन, सौंदयवणन प्रकृतिवणन विकसित शिल्प विधान, भावनाओ के चित्रण या जीवनमूल्यो की अभिव्यक्ति का कोई अथ नही था। यह पाठकवग कौतूहलोत्पादक घटनाओ तथा कामव्यापारो क वणना म विशेष रुचि प्रदर्शित करता था, जिनका उक्त गद्यकाव्या और उपन्यासो म अभाव था। साथ ही इन गद्यकाव्या और उपन्यासा म काव्यात्मक भाषा, विकसित शिल्पविधि भावा की अभिव्यक्ति, विचारा का प्रतिपादन आदि प्रमुख थ जिनम अल्पशिक्षित पाठका की रुचि नही होती।



पंचम अध्याय

प्रेमचन्दपूर्व युग (१८९०-१९१७ ई०)

प्रेमचंदपूर्व युग

(१८९०-१९१७)

हिन्दी पाठकवर्ग का विकास और उसके नियामक हेतु

(१) शिक्षा का प्रसार—

विवेच्य अवधि मे कालेजीय, माध्यमिक और प्राथमिक सभी स्तरो की शिक्षा का तीव्र गति से प्रसार हुआ, जिसका हिंदी पाठकों के विकास पर बहुत ही अनुकूल प्रभाव पडा। प्रस्तुत प्रसग मे उपयुक्त तीनो प्रकार की शिक्षणसस्थाओ के विकास का सक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया जा रहा है।

कॉलेजीय शिक्षा का प्रसार और उसके पाठ्यक्रम में हिंदी का स्थान

गत अध्याय मे यह इगित किया जा चुका है, कि १८८२ ई० के शिक्षा आयोग के अननुकूल अभिस्तावो के बावजूद कालेजीय शिक्षा के क्षेत्र मे द्रुत प्रगति हुई। सन् १८९१ ई० मे भारतीय विश्वविद्यालयो से सबद्ध कुल कालेजो की सख्या १२९ थी। अगले दशक (१८९२ १९०२) मे ५० और कालेजो ने सबद्धता (Affiliation) प्राप्त की, जिनमे १० प्रथम कोटि (ग्रेड) के और ४० द्वितीय कोटि के थे। इस प्रकार १९०१-०२ ई० मे कला कालेजो की कुल सख्या १७९ थी जिनमे १३ ब्रिटिश भारत मे ३२ देशी राज्यो मे ९ सिलोन मे और २ बर्मा मे थे।[1]

हिंदी क्षेत्र मे कालेजो की सख्या लगभग ६० थी जो अनुपात की दृष्टि से अहिंदी भाषी क्षेत्रो की तुलना मे कम कही जा सकती है।[2]

कालेजीय शिक्षा के इस द्रुत प्रसार के फलस्वरूप सरकार का ध्यान इसके स्तर की तरफ गया। वर्तमान शताब्दी के आरभ मे लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय शिक्षा मे सुधार लाने के प्रयत्न किये, जिसके फलस्वरूप १७ जनवरी १९०२ ई० को एक आयोग की नियुक्ति की गयी जिसका उद्देश्य ब्रिटिश भारत मे स्थापित विश्वविद्यालयो की स्थिति और उनकी भावी उन्नति का आकलन करना तथा उनकी स्थिति मे सुधार लाने के लिए अभिस्ताव प्रस्तुत करना था। आयोग ने इसी वर्ष अपने अभिस्ताव प्रस्तुत कर दिये।

१९०२ ई० के आयोग के अभिस्तावो के आधार पर १९०४ ई० मे भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम बना। इस अधिनियम का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि यह

---

१ नुरुल्ला और नायक (२), पृष्ठ २३४।

२ उपरिवत्, पृष्ठ २३४ ३५।

मुख्यत प्रशासनिक कदम था, जिसका उद्देश्य विश्वविद्यालयीय प्रशासन का सुदृढ़ बनाना था, और इसम इसे मफलता भी मिली। इस अधिनियम के द्वारा सबद्धता (Affiliation) की कठोर शर्त्तें लागू की गयी तथा कालेजा के समय समय पर निरीक्षण की व्यवस्था की गयी। फलस्वरूप नये कालेजो का स्थापित हाना ही कठिन नही हो गया वरन् अनेक नवस्थापित काल्ज टूट भी गय। १९०२ ई० म भारतीय विश्वविद्यालया स सबद्ध काल्जो की सख्या १९२ थी, पर सबद्धता की कठोरतर शर्त्तों के लागू होने क बाद १९०७ ई० म इनकी मख्या घटकर १७४ और १९११ १२ ई० म १७० हा गयी। पर इसके बाद स पुन सबद्ध कालेजा की सख्या म सतत वद्धि हाती गयी और १९२१ २२ ई० म इनकी सख्या २०७ थी।[1]

यह उल्लेखनीय है कि कालजो की सख्या म इस अल्प वद्धि का अथ कॉलेजीय शिक्षा के विकास म गतिराध उत्पन्न होना नही है। १९०४ ई० के विश्वविद्यालयीय अधिनियम क कारण केवल बस कॉलेजो का अस्तित्व समाप्त हो गया, जो नाममात्र के कालेज थे। इसके विपरीत, १९०४ १२ की अवधि म कालेजा की सख्या मे आभासित ह्रास के बावजूद १९०२ २१ की अवधि म कालजा म पढनेवाल छात्रो की सख्या मे सतत और तीव्रगति से वद्धि हुई।[2] उदाहरणाथ १९०१ ०२ म १३८ कॉलेजा म पढनेवाले छात्रों की सख्या १७००० थी, पर १९२१ २२ म केवल ब्रिटिश भारत म सामान्य शिक्षा के कॉलेजो म पढनेवाले छात्रो की सख्या ४५ ४१८ और समस्त भारत के कालजा म पढनेवाले छात्रा की सख्या ५४,४७३ थी। दूसरे शब्दा म भारतीय विश्वविद्यालया म कला और विज्ञान का अध्ययन करनेवाले छात्रो की सख्या मे २० वर्षो म, २००% स भी अधिक वद्धि हुई।[3]

जहाँ तक कालजीय शिक्षा मे हिंदी के स्थान का प्रश्न है स्थिति पूववत बनी रही। भारतीय विश्वविद्यालय आयाग १९०२ न प्रवेशिका क ऊपर की किसी भी विश्वविद्यालयीय परीक्षा के लिए आधुनिक भारतीय भाषाओ को सबद्ध अन्यभाषाओ के साथ साथ द्वितीय भाषा के रूप म, स्वीकार नही किया। एम० ए० की परीक्षा के लिए जन भाषाओ को अगरेजी के साथ स्वीकार किया गया। आयोग ने सुझाव दिया कि आधुनिक भारतीय भाषाओ म एम० ए० की परीक्षा एसी हो जिसस उस विषय का व्यापक और विद्वत्तापूण अध्ययन हो सके। एम० ए० के पाठयक्रम म भारतीय भाषाओ के प्रवेश और विश्वविद्यालय प्रोफेसरशिप की स्थापना से उनके अध्ययन को प्रोत्साहन मिला।

माध्यमिक शिक्षा का विकास और उसके पाठ्यक्रम मे हिंदी का स्थान

जिस प्रकार १८८२ ई० के आयोग ने कॉलेजीय शिक्षा की समस्या पर ध्यान नही दिया था उसी प्रकार १९०२ ई० क आयोग न माध्यमिक शिक्षा की समस्या पर सम्यक विचार नही किया। १९०४ ०८ इ० की अवधि मे माध्यमिक शिक्षा सबधी जो नीति अपनायी गयी उसम नियत्रण और सुधार की प्रधानता थी फिर भी १९०१ २१ ई०

१ नुरुल्ला और नायक (२) पृष्ठ २५८ ५९।
२ उपरिवत् पृष्ठ २५९।
३ उपरिवत्।

की अवधि म माध्यमिक शिक्षा का विकास १८८१-१९०१ ई० की अपेक्षा अधिक तजी म हुआ। निम्नलिखित आकडा से इस कथन की पुष्टि हानी है—

सारणी सख्या—एक[1]

—	१८८१-८२	१९०१ ०२	१९२१ २२
माध्यमिक स्कूला की सख्या	३ ९१६	५ १२८	७,८३०
छात्रा का सख्या	२ १८ ०७७	५ ९० १२९	११ ०६ ८०३

सारणी सख्या—दो[2]

—	१९०६ ०७	१९११ १२	१९१६-१७	१९२१-२२
प्रस्वीकृत सस्थाओ की सख्या	५,८९८	६ २७०	७ ६९३	८ ९८७
छात्रा की सख्या	७,१३ ३४२	९ २४ ३७०	११ ८६ ३३५	१२,३९ २५४

टिप्पणी —कुछ देशी राज्यों के आँकडे जो पहले प्रांतीय आँकडों में सम्मिलित किये जाते थे, १९१४ १५ के बाद से सम्मिलित नहीं किये जाने लगे।

माध्यमिक शिक्षा म इस तीव्र विकास का कारण इस काल म सामाजिक और राजनीतिक चतना का उदय था।

१९०० ई० तक उच्च शिक्षा की प्राय सभी सस्थाए शिक्षा क माध्यम क रूप म अगरजी का व्यवहार करन लगी थी। पिछल अध्याय म दिखाया जा चुका है कि १९०२ ई० तक अँगरेजी की पढाई माध्यमिक पाठयक्रम का प्रमुख विषय बन गया थी। इस समय तक—

(क) हाई स्कूल स्तर पर शिक्षा के माध्यम क रूप म अगरजी निरपवाद रूप म अपना ली गयी थी।

(ख) मिडिल स्कूल स्तर पर शिक्षा क माध्यम क रूप म आधुनिक भारतीय भाषाओ क प्रयाग क सबध म कोई निणय नहा हो सका था।

(ग) भाषा क रूप म अगरेजी का अध्ययन किस वग स आरभ किया जाए यह भी विवाद का विषय था।

१९०२ ई० क आयाग न भी शिक्षा क माध्यम की समस्या को पूववत छाड दिया। १९०४ ई० म लाड कजन द्वारा प्रपित शिक्षामकल्प स भी इनमे भाषाओ की स्थिति म कोई परिवतन नहा हुआ। यहाँ तक कि कलकत्ता विश्वविद्यालय आयाग (१९१७ ई०) ने भी इस सिद्धान्त को पूणत स्वीकार नहीं किया कि देशी भाषाओ को माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम हाना चाहिए। आयाग न अपना मत दिया कि गणित की शिक्षा का माध्यम अँगरजी ही हानी चाहिए जबकि अन्य विषय देशी भाषाओ क माध्यम स भी

१ नुरुल्ला और नायक (२), पृ० २५७।
१ भगवान दयाल (३), पृ० २६०।

पढाये जा सकते हैं किंतु इसे भी वकल्पिक माना गया व्यवहारत स्थिति म तनिक भी परिवतन न हुआ। इस प्रकार विवेच्य काल म भी अँगरेजी का अतिरजित महत्त्व बना रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि सरकारी प्रयत्न अधिकतर अगरेजा की पढाइ के स्तर को ऊँचा करने म केंद्रित रहे। पाठयक्रम म अगरेजी को अनावश्यक महत्त्व दिय जान क कारण माध्यमिक स्तर पर आधुनिक भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनान म बहुत बाधा पहुँची।

१९२१ २२ ई० तक मिडिल स्कूल स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप म आधुनिक भारतीय भाषाओ का प्रयोग सामान्यत होने लगा।[१] फिर भी हाई स्कूल स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप म अगरेजी के त्याग का प्रश्न अनिर्णीत छोड दिया गया। १७ माच १९१५ ई० को श्री एस० रायनिगार ने इपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल म माध्यमिक स्कूलो म भारतीय भाषाओ को शिक्षा का माध्यम तथा अँगरेजी को भारतीय छात्रो के लिए अनिवाय द्वितीय भाषा बनाने का प्रस्ताव रखा पर इस प्रस्ताव का विरोध किया गया और अतत यह प्रश्न विवाद्य ही रह गया। अगरेजी विवेच्यकाल म हाईस्कूलो म शिक्षा का माध्यम बनी रही।

प्राथमिक शिक्षा का विकास

पिछले अध्याय म हमने देखा है कि १८८२ ई० के आयोग के अनुकूल अभिस्तावो के बावजूद अगले २० वर्षो म पाथमिक शिक्षा का सम्यक प्रसार न हो सका। सन १८९१ ९२ ई० मे ब्रिटिश भारत मे कुल प्राथमिक स्कूलो की सख्या ९७१०७ और छात्रो की सख्या २८ ३७ ६०७ थी। सन १९०१ ०२ ई० म प्राथमिक स्कूलो की सख्या ९८५३८ और छात्रो की सख्या ३२, ६८ ७२६ हो गयी। यह प्रगति कथमपि देश की तत्कालीन आवश्यकता के अनुरूप नही कही जा सकती। देश की बढती हुई जनसख्या की आवश्यकता क समनुरूप प्रायमिक शिक्षा का विस्तार नहा हुआ। साथ ही माध्यमिक स्कूलो क विकास की तुलना म भी प्राथमिक स्कूलो का विकास अपर्याप्त रहा।

सन १९०४ ई० म प्रायमिक शिक्षा के सबध म भारत सरकार का सकल्प घोषित किया गया। इस सकल्प म लॉड कर्जन ने प्रातीय सरकारो को प्राथमिक शिक्षा पर अधिकतर राशि व्यय करने का निदश किया। इस सकल्प म घोषित शिक्षानीति स प्राथमिक शिक्षा के इतिहास म एक नये युग का प्रादुर्भाव हुआ। इसन देश मे प्राथमिक शिक्षा की असतोषपूर्ण स्थिति की तरफ अगुलिनिदश करत हुए यह तथ्य सामने रखा कि स्कूल जानेयोग्य आयुवाले १८० लाख से अधिक लडको म से केवल ⅙ प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर रहे थ।[२] इस सकल्प के पूव प्रायमिक शिक्षा के विस्तार का मुख्य उत्तरदायित्व स्थानीय सस्थाओ पर था, यद्यपि प्रातीय सरकार भी कुछ आर्थिक सहायता देती थी। किंतु भारत सरकार के १९०४ ई० क सकल्प म स्पष्ट रूप से यह घोषणा की गयी कि 'प्राथमिक शिक्षा का सक्रिय प्रसार राज्य क प्रमुख कत्तव्यो में स एक है।' इस वक्तव्य के तुरत बाद प्रायमिक शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान बढ गया। परिणामत प्रायमिक स्कूलो

१ नुरुल्ला और नायक (२), पृ० ३१५।
२ डॉ० भगवान दयाल (३) पृ० ११०।

में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। निम्नलिखित आँकड़ों से १८८१-८२, १९०१-०२ और १९११-१२ में प्राथमिक स्कूलों में नाम लिखानेवाले छात्रों का पता, तुलनात्मक रूप में चलता है।[१]

	१८८१-८२	१९०१-०२	१९११-१२
१ प्रस्वीकृत प्राथमिक स्कूलों की संख्या	८२,९१६	९३,६०४	१,१८,२६२
२ छात्रों की संख्या	२०,६१,५४१	३०,७६,६७१	४८,०६,७३६

इन आँकड़ों में कुछ देशी राज्यों के आँकड़े भी सम्मिलित हैं, पर बर्मा के नहीं।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि १९०१-०२ ई० से १९११-१२ ई० के बीच के १० वर्षों में प्राथमिक स्कूलों में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या में जो वृद्धि हुई वह भारतीय शिक्षा आयोग (१८८२) के प्रतिवेदन के बाद के २० वर्षों में हुई वृद्धि की तुलना में लगभग दुगुनी थी। एकादश पंचवर्षीय पुनरावलोकन में प्रदत्त आँकड़ों के अनुसार[२] जहाँ १९०६-०७ ई० में प्राथमिक स्कूलों की संख्या १,१२,९३० और छात्रों की संख्या ३०,३७,८६६ था वहाँ १९११-१२ ई० में स्कूलों की संख्या बढ़कर १,२३,५७८ और छात्रों की संख्या ४९,८८,१४२ हो गयी।

यद्यपि लार्ड कर्जन द्वारा गृहीत नयी नीति के अंतर्गत प्राथमिक शिक्षा का विस्तार काफी द्रुत गति से हो रहा था, पर भारतीय जनता इससे पूर्ण संतुष्ट नहीं थी। जैसा कि के० जी० सैयदैन ने लिखा है, "इस समस्या की विकटता का कुछ पता इस तथ्य से चल सकता है कि १९०७ ई० में स्कूल जानेयोग्य आयु के १८० लाख लड़कों में से केवल ३६ लाख स्कूल जाते थे, अर्थात् १०० लड़कों में से ८० लड़कों के लिए स्कूल में पढ़ने की कोई व्यवस्था न थी। यह भी सत्य है कि स्कूल में नाम लिखाने का अर्थ साक्षरता प्राप्त करना नहीं था। लड़कियों की साक्षरता के संबंध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है क्योंकि उनकी साक्षरता का औसत दशमिक चिह्न में होगा।"[३] भारतीय शिक्षाविदों ने सरकार का ध्यान, उचित ही, इस तथ्य की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न किया कि १९११-१२ ई० में भी भारत में साक्षरता का प्रतिशत ६ था और स्कूल जानेयोग्य आयु के बालकों में से केवल २३.८ प्रतिशत स्कूल जाते थे, जबकि स्कूल जानेयोग्य आयु की लड़कियों में से ०.७% स्कूल जा पाती थीं। इस प्रकार भारतीय नेताओं का ध्यान देश की निरक्षरता को दूर करने और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा लागू करने की समस्या की तरफ आकृष्ट हुआ। यह माँग तब और भी तीव्र हो गयी, जब बड़ौदा के गायकवाड़ ने १९०६ ई०

१ नुरुल्ला और नायक (२), पृ० ४२७।

२ दि एजुकेशनल रिव्यू, वाल्यूम II पृ० ५८ ६०, भगवान दयाल (३), पृ० ११८ पर उद्धृत।

३ ऑकेजनल पैम्फलेट्स ऑन इंडियन एफेयर्स, नं० २१, पृ० ८ भगवान दयाल (३), पृ० ११८ पर उद्धृत।

म अपने राज्य म अनिवाय शिक्षा लागू कर दी। अनिवाय प्राथमिक शिक्षा के प्रवत्तन की निश्चित माँग, सवप्रथम गोपाल कृष्ण गोखले ने माच १९१० ई० म की, जबकि इन्होने इपीरियल लजिस्लटिव कौसिल म एतत्सबधी सक्ल्प प्रस्तुत किया। सरकार क इस आश्वासन पर कि इस माग के सबध म सहानुभूतिपूवक विचार किया जाएगा, गोखले न अपना सकल्प वापस ल लिया। किंतु जब सरकार न इस सबध म बहुत कम प्रयत्न किया तो गोखले ने, एक वष बाद अनिवाय प्राथमिक शिक्षा लागू करन क सबध म एक विधयक प्रस्तुत किया। सभी सरकारी सदस्यो न, और कुछ अय सदस्या न भी इस विधयक का विरोध किया और विधेयक अस्वीकृत हो गया।

यद्यपि श्री गोखले क अनिवाय शिक्षासबधी प्रयत्न असफल हुए, किंतु सरकार पर उनका प्रभाव अवश्य पडा। सरकार ने इसके बाद ही शिक्षाविभागो का निर्माण किया जिन्होने जनशिक्षा आन्दोलन को आग बढाने मे योग दिया। १९११ १२ ई० म पचम जाज भारत आये और उन्होने अपने भाषण म शिक्षा के विकास पर जोर दिया। इस अवसर पर जनशिक्षा के विकास के लिए ५० लाख रुपयो के अनुदान की भी घोषणा की गयी। तत्पश्चात् १९१३ ई० म सरकार ने एक सकल्प के रूप म अपनी शिक्षानीति घोषित की, जिसम प्राथमिक शिक्षा के सुधार और विस्तार के लिए कई सिद्धान्त निश्चित किय गये। इस सकल्प म भी प्राथमिक शिक्षा के गुणात्मक सुधार पर ज्यादा बल दिया गया *यद्यपि सरकार ने स्वीकार किया कि विस्तार की उपेक्षा नही की जाएगी और स्कलो तथा* छात्रा की सख्या दुगुनी करने का प्रयत्न किया जाएगा।[१]

सरकार के इन प्रयत्नो के बावजूद दश म साक्षरो के प्रतिशत म कोई उल्लखनीय वद्धि नही हुई। निम्नलिखित आँकडो से इस कथन की पुष्टि होती है।[२]

१० वष और उससे ऊपर की अवस्था की जनसख्या

जनगणना का वष	व्यक्तियो की सख्या	पढने और लिखने की योग्यता रखनेवाले व्यक्तियो की सख्या	साक्षरो का प्रतिशत
१९०१	२०७०७०४२६	१२९०९८१२	६ २
१९११	२१८१८७८७६	१५३०४१५९	७ ०
१९२१	२१९७५१७२१	१ ८१४७८८९	८ ३

स्त्रीशिक्षा का विकास

जहा तक विवेच्य अवधि म स्त्रीशिक्षा के विकास का प्रश्न है पूव युग की बहुत सारी बाधाए धीरे धीरे दूर होने लगी और १९ वी शताब्दी के अत तक लडकियो के लिए समस्त भारत मे १२ कॉलेज ४६७ माध्यमिक स्कूल और ५६२८ प्राथमिक स्कूल थे जिनम

१ नुरुल्ला और नायक (२) पृ० ४२९।

२ यह सारणी प्रोग्रेस ऑफ लिटरेसी इन वेरियस कट्रीज, पृ० ११० पर प्रस्तुत आँकडों के आधार पर बनायी गयी है।

कुल ४४४,४७० छात्राएँ पढती थी। बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण म स्त्रीशिक्षा के विरुद्ध भारतीय क पूर्वाग्रह कुछ कम हुए। यहाँ तक कि मुसलमान भी, जो १९वी शताब्दी तक स्त्रीशिक्षा का विरोध करते रहे अब, सिद्धात रूप म ही सही, स्त्रीशिक्षा का समथन करने लगे। शिक्षा विभाग न भी स्त्रीशिक्षा को आगे बढाने के लिए कुछ सक्रिय कदम उठाये। लडकिया के लिए अलग स्कूल स्थापित किय गय तथा उन्ह प्रोत्साहन देने के लिए अनेक उपाय काम म लाये गये। निजी प्रयत्नो के फलस्वरूप भी अनेक महिला स्कूल और कॉलेज स्थापित किय गय। इन प्रयत्ना के फलस्वरूप १९०२-१९१७ ई० की अवधि म लडकियो क लिए १२ कला कालेज, ४ व्यावसायिक कालेज तथा ११६ माध्यमिक स्कूल स्थापित किय गये।[१] छात्राओ की सख्या म भी वद्धि हुई पर अधिकाश लडकिया स्कूल म अधिक समय तक अपनी पढाई चालू नही रख पाती थी।[२]

फिर भी स्त्रीशिक्षा का विकास सतोपजनक नही रहा। यहाँ तक कि १९२६ २७ ई० म भी समस्त ब्रिटिश भारत म स्त्रिया क लिए क्वल ३१ ०८९ शिक्षणसस्थाएँ थी जिनम १८,४२,३५६ छात्राएँ शिक्षा पाती थी। निम्नलिखित आँकडा स विवच्य अवधि म स्त्रिया की साक्षरता का पता चलता है—

प्रतिशत साक्षरता

वर्ष	१९११–१९२१ पुरुप और स्त्री दोनो	दस वर्ष से ऊपर की स्त्रियों की[३] पुरुप	स्त्री
१८९१	६१	११४	८
१९०१	६२	११८	७
१९११	७०	१२६	११
१९२१	८३	१८२	१९
साराश			

विवच्य अवधि म उच्च, माध्यमिक और प्राथमिक सभी स्तर की शिक्षा का प्रसार पूर्वविवचित युग की अपेक्षा अधिक द्रुत गति स हुआ। इस अवधि म यद्यपि कॉलेजो की सख्या म बहुत अधिक वद्धि न हुई, पर कालजा म पढनेवाले छात्रा की सख्या दुगुनी स भी अधिक बढ़ गयी। सरकार का ध्यान विवच्य अवधि म कालजीय शिक्षा क विस्तार पर उतना नही था जितना उसके गुणात्मक सुधार पर। कालजा की सख्या म अधिक वद्धि न होने का यही कारण था।

कॉलेजीय शिक्षा म हिन्दी का स्थान नगण्य था। अगरजी शिक्षा का माध्यम थी। कॉलेजो म द्वितीय भाषा क रूप म भी हिन्दी की पढाई नही होती थी। एम० ए० की परीक्षा क लिए हिन्दी स्वीकृत थी पर कम ही विश्वविद्यालयो न हिन्दी विभाग स्थापित किये थ। इस प्रकार विश्वविद्यालयीय शिक्षा म हिन्दी नितात उपक्षित था।

१ एजूकेशन इन इंडिया, पृ० २३३।
२ उपरिवत्।
३ यह सारणी प्रेमेन्स ऑफ लिटरसी इन बरियस स्टेट्स पृ० ११० पर प्राप्त आँकड़ों के आधार पर बनायी गयी है।

विवेच्य अवधि में, विशेषकर १९००-१९१७ ई० की अवधि में, माध्यमिक शिक्षा के विकास पर अधिक बल नहीं दिया गया। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी सरकार की दृष्टि अधिकतर उसके गुणात्मक सुधार पर रही, प्रसार पर नहीं। फिर भी माध्यमिक स्कूलों के प्रसार में विशेष कमी नहीं आयी। निजी प्रयत्नों के फलस्वरूप इस अवधि में माध्यमिक स्कूलों की संख्या में भी द्रुत विकास हुआ।

माध्यमिक स्कूलों में भी हिन्दी सर्वथा उपेक्षित थी। अँगरेजी शिक्षा का माध्यम थी और अंगरेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त करना ही माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य समझा जाता था। इस प्रकार विवेच्य काल में माध्यमिक स्कूलों के पाठ्यक्रम में भी हिंदी को कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त था।

विश्वविद्यालयीय और माध्यमिक शिक्षा की तुलना में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार विवेच्ययुग में अधिक तीव्रगति से हुआ। फिर भी देश में १९०१ ई० में साक्षरों का प्रतिशत ६.२, १९११ में ७.० और १९२१ में ८.३ था। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में प्राथमिक शिक्षा का प्रसार बहुत कम हुआ, यह इन प्रतिशतों से स्पष्ट है।

प्राथमिक स्कूलों में, शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ थीं। पर हिन्दी क्षेत्रों में स्थित सभी प्राथमिक स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई नहीं होती थी। उर्दू हिन्दी का संघर्ष विवेच्यकाल में भी कुछ न कुछ चलता रहा यद्यपि विवेच्यकाल के प्रायः अंतिम दशक तक *आते आते हिन्दी अपने बहुत सारे खोये हुए अधिकारों को प्राप्त करने में समर्थ हो गयी थी।* इस प्रकार हिन्दी क्षेत्रों के अधिकांश प्राथमिक स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई होती थी। आरंभ में अधिकांश मिडिल स्कूलों में अंगरेजी ही शिक्षा का माध्यम थी, पर विवेच्य अवधि के *अंत तक पहुंचते पहुंचते क्षेत्रीय भाषाएँ मिडिल स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बन गयीं।*

विवेच्य काल में स्त्रीशिक्षा के प्रसार के लिए प्रयत्न किये गये और पूर्व विवेचित युग की तुलना में विवेच्य युग में स्त्रीशिक्षा का विकास भी तेजी से हुआ, पर देश की आवश्यकताओं को देखते हुए इस विकास को संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। स्त्रियों की साक्षरता १८९१ ई० में ५% १९०१ ई० में ७% १९११ ई० में ११% और १९२१ ई० में १९% थी जिससे स्थिति की गंभीरता का पता चलता है।

निष्कर्षतः विवेच्य अवधि में भी हिन्दी पाठकों की स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती, फिर भी इस अवधि में हिन्दी पाठकों की संख्या में—भले ही विद्यावृद्धि की दृष्टि से ये पाठक बहुत श्रेष्ठ न हों—वृद्धि तो हुई ही। प्राथमिक शिक्षा के विस्तार तथा मिडिल स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिल जाने के कारण धीरे धीरे हिन्दी पाठकों की एक वाहिनी तैयार होने लगी, जिसे मानसिक भोजन के लिए पुस्तकों की आवश्यकता थी।

(२) "अदालतों, सरकारी कार्यालयों तथा जनजीवन में हिंदी की स्थिति।"

विवेच्यकाल में भी ब्रिटिश सरकार की हिन्दी पर कृपादृष्टि नहीं रही। वस्तुतः इसका राजनैतिक कारण था। जैसा कि भारतीय राजनीति के पंडितों ने एक स्वर से स्वीकार किया है ब्रिटिश सरकार 'फूट डालो और शासन करो' की नीति पर चलती थी, और जैसे जैसे भारत में जनआंदोलन जोर पकड़ता गया, वैसे वैसे सरकार इस नीति

से और भी चिपकती गयी। उर्दू भाषा का समर्थन भी इसी नीति का एक अंग था। अंगरेज मुसलमानों को हिन्दुओं के अधिकाधिक प्रतिकूल तथा अपने अनुकूल बनाये रखना चाहते थे। इसी नीति पर चलकर वे भारत की बहुसंख्यक हिन्दू जनता को दबाये रख सकते थे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए अंगरेज शासक उर्दू का पक्ष लेते थे तथा अदालतों और सरकारी कार्यालयों में हिन्दी की अपेक्षा उर्दू के प्रयोग को अधिक प्रोत्साहन और मान्यता देते थे। अदालतों में उर्दू के प्रयोग से हिन्दू जनता को बहुत असुविधा होती थी, पर सरकार इस पर अधिक ध्यान देना उचित नहीं समझती थी। धीरे धीरे हिन्दी क्षेत्रों से यह सामूहिक माँग उठने लगी कि अदालतों में नागरी लिपि का प्रयोग हो। सरकार ने इस माँग की भरसक उपेक्षा की और उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर प्रदेश की अदालतों में नागरी का प्रवेश नहीं हो सका।

अदालतों में जनता की नागरी लिपि प्रयोग संबंधी निरन्तर वर्धमान माँग की बहुत दिनों तक उपेक्षा करना सरकार के लिए भी कठिन था। बिहार तथा मध्य प्रदेश की अदालतों में नागरी प्रयोग की अनुमति सन् १८८१ ई० में ही प्राप्त हो गयी थी। सम्भलपुर और रीवा की अदालतों में क्रमशः सन १८९४ ई० और सन १८९५ ई० में नागरी लिपि का प्रवेश हुआ। मध्यप्रदेश के बहुत से देशी राज्यों में नागरी के प्रचार के लिए प्रयत्न किये जा रहे थे। १८९९ ई० के कुछ पूर्व इलाहाबाद जिले के बरावँधिपति ने अपने राज्य की अदालतों में नागरी प्रयोग का आदेश दिया।[1] पर संयुक्त प्रांत की अदालतों में अभी उर्दू का ही एकछत्र आधिपत्य था। एक तरफ संयुक्त प्रांत के जननेता हिन्दी लेखक तथा प्रचारक अदालतों में नागरी के प्रवेश के लिए निरंतर आंदोलन कर रहे थे, दूसरी तरफ मुसलमान नेता इस आंदोलन को विफल सिद्ध करने में जी जान से लगे हुए थे। मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार का समर्थन प्राप्त था ही। सन् १८९१ ई० में सरकार की तरफ से यह आदेश जारी किया गया कि हाईकोर्ट की परीक्षा में सम्मिलित होने के लिए उर्दू पढ़ने लिखने की योग्यता अनिवार्य है। इस सरकारी आदेश की आलोचना करते हुए पं० बालकृष्ण भट्ट ने अगस्त १८९१ ई० के हिन्दी प्रदीप में 'कमजोर हिन्दी की कमर तोड़ देने की एक नई तदबीर।' शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की जिसमें उन्होंने लिखा— 'हाल में पश्चिमोत्तर के गवनमेंट गजट में एक नया नियम छपा है कि जबतक निश्चय न हो जाय कि यह अच्छी तरह उर्दू पढ़ लिख सकता है तबतक हाईकोर्ट के इम्तिहान में शरीक न किया जाय। यह नियम विशेषकर हिन्दी की कमर तोड़ देने को किया गया है। अब हिन्दी या संस्कृत स्कूलों में और भी कोई क्या पढ़ेगा—इस समय यदि कोई हिन्दू हाईकोर्ट का जज होता तो इस नये नियम को कभी न बनने देता।'[2]

हिन्दी प्रदीप नागरी आन्दोलन का एक तरह से मुखपत्र था। पं० बालकृष्ण भट्ट, जो हिन्दी प्रदीप के सम्पादक थे, प्रायः अदालतों में नागरी प्रवेश संबंधी अपीलें प्रकाशित किया करते थे। इन अपीलों में नागरी आन्दोलन की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

---

१ शिवचरण सिंह, 'क्या संभव है कि इन प्रान्तों में नागरी का प्रचार हो', हिन्दी प्रदीप, फरवरी सन् १८९९ ई०।

२ हिन्दी प्रदीप, अगस्त १८९१।

जनवरी अप्रल १८९६ इ० के अक म उन्होने हिंदी की पुकार' शीर्षक एक अपील प्रकाशित की थी जिसम यह दिखाते हुए कि हिंदी ही इस देश की भाषा है अदालतो म नागरी क प्रयाग की माग की थी। दिसबर १८९७ ई० के 'हिंदी प्रदीप' म भट्ट जी ने फिर एक अपील प्रकाशित की जिसका शीर्षक था हिन्दी के दिन भी कभी बहुरेंगे।' इस प्राथनापत्र म भट्ट जी न लिखा था— बहुत दिनो तक बिहार और मध्य प्रदश म रहकर अपने निज क अनुभव म लाट साहब [1] जान गये होग कि बिहार और मध्य प्रदश की अदालतो मे हिन्दी अक्षर प्रचलित रहन से सरकारी काम म कोई त्रुटि न हुई वरन सब काम आसानी स होता रहा—हम अपना और हिन्दी का भी बडा सौभाग्य मानत है कि जहा जहा ये गय वहाँ हिंदी इनके साथ रही तो हिंदी के इस नित्य सबध को उक्त श्रीमान क्या अब अपने स अलग कर रहे है। हिंदी अक्षर अदालतो म जारी होने से बडा कल्याण तो यह देख पडता है कि ललाट लिपि से विधिना के अक्षर समान शिकस्ता उदू अदालतो से उठा दी जाय तो अमलो के चगुल स प्रजा का जी छूटे और गवनमट के शुद्ध न्याय म बट्टा न लगे। कई बार की देखी बात है कि दिहातो म एक साधारण सम्मन के आने पर भी लोगो म तहलका फल जाता है और लोग घर घर उस पढाते फिरते हैं और फिर भी बहुधा मतलब साफ नही होता। हम जो सबसे पीछे हटे हुए हैं उसका कारण एक यह भी है कि हमारे अक्षर और हमारी भाषा यहा की अदालतो म स्थान नही पाये हुए है।[2]

इसी समय के लगभग अदालतो म नागरी अक्षर का प्रयोग आरभ करन के लिए एक प्राथनापत्र सरकार के पास भेजा गया। पढलिखे मुसलमानो तथा कुछ कायस्थ कमचारियो न, जैसा भट्ट जी ने लिखा है इसका विरोध किया। इस प्राथनापत्र तथा इसके विरोध की सूचना प० बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी अक्षरो की दरखास्त पर क्या किया गया शीपक टिप्पणी म जो हिंदी प्रदीप' के मइ जून १८९८ ई० के अक म प्रकाशित हुई थी, निम्नलिखित रूप म दी थी—

'अदालतो म नागरी अक्षरो के जारी करने की जो दरखास्त श्रीमान—छोटे लाट साहब को दी गयी थी उसका परिणाम अबतक कुछ न प्रगट हुआ तीसरी या चौथी बार है कि गवनमट के सामन यह मामिला पेश किया गया है जिस गौरव और यत्न से अबकी बार यह पश किया गया ऐसा पहिले नही किया गया था—इस बार मे जो कुछ लिखा पढी अब तक पायानियर म छपी है उस्से प्रगट है कि पढे लिखे मुसल्मान उसने सब तरह विरुद्ध हैं—कायस्थो म भी जो देश और समाज के हित अनहित को अच्छी तरह समझते है अवश्य इसके अनुकूल है—किन्तु अमले लाला भाई इसक प्रतिकूल भी है इसलिय कि व समझत है कि नागरी अक्षर जारी होने से हमारी हानि है—पर यह उनकी समझ मात्र है। य लोग तो यही चाहेगे कि अदालती काररवाइयो की लिखापढी मे अजनबीपन जरूर रहे, अदालत की लिखा पढी जो साफ और सीधी सरल भाषा म रहेगी तो उन्हे फिर कौन पूछेगा—दूसरे यह कि पढ़े लिखे हिंदुओ का उदू फारसी से दुनियावी

१ सर ऐ ऐटोनी मैकडॉनिल।
२ हिंदी प्रदीप नवबर दिसबर १८९७।

कामों में जाहिरा कौन सा नुकसान हुआ है जो नागरी के लिए पछतावा मन में लावें—हानि तो इसमें साधारण प्रजा की है जो सर्कारी नौकर नहीं है और न सकारी नौकरी से जीविका करना चाहते हैं—जिस भाषा को आम रियाया नहीं समझती उसमें अदालती की कारखाई उन गरीब किसान या दिहात के रहनेवालों के साथ बिसरती है। १

सन् १८९८ ई० तक अदालतों में ही नहीं म्युनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में भी उर्दू ही कामकाज की भाषा थी। भट्ट जी ने मई-जून १८९८ ई० के हिन्दी प्रदीप में म्युनिसिपल या दफ्तर हिंदी में क्या न हो नामक टिप्पणी प्रकाशित की थी जिसमें उन्होंने यह माँग की थी कि म्युनिसिपल या डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में उर्दू अक्षरों के स्थान पर नागराक्षरों का प्रयोग अपेक्षित है।२

सं० १९५० (१८९३ ई०) में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की स्थापना हुई। यह सभा मुख्यतः नागरी प्रचार के उद्देश्य से ही स्थापित की गयी थी। सन १८९५ ई० में जब पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध के गवर्नर (छोटे लाट) का आगमन काशी में हुआ तो सभा की ओर से उर्दू अदालतों में नागरी लिपि का प्रचार करने के लिए एक आवेदनपत्र दिया गया।३ सन १८९८ ई० के आरंभ में सभा के तत्त्वावधान में एक तगड़ा डेपुटेशन प्रांतीय गवर्नर की सेवा में भेजा गया जिसमें प० मदनमोहन मालवीय, सर सुन्दर लाल, राजा माँडा, राजा आवागढ़ जैसे प्रभावशाली व्यक्ति थे। इस डेपुटेशन के अध्यक्ष अयोध्या नरेश महाराजा प्रताप नारायण सिंह थे। डेपुटेशन ने हजारों हस्ताक्षरों से युक्त एक स्मरण पत्र भी सरकार की सेवा में प्रर्पित किया।४ पर सरकार ने इस पर तुरंत कोई निर्णय न किया। पश्चिमोत्तर प्रांत के तत्कालीन गवर्नर सर एँटानी मकडॉनेल अदालतों में हिंदी जारी करने के समर्थक थे पर अंग्रेज सरकार मुसलमानों को राजनैतिक कारणों से अप्रसन्न करना नहीं चाहती थी। इधर हिंदी क्षेत्रों में अदालतों में नागरी के प्रयोग की माँग निरंतर उठ रही थी। मई १८९९ ई० के हिंदी प्रदीप में प० बालकृष्ण भट्ट ने श्रीमान छोटे लाट साहब नागरी जारी होने की आज्ञा देने में क्या देर कर रहे हैं शीर्षक टिप्पणी प्रकाशित की थी जिसमें उन्होंने लिखा— आज १४ महीने के ऊपर हो गये श्रीमान छोटे लाट की सेवा में पश्चिमोत्तर और अवध की ओर से अदालतों में नागरी प्रचलित करने के लिये एक डिपुटेशन भेजा गया जिसपर श्रीमान के उत्तर का एक टुकड़ा यह है—हमारी प्राइमरी शिक्षा तालीम इन्तदाई के इंतिजाम की बदौलत हिंदी पढ़े लिखे सकने लायक आदमियों की गिन्ती दिन २ बढ़ रही है हिंदी पढ़े लिखे लायक लोगों की गिन्ती बढ़ने के साथ सरकारी दफ्तरों में केवल फारसी अक्षरों ही के जारी रखने से राजा प्रजा के आपस के साथ व्यवहार में बाधा पड़ेगी और इस तरह की बाधायें देश को हानिकारक हैं। ऐसी २ कई एक बातें हमारे विचारवान् लाट साहब ने नागरी के अनुकूल कहीं जिन्हें सुन नागरी हितैषियों को बहुत कुछ आशा बंधी।

१ हिंदी प्रदीप मई जून १८९८।
२ उपरिवत्।
३ काशी की सभा का ... सन (१०) पृ० १२।
४ उपरिवत्, पृ० १२।

"प्रभुवर ने यह भी कहा, मेरा सिद्धान्त यह है कि गो मैं यह समझता हूं कि सर्कारी कागजो म नागरी अक्षरो के अधिक प्रचार से फायदा होगा सभ्य भी परिवतन के पक्ष म है पर में कोई ऐसा जरूरी या मुनासिब सबब नहीं देखता कि क्या ऐसी जल्दी की जाय—क्या न सोच विचार उन लोगों के हित और मन के भावा पर जो इस परिवतन के प्रतिकूल है उचित उपाय कर इस काम को कर—मुसलमान लोग जसा ख्याल है इस रद्दोबदल के विरोधी होंग ।[१]

इसस स्पष्ट है कि अगरेज सरकार हिन्दुओ की न्यायपूण माग की तुलना म मुसलमानो की प्रम नता को अधिक महत्व देती थी । अदालतो मे नागरी प्रयोग क सबध म निणय म विलब का यही कारण था ।

अतत १८ अप्रल सन् १९०० ई० म सयुक्त प्रात के गवनर ने यह आदेश प्रचारित किया कि यदि कोई व्यक्ति दीवानी या फौजदारी अदालतो मे आवेदनपत्र या शिकायत नागरी अक्षरो म लिखकर देना चाहता है तो वह अस्वीकार नहीं की जाएगी ।[५] इस प्रकार अतत नागरी आदोलन की विजय हुई ।

पर इस आदेश का जसा प्रभाव हिन्दी क प्रसार पर पडना चाहिए था वसा न पडा । कचहरियो मे काम करनेवाले अमले, जिनम अधिकाश मुसलमान और कायस्थ थे, उदू के पक्षपाती थे । अत नागरी प्रयोग की अनुमति मिल जान पर भी वे फारसी अक्षरा का ही प्रयोग करत थ, तथा नागरी लिपि म आवेदनपत्र दने वालो को निरुत्साहित करते थे। इस स्थिति की सूचना तत्कालीन पत्रपत्रिकाओ म प्रकाशित टिप्पणियो तथा भाषणो से मिलती है । मर्यादा' के जून १९१२ ई० के अक मे प्रकाशित 'नागरी का प्रचार शीषक टिप्पणी म यह सूचना दी गयी थी कि ' १८ एप्रिल सन १९०० को यह आज्ञा प्रचार की थी कि यदि कोई किसी प्रकार की अर्जी या शिकायत दीवानी या फौजदारी कचहरियो मे नागरी अक्षरो म लिखकर दे ता वह ल ली जायगी । इस आज्ञा के अनुसार हाईकोट मे तथा जिले की अनेक छोटी और बडी कचेहरियो म हजारो दर्खास्तें दाखिल हाती आयी हैं । परन्तु शोक की बात है कि कही कही कोई हाकिम और अमले कभी कभी नागरी मे लिखी अर्जी या दखास्ता क लेने म सकोच करते है और कही कही नागरी की दर्खास्त के साथ वे उदू का तजुमा माँगते है । उनकी यह कारवाई गवनमट की आज्ञा के बिलकुल विरुद्ध है ।[२]

सन १९१८ ई० म (स० १९७५ वि०) तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, कलकत्ता के सभापति ने भी अपने भाषण म उक्त स्थिति की पुष्टि की थी ।[४]

सन् १९१० ई० के लगभग भी उदू का प्रचार हिन्दी से ज्यादा था, इसकी सूचना नागरी प्रचारक', मई १९१० ई० में प्रकाशित भाषा शीषक टिप्पणी से मिलती है । इस टिप्पणी के लेखक के अनुसार इस समय उदू के जाननेवाल जितने लोग भारत

१ हिंदी प्रदीप, मई १८९९ ।
२ नागरी का प्रचार, मर्यादा, जून १९१२ ।
३ नागरी का प्रचार मर्यादा, जून १९१२, पृ० १५९ ।
४ तृतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन (कलकत्ता) पृ० ७६ ७८

में है उनमें अन्य भाषा के भाषण करनेवाले लोग कम हैं। यद्यपि नागरी भाषा के प्रचार करने के निमित्त अब विशेष प्रयत्न हो रहा है—तथापि गणना करने से उर्दू समाचारपत्र और उर्दू पढ़नेवालों की संख्या अधिक पाई जावेगी। भारत के बहुत से राजा और रईस लोग नागरी भाषा के भाषण करनेवाले हैं और नागरी के प्रचार में यत्न भी करते हैं—परन्तु नागरी को यह पद अब भी प्राप्त नहीं हुआ है जो कि उर्दू को प्राप्त है।[१]

इस प्रकार विवेच्य काल में, विशेषकर इसके पूर्वार्ध में हिन्दी की तुलना में उर्दू अधिक प्रचलित थी पर हिन्दी बहुसंख्यक जनता की भाषा थी जिसे लाख प्रयास करके भी बहुत दिनों तक दबाये रखना संभव न था। मुसलमान और अन्य कर्मचारियों की उपेक्षा के बावजूद, अदालतों की भाषा हो जाने पर हिन्दी का प्रचार तेजी से होना आरंभ हुआ। राष्ट्रीय आंदोलन ने भी हिंदीप्रचार को गति दी, क्योंकि उत्तर भारत की बहुसंख्यक जनता तक हिन्दी के द्वारा ही राष्ट्रप्रेम का संदेश पहुंचाया जा सकता था।

सन १९११ ई० में संयुक्त प्रांत में हिन्दी बोलनेवालों की संख्या उर्दू भाषियों की तुलना में बहुत अधिक थी। उस समय संयुक्त प्रांत की कुल आबादी ४८० लाख थी जिसमें हिंदी बोलनेवालों की संख्या ४३७ लाख और उर्दू बोलनेवालों की संख्या ४१ लाख थी। अर्थात १० हजार आदमियों में जहाँ ९११८ आदमियों की मातृभाषा हिंदी थी वहाँ केवल ८५३ व्यक्ति उर्दू बोलते थे।[२]

विवेच्य अवधि में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या से भी हिन्दी के अधिक प्रचार की सूचना मिलती है। सन १८८१ १८९१ ई० की अवधि में उर्दू में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं उसकी तुलना में १९०१-११ ई० की अवधि में ८८३ कम उर्दू पुस्तकें छपीं। पर हिंदी की स्थिति इससे भिन्न रही। १८८१ १८९१ ई० में हिंदी की जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं उसकी तुलना में १९०१-११ ई० की अवधि में २२७० हिन्दी पुस्तकें अधिक प्रकाशित हुईं। यानी उर्दू की पुस्तकें जहाँ १ प्रतिशत कम छपीं वहाँ हिन्दी में ११७ प्रतिशत अधिक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।[३] इससे हिन्दी के सतत विस्तार का पता चलता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक हिन्दी उर्दू संघर्ष तथा हिन्दी की विजय का युग था। इस दशक में हिंदी क्षेत्र में अनेक स्थानों पर अदालतों में उर्दू को हिन्दी के लिए स्थान बनाना पड़ा। १९०० ई० में संयुक्त प्रदेश की अदालतों में भी नागरी का प्रवेश हो गया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी की प्रथम किरण के साथ ही हिन्दी भाषी प्रदेश की अदालतों में नागरी का प्रयोग आरंभ हो गया। पर विवेच्य काल में अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों में उर्दू की प्रधानता बनी रही, यह असंदिग्ध है। इस कारण हिन्दी का अपरिमित मात्रा में प्रचार प्रसार तो नहीं हुआ, फिर भी पहले की तुलना में पाठकों के परिमाण में काफी वृद्धि हुई। तत्कालीन लेखकों

१ भारत नागरी प्रचारक मई १९१० पृष्ठ २०१।
२ हिंदी की शान, मर्यादा मार्च १९१३, पृ० २२७ २८
३ उपरिवत्।

ने हिंदी की इस स्थिति का सकेत दिया है। सन् १९०९ ई० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' म प० रामचन्द्र शुक्ल न लिखा था, 'यद्यपि इसका (हिन्दी का) साहित्य दिन दिन बढ रहा है पर पढनवाला की सख्या जितनी हानी चाहिए उतनी नही है। इसका अनुभव ग्रन्थकार प्रकाशक तथा पुस्तक बचनवाल लोग दु ख के साथ करते ह।'[1] इसी प्रकार सितम्बर १९११ ई० के नागरी प्रचारक मे 'नागरी' शीर्षक एक टिप्पणी प्रकाशित हुई थी जिसम टिप्पणीकार पचानन न लिखा था, 'नागरी म बहुत नय नय ग्र थ प्रकाशित हो रहे है और नागरी समाचार और सामयिक पत्रा का बहुत प्रचार हा रहा है। ये सब नागरी की उन्नति के बाह्य लक्षण है इन लक्षणा पर ध्यान करन स यह अनुमान होता है कि अब नागरी के दिन बहुरे है। पर जब यह विचार किया जाता है कि नागरी के साधारण पाठका की रुचि बढी है या नही, ता जान पडता है कि नागरी पाठका की सख्या कम है और नागरी साहित्य म रुचिमान पाठका की सख्या बहुत विरल जान पडती है।'[2]

इससे ज्ञात हाता है कि कचहरियो म नागरी प्रयाग की अनुमति प्राप्त हा जाने पर भी विवेच्य काल म हिंदी की अपेक्षा उर्दू का बोलबाला अधिक था। या इस काल के अतिम दशक तक उर्दू का यह बालबाला काफी कम हो गया था और हिन्दी आग बढ रही था, फिर भी हिंदी पाठको विशेषकर उच्चस्तरीय पाठको की सख्या सतापजनक न थी।

(३) हिन्दी क्षेत्र की आर्थिक स्थिति

सन १९०१ ई० म श्री रमेशदत्त ने अपन 'द एकानामिक हिस्टरी आफ इडिया' नामक ग्रथ की भूमिका म लिखा था भारतीय जनता की निधनता आज विश्व म अद्वितीय है उन्नीसवी शताब्दी के अतिम चरण म भारत का उजाड बना देने वाले अकाल अपन विस्तार और गहराइ मे अतीत और वतमान के इतिहास म अप्रतिम है। सयत गणनानुसार भी १८७७, १८७८ १८८९ १८९२, १८९७ और १९०० ई० के अकालो के फलस्वरूप डेढ करोड लोगो की अकाल मृत्यु हो गयी। यूरोप के एक घनी आबादी वाल देश की पूरी जनसख्या क बराबर भारत की जनसख्या केवल २५ वर्षों म अकाल कवलित हा गई।[3]

इस कथन स विवेच्य अवधि के प्रथम दशक म हिंदी पाठका की आर्थिक स्थिति का अनुमान आसानी से किया जा सकता है।

इस काल तक आत आते भारत क परपरागत उद्यागधधे प्राय नष्ट हो गये थे। यूरोप मे शक्तिचालित करघा के आविष्कार न भारतीय वस्त्रउद्योग के विनाश को पूरा कर दिया। जब भारतीय उद्योगपतियो ने शक्तिचालित करघो का उपयाग आरभ किया तो सरकार न उनके साथ अन्यायपूण व्यवहार किया। भारतीय मिलो म तयार हान वाल

---

१ रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी पाठकों की कमी नागरी प्रचारिणी पत्रिका नवम्बर १ ०९।
२ नागरी प्रचारक, सितबर १९११।
३ द एकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया (५) भूमिका, पृ० VI

सूत तथा वस्त्र पर उत्पादनकर लगा दिया गया जिससे वे जापानी और चीनी वस्त्रों की प्रतियोगिता में ठहरने में असमर्थ सिद्ध हुए।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्रज्ञा वेरा ऐन्स्टे के अनुसार १९०० और १९१४ ई० के बीच भारत में उद्योग का तेजी से विकास हुआ।[१] पर जनसंख्या की वृद्धि को देखते हुए इस विकास को तीव्र कहा जा सकता है, यह नितान्त संदिग्ध है। प्राप्त आँकड़ों से भारतीय उद्योगधंधों के तीव्र विकास का पता नहीं चलता। १९११ ई० में भारतीय जनसंख्या का ५.५% उद्योगों में लगा हुआ था, १९२१ ई० में यह प्रतिशत घट कर ४.९ हो गया।[२] यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में भारतीय उद्योगों का विकास हुआ तो भी इससे भारतीयों की आय में वृद्धि हुई ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस समय के अधिकांश भारतीय उद्योगों में विदेशी पूँजी लगी हुई थी जिससे प्राप्त आय विदेशों में चली जाती थी।[३]

भारतीय उद्योगधंधों के विनष्ट हो जाने के कारण विवेच्य काल में कृषि भारत की राष्ट्रीय आय का एकमात्र स्रोत रह गयी। प्राप्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि विवेच्य काल में कृषि पर जनसंख्या का बोझ दिनोंदिन बढ़ता ही गया। निम्नांकित आँकड़ों से इस कथन की पुष्टि होती है।

कृषि पर आश्रित जनसंख्या का प्रतिशत[४]

वर्ष	प्रतिशत
१८९१	६१ १
१९०१	६६ ५
१९११	७२ २
१९२१	७३ ०

कृषि पर इस वर्धमान निर्भरता का कारण ब्रिटिश पूँजीवादी नीति थी, जिसका उद्देश्य भारत को कृषिप्रधान देश बनाकर अपने तैयार माल को यहाँ के लोगों में खपत करना था। सन् १९११ ई० के जनगणना आयुक्त ने लिखा था—"सस्ते यूरोपीय वस्त्रों तथा बरतनों के व्यापक आयात, और खुद भारत में पश्चिमी ढंग के अनेक कारखानों की स्थापना ने ग्रामीण उद्योगों को यथेष्ट नष्ट कर दिया है। कृषि उत्पादनों के उच्च मूल्य ने भी अनेक ग्रामीण शिल्पियों को कृषि के पक्ष में अपने वंशानुगत शिल्प को त्यागने के लिए प्रेरित किया है।"[५]

विरोधाभासपूर्ण स्थिति यह थी कि यद्यपि अधिकांश भारतीय जनता अपने जीविका निर्वाह के लिए कृषि पर आश्रित थी, पर सरकार का ध्यान कृषि के विकास पर बहुत कम

१ इकॉनामिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया (२), पृष्ठ २०८।
२ इंडिया टु डे (४), पृ० १९२।
३ उपरिवत्, पृ० १५७।
४ उपरिवत्, पृ० १९२।
५ इंडिया टु डे (४), पृ० १९२।

था। सिंचाई के प्रबंध की, जो कृषि के लिए अनिवार्य है, तरफ से सरकार बिलकुल उदासीन थी। इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि १९०० ई० तक रेलवे पर, जो ब्रिटिश व्यापार के प्रसार में सहायक थी, सरकारी राजस्व का २२ करोड ५० लाख पौंड खर्च हुआ था, जबकि नहरों पर जो कृषि के लिए नितांत आवश्यक थी, कुल मिलाकर केवल २ करोड ५० लाख पौंड खर्च किया गया। बाद में भी बहुत दिनों तक इस स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। १९३० ई० की बंगाल सिंचाई विभाग समिति के प्रतिवेदन से भारत में नहरों के अभाव तथा विद्यमान नहरों की दयनीय स्थिति पर प्रकाश पडता है।[1]

यही नहीं, विवेच्य काल में ब्रिटिश सरकार द्वारा लगाया गया कर न केवल अत्यधिक था, वरन् अनेक बातों में अनिश्चित और अस्थिर भी था। श्री रमेश दत्त के अनुसार १९०० ई० के लगभग सरकार आर्थिक मालगुजारी (Economic rent) का प्राय शतप्रतिशत भूमिकर के रूप में वसूल लेती थी और किसानों के पास अपनी मजदूरी और कृषीय संग्रह (एग्रिकल्चरल स्टाक) के नफे के बाद बहुत थोड़ा बच पाता था। प्रत्येक तीस वर्ष पर भूमिकर में परिवर्तन किया जाता था। यह अनिश्चितता कृषि को पंगु बना देती थी। किसानों के लिए बचत कर पाना असंभव हो जाता था और वे निर्धनता और कर्ज के बोझ के नीचे दबे रहते थे।[2]

विवेच्य काल में भी भारत का आर्थिक उत्सारण (एकानामिक ड्रेन) पूर्ववत होता रहा। १८७५ और १९०५ ई० के बीच भारत की सीमा के बाहर तीन अनावश्यक और अलाभदायक युद्ध भारत के व्यय से लडे गये। सन १९०१ ई० में भारत से होमचार्ज के रूप में १,७३ ६८ ६५५ पौंड इंगलैंड भेजा गया।[3] १९१३ १४ ई० में यह होमचार्ज बढ कर १ करोड ९४ लाख पौंड और १९३३ ३४ ई० में २ करोड ७५ लाख पौंड हो गया।[4] इसके अतिरिक्त अँगरेज पदाधिकारी अपने वेतन के रूप में भारी रकम इंगलैंड भेजते थे। रेलवे सिविल प्रशासन तथा सैनिक व्यय भी बहुत ज्यादा था। इन अपव्ययों के कारण इंगलैंड का भारत पर सार्वजनिक कर्ज दिनोंदिन बढ़ता जाता था। १९०० ई० में यह सार्वजनिक कर्ज २२ करोड ४० लाख पौंड था। १९१३ ई० में यह बढ़कर २७ करोड ४० लाख पौंड तथा १९३९ ई० में ८८ करोड ४२ लाख पौंड हो गया।[5] इस कर्ज पर भारत को भारी सूद देना पडता था जो भारतीय राजस्व से वसूल किया जाता था। इन सभी व्ययों का कुप्रभाव अंतत भारतीय जनता की आय पर पडता था।

विवेच्य काल में भारतीयों की आर्थिक स्थिति कैसी थी, इसका पता उनकी वार्षिक आय संबंधी आँकडों से चलता है। भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय १८९७ ९८ ई० में लार्ड कर्जन के अनुसार ३० रुपये १८९९ ई० में, डब्ल्यू० डिग्बाइ के अनुसार १८ रुपये

---

१ इंडिया टू डे (४) पृ० २०१।
२ एकॉनामिक हिस्टरी ऑफ इंडिया (५) भूमिका पृ० X।
३ उपरिवत् (६), पृष्ठ ६०४।
४ इंडिया टू डे (४) पृ० १२४।
५ उपरिवत्, पृ० १२७।

१९११ ई० में फिंडले सिराज के अनुसार ४९ रुपये, १९१३-१४ ई० में वाडिया और जोशी के अनुसार ४४½ रुपये तथा १९२१-२२ ई० में शाह और खंबाटा के अनुसार ७४ रुपये थी।[1] यह तो प्रतिव्यक्ति औसत आय हुई। विवेच्य काल में आय का वितरण भी बहुत असमान था। प्रो० के० टी० शाह और के० जे० खंबाटा ने अपने 'वेल्थ एंड टैक्सेबुल कैपेसिटी आफ इंडिया' (१९२४) नामक ग्रन्थ में दिखाया है कि भारत की कुल जनसंख्या के १ प्रतिशत के अधिकार में कुल राष्ट्रीय आय का एक तिहाई हिस्सा केन्द्रित है जबकि जनसंख्या के ६० प्रतिशत को राष्ट्रीय आय का कुल ३३ प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि ६० प्रतिशत या अधिकांश जनता को औसत प्रति व्यक्ति आय का आधा ही प्राप्त होता है।[2] अर्थात् यदि आय की अधिकतम राशि को भी सही मान लिया जाए तो भारत की ६० प्रतिशत जनता की आय १८९७-९८ ई० में प्रतिव्यक्ति १५ रुपये, १९११ में २४½ रुपये और १९२१-२२ ई० में ३७ रुपये था। उपर्युक्त गणनानुसार १०० में से केवल १ व्यक्ति की वार्षिक आय १८९७-९८ ई० में १००० रुपये, १९११ ई० में १६३३ रुपये ३३ पैसे और १९२१-२२ ई० में २४३३ रुपये ३३ पैसे था। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवेच्य काल में १०० में से केवल १ आदमी की आर्थिक स्थिति ऐसी थी जो पुस्तकें खरीदकर पढ़ सकता था। शेष लोगों के लिए पुस्तकें खरीदना नितांत असंभव था।

श्री रमेशदत्त के अनुसार बाकरगंज, दिल्ली और अहमदाबाद जैसे धनी जिलों और फैजाबाद जैसे निर्धन जिलों को छोड़कर १९०२ ई० के लगभग एक स्वस्थ कृषक की मजदूरी ४ शिलिंग ८ पेंस (३ रु० ७३ पैसे) से ६ शिलिंग ८ पेंस (६ रु० ३२ पैसे) के बीच प्रतिमाह थी। वस्तुतः धनी जिलों को छोड़कर अन्य जिलों में एक कृषक श्रमिक को प्रतिदिन तीन पेंस (२० पैसे) भी नहीं मिलता था। एक मजदूर की औसत कमाई प्रतिदिन २¼ पेंस (१७ पैसे) थी। मजदूरों को साल भर मजदूरी नहीं मिल पाती थी, अतः वे प्रतिदिन २ पेंस (१३ पैसे) से अधिक औसत मजदूरी पाने की आशा नहीं कर सकते थे।[3]

इन परिस्थितियों में भारतीय मजदूरों के जीवन की कल्पना की जा सकती है। श्री दत्त ने लिखा है कि "उनके घरों पर छप्पर नहीं होता, जाड़ा और बरसात से अपनी रक्षा करने के लिए उनके पास कोई साधन नहीं होता, उनकी पत्नियाँ चिथड़ों में लिपटी रहती हैं, उनके छोटे छोटे बच्चे नंगे घूमते हैं, फर्नीचर नाम की कोई चीज उनके पास नहीं होती, जाड़े के दिनों में एक कंबल भी उनके लिए विलास की वस्तु होता है। यदि उनके बच्चे जानवर चराने का काम कर लेते हैं तथा उनकी पत्नियाँ कुछ अतिरिक्त काम करती हैं, तो वे अपने को सुखी समझते हैं। यह एक अभिधात्मक तथ्य है, लक्षणात्मक नहीं कि भारत के कृषक श्रमिक और उनका परिवार सामान्यतः साल भर अन्नाभाव से पीड़ित

---

१ इंडिया टु डे (४), पृ० १००।
२ वहीं, पृ० ८२।
३ दि इकॉनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया (१), पृ० १०१।

रहता है। बचपन से ही उनका पालनपोषण अभाव और गरीबी के बीच होता है और वे अकाल तथा महामारी के सहज शिकार हो जाते है। उन किसानों की स्थिति, जिनके पास जमीन है, कुछ अच्छी है। उन्हें रहने के लिए घर पहनने के लिए वस्त्र और खाने के लिए भोजन मिल जाता है, पर कठोर भूमिकर के रूप में उनकी आय का अधिकांश भाग सरकार के पास चला जाता है।[1]

श्रीदत्त के अनुसार १९०२ ई० के लगभग कलकत्ता और बंबई जैसे बड़े नगरों में एक स्वस्थ साधारण मजदूर की मजदूरी प्रतिदिन ४ पेंस (२७ पै०) थी। राज, बढ़ई या लोहार जैसे कुशल श्रमिकों की आय नगरों में प्रतिमाह २० शिलिंग (१६ रुपये) से ३० शिलिंग (२४ रुपये) तक थी।[2]

जैसा कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से स्पष्ट है, विवेच्यकाल में भारतीयों की आर्थिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ। और यदि सुधार की दिशा में थोड़ी वृद्धि दिखायी पड़ती है तो वह इतनी नहीं कि पुस्तकें खरीदकर पढ़नेवालों की संख्या उससे प्रभावित हो जाए। विवेच्यकाल के अन्त में अर्थशास्त्रियों द्वारा किये गये सर्वेक्षणों से इस कथन की पुष्टि होती है। १९२४ ई० में शाह और खंबाता ने अपने 'दि वेल्थ ऐंड टक्सेबुल कपेसिटी आफ इंडिया' नामक ग्रंथ में लिखा था—'औसत भारतीय आय केवल इतनी है कि जनसंख्या के प्रत्येक तीन आदमियों में से दो को पूरा भोजन या सभी को तीन बार के बदले दो बार भोजन मिल सकता है—वह भी इस शर्त पर कि सभी नंगे रहकर संतोष करें, सालोंभर घर के बाहर रहे, उन्हें कोई मनोविनोद या मनबहलाव का उपकरण न प्राप्त हो तथा सबसे खराब, सबसे मोटा और अत्यल्प पोषक तत्त्वों से युक्त भोजन के अतिरिक्त वे और कुछ न चाहे।'[3]

श्री आर० मुखर्जी ने अपने 'लैंड प्राब्लेम्स आफ इंडिया' नामक ग्रंथ में बताया है कि १९११ ई० में खेतों में काम करनेवाले श्रमिक की सूखी मजदूरी ४ आना और १९२२ ई० में ४ आना से ६ आना के बीच थी।

सन १९२८ ई० में 'ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस डेलिगेशन टु इंडिया' ने सूचना दी थी कि भारत के अधिकांश मजदूर प्रतिदिन १ शिलिंग (८९ पै०) से अधिक मजदूरी नहीं पाते।[4] ह्विटले कमीशन रिपोर्ट फार दि फाइव इयर्स १९२५-२९ के अनुसार उत्तर प्रदेश में उद्योगों में नियुक्त एक चौथाई से अधिक वयस्क अर्ध कुशल मजदूर प्रति सप्ताह ४½ शिलिंग (३ रु० ७२ पै०) से कम तथा आधे से अधिक ६ शिलिंग (४ रु० ८० पै०) प्रति सप्ताह से कम अर्जित करते थे। मध्यप्रांत में आधे से अधिक और मद्रास तथा बिहार और उड़ीसा में लगभग आधे मजदूरों की आय ७ शिलिंग ९ पेंस (६ रु० २० पै०) से कम थी।[5]

---

१ दि इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया (६) पृ० ६०६।
२ उपरिवत् पृ० ६०५।
३ इंडिया टु डे (४) पृ० २४
४ इंडिया टु डे (४), पृ० २३४।
५ उपरिवत् पृ० ३६७

इन साक्ष्यों से भारतीय जनता की निर्धनता के विषय में कोई सदेह नहीं रह जाता। विवेच्य काल में देश में अनेक अकाल पड़े। १८७६ तथा १९०७ ई० के बीच देश में १८ अकाल पड़े जिनसे १ करोड़ ५० लाख व्यक्तियों की मृत्यु हुई।[1] १९०० ई० में जो अकाल पड़ा था, वह चार वर्षों तक विद्यमान रहा। १९०३ ई० में जबकि भारत अभी अकाल के प्रकोप से मुक्त नहीं हो पाया था, दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया जिसमें पानी की तरह धन खर्च किया गया। इसी वर्ष तिब्बत से अनावश्यक युद्ध भी ठान दिया गया।[2] १९०७ ई० में फिर वर्षा नहीं हुई, जिससे १९०८ ई० की फसल नष्ट हो गयी। १९०९ १९१७ ई० तक कृषि की स्थिति सामान्य रही। प्रथम विश्वयुद्ध ज्योंही समाप्त हुआ, मौनसून ने धोखा दिया। १९१८ ई० में दूर दूर तक वर्षा नहीं हुई, और देश में अकाल की स्थिति आ गयी।

सारांश—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवेच्यकाल (१८९०-१९१७ ई०) में भारतीयों की आर्थिक स्थिति नितान्त शोचनीय थी। ब्रिटिश शासन की स्वार्थपूर्ण नीति के फलस्वरूप देश के उद्योगधंधों का समुचित विकास न हो सका। देश की जनता दिनोदिन जीविका निर्वाह के लिए कृषि पर अवलम्बित होती गयी। इधर कृषि पूर्णत मौनसून पर आश्रित थी। सिंचाई की व्यवस्था तथा कृषिसबधी अन्य सुधारों पर सरकार बिलकुल ध्यान नहीं देती थी। जिस वर्ष वर्षा न होती उस वर्ष पूरी फसल मारी जाती और अकाल की काली छाया देश पर मडराने लगती थी। उधर सरकार किसानों से जो भूमिकर वसूल करती थी, वह अत्यधिक था और फसल नष्ट होने पर भी भूमिकर कठोरतापूर्वक वसूल किया जाता था। रेलनिर्माण, अनुत्पादक युद्धव्यय, होमचार्ज और अँगरेज पदाधिकारियों के वेतन के रूप में भी देश के राजस्व का एक बहुत बड़ा अंश भारत से बाहर चला जाता था।

उपर्युक्त कारणों से भारत की प्रतिव्यक्ति आय अत्यल्प थी। देश की प्रतिव्यक्ति औसत आय बस केवल इतनी भर थी कि वहाँ के लोग आधा पेट भोजन करके तथा जीवन की अन्य सुखसुविधाओं से वंचित रहकर किसी प्रकार प्राण धारण किये रह सकें। १०० में से केवल एक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि वह खरीदकर पुस्तकें पढ़ सकता था। शेष ९९ व्यक्तियों के लिए पुस्तक खरीदना एक दुर्लभ विलास था।

इस सबंध में यह स्मरणीय है कि हिन्दी पाठकों की अत्यल्पता की व्याख्या केवल आर्थिक कारणों से ही नहीं की जा सकती। यदि केवल आर्थिक कारण ही पाठकों के अभाव के मूल में होता तो केवल सयुक्त प्रांत में १९११ ई० में कम से कम ४ लाख ३७ हजार पाठक होते। १९११ ई० में उत्तर प्रदेश में हिंदीभाषियों की सख्या ४ करोड़ ३७ लाख थी।[3] हम देख चुके हैं कि औसत रूप से भारत में १०० आदमियों में से १ आदमी की आय उस समय इतनी थी कि वह खरीदकर पुस्तकें पढ़ सकता। इस हिसाब से

१ इंडिया टू डे (४) पृ० ११९।

२ दि एकोनामिक हिस्टरी ऑफ इंडिया (२), पृ० ४५५।

३ हिन्दी की हार मर्यादा मार्च १९११, पृ० ११७ ३८।

उपर्युक्त आँकडो से स्पष्ट है कि विवेच्य अवधि में हिंदी पाठकों की सख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हुई ।

उक्त निष्कर्ष की पुष्टि इस अवधि की पत्रपत्रिकाओ में प्रकाशित सूचनाओ तथा पाठको के नाम की गयी अपीलो से भी होती है । विवेच्य अवधि के पूर्वार्ध तक हिंदी पत्र पत्रिकाओ की स्थिति नितात असतोषजनक थी । १८९३ ई० में प० बालकृष्ण भट्ट ने जुलाई अगस्त के 'हिन्दी प्रदीप' मे अपने पढने वालो से शीर्षक से निम्नलिखित अपील निकाली थी— 'यह सोलहवाँ वर्ष हम को बडे ही अल्प का था । ज्यो त्यो कर आज कटा और कहने में हम एक वर्ष के पुराने कह जायगे हिन्दी की दुर्गत दीन दशा देखते १६ वर्ष हमारे लिए कुछ कम नही है ... अत्यत उदासीन भाव से यह कहते हुए दुख होता है कि कदरदा गुणग्राही पढने वालो की सख्या में तिहाई वरन आधे भी न रह गये ... कहना ही पडता है कि मूल्य हमारा हमे भेज दीजिए । वर्ष पूरा हो गया बडे एहसानमन्द होंगे, कृतज्ञ होगे ।' पर पाठको ने हिंदी प्रदीप पर कोई विशेष कृपा न दिखायी और यह घाटे में प्रकाशित होता रहा । सन १८९८ ई० में भट्टजी ने हिंदी प्रदीप को बद करने की सूचना देते हुए एक करुण प्रार्थना प्रकाशित की थी ।[1]

इसी प्रकार १७ दिसम्बर १८९१ ई० के भारत मित्र में 'एक विनय' शीर्षक सपादकीय, पाच बडे स्तभो में छपा था, जिससे तत्कालीन हिंदी पाठको की स्थिति पर प्रकाश पडता है ।[2] इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अश नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

"आजकल हिंदी पत्रो की जसी दशा उपस्थित है, वह किसी को अविदित नही है । प्रत्येक हिंदी पत्र के प्रचारक जिस प्रकार का श्रम करते हैं और अर्थादि व्यय कर क्षतिग्रस्त होते हैं वह भी सभो पर विदित है । हिंदी पुस्तक और हिंदी पत्रो की जसी कुछ कदरदानी है वह भी कुछ अविदित नही है, कोई ऐसा हिंदी का हितैषी न निकलेगा कि जिसने हिंदी के उद्धार की चेष्टा कर अपनी गाठो से कुछ अर्पण न किया हो । ... विचारे ब्राह्मण को कानपुर पश्चिमोत्तर प्रात के प्रधान शहर में सहायता न मिली और लुक्कते पुढ़कते बगाल (बिहार) में उसने जा कर क्षत्रिय श्रेष्ठ खडग विलासाध्यक्ष श्रीमन्महाराज कुमार श्री रामदीन सिंह महोदय का आश्रय लिया । शोक ! महाशोक ! कि हिंदी के प्रधान नगर मे—हिन्दुओ के यथार्थ शुभचिन्तक गुरु—गरीब ब्राह्मण' को मुष्टिभर अन्नभिक्षा न मिली । धिक्कार है— हिंदी के रसिको को ! हिंदीभाषी हिन्दुओ को !! पाठक हम इस दुर्भागी हिन्दी का रोना को कहाँ तक गावें । ... हम लोग भी १४ वर्ष से इस कार्य में व्रती हुए भर हैं और "भारत मित्र' को निर्विघ्न प्रकाशित करते आते है । ... इसके प्रबध के लिए एक समाज (कमेटी) योग्य प्रमुख प्रतिनिधियो की है ... और लाभादि से इन लोगो का कुछ भी सबध नही है, किन्तु नुकसान के पूरे पूरे हिस्सेदार है । आज तक कोडियो हिंदी पत्रो ने जन्म लिया और मर गये । ... परन्तु 'भारत मित्र' में एक के स्थान में अनेक लोग कार्यकर्त्ता हैं एक का उत्साह जब भग होने पर हो जाता है तब चट दूसरा सहायक हो जाता है । बस केवल यही कारण है कि भारत मित्र' आजतक जीवित है, नही तो ग्राहक पाठक

१ हिंदी प्रदीप, जुलाई अगस्त १८९८ ई० ।

२ दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिंदी जर्नलिज्म (८) में उद्धृत, पृ० २४६ ।

और हिंदी के रसिकों की जैसी दशा वर्तमान है ये लोग जैसे कदरदान हैं और उनकी नादेहंदी जैसी कुछ सरनाम है उसके भरोसे एकदिन भी यह पत्र नहीं टिक सकता। परन्तु ये भारत मित्र की समाज ही अकेली कब तक क्या कर सकती है? जिस सर्वसाधारण और ग्राहक वर्गों पर इसका जीवन मरण निर्भर करता है वे लोग बड़े ही उदासीन आलसी और उत्साह विहीन हो रहे हैं।

एक दूसरे पत्र भारतवर्ष ने अपने दिसंबर १८९१ ई० के अंक में ग्राहकों की उदासीनता का रोना रोया था। दिसंबर १९०८ ई० में सरस्वती संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी पत्रपत्रिकाओं की दयनीय दशा का वर्णन करते हुए लिखा था यहाँ के मासिक पुस्तक प्रकाशक सदा घाटे का दुखड़ा रोया करते हैं। बेचारों को घर के धान का पयार में मिलाना पड़ता है। बहुतेरों का तो यहाँ तक घाटा होता है कि एक बार पत्र निकालकर फिर निकालने का उन्हें साहस भी नहीं होता। इसके कई कारण हैं। एक तो यहाँ शिक्षितों की संख्या कम है। दूसरे सामर्थ्यवान और पढ़े लिखे लोग मासिक पुस्तकें बहुत कम पढ़ते हैं तीसरे जो पढ़ते हैं वे गाँठ के पैसे खर्च करके नहीं पढ़ना चाहते। माँग माँग कर या प्रकाशकों को धोखा देकर अपना काम निकालते हैं। इसमें वे अपना अपमान नहीं समझते। कम मूल्य देकर माँगनेवालों की भी कमी नहीं है।[1] इस प्रकार के अनेक उद्धरण विवेच्य अवधि के पूर्वार्ध की पत्रपत्रिकाओं से प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनमें हिन्दी पाठकों के अभाव का पता चलता है पर धीरे धीरे पाठकों की संख्या और पठनरुचि में वृद्धि होती गयी इसका संकेत लगभग १९०५ ई० के बाद के संपादकीयों में मिलता है। हिन्दी प्रदीप, जो अपने जीवनकाल में सदा ही पाठकों के अभाव का रोना रोता रहा के संपादक को हम जनवरी १९०७ ई० में लिखते पाते हैं—

हमारा नया साल — धन्यवाद हमारे पत्रदाताओं का है जिनके हम बड़े उपकृत हैं सुधासमान जिनकी कृपा वारि की वर्षा से अट्ठाईस वर्ष में सिंचित यह पौधा बीच बीच में कई बार मुरझाते मुरझाते बचकर टस्का भी हरा भरा बना रहा। किन्तु यह कहना कि अब हमारे में प्रौढ़ता आ गयी है हिन्दी साहित्य रसिकों में हमारे दल का गौरव होने लगा है। इस सबके धन्यवाद के ऐसे निष्कपट उन्हीं इन गिने थोड़े से रसिकों को है जिनसे हमारा परस्पर का कुछ ऐसा लगाव हो गया है कि उनके बिना न हम चैन हैं न हमारे बिना उन्हें कल होगी—इस वर्षारंभ के आमोद प्रमोद में हम अपने पाठकों की जो कुछ सेवा करें सब कम है।[2]

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पाँचवें सत्र के सचिव श्री नन्दकुमार देव शर्मा ने तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं के संबंध में लिखा था कि युद्ध के समय इतने दैनिक पत्र हो जाने से यही प्रतीत होता है कि अब साधारण हिन्दी पाठकों की रुचि समाचारपत्रों के पढ़ने की ओर जा रही है। नवंबर १९११ ई० की मर्यादा के संपादकीय से ज्ञात होता है कि

[1] दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिंदी जर्नलिज्म (८) पृष्ठ २०६ पर उद्धृत
[2] हिंदी प्रदीप जिल्द ३० संख्या १ जनवरी १९०७ पा० सं० — १० पृ० पटना सिटी।
[3] दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिंदी जर्नलिज्म (८) पृ० ७३

इस समय हिंदी पाठको की सख्या अगरेजी आदि विदेशी पत्रो की तुलना म अत्यल्प थी, *फिर भी पहले की अपेक्षा वह काफी सतोपजनक हो गयी थी। सपादक ने लिखा था* 'इस बात का तो अवश्य हम हिंदी प्रेमियो को धन्यवाद देते हैं कि 'मर्यादा' की ग्राहक सख्या हमारी आशा से कही अधिक बढती जा रही है।

साराश

साराशत विवेच्य अवधि क प्रारभ म हिंदी पत्रा और उनके पाठका की तुलना म उदू पत्रो और उनके पाठको की सख्या बहुत ज्यादा थी पर विवेच्य अवधि म हिंदी पत्रा और उनके पाठको की सख्या म जिस द्रुत गति से वद्धि हुई उस गति स उदू पत्रो और उनके पाठको की सख्या म वद्धि न हुई। विवेच्य अवधि के अत तक पहुचत पहुचते हिन्दी पत्रा ने *विकास प्रतियागिता म उदू पत्रा की समकक्षता प्राप्त कर ली। फिर भी* हिन्दी पत्रपत्रिकाओ की स्थिति बहुत सतोपजनक हो गयी हो ऐसा नही कहा जा सकता। अब भी वसी पत्रपत्रिकाओ की सख्या जि हे एक हजार म अधिक पाठक प्राप्त हो अत्यल्प थी। सपादक ग्राहको का रोना रोते रहते थ और पत्रपत्रिकाए सचालको और सपादको की त्याग भावना से चला करती थी। इसस यह प्रमाणित होता है कि विवेच्य काल म हिंदी पाठको का समुचित विकास नही हो पाया था।

निष्कर्ष

गत पृष्ठो म प्रस्तुत विवेचन से यह निष्कष प्राप्त होता है कि विवेच्यकाल म हिंदी पाठको की सख्या अत्यल्प थी तथा हिंदी के बहुसख्यक पाठक अल्पशिक्षित थे। जो थोडे से पढेलिखे हिंदी पाठक थे वे या तो सस्कृत के जानकार थे या उदू फारसी के।

हिन्दी पाठको की अल्पता का अनुमान केवल इसी तथ्य से किया जा सकता है कि १९०१ ई० म साक्षरो की सख्या ६ २% और १९२१ ई० मे ८ ३% थी। सभी साक्षर पठनक्षमता से युक्त नही होते यह सुविदित है। उच्च शिक्षाप्राप्त पाठको का हिंदी म कितना अभाव था इसका अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि १९०१ ०२ ई० म कालेज मे पढ़नेवालो की सख्या समूचे देश म केवल १७ हजार और १९२१ २२ ई० म ४५४१८ (ब्रिटिश भारत म) थी। माध्यमिक स्कूलो म पढनेवाले छात्रो की सख्या भी देश की जनसख्या को देखत हुए अत्यल्प थी। १९०१ ०२ ई० म समूचे देश म माध्यमिक स्कूलो म पढनेवाले छात्रो की *सख्या ५ ९० १२९ और १९२१ २२ ई० म ११ ०६ ८०३* थी। यह भी सुविदित है कि हिन्दी क्षेत्र अहिन्दी क्षेत्रो की तुलना म शिक्षा की दष्टि से बहुत पिछडा हुआ था। तदन तर माध्यमिक स्कूलो और कालेजो म हिंदी का स्थान नगण्य था। हिंदू लडके भी उदू पढते थे। कारण स्पष्ट था। सरकारी कार्यालयो और अदालतो मे उदू का आधिपत्य था। १९०० ई० तक पश्चिमोत्तर प्रात की अदालतो म नागरी का प्रवेश नही हो पाया था। इसके बाद भी अदालतो और सरकारी कार्यालयो म अगरेजी और उदू का ही प्राधान्य था। सरकारी नौकरियो के लिए अगरेजी और उदू का ज्ञान अनिवार्य था। *परिणामत नौकरी पाने की इच्छा रखनेवाले सभी छात्र—उस समय की शिक्षा का एक मात्र* उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना था—अगरेजी और उदू की तरफ झुकते थे। इसका परिणाम

यह था कि हिंदी पाठक अत्यल्प मात्रा में थे और जो थे भी उनकी शिक्षादीक्षा प्राथमिक या मिडिल स्तर का था।

देश की आर्थिक स्थिति भी नितान्त चिन्त्य थी। अधिकांश जनसंख्या किसी प्रकार प्राणरक्षा करने में समर्थ थी। निर्धनता के कारण भी लोग अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते थे, और जो लोग साक्षर या अल्पशिक्षित थे वे भी जीवननिर्वाह की चिंता में पढ़ नहीं पाते थे जिसके परिणामस्वरूप स्कूल में अर्जित पठनक्षमता थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाती थी। १०० में से केवल एक व्यक्ति की इतनी आय थी कि वह पुस्तक खरीद कर पढ़ सकता था। देश में पुस्तकालयों का भी प्रायः अभाव था। इन कारणों से भी हिंदी के पाठक अत्यल्प और अल्प पठनयोग्यता संपन्न थे।

हिंदी पाठकों की संख्या विवेच्यकाल में अत्यल्प थी, इसकी सूचना विवेच्यकाल में प्रकाशित पत्रपत्रिकाओं और पुस्तकों की संख्या से मिलती है। १८९० ई० के लगभग हिंदी पत्रपत्रिकाओं की तुलना में उर्दू पत्रपत्रिकाओं की संख्या तिगुनी थी। १९१० ई० के लगभग दोनों की स्थिति प्रायः समान हो गयी, फिर भी हिंदी पत्रपत्रिकाओं के पाठक अत्यल्प थे, इसका पता विवेच्यकाल की संपादकीय टिप्पणियों से चलता है।

समासतः विवेच्यकाल का हिंदी पाठक समुदाय परिमाणतः लघु और प्रकारतः निम्नस्तरीय था। उच्चस्तरीय पाठक अत्यल्प थे। इस पाठकसमुदाय का विकास भी शनैः शनैः हो रहा था पर विकास की गति बहुत धीमी थी।

विवेच्यकाल के हिंदी कथासाहित्य के विकास पर इस पाठकसमुदाय की रुचि और पठनक्षमता का सुस्पष्ट प्रभाव है।

✗

मौलिक कथा साहित्य

और

उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

प्रवेश

सन १८९० ई० हिंदी कथासाहित्य के इतिहास में यदि हम अंगरेजी मुहावरे का प्रयोग करें, एक मील का पत्थर है। यहाँ से हिंदी कथा साहित्य की धारा में अप्रत्याशित विस्तार और वैविध्य के दर्शन होते हैं। इसके पूर्व यह धारा मंदाकिनी की तरह अत्यंत क्षीण रूप में बहती आ रही थी। १८९० ई० में सहसा यह न जाने कहाँ से शक्ति पाकर अनेक स्रोतों में प्रवाहित होने लगती है, और देखते देखते समस्त हिंदी साहित्य को आप्लावित कर देती है। १८९० ई० के लगभग देवकीनन्दन खत्री की तिलिस्मी कथापुस्तक 'चंद्रकांता' रचित हुई, जिसने हिंदी में एक नवीन प्रकार की धारा का—तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों की धारा—सूत्रपात किया। १८९० ई० में ही किशोरीलाल गोस्वामी के 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' तथा 'लवंगलता वा आदर्शबाला' नामक ऐतिहासिक रोमांस लिखे गये जिनसे हिंदी में ऐतिहासिक रोमांसों की परम्परा का आरंभ हुआ। इसी वर्ष गोस्वामी जी के 'प्रणयिनी परिणय', 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' और 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' (१८८९ ई०) नामक उपन्यास प्रकाश में आये जिन्होंने शृंगार-चित्रण प्रधान सामाजिक उपन्यासों की परम्परा की नींव डाली। १८९० ई० में ही राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिंदू', किसी सती साध्वी पति प्राणा अबला लिखित 'सुहासिनी' तथा राधाचरण गोस्वामी लिखित 'सौदामिनी' आदि उपन्यास प्रकाशित हुए। इस प्रकार १८९० ई० का वर्ष हिंदी कथासाहित्य के भावी विस्तार की पूर्व सूचना के रूप में अवतीर्ण हुआ।

१८९० ई० से आरंभ होने वाला दशक हिंदी उपन्यास के विकास का प्रथम चरण माना जा सकता है। तिलस्म ऐयारी प्रधान कथाओं, ऐतिहासिक रोमांसों और शृंगार चित्रण प्रधान उपन्यासों का आरंभ तो १८९० ई० में ही या उसके लगभग हो गया था, इस दशक में रूमानी अपराधप्रधान और जासूसी तथा मनःकल्पनात्मक कथाओं की परम्परा का भी सूत्रपात हुआ। उपन्यास की मूलधारा जो 'देवरानी जेठानी की कहानी' या 'निस्सहाय हिंदू' में आरंभ हुई थी, पूर्ववत प्रवाहित होती रही। इस प्रकार कथा के जितने भी रूप संभव हो सकते थे, उनका उदय इस दशक में हो गया। परिमाण की दृष्टि से विचार किया जाए तो केवल इस दशक में लगभग ७० मौलिक कथापुस्तकें प्रकाशित हुई, जो पिछले ९० वर्षों में प्रकाशित मौलिक कथापुस्तकों की कुल संख्या की लगभग पाँचगुनी थी। १९०० ई० के बाद तो कथापुस्तकों की जैसे बाढ़ आ गयी। १९००-१९१७ ई० की अवधि में हिंदी में लगभग ४१० मौलिक कथापुस्तकें प्रकाशित हुईं। विवेच्यकाल में अनूदित कथापुस्तकों और उपन्यासों का परिमाण और भी ज्यादा

था। इस परिच्छेद में उक्त समस्त कथासाहित्य का विश्लेषण-विवेचन तत्कालीन हिन्दी पाठकों की पठन-रुचि के आलोक में करने का प्रयास अभिप्रेत है।

हिन्दी के शोधकर्ता और आलोचक अब तक प्रेमचन्दपूर्व युग के कथासाहित्य का विवेचन कथामात्र के लिए 'उपन्यास' पद का प्रयोग करते हुए तथा इस काल के तथाकथित उपन्यासों को सामान्यतः तिलिस्मी ऐयारी 'जासूसी' ऐतिहासिक और सामाजिक जैसे प्रकारों में कोटिबद्ध करते हुए करते रहे हैं। प्रस्तुत प्रबंध में उपन्यास पद का प्रयोग सीमित अर्थ में केवल उन कथापुस्तकों के लिए जिनमें चित्रित संसार या जीवन कल्पनाप्रसूत, पर यथार्थ होता है[1] किया गया है। रोमान्स या 'रूमानी कथा' पद उन कथापुस्तकों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनमें चित्रित संसार यथार्थ नहीं होता। इन कथाओं में शौर्य साहसिकता प्रेम तिलस्म ऐयारी अपराध तथा अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं का अमर्यादित एवं अतिरंजित वर्णन होता है। जीवन के यथार्थ रूप के दर्शन इन कथाओं में नहीं होते। जिन कथापुस्तकों को हिन्दी आलोचकों ने तिलस्मी ऐयारी जासूसी या ऐतिहासिक उपन्यास की संज्ञा दी है उन्हें प्रस्तुत प्रबंध में रोमांस (केवल कतिपय ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़कर) और कथा शीर्षक के अंतर्गत रखा गया है, तथा उन्हें 'ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमांस' 'अपराधप्रधान और जासूसी कथाएं', ऐतिहासिक रोमांस तथा सामान्य रूमानी कथाएं जैसे उपशीर्षकों के अंतर्गत रखकर विचार किया गया है।

जिन कथापुस्तकों को हिन्दी शोधकर्ताओं और आलोचकों ने सामाजिक उपन्यास की संज्ञा दी है उन्हें प्रस्तुत प्रसंग में केवल उपन्यास संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्रस्तुत लेखक की दृष्टि में उपन्यासों का सामाजिक ऐतिहासिक, राजनैतिक आदि वर्गों में कोटिविभाजन कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि उपन्यासों का एकमात्र कार्य समाज का कल्पनाप्रसूत पर यथार्थ, चित्र प्रस्तुत करना ही है। वह समाज वर्तमान का भी हो सकता है और अतीत का भी यहाँ तक कि कुछ उपन्यासकारों ने अपवाद स्वरूप भावी समाज का संभावित और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। राजनैतिक समस्याएँ भी आर्थिक, धार्मिक सांस्कृतिक आदि समस्याओं की तरह, हमारे समाज की ही समस्याएँ होती हैं, अतः किसी उपन्यास का राजनैतिक सामाजिक या धार्मिक कहना विशेष अर्थ नहीं रखता।

प्रस्तुत परिच्छेद में हिन्दी कथासाहित्य का अध्ययन—तत्कालीन पाठकों की रुचि के आलोक में—निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) तिलस्म और ऐयारी प्रधान रोमांस
(२) अपराधप्रधान तथा जासूसी कथाएँ
(३) इतिहासाश्रित कथासाहित्य
 (क) ऐतिहासिक रोमांस
 (ख) ऐतिहासिक उपन्यास
 (ग) विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएं
(४) सामान्य रूमानी कथाएँ या रोमांस
(५) उपन्यास

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबंध अंत अध्याय

तिलस्म और ऐयारी प्रधान रोमांस

देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी रोमांस और उनपर पाठकों की रुचि का प्रभाव

सन १८९० ई० से आरंभ होने वाले दशक में जो कथापरम्पराएं विकसित हुईं उनमें तिलस्म ऐयारी प्रधान कथा की परम्परा सर्वप्रथम उल्लेख्य है। अन्य कथापरम्पराएं इस दशक में उद्भूत तो हुईं, पर उनका विकास १९०० ई० के बाद ही हुआ। किशोरी लाल गोस्वामी और गोपालराम गहमरी के उपन्यास १९०० ई० के बाद ही लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुए जबकि देवकीनंदन खत्री की कथापुस्तकों की धूम, उनके प्रकाशित होते ही मच गयी। खत्रीजी की तिलस्मी कथाओं का प्रचलन इस दशक में इतना अधिक हुआ कि अन्य प्रकार की कथापुस्तकों पर भी उनका प्रभाव पड़े बिना न रहा।

देवकीनंदन खत्री ने तिलस्म ऐयारी प्रधान तीन रोमांसों की—'चंद्रकांता' 'चंद्रकांता संतति' और 'भूतनाथ'—रचना की जिनमें अंतिम 'भूतनाथ' को पूरा करने के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया। 'भूतनाथ' के शेषांश को उनके पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने पूरा किया। खत्रीजी की ये तीनों कथापुस्तकें न केवल तत्कालीन हिंदी पाठकों के बीच लोकप्रिय हुईं वरन तब से लेकर आज तक इनकी लोकप्रियता किसी न किसी रूप में प्रायः अक्षुण्ण बनी हुई है। 'चंद्रकांता' प्रथम बार सन १८९१ ई० में प्रकाशित हुई। आरंभ में यह पुस्तक डिमाई आकार में मुद्रित हुई थी जिसका छठा संस्करण १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ। उस ज़माने में जब हिंदी पाठकों की संख्या अत्यल्प थी लगभग १४ वर्ष के भीतर चंद्रकांता के छह संस्करणों का प्रकाशित होना जबकि किशोरीलाल गोस्वामी आदि समकालीन उपन्यासकारों की पुस्तकें १४-१४ वर्ष तक पाठकों के अनुत्साह से अप्रकाशित रह गयी थीं उसकी लोकप्रियता का असंदिग्ध प्रमाण है। परवर्तीकाल में भी चंद्रकांता की लोकप्रियता अबाधित रही। सन १९६१ ई० तक चंद्रकांता के कुल मिलाकर ४८ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। यदि प्रत्येक संस्करण में मुद्रित प्रतियों की संख्या औसत रूप में ४००० भी मान ली जाए[1] तो चंद्रकांता की अब तक लगभग १ लाख ८० हज़ार प्रतियाँ मुद्रित और पाठकों के बीच वितरित हो चुकी हैं। हिंदी की किसी अन्य पुस्तक को यह सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है।

खत्री जी के समकालीन तथा परवर्ती हिन्दी लेखकों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि हिन्दी उपन्यास को लोकप्रिय बनाने का श्रेय देवकीनन्दन खत्री का ही है। खत्रीजी के उपन्यास छपते ही इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक उर्दू जाननेवालों ने उनके उपन्यासों को पढ़ने के लोभ से हिन्दी सीखी। अकेले देवकीनंदन खत्री ने हिन्दी के जितने पाठक तैयार किये उतने उस युग के समस्त उपन्यासकारों ने मिलकर भी कदाचित नहीं

---

१ 'चंद्रकान्ता' के प्रथम भाग के तीसवें संस्करण की सात हज़ार प्रतियाँ, दूसरे भाग के ३१वें संस्करण की २००० प्रतियाँ, तीसरे भाग के इकतीसवें संस्करण की ६५०० प्रतियाँ तथा चौथे भाग के बत्तीसवें संस्करण की ६००० प्रतियाँ मुद्रित हुई थीं। (यह संस्करण मेरे पुस्तकालय में उपलब्ध है।)

किये। सन १८९० ई० के पूर्व हिन्दी उपन्यासों की क्या स्थिति थी इसे हम गत अध्याय में देख चुके हैं। निस्सहाय हिन्दू 'परीक्षा गुरु' नूतन चरित्र 'श्यामा स्वप्न' नूतन ब्रह्मचारी आदि उपन्यासों का प्रकाशनसंबंधी इतिहास पूर्ववर्ती पृष्ठों में दिया जा चुका है।[१] इनमें से किसी के भी १००० से अधिक के संस्करण नहीं निकले थे और किसी का भी २० वर्ष के पहले दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ था। परीक्षा गुरु का दूसरा संस्करण दो ही वर्ष बाद निकला था पर उसके मूल में लेखक का उत्साह था पाठकों का नहीं। इसका भी तीसरा संस्करण ३५ वर्ष बाद निकला। तात्पर्य यह है कि १८९० ई० के पूर्व हिन्दी उपन्यासों के पाठक अत्यल्प थे। १८९० ई० में आरम्भ होनेवाले दशक में भी हिन्दी पाठकों का परिमाण संतोषजनक था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किशोरी लाल गोस्वामी ने १८९१ ई० के पूर्व दस पन्द्रह उपन्यास लिखे थे, पर पाठकों की कमी के कारण अधिकांश इस दशक में अप्रकाशित रह गये थे। स्वयं गोस्वामीजी ने 'सुख शर्वरी' (१८९२) की भूमिका में लिखा था कि 'किन्तु बड़े क्षोभ का विषय है कि हिन्दी के रसिकों के अभाव के कारण हिन्दी भाषा में अभी उपन्यास का पूरा अभाव ही समझना चाहिये उसका एक यह भी प्रमाण हो सकता है कि आजतक हमने दस पन्द्रह उपन्यास हिन्दी में लिखे हैं, पर दो एक के अतिरिक्त अभी तक सब के सब पड़े हैं।'[२]

इन तथ्यों से १८९० ई० के आसपास हिन्दी पाठकों की स्थिति स्पष्ट है। हिन्दी उस समय एक उपेक्षित भाषा थी। अंगरेजी स्कूलों और कालेजों में शिक्षा प्राप्त करनेवाले हिन्दी को हेय दृष्टि से देखते थे। सरकारी कार्यालयों और अदालतों में उर्दू का बोलबाला था। सरकारी नौकरी के उम्मीदवारों के लिए अँगरेजी या उर्दू अथवा इन दोनों का ज्ञान अपेक्षित था। स्कूलों में भी कालिजों की बात तो अलग रहे हिन्दी उपेक्षित-अनादृत थी। ऐसी स्थिति में हिन्दी कौन पढ़ता?

देवकीनन्दन खत्री का महत्त्व इस बात को ले कर है कि उन्होंने नितांत प्रतिकूल परिस्थितियों में हिन्दी कथासाहित्य को लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयास किया। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' की रचना करके खत्री जी ने लोगों का ध्यान सहसा अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। फिर तो खत्री की तिलस्मी कथाएँ हिन्दी पाठकों के बीच इतनी लोकप्रिय हुई कि दूसरे प्रकार की कथापुस्तकें इनके प्रवाह में बह सी गयीं।

खत्रीजी के उपन्यासों की लोकप्रियता का उल्लेख इनके समकालीन तथा परवर्ती लेखकों ने निस्संकोच भाव से किया है। अगस्त १९१३ ई० की 'नागरी हितैषिणी', में उसके संपादक ने लिखा था, कि हिन्दी भाषा भाषी मात्र 'चन्द्रकान्ता' लेखक बाबू देवकीनन्दन खत्री का नाम जानते हैं। 'चन्द्रकान्ता' द्वारा देश में हिन्दी का कितना प्रचार हुआ है यह बात सभी लोगों पर विदित है। सबको मुक्त कंठ से स्वीकार करना पड़ता है कि बा० देवकीनन्दन की दिखायी हुई राह पर चलने से ही हिन्दी साहित्य के

१ द्रष्टव्य अध्याय ४।

२ किशोरीलाल गोस्वामी सुख शर्वरी भारतजीवन प्रेस काशी प्रथमबार १८९२ ई० भूमिका।

तत्कालीन पाठकों के इस घातक व्यवधान को जो भविष्य में हिन्दी साहित्य के विकास के लिए एक बहुत बड़ी बाधा सिद्ध हो सकता था, सर्वप्रथम देवकीनन्दन खत्री ने लक्षित किया। खत्री जी वे प्रथम कथाकार हैं जिन्होंने तत्कालीन साक्षरमात्र, असाहित्यिक उर्दू शब्दों और मुहावरों से खूब परिचित पर संस्कृत नाम से रहित सम्भावित हिन्दी पाठकों को, जो अपनी विशाल संख्या के बावजूद साहित्यकारों द्वारा उपेक्षित थे पठनयोग्यता और रुचि को शतप्रतिशत ध्यान में रखकर कथापुस्तकों की रचना की। परिणाम अप्रत्याशित हुआ। अन्य लोगों की बात तो अलग है, स्वयं खत्रीजी को यह विश्वास न था कि हिन्दी में इतने पाठक हैं। उन्होंने १९०५ ई० में लिखा था, जिस समय मैंने चन्द्रकान्ता लिखनी आरम्भ की थी उस समय कविवर प्रताप नारायण मिश्र और पंडितवर अम्बिकादत्त व्यास जैसे धुरंधर सुकवि और सुलेखक विद्यमान थे। परन्तु न अब वैसे मार्मिक कवि हैं और न वैसे सुलेखक। उस समय हिन्दी के लेखक थे परन्तु ग्राहक न थे, इस समय ग्राहक हैं पर वैसे लेखक नहीं हैं। मेरे बहुत से मित्र हिन्दुओं की अकृतज्ञता का यों वर्णन करते हैं कि उन्होंने हरिश्चन्द्र जी जैसे देशहितैषी पुरुष की उत्तम उत्तम पुस्तकें नहीं खरीदीं। पर मैं कहता हूँ कि यदि बाबू हरिश्चन्द्र अपनी भाषा को थोड़ा सरल करते तो हमारे भाइयों को अपने समाज पर कलंक लगाने की आवश्यकता न पड़ती और स्वाभाविक शब्दों के मेल से हिन्दी की पसिंजर भी मेल बन जाती मेरी हिन्दी किस श्रेणी की हिन्दी है इसका निर्धारण मैं नहीं करता परन्तु मैं यह जानता हूँ कि इसके पढ़ने के लिये कोष की तलाश नहीं करनी पड़ती। चन्द्रकान्ता के आरम्भ के समय मुझे यह विश्वास न था कि उसका इतना अधिक प्रचार होगा, यह मनोविनोद के लिए लिखी गई थी पर पीछे लोगों का अनुराग देखकर मेरा भी अनुराग हो गया और मैंने अपने इन विचारों को जिनको मैं अभी तक प्रकाश नहीं कर सका था फैलाने के लिये इस पुस्तक को द्वार बनाया और सरल भाषा में इन्हीं मामूली बातों को लिखा जिसमें मैं उस होनहार मंडली का प्रिय पात्र बन जाऊँ। मुझे इस बात से बड़ा हर्ष है कि मैं इस विषय में सफल हुआ और मुझे ग्राहकों की अच्छी श्रेणी मिल गई। यह बात बहुत से सज्जनों पर प्रगट है कि चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिए बहुत पुरुष नागरी की वर्णमाला सीखते हैं और जिनको कभी हिन्दी सीखना न था उन लोगों ने भी इसके लिए हिन्दी सीखी। [१]

यह उद्धरण और खत्री जी के उपन्यासों के अवलोकन से स्पष्ट है कि देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी के साधारण—'लो ब्राऊ' या निम्न रुचि—पाठकों की पठनयोग्यता और रुचि का ध्यान अंतिम सीमा तक रखा था, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अधिकतम संख्या में पाठक प्राप्त हुए थे। 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के आरंभिक संस्करणों के प्रथम अवलोकनमात्र से स्पष्ट हो जाता है कि क्या कथा क्या विचार, क्या शिल्प, क्या भाषा क्या पुस्तक का आकारप्रकार और क्या मूल्य, सभी दृष्टियों से देवकीनन्दन खत्री ने अपने काल के साधारण और सम्भावित हिन्दी पाठकों की पठनयोग्यता और रुचि का ध्यान रखा

१ देवकीनन्दन खत्री, चन्द्रकान्ता सन्तति लहरी बुकडिपो, काशी १९५० छठा खंड, चौबीसवाँ भाग (प्र० सं०—१९०९ ई०) आठवाँ बयान पृ० ८० ८१।

था। खत्री जी के उपन्यासों के अंतरंग पर हम तनिक बाद में विचार करेंगे, पहले उनके बहिरंग पर विचार कर लिया जाए।

प्रथम अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि पठनरुचि पर शैक्षणिक योग्यता, पुस्तकों के आकारप्रकार तथा उनके मूल्य का भी प्रभाव पड़ता है। अल्पशिक्षित तथा ग्रामीण पाठक मोटी मोटी पुस्तकें पसंद नहीं करते। बड़े अक्षरों में मुद्रित छोटी और पतली पुस्तकें उन्हें विशेष पसंद आती हैं। महीन अक्षरों में मुद्रित मोटी पुस्तकों को देखते ही अल्पशिक्षित व्यक्तियों का धैर्य टूट जाता है। तथ्य यह है कि अल्पशिक्षित व्यक्ति प्रत्येक शब्द को ही नहीं प्रत्येक अक्षर तक को पढ़ते हैं, जबकि अधिक शिक्षित व्यक्ति पढ़ने के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि वे एक साथ कई कई शब्दों को, बल्कि पूरे वाक्य को, पढ़ या देख जाते हैं। देवकीनंदन खत्री को अपने उद्दिष्ट पाठकों की पठनक्षमता का कितना सही और सूक्ष्म ज्ञान था, यह देखकर दंग रह जाना पड़ता है। उन्हें सहज ज्ञान से यह ज्ञात था कि हिन्दी पाठक मोटी पुस्तकें वह भी महीन अक्षरों में मुद्रित पसंद नहीं कर सकते। अतएव उन्होंने अपने उपन्यासों को खंडों में प्रकाशित करने की योजना बनायी। यदि 'चंद्रकांता' के चारों संस्करण एक साथ प्रकाशित होते तो संभव था, पुस्तक को लोकप्रियता प्राप्त करने में देर लगती। इन्होंने १८९१ ई० में 'चन्द्रकान्ता' का प्रथम खंड बड़े टाइप में, डिमाई आकार में प्रकाशित किया जिसकी पृष्ठसंख्या ९० थी। पुस्तक छपी नहीं कि धूम मच गयी। 'चन्द्रकांता' के चारों खंड एक के बाद दूसरा त्वरित अनुक्रम में प्रकाशित हुए। कथा में हिन्दी पाठकों की इतनी अधिक रुचि देखकर खत्रीजी ने उसका विस्तार करने का निश्चय किया। विशुद्ध पाठकों की माँग पर एक चार हजार पृष्ठों की पुस्तक ('चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' वस्तुतः एक ही पुस्तक हैं) लिखी जा सकती है 'चन्द्रकान्ता संतति' इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। 'चंद्रकांता' के प्रकाशित होने के पूर्व 'संतति' की बात खत्री जी ने सोची भी नहीं थी। 'चंद्रकांता' के बाद खत्री जी ने 'चंद्रकांता संतति' लिखनी शुरू की और इसे प्रकाशित करने के लिए इन्होंने १८९४ ई० में 'उपन्यास लहरी' नामक मासिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। इस सन् १८९४ ई० में 'उपन्यास लहरी' का पहला अंक प्रकाशित हुआ, जिसमें 'चंद्रकांता संतति' का पहला भाग छपा। यह पत्रिका डिमाई आकार के ३२ पृष्ठों में बड़े टाइप में निकलती थी। अपने लघु आकार और अल्प मूल्य के कारण 'उपन्यास लहरी' को अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई।

देवकीनन्दन खत्री अपने उपन्यासों के संभावित पाठकों की आर्थिक स्थिति से अपरिचित नहीं थे। विवेच्यकाल में भारतीय जनता की आर्थिक अवस्था कितनी दयनीय थी इसका विवेचन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है। अतः उन्होंने अपने उद्दिष्ट पाठकों की क्रयशक्ति को ध्यान में रखते हुए 'चन्द्रकान्ता' के प्रत्येक भाग का मूल्य आठ आना रखा और जब यह मूल्य भी उन्हें अधिक मालूम हुआ जो वस्तुतः तत्कालीन आर्थिक स्थिति को देखते हुए अधिक था तो उन्होंने 'उपन्यास लहरी' के प्रत्येक अंक का मूल्य दो आना तथा उसका वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया कर दिया।[1]

---

१ देवकीनन्दन खत्री, कुसुम कुमारी १८९४ ई० विज्ञापन।

पुस्तक के आकारप्रकार और मूल्य का प्रभाव पठनमात्रा पर पड़ता है, इसकी पुष्टि 'चन्द्रकान्ता' के १९०६ ई० के लगभग प्रकाशित उसके गुटका संस्करण से होती है। जैसा कहा जा चुका है, चन्द्रकान्ता पहले डिमाई आकार में प्रकाशित हुई थी तथा उसके प्रत्येक खंड का मूल्य आठ आना था। बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री के अनुसार १९०६ ई० के लगभग 'चन्द्रकान्ता' का गुटका संस्करण निकाला गया तथा उसका मूल्य आधा कर दिया गया। यह संस्करण पाठकों में इतना लोकप्रिय हुआ कि डिमाई आकारवाले संस्करण की बिक्री बन्द हो गयी और बाद में उस संस्करण का प्रकाशन रुक गया।

यह सामान्य अनुभव की बात है कि बच्चों तथा अल्पशिक्षितों की कल्पनाशक्ति अविकसित होती है। बहुधा कागज पर मुद्रित अक्षरों को पढ़कर वे अपने मस्तिष्क में वर्णित घटना का स्पष्ट चित्र खड़ा करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। इसीलिए बच्चों की पुस्तकों में मुद्रित पंक्तियों या पृष्ठों के बीच बीच में वर्णित घटनाओं के कुछ चित्र भी दे दिये जाते हैं।

अल्पशिक्षितों की भी लगभग यही दशा होती है। उन्हें भी शब्दमात्र की सहायता से मस्तिष्क में घटनाओं का रूप खड़ा करने में कठिनाई का बोध होता है। यदि मुद्रित पृष्ठों के बीच बीच में वर्णित घटनाओं के चित्र दे दिये जाते हैं तो यह अल्पशिक्षितों के लिए विशेष आह्लाद का कारण होता है। देवकीनन्दन खत्री अपने पाठकों की पठनक्षमता से परिचित थे। अतः बाबू दुर्गा प्रसाद खत्री के अनुसार,[१] जब 'चन्द्रकान्ता' का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ तो उसमें वर्णित घटनाओं के कुछ चित्र लगा दिये गए। पहले लीथो से छपे चित्र लगाये गये। जब पाठकों में इन चित्रों की लोकप्रियता सिद्ध हो गयी, तो चित्रों के उत्कट ब्लाक बनवा लिये गये। बाद में आठवें संस्करण से बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री ने चित्रों के एचिंग ब्लाक (etching block) बनवाए तथा सादे चित्रों के साथ तिरंगे चित्र भी लगाये गये। इससे स्पष्ट है कि देवकीनन्दन खत्री को अपने पाठकों की पठनयोग्यता और रुचि का पूरा पूरा ध्यान रहता था।

देवकीनन्दन खत्री अपनी पुस्तकों के आकारप्रकार या बहिरंग के निर्धारण में पाठकों की रुचि का ध्यान रखते थे, यह बात गौण न होते हुए भी साहित्यिक विवेचन की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं। पर उनकी कथापुस्तकों के विषय शिल्प और भाषा पर तत्कालीन सामान्य पाठकों की रुचि का इतना व्यापक और गहरा प्रभाव है कि बिना इस दृष्टि से विचार किये खत्री जी की पुस्तकों का सम्यक् विश्लेषण विवेचन सम्भव ही नहीं है।

सर्वप्रथम हम खत्रीजी की कथापुस्तकों की विषयवस्तु का विश्लेषण करें। 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूतनाथ' की कथाओं की धुरी राजकुमार राजकुमारियों का प्रेम है। 'चन्द्रकान्ता' में वीरेन्द्र सिंह और चन्द्रकान्ता के प्रेम की कहानी मूल कथा के रूप में वर्णित है तथा 'चन्द्रकान्ता संतति' में इन्द्रजीत सिंह और किशोरी तथा आनन्द सिंह और लाडिली के प्रेम, वियोग और मिलन की कथा आधिकारिक कथा है।

१ व्यक्तिगत साक्षात्कार से प्राप्त सूचना।

इन आधिकारिक कथाओं के साथ ऐयारी और तिलस्म की अनेक प्रासंगिक कथाएँ इस कौशल से सग्रथित कर दी गयी हैं कि मूल कथा तो अपने स्वाभाविक रूप में अग्रसर होती रहती है और पाठक एक प्रासंगिक कथा से दूसरी प्रासंगिक कथा पर समुद्र की तरंगों पर डूबती उतराती गेंद की तरह बहता चलता है। प्रासंगिक कथाओं की ये तरंगें पाठक को इतना अभिभूत कर देती है कि मूल कथाधारा का उसे ध्यान भी नहीं रहता। 'चन्द्रकान्ता' या 'सतति' के किसी पाठक से बातें कीजिए तो वह तेजसिंह, भैरोसिंह, बद्रीनाथ, जीतसिंह, भूतनाथ आदि की ऐयारियों तथा चुनार और जमानिया के तिलस्म की चर्चा जितने उत्साह से करेगा, उतने उत्साह से वीरेन्द्र सिंह या उनके लडकों की प्रेमकथा की नहीं। कारण स्पष्ट है। वीरेन्द्र सिंह और चन्द्रकान्ता की प्रेमकथा जैसी कहानियाँ इतनी रूढ और निर्जीव हो गयी है कि जब तक बाहरी उपकरणों से—चाहे वह शृंगार हो या कौतूहल—उन्हें अलकृत नहीं किया जाता, तब तक उनमें पाठकों की रुचि हो ही नहीं सकती। देवकीनन्दन खत्री ने अपनी कथापुस्तकों में शृंगार तत्त्व को प्रधानता नहीं दी। क्यों, इस पर हम तनिक बाद में विचार करेंगे। *उन्होंने ऐयारी और तिलिस्म की कौतूहलवर्द्धक घटनाओं की सहायता से एक रूढ प्रेमकहानी को अपरिमित रोचक बनाने का सफल प्रयास किया।*

देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमांसों में अद्भुत कौतूहलोत्पादक और रोमांचकारी घटनाओं की बडी लम्बी और जटिल शृंखला है जिसमें एक बार कैद होकर *साधारण पाठक निकल जाने की हिम्मत नहीं कर सकता। ऐयारों की अद्भुत कारवाइयों,* अजीब चालाकियाँ, वेश बदलकर शत्रुओं के दुर्ग में घुस जाने तथा चुटकी बजाकर *असम्भव-प्राय काम कर आने,* देखते देखते दुश्मन के आदमी को बुलावा देकर बेहोश कर देने और गठरी बाँधकर तिलस्मी बन्दीगृह में कैद कर आने तथा तिलस्मी करिश्मों और तमाशों का ऐसा अपूर्व और अभिभूत कर देनेवाला वर्णन इन कथाओं में मिलता है, जिसे पढकर दाँतों तले उँगली दबानी पडती है। पाठकों को दुविधा में डाले रखने का अद्भुत कौशल खत्रीजी में है। एक घटना का रहस्य अभी खुला नहीं कि उससे दूसरी घटना आरम्भ हो जाती है जो दुविधा और उत्कंठा उत्पन्न करने में पहली से कम नहीं होती। इस प्रकार घटनाओं की शृंखला पर शृंखला निर्मित होती जाती है और पाठक उसमें उलझता जाता है।

जैसा पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी के उन सम्भावित साधारण पाठकों के लिए अपनी कथापुस्तकें लिखी थीं जो पूर्ववर्ती साहित्यकारों द्वारा प्राय उपेक्षित थे। ये पाठक अधिकांशत अर्धशिक्षित और हिन्दी में साक्षरमात्र थे। बौद्धिक दृष्टि से यह पाठकसमूह अधिक विकसित नहीं था। प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि अर्धशिक्षित, मूर्ख अल्प बुद्धि या अल्पवय पाठकों पर कौतूहलवर्धक घटनायोजना का सर्वाधिक प्रभाव पडता है। इस प्रकार के पाठक कथा की घटनाओं में कारणत्व की खोज नहीं करते। घटना योजना की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता *की बात उनके ध्यान में आती भी नहीं।* देवकीनन्दन खत्री ने इस प्रकार के पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर अपनी तिलस्मी कथाओं में औत्सुक्यवर्धक घटनाओं की योजना की

थी। 'चन्द्रकान्ता' के प्रकाशन के आरम्भिक दिनों में स्वयं लेखक की ओर से जो विज्ञापन प्रकाशित किये गये थे उनमें इस कथा की कौतूहलोत्पादकता, ऐयारी, तिलस्म आदि का ही उल्लेख रहता था। 'चन्द्रकान्ता' के प्रथम भाग के प्रथम संस्करण के अंतिम आवरण पृष्ठ पर दूसरे भाग के सम्बन्ध मे निम्नलिखित विज्ञापन निकला था—'चन्द्रकान्ता का दूसरा हिस्सा भी छप रहा है। इस पहले हिस्से में सब सामान इकट्ठा हो गया है। मजे का वक्त अब आता है दूसरे हिस्से मे आपलोग देखेंगे कि कैसे चन्द्रकान्ता का पता लगता है वो क्या मजे मे लड़ाई होती है और कैसी कैसी तय्यारियाँ होती है तिलस्म का भी मजा इसमे आवेगा।

नवम्बर दिसम्बर सन् १८९७ ई० की 'उपन्यास लहरी' में 'चन्द्रकान्ता' के बारे में निम्नलिखित विज्ञापन निकला था— चन्द्रकान्ता—ऐसा अद्भुत आश्चर्यजनक और कौतूहल उपन्यास अभी तक नही छपा ऐयारी की आश्चर्य घटना देखने योग्य है।

इन विज्ञापनों में 'चन्द्रकान्ता' की जिन विशेषताओं को सामने रखकर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है वे विशुद्ध कथा के आदर्श गुण हैं। जैसा ई० एम० फास्टर ने कहा है, विशुद्ध कथा का एक ही गुण होता है—औत्सुक्यजनकता और इसी प्रकार उसका दोष भी एक ही होता है—औत्सुक्य राहित्य।[1] देवकीनन्दन खत्री इस दृष्टि मे प्रथमकोटि के कथाकार है। उनकी तिलस्म और ऐयारी प्रधान कथापुस्तकों में औत्सुक्य, कौतूहल द्विधा, रोमाच आदि तत्त्व अपनी चरम शक्ति के साथ विद्यमान हैं।

कथा का श्रोता चूँकि अविकसित बुद्धि और अपरिष्कृत रुचि का व्यक्ति होता है इस कारण घटनाशृखला की अस्वाभाविकताओं की तरफ उसकी दृष्टि नही जाती। कथाकार भी अपने श्रोताओं की दुर्बलताओं से सुपरिचित होता है इसलिये वह कौतूहलवर्धक घटनाओं की योजना पर जितना ध्यान देता है उतना घटनाओं के कार्यकारण सम्बन्ध पर नही। कथाश्रोता कथाकार द्वारा वर्णित किसी भी घटना को तर्क की कसौटी पर नही कसता—इतनी उसमें बुद्धि ही नही होती—वह केवल 'तत किम' की रस्सी पकड़ कर घटनाओं के वातावरण में प्रवेश करता है। देवकीनन्दन खत्री ने इस कोटि के कथाश्रोताओं या पाठकों की रुचि और क्षमता का ध्यान में रखते हुए अपने घटनाप्रधान रोमासों की रचना की है। पर यही अन्य किस्सागोओं से खत्री जी की एक उल्लेखनीय भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। बच्चों और अशिक्षित श्रोताओं को कहानी सुनाते समय किस्सा कहनेवाले घटनाओं को तर्कसंगत बनाने का बिलकुल ही प्रयत्न नही करते। ये अमानवीय, अतिलौकिक व मिर्र पर की और तर्करहित घटनाओं की, एक के बाद एक योजना करते जाते है। उनकी दृष्टि बस एक ही बात पर केंद्रित रहती है कि घटनाएं कौतूहलवर्धकता के गुण से रहित न हों। पर देवकीनन्दन खत्री में यह बात नही है। वे एक सीमा तक कथा की घटनाओं को तर्कसंगत और विश्वसनीय बनाने का सफल प्रयत्न करते हैं। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि खत्री जी की कथापुस्तकों में एक भी अतिलौकिक तत्त्व नहीं है। वे अपनी कथायोजना में अलौकिक तत्त्वों का सचेष्ट बहिष्कार करते हैं।

१ ई० एम० फॉर्स्टर, आस्पेक्ट्स ऑव नावेल।

चन्द्रकान्ता' की एक घटना से इस कथन की पुष्टि होती है। चुनार का तिलस्म तोड़ते समय तेजसिंह को कुछ नायाब फूल मिलते हैं जिन्हें पाकर उनको खुशी का ठिकाना नहीं है। इस पर कथाकार कहता है, "इन फूलों को पाकर तेजसिंह जितने खुश हुए शायद अपनी उम्र में आज तक कभी खुश न हुए होंगे। एक तो पहिले ही ऐयारी में बढ़े चढ़े थे आज इन फूलों ने इन्हें और बढ़ा दिया। अब कौन है जो इनका मुकाबला करे? हाँ एक चीज की कसर रह गई गोपालजन या कोई गुटका इस तिलिस्म में से इनको ऐसा न मिला, जिससे ये लोगों की नजरों से छिप जाते और अच्छा ही हुआ जो न मिला नहीं तो इनकी ऐयारी की तारीफ न होती क्योंकि जिस आदमी के पास कोई ऐसी चीज हो जिससे वह गायब हो जाय तो फिर ऐयारी सीखने की जरूरत ही क्या रही।"[१]

तात्पर्य यह कि खत्री जी के उपन्यासों के ऐयार अतिलौकिक शक्तियों से युक्त नहीं। वे जो करामात दिखाते हैं उसका श्रेय उनकी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति को है। इसी प्रकार खत्री जी के तिलस्मों में भी अतिलौकिक वस्तुओं के दर्शन नहीं होते। मसाले की सहायता से बने बगुले मसाले के ही बने सर्प, पत्थर के आदमी अपने आप बिना बजाये बजनेवाले बाजे, हुमनेवाला पत्थर का कुत्ता स्पर्श करते ही बेहोश कर देनेवाली दीवार, स्वयं बन्द हो जाने और खुल जानेवाले दरवाजे अद्भुत सुरंगें, तहखाने आदि के अजीबोगरीब वर्णन खत्री जी की तिलस्मी कथापुस्तकों में मिलते हैं। पर खत्री जी ने इन तिलस्मी तमाशों की यंत्र व्यवस्था (मेकनिज्म) का ब्योरेवार और विज्ञानसम्मत वर्णन किया है। कुल मिलाकर देवकीनन्दन खत्री तिलस्मी और ऐयारी प्रधान घटनाओं को विश्वसनीय बनाने में जितना सफल हुए हैं उतना और कोई तिलस्मी कथालेखक नहीं हो सका है। आज भी चन्द्रकान्ता के अनेक ऐसे पाठक मिलेंगे जिनका विश्वास है कि चुनार और जमानिया के तिलस्म तथा उनकी दूर दूर तक फैली सुरंगें ज्यों की त्यों विद्यमान हैं। वे तेजसिंह, वीरेन्द्र सिंह आदि को वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्ति मानते हैं। ऐसे ही पाठकों को कदाचित सावधान करने के लिए खत्री जी ने लिखा, "जिस प्रकार पंचतंत्र हितोपदेश आदि ग्रंथ बालकों की शिक्षा के लिये लिखे गए उसी प्रकार यह लोगों के मनोविनोद के लिए पर यह सम्भव है कि असम्भव इस विषय में कोई यह समझे कि चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्र सिंह इत्यादि पात्र और उनके विचित्र स्थानादि सब ऐतिहासिक हैं तो बड़ा भारी भूल है। कल्पना का मैदान बहुत विस्तृत है और उसका यह एक छोटा सा नमूना है। अब रही सम्भव असम्भव की बात अर्थात् कौन सी बात हो सकती है और कौन नहीं हो सकती। इसका विचार प्रत्येक मनुष्य की योग्यता और ज्ञान पात्र से सम्बन्ध रखता है। कभी ऐसा समय था कि यहाँ के आकाश में विमान उड़ते थे एक एक वीर पुरुषों के तीरों में यह सामर्थ्य थी कि क्षणमात्र में सहस्रों का संहार हो जाता था, पर अब वह बातें खाली पारिपाटिक कथा समझी जाती हैं। पर दो सौ वर्ष पहले जो बातें असम्भव थीं, आजकल विज्ञान के सहारे से सब सम्भव हो रही हैं। रेल, तार, बिजली आदि के कार्यों को पहिले कौन मान सकता था। चन्द्रकान्ता में जो अद्भुत बातें लिखी गई हैं वे इसलिए

१ चन्द्रकान्ता, ११वाँ संस्करण, १९५८, पृष्ठ ७३।

नही कि लोग उनकी सचाइ झुठाई की परीक्षा करें प्रत्युत इसीलिये कि उसका पाठ कौतूहल वद्धक हो।[१]"

यह स्पष्टीकरण ही इस बात का परिचायक है कि खत्री जी अपनी वणनशक्ति के बल पर तिलस्म और ऐयारी की अदभुत घटनाओ को अल्पशिक्षित पाठको के बीच बिलकुल विश्वसनीय बनान म समथ हुए थे। खत्री जी के आलोचका और कदाचित कुछ पाठका ने तिलस्मी तमाशो के वणन का हेय बताकर उन्ह कुछ ऊची किस्म की चीज लिखन की नसीहत दी थी। पर खत्री जी अपने बहुसख्यक पाठका की जा तिलस्म का वणन पसन्द करते थे, माग को ठुकरा नही सकते थे। अधिक से अधिक वे यह कर सकते थ कि तिलस्म को विज्ञानसम्मत वणन की सहायता से विश्वसनीय बना दे। यही उन्होन किया भी। एक स्थान पर वे लिखत है—

"हमारे पाठका मे मे बहुत स एसे हैं जिनकी रुचि अब तिलिस्मी तमाशे का तरफ कम झुकती है परन्तु उन पाठका की सख्या बहुत ज्यादे है जो तिलिस्म क तमाशे को पसद करते हैं और उसकी अवस्था विस्तार के साथ दिखान अथवा लिखने के लिए बराबर जोर दे रहे हैं। इस उपन्यास म जा कुछ तिलिस्मी बातें लिखी गयी हैं यद्यपि वे असभव नही ह और विज्ञानवेत्ता अथवा साइस जाननेवाले जरुर कहग कि हाँ एसी चीजें तयार हो सकती हैं तथापि बहुत से अनजान आदमी ऐस हैं जा इसे बिलकुल खेल ही समझते है और कई इसकी देखादेखी अपनी लिखी अनूठी किताबा म असभव बातें लिखकर तिलिस्म क नाम को बदनाम भी करने लग गये है इसलिए हमारा ध्यान अब तिलिस्म लिखने की तरफ नही झुकता मगर क्या किया जाय लाचारी है एक तो पाठका की रुचि की तरफ ध्यान देना पडता है दूसरे चुनारगढ के चबूतरेवाले तिलिस्म की कफियत लिखे बिना काम नही चलता।"[२] वस्तुत खत्रीजी की अतिशय लोकप्रियता का रहस्य ऐयारी और तिलिस्म के करिश्मो म उतना नही, जितना उन करिश्मा के विश्वसनीय वणन म है, जिसके कारण वे कहानी नही तथ्य मालूम पडते हैं। खत्री जी न जिन पाठको का उद्दिष्ट करक अपनी कथापुस्तकें लिखी थी व हिन्दी चाहे जितनी कम जानते हो, अपन को किसी स कम बुद्धिमान नही समझते थे—अल्पशिक्षिता की तो यह विशेषता ही होती है। देवकीनदन खत्री न इन पाठको के मन म यह सुखद भ्रम पदा किया कि वे "बताल पचीसी या तोता मना क ढग की कपोलकल्पित मिथ्या कथाएँ नही वरन् सत्य घटनाएँ पढ रहे हैं। खत्री जी जसे बार बार अपन पाठका को विश्वास दिलाते रहते है कि वे उन्ह मूख नही समझते। वे जसे बार बार अपने पाठका से कहते रहते हैं कि तुम हर घटना का बुद्धि की कसौटी पर कसो उसके कारणा की खोज करो। कथा की कोई भी घटना कपोलकल्पित और असभव नही।" रहस्या के उद्घाटन म लेखक कही भी ऐसा नही भान होने देता कि वह अपने पाठको को बुद्धि म कम समझ रहा है। वस्तुत घटनाप्रवाह के बीच बीच म लेखक रहस्योदघाटन की कुजियाँ इस प्रकार छोडता चलता है, जिन्हे ग्रहण कर पाठक सोचने लगता है कि 'अरे थोडे प्रयास स तो वह भी इस रहस्य को जान सकता था।" इस प्रकार

१ चन्द्रकान्ता संतति २४वाँ भाग आठवाँ बयान।
२ चन्द्रकान्ता सतति इक्कीसवाँ हिस्सा, पृ० ७३।

खत्री जी अपने पाठकों के मिथ्याभिमान को प्रोत्साहित करके, या उनकी चाटुकारिता करके, उन्हें अपना बेदाम का गुलाम बना लेते हैं। पाठकों की रुचि के साथ इतना गहन तादात्म्य करने में देवकीनंदन खत्री हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में अकेले हैं।

देवकीनंदन खत्री की तिलस्मी कथाओं से पाठकों की उत्सुकतातृप्ति तो होती ही है वे बिना कोई वास्तविक खतरा मोल लिये साहसिकता, संकट, जान पर खेलने, आपत्ति में पड़ने आदि का आनंद भी पा लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति साहसिकता और संकट मोल लेने का सुख प्राप्त करना चाहता है पर जीवन में, वास्तविक रूप से संकट मोल लेने या जान पर खेलने का साहस विरले लोगों को ही होता है। 'चंद्रकान्ता' आदि तिलस्मी कथाओं के पात्र जिनके साथ पाठक की सहानुभूति होती है पग पग पर दहला देने वाले संकटों में पड़ते हैं बार बार मृत्यु के मुख में प्रवेश करते हैं प्राणों की बाजी लगाकर शत्रुओं के दुर्ग में घुस जाते हैं कभी हम उन्हें बीहड़ जंगलों में देखते हैं कभी भयंकर नाले में कभी पहाड़ की घाटी पर, कभी जानलेवा सुरंगों में। पाठक इन लोकोत्तर पात्रों के साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वयं भी इन रोमांचकारी संकट की स्थितियों से गुजरता है और अपने एकरस साधारण जीवन में जिन अनुभवों को प्राप्त करने में असमर्थ होता है, उनकी पूर्ति कथा में करके एक प्रकार के पुलक का अनुभव करता है। इस प्रकार देवकीनंदन खत्री के तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांस हिन्दी के निम्नस्तरीय पाठकों की एक भावनात्मक रिक्तता की पूर्ति करने का भी प्रयास करते हैं।

खत्री जी की तिलस्मी कथापुस्तकों का एकमात्र उद्देश्य अपने पाठकों का मनोरंजन है। जीवनमूल्यों का अभिव्यक्ति के उद्देश्य से इनकी रचना नहीं हुई थी। किन्तु कुछ तो तत्कालीन आलोचकों और युवक उपन्यासपाठकों के अभिभावकों का मुँह बन्द करने के लिए कुछ जीवन संबंधी अपने दृष्टिकोण के कारण, और कुछ अपने हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का ध्यान में रखकर खत्रीजी ने एेसे जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति अपनी कथापुस्तकों में, की है जो तत्कालीन हिन्दू आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है। उदाहरणार्थ 'चंद्रकान्ता सन्तति' में जब कमलिनी और लाडली का विवाह इंद्रजीत सिंह और आनन्द सिंह से हो जाता है, तो कमलिनी के पिता बलभद्र सिंह वीरेन्द्र सिंह के यहाँ का अन्नजल ग्रहण नहीं करते। हिन्दू समाज में पिता अपनी विवाहिता पुत्री, के यहाँ का अन्नजल ग्रहण नहीं करता। 'चंद्रकान्ता' और 'सन्तति' में ढूँढ़ कर भी कोई हिन्दू धर्म विरोधी बात नहीं निकाली जा सकती। सन्तति में इंद्रजीत सिंह का विवाह धोखा देकर कमलिनी से कर दिया जाता है। इंद्रजीत सिंह को यह मालूम नहीं है कि उनका विवाह कमलिनी से हो गया है। वे कमलिनी से प्रेम करते हैं और वह उनके साथ एकांत में बैठकर बातें कर रहे हैं। कमलिनी विनोदवश इंद्रजीत सिंह से कहती है कि उसका विवाह हो गया है। इंद्रजीत सिंह यह सुनकर चौंक उठते हैं। उनकी धर्मनिष्ठा इतनी प्रबल है कि वे अपने सारे प्रेमभाव को दबाकर कमलिनी से कहते हैं "दुनिया में धर्म से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है, इसलिए तुम्हें भी धर्म पर ध्यान रखना चाहिए अब तुम स्वतन्त्र नहीं, पराये की स्त्री हो।"[1]

---

१ चन्द्रकान्ता सन्तति सत्रहवाँ हिस्सा आठवाँ बयान।

दवकीनन्दन खत्री क रोमासा म हिन्दू धर्मानुरूप उपदेशा की भरमार है। पात्रो का आचरण हिन्दू धर्म क नियमा क सवथा अनुरूप है। खत्री जी न स्वय लिखा है, पात्रो की चाल चलन दिखलान म जहाँ तक हा सका ध्यान रखा गया है। सब पात्र यथासमय सन्ध्या तपण करते है और अवसर पडने पर पूजा प्रकार भी वीरेन्द्र सिंह आदि के वणन म जगह जगह दिखाई दता है।[1] खत्री जी के सभी पात्र, जिनके साथ पाठक तादात्म्य स्थापित करता है, सदाचारी, धार्मिक मातापिता तथा वडा का सम्मान करने वाल दयालु, परोपकारी तथा हिन्दू आदर्शो स युक्त है। इन उपन्यासा म कही भी अनतिक व्यापार को प्रात्साहन नही मिला है। पारिवारिक सम्बन्ध और आचरण की पवित्रता उनके रोमासा म सवत्र विद्यमान है। कोइ भी पात्र हिन्दू समाज की रूढिया का खडन नही करता। इन उपन्यासा म स्त्रिया स्वतन्त्र घूमती दिखायी जरूर पडती हैं पर या ता वे ऐयाराए है या बदचलन स्त्रिया। ऐयाराए भी वेश वदल कर घूमती है उन्हे काई पहचान नहा पाता। एयार लाग वेश वदल कर लागा के घर म प्रवेश कर जात है, पर व स्त्रिया से छडछाड नही करत, उनकी तरफ बुरी नजर से नही देखते। इतना ही नही, स्थान स्थान पर पात्रा स हिन्दू धम के उपदेश भी दिलाय गय है। चन्द्रकान्ता सतति के वाइसवे हिस्से के पहल बयान म इन्द्रदव हिन्दूमतानुसार कमफलवाद, राजधम, स्त्री के प्रति पुरुष क कत्तव्य व्यवहार, खुशामद स बचन, सदाचारपूण जीवन व्यतीत करने आदि का उपदेश देते है।

दवकीनन्दन खत्री के उपन्यासा म कमफलवाद के सिद्धात का प्रतिपादन सवत्र हुआ है। आज के वज्ञानिक युग म यह सिद्धात अब भले ही अमान्य हो गया हो पर खत्री जी के समकालीन हिन्दू समाज की इस सिद्धात म पूण आस्था थी। लोग मानते थ कि सत्कम का फल अच्छा और दुष्कम का परिणाम बुरा होता है। खत्री जी ने इस सिद्धात म आस्था रखनेवाले पाठको—दवकीनन्दन खत्री क शतप्रतिशत पाठक ऐसे थे—के लिय अपनी कथापुस्तको की रचना की थी। हम दख चुके है कि पुस्तका म अपनी भावनाओ और विचारा का चित्रित पाकर पाठक का एक प्रकार का पुलकजन्य आनन्द होता है। खत्री जी के पाठक जब उनके उपन्यासा म अपनी भावनाओ का ही अकन देखत हैं ता उनका उन्हे पढकर, आनन्दित हाना सवथा स्वाभाविक है। इन रोमासा म एक भी एसा दुष्ट पात्र नही है, जिसे दड न मिलना हा और कोई भी सत्पात्र नहो है जो आजीवन कष्ट पाते रहने पर भी अतत सुख समृद्धि न प्राप्त करता हो। वस्तुत यही तो कमफलवाद का सिद्धात माननवाल पाठको की भी अभिलाषा हाती है। भूतनाथ के तरहव भाग म लगभग छह पृष्ठा म, भरत सिंह इदु प्रभाकर इन्द्रदव आदि के वार्त्तालाप के माध्यम स कमफलवाद के सिद्धात का प्रतिपादन किया गया है जो तत्कालीन हिन्दू पाठका की रुचि के सवथा अनुकूल है।

सस्ते ढग के आधुनिक उपन्यासो म मौका मिलन पर उपन्यासकार स्त्रीपुरुष की कामचेष्टाओ का वणन किये विना नही रहत। पर देवकीनन्दन खत्री अवसर प्राप्त होने पर भी कामव्यापार वणना से विरत रहत हैं। इन्द्रजीत सिंह और किशोरी की सुहागरात

१ चन्द्रकान्ता सनति चौबीसवाँ हिस्सा, आठवाँ बयान।

के वर्णन में लेखक का संयम सराहनीय है। वर्णन की अंतिम पंक्तियाँ हैं "इसके बाद क्या छेड़छाड़ हुई या क्या हुआ सो हम नहीं लिख सकते, हाँ उस समय का हाल जरूर लिखेंगे जब धीरे धीरे सुबह की सुफ़ेदी आसमान पर फैलने लगी।"[1] अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर इस प्रकार के दुर्लभ संयम का परिचय दिया गया है।

मुसलमानों के प्रति लेखक की धारणा अनुकूल नहीं है। इसका कारण खत्रीजी का स्वयं पक्का हिंदू होना तथा अपने हिन्दू पाठकों की रुचि का ध्यान रखना है। अर्ध शिक्षित पाठकों की धर्म में अधिक निष्ठा होती है, खत्री जी इस तथ्य से परिचित थे। उस समय की हिन्दू जनता मुसलमानों को बहुत अच्छी नजर से नहीं देखती थी। मुसलमानों की निंदा तथा उनका पराभव सुनकर एक हिन्दू को प्रसन्नता ही होती थी। अतः खत्री जी ने अपने हिन्दू पाठकों को खुश करने के लिए अपनी कथापुस्तकों में मुसलमान पात्रों को धोखेबाज, दगाबाज, चरित्रभ्रष्ट और आचरणविहीन व्यक्तियों के रूप में चित्रित किया है। अपवादस्वरूप केवल एक पात्र है नेरअली खाँ जो नेक मजहबपरस्त और वीरेंद्र सिंह का सहायक है। यह भी कदाचित इसलिए कि नेरअली 'संतति' के अंतिम भागों में आता है। शायद तब तक खत्री जी हिन्दू मुस्लिम एकता के समर्थक हो चुके थे या उन्हें इस बात का पता चल गया था कि उनके उपन्यासपाठकों में मुसलमान भी हैं। अन्यत्र मुसलमानों की निन्दा ही हुई है। 'चंद्रकान्ता' के अहमद और नाजिम खलपात्र हैं। उपन्यास में वर्णित वेश्याएँ, नागर, गौहर आदि सभी मुसलमान हैं। हिन्दू राजा मुसलमानों से सदा सावधान रहते हैं। 'चंद्रकान्ता संतति' के पहले हिस्से में कुंवर आनंदसिंह एक सुंदर मुसलमान लड़की को प्यार करने लगते हैं, पर जब उन्हें उसके मुसलमान होने का पता चलता है तो वे कहते हैं "अफसोस! अगर तुम मुसलमान न होतीं तो मैं तुम्हें जी जान से प्यार करता मगर एक औरत के लिए मैं अपना मजहब नहीं बिगाड़ सकता।"[2] वह मुसलमान लड़की आनन्द सिंह से खानपान और आनन्द करने का आग्रह करती है तथा तर्क करती है कि जब संसार के सभी प्राणी एक ही खुदा के बनाये हुए हैं तो आपस में छूत कैसी। इस पर आनन्द सिंह उस मुसलमान लड़की को जो जवाब देते हैं, वह एक खासा (typical) हिन्दू का उत्तर है। आनन्द सिंह चिढ़कर कहते हैं "खुदा ने हाथी भी पैदा किया, गदहा भी पैदा किया, कुत्ता भी पैदा किया, सूअर भी पैदा किया, मुर्गा भी पैदा किया जब एक ही बाप के सब लड़के हैं तो परहेज काहे का।"[3]

तात्पर्य यह कि देवकीनंदन खत्री का उद्दिष्ट पाठक अल्पशिक्षित जनसमूह तो है ही साथ ही, वह हिंदू भी है। इसलिए खत्रीजी एक विशुद्ध हिन्दू की रुचियों, सामाजिक मान्यताओं तथा धार्मिक भावनाओं का पूरा पूरा ध्यान रखते हैं। खत्रीजी के उपन्यासों में हिन्दू रुचि और भावना के प्रतिकूल एक शब्द भी ढूंढ़ने पर नहीं मिलेगा।

खत्रीजी की तिलस्मी कथापुस्तकों के शिल्प पर भी उनके उद्दिष्ट पाठकों की रुचि और बौद्धिक क्षमता का प्रभाव पड़ा है। जिस भद्र या जनसमूह खत्रीजी की

---

१ चंद्रकान्ता संतति, बारहवाँ हिस्सा, पृ० ९०।

२ चंद्रकान्ता संतति, पहला हिस्सा, पृ० ३६।

३ चंद्रकान्ता संतति पहला हिस्सा पृ० ३८-३९।

कथापुस्तकों का पाठक बना उसमें से अधिकांश इस पूर्व कथापुस्तकें पढ़ता भले ही न हो, बैताल पचीसी सिंहासन बत्तीसी चहार दरवेश' आदि की कहानियाँ वह सुनता अवश्य था। यह पाठकवर्ग खत्रीजी की तिलस्मी कथाओं के संपर्क में आने के पूर्व कथाश्रोता था, वह सामान्यत कहानी पढ़ता नहीं सुनता था। खत्री ने अपनी कथापुस्तकों के द्वारा इस श्रोतृवर्ग को पाठकवर्ग में परिणत कर दिया। कहानी जब सुनायी जाती है तो श्रावयिता और श्रोतृगण आमने सामने होते हैं, श्रोता श्रावयिता की आवाज स्पष्टत सुनता है। वहाँ कहानी जब कागज के पृष्ठों पर अंकित कर दी जाती है तो उसे पढ़ते समय पाठक के सामने कथाकार शरीरत विद्यमान नहीं रहता पर विशुद्ध कथा में चाहे उसे लिखित रूप ही क्यों न दे दिया गया हो, कथाकार पाठकों के कानों के पास सदा विद्यमान रहता है। कथा पढ़ते समय उसका पाठक कथाकार की आवाज स्पष्टत सुनता रहता है। विशुद्ध कथा सदा सुनायी जाने की माँग करती है। उपन्यास में जहाँ कथा का तत्त्व गौण होता है, हम उपन्यासकार की आवाज नहीं सुनते। परिष्कृत पाठक उपन्यासकार का आसन्नत्व पसंद नहीं करते। लेखक का बार बार कानों के पास फुसफुसाना परिष्कृत उपन्यास पाठकों में खीज उत्पन्न करनेवाला होता है।

चूँकि देवकीनन्दन खत्री के पाठक मूलत कथाश्रोता थे—कथाकार से उनकी एक मात्र माँग यह थी कि वह सामने बैठकर एक के बाद एक 'मजेदार' और कौतूहलोत्पादक घटनाओं का वर्णन करे—इसलिए वे अपनी कथापुस्तकों में सर्वत्र एक किस्सागो के रूप में विद्यमान रहते हैं। कथा का आरंभ ठीक उसी ढंग से होता है जैसे श्रावयिता कहानी सुननेवालों के समक्ष अपनी कथा का आरंभ करता है। उदाहरणार्थ 'चंद्रकान्ता' का आरंभ द्रष्टव्य है—

शाम का वक्त है, कुछ लालिमा दिखाई दे रही है सुनसान मैदान में एक पहाड़ी के नीचे दो शख्स वीरेन्द्र सिंह और तेज सिंह एक पत्थर की चट्टान पर बैठे आपुस में कुछ बात कर रहे हैं।

वीरेन्द्र सिंह की उम्र इक्कीस या बाइस वर्ष की होगी। यह नौगढ़ के राजा सुरेन्द्र सिंह का इकलौता लड़का है। तेज सिंह राजा सुरेन्द्र सिंह के दीवान जीत सिंह का प्यारा लड़का और कुँवर वीरेन्द्र सिंह का दिली दोस्त बड़ा चालाक, फुर्तीला कमर में सिर्फ खंजर बाँधे, बगल में बटुआ लटकाये हाथ में एक कमन्द लिये बड़ी तेजी के साथ चारों तरफ देखता और इनसे बात करता जाता है। दोनों के सामने एक घोड़ा कसा कसाया दुरुस्त पेड़ से बँधा हुआ है।

यद्यपि कथा आरंभ करने का यह ढंग प्राचीन किस्साकहानियों से थोड़ा भिन्न है, प्रथम वाक्य में थोड़ी नाटकीयता का आभास उत्पन्न किया गया है पर कथाकार एक श्रावयिता के रूप में ही अपने पाठकों के सामने विद्यमान है। समस्त पुस्तक में कहीं भी खत्रीजी पाठकों को अपने से अलग नहीं होने देते। जहाँ भी पाठक किसी उलझन में पड़ता है जहाँ भी उसके ऊबने की संभावना होती है या जहाँ भी घटना की किसी शृंखला को जोड़ने के लिये बहुत पहले घटित किसी घटना का स्मरण करना होता है

कथाकार उसकी सहायता करने के लिए पहुँच जाता है। चन्द्रकान्ता के सोलहवें बयान की आरंभिक पंक्तियाँ इस प्रसंग में द्रष्टव्य हैं —

'पाठक, वह समय आ गया कि आप भी चन्द्रकान्ता और कुँअर वीरेन्द्र सिंह को खुश होते देख खुश हों। यह तो आप समझते ही होंगे कि महाराज जयसिंह विजयगढ़ से रवाना होकर नौगढ़ जायेंगे और वहाँ से राजा सुरेन्द्र सिंह और कुमार को साथ लेकर कुमारी से मिलने की उम्मीद में तिलिस्मी खोह के अन्दर जायेंगे। आपको यह भी याद होगा कि सिद्धनाथ योगी ने तहखाने (खोह) से बाहर होते वक्त कुमार से कह दिया था कि जब तुम अपने पिता और महाराज जयसिंह को लेकर इस खोह में आना तो उन लोगों को खोह के बाहर छोड़कर पहिले तुम आकर एक दफे फिर हमसे मिल जाना। उन्हीं के कहे मुताबिक कुमार करेंगे। खैर इन लोगों को तो आप अपने काम में छोड़ दीजिए और थोड़ी देर के लिए आँखें बंद करके हमारे साथ उस खोह में चलिए और किसी कोने में छिपकर वहाँ के रहने वालों की बातचीत सुनिये। शायद आप लोगों के जी का भ्रम वहाँ निकल जाय और दूसरे तथा तीसरे हिस्से के बिल्कुल भेदों की बातें भी सुनते ही सुनते में खुल जायँ बल्कि कुछ खुशी भी हासिल हो।

जैसा कि ई० एम० फास्टर ने लिखा है उपन्यास के कथानक को समझने के लिए बुद्धि और स्मरणशक्ति की अपेक्षा होती है। जिज्ञासा कथानक के लिए अपर्याप्त सिद्ध होती है जबकि कथा के लिए बुद्धि और स्मरणशक्ति का महत्त्व गौण और जिज्ञासा तथा कौतूहल का महत्त्व प्रधान होता है। देवकीनन्दन खत्री ने चूँकि कथा तत्त्व पर विशेष बल दिया है इसलिए उनके रोमांसों को पढ़ने के लिए जिज्ञासावृत्ति की जितनी अपेक्षा है उतनी बुद्धि और स्मरणशक्ति की नहीं। पुरानी किस्साकहानियों और देवकीनन्दन खत्री की कथा में शिल्पसम्बन्धी एक ही महत्त्वपूर्ण अंतर है। वह यह कि खत्री जी ने अपनी कथा को रहस्यतत्त्व से युक्त कर दिया है जो कथानक की विशेषता है। खत्रीजी एक अद्भुत सी लगने वाली घटना का उल्लेख कर रहस्य का वातावरण उत्पन्न करते हैं, और इससे पूर्व कि उस रहस्य का उद्घाटन हो फिर दूसरी रहस्यपूर्ण घटना का उल्लेख कर देते हैं। इस प्रकार रहस्यपूर्ण घटनाओं की शृंखला लम्बी होती जाती है और अंत में सभी रहस्यों का उद्घाटन हो जाता है। खत्रीजी यह कार्य समय के अनुक्रम को विपर्यस्त करके करते हैं। उदाहरणार्थ चन्द्रकान्ता सन्तति की माया रानी, धनपत, नागर, दारोगा गोपालचन्द्र को हम आरंभ में जिस रूप में देखते हैं वह उनका असली रूप नहीं है। यदि कोई पुराना कहानी सुनानेवाला होता तो वह मायारानी आदि की असली हालत से कहानी का आरम्भ करता और धीरे धीरे आगे की घटनाओं का वर्णन करता। खत्रीजी ऐसा नहीं करते। वे मध्य बीच से कहानी का आरम्भ करते हैं और कभी आगे जाकर कभी पीछे लौट कर रहस्यपूर्ण घटनाओं का उल्लेख और समय समय पर उनका रहस्योद्घाटन करते हैं। चूँकि खत्री जी का अभिलषित पाठक इस शिल्प से अपरिचित था, उसमें इतनी बुद्धि और स्मरणशक्ति नहीं था, इसलिए खत्रीजी अपने पाठकों की रुचि और क्षमता को ध्यान में रखकर कथा को उनका साथ नहीं छोड़ते। पाठक खत्रीजी की उंगली पकड़कर घटनाओं के रहस्यजाल में प्रवेश करता है, और जहाँ भी कथाकार उसके

मुड़ पर हवाई उड़ते देखता है वह पाठकों के कान में फुसफुसा देता है—"घबराओ नहीं मैं तुम्हारे साथ हूँ।" वे पाठकों को कभी आगे ले जाते हैं कभी पीछे मुड़कर देखने को कहते हैं और कभी भूली बात की याद दिला देते हैं। 'चन्द्रकान्ता सतति' के दसवें हिस्से के कुछ बयानों की आरम्भिक पंक्तियाँ देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'पहिला बयान निम्नलिखित पंक्तियों से आरम्भ होता है—'अब हम थोड़ा सा हाल तिलिस्म का लिखना उचित समझते हैं। पाठकों को याद होगा कि कुँवर इन्द्रजीत सिंह कमलिनी के हाथ से तिलिस्मी खंजर लेकर उस गड़हे या कुएं में कूद पड़े जिसमें अपने छोटे भाई आनन्द सिंह को देखना चाहते थे।" 'दूसरे बयान की आरम्भिक पंक्ति है—'अब हम फिर मायारानी की तरफ लौटते हैं और उसका हाल लिखकर कई गुप्त भेदों को खोलते हैं।' तीसरे और पाचवें बयानों का आरम्भ भी इसी पद्धति से हुआ है। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि देवकीनन्दन खत्री अपने अल्प शिक्षित और अल्प बुद्धि पाठकों की रुचि और पठन क्षमता का ध्यान रखते थे। यदि देवकीनन्दन खत्री के पाठक परिष्कृत रुचि तथा विकसित बुद्धि के होते तो उपयुक्त शिल्प का रूप सर्वथा भिन्न होता।

देवकीनन्दन खत्री की सभी कथापुस्तकें सुखांत हैं। उनकी सभी कथाओं के अंत में विवाहों की धूमधाम दिखायी पड़ती है। 'चन्द्रकान्ता' के अंत में चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्र सिंह के विवाह उसकी धूमधाम तथा हँसी खुशी का विस्तृत वर्णन है। चन्द्रकान्ता और वीरेन्द्र सिंह का ही नहीं चपला और तेज सिंह तथा चम्पा और देवी सिंह का भी विवाह होता है। 'चन्द्रकान्ता सतति' के अंत में लगभग आधे दर्जन जोड़ों का विवाह होता है। अल्पशिक्षित पाठकों की सुखांत कथाओं में अधिक रुचि होती है इसका विवेचन प्रस्तुत प्रबंध के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।

देवकीनन्दन खत्री के ऐयारी तिलिस्मी रोमांसों की भाषा पर भी तत्कालीन पाठकों की पठनक्षमता और रुचि का प्रभाव पड़ा है। जैसा सत्रीना ने लिखा है[१] भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों के जनता में न अप्रिय न होने का एक कारण उनकी काव्यात्मक तथा संस्कृतनिष्ठ भाषा भी था। खत्री जी ने पूर्ववर्ती लेखकों की असफलता से बहुत बड़ी शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने अपनी कथा के लिए ऐसी बोलचाल की दैनिक भाषा चुनी जिसमें उर्दू फारसी के प्रचलित शब्दों की अधिकता थी। उन्होंने स्वयं अपनी भाषा के संबंध में लिखा है 'इसके पढ़ने के लिये कोष की तलाश करनी नहीं पड़ती।'[२] देवकीनन्दन खत्री का उद्दिष्ट पाठकसमुदाय जो अभी तक श्रोता बना हुआ था तथा जिसके लिए साहित्य की पवित्र भूमि वर्जित प्रदेश थी इस प्रकार की अपनी सामान्य बोल चाल की भाषा में लिखित कथापुस्तकें पाकर खिल उठा। जो लोग नागरी पढ़ना जानते थे उन्हें तो कोई कठिनाई हुई ही नहीं, जो लोग नागरी लिपि से अनभिज्ञ थे, उन्होंने भी चन्द्रकान्ता पढ़ने के लिये नागरी वर्णमाला सीख ली। चन्द्रकान्ता की भाषा को समझने के लिए उर्दू जाननेवालों के लिए केवल नागरी वर्णमाला सीख लेना ही पर्याप्त था। इसका अर्थ यह नहीं कि देवकीनन्दन खत्री ने राजा

---

१ चन्द्रकान्ता सतति चौबीसवाँ भाग आठवाँ बयान।

२ उपरिवत्।

शिव प्रसाद सितारे हिन्द की उत्तरवर्ती हिन्दी की तरह—यद्यपि खत्री जी सितारे हिन्द की भाषानीति के समर्थक थे[1]—नागरी लिपि में उर्दू लिखी है। खत्रीजी ने जिस प्रकार कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग नहीं किया है उसी प्रकार वे अप्रचलित अरबी फारसी शब्दों के प्रयोग से भी दूर हैं। शब्दचयन की दृष्टि से विचार किया जाए तो खत्रीजी की भाषा में तद्भव और उर्दू फारसी के बिलकुल प्रचलित शब्दों का प्राचुर्य है पर संस्कृत शब्दों का उन्होंने बिलकुल प्रयोग न किया हो, ऐसी बात नहीं। निम्न उद्धरण से इस कथन का स्पष्टीकरण होता है।

'वीरेन्द्र सिंह का नाम सुनते ही बेचारी चन्द्रकान्ता का अजब हाल हो गया। भूली हुई बात फिर याद आ गयी, कमल मुख मुरझा गया, ऊँची ऊँची सांस लेने लगी आंखों से आंसू टपकने लगे। धीरे धीरे कहने लगी—'न मालूम विधाता ने मेरे भाग्य में क्या लिखा है। न मालूम मैंने उस जन्म में कौन से ऐसे पाप किये हैं जिनके बदले यह दुःख भोगना पड़ा। देखो पिता को क्या धुन समाई है। कहते हैं चन्द्रकान्ता को कुंआरी ही रखूंगा। हा! वीरेन्द्र के पिता ने शादी करने के लिए कैसी कैसी खुशामदें कीं मगर उस दुष्ट क्रूर के बाप कुपथ सिंह ने उनको ऐसा कुछ अपने वश में कर रखा है कि कोई काम नहीं होने देता, और इधर कम्बख्त क्रूर मुफ्त अपनी ही लम्बी लगाना चाहता है।[2]

उक्त उद्धरण में यद्यपि तद्भव और प्रचलित उर्दू शब्दों की बहुलता है पर प्रचलित तत्सम शब्द भी, जैसे कमल मुख विधाता भाग्य जन्म पाप, दुःख दुष्ट आदि प्रयुक्त हुए हैं। यह उल्लेखनीय है कि खत्रीजी की भाषा तत्कालीन हिन्दी साहित्यिकों को पसंद नहीं आयी थी। प० बालकृष्णभट्ट ने, जो तत्कालीन अभिजात साहित्यकारों के प्रतिनिधि माने जा सकते हैं, जनवरी-मार्च १८९७ ई० के हिन्दी प्रदीप में लिखा था—"उक्त बाबू साहब ने इसमें कूट २ संस्कृत शब्द नहीं भरे बल्कि विशिष्ट संस्कृत शब्दों के बदले मुहाविरे की सफाई समझने के लायक उर्दू को विशेष आदर दिया है। उचित था कि उर्दू के बदले सुललित ठेठ हिन्दी का प्रयोग करते पर क्या कुछ ऐसा ही है कि लेखक पाठकों की रुचि के अनुसार लेख लिखता है जब रुपया पैदा करने के ख्याल से पुस्तक लिखी जाती है तब मातृभाषा की सारी शक्ति अलग रख दी जाती है।"[3]

देवकीनन्दन खत्री की भाषासंबंधी दूसरी विशेषता, जो साधारण कथापाठकों की रुचि के सर्वथा अनुरूप और काव्यरसिकों की रुचि के प्रतिकूल है, उसमें कवित्व और आलंकारिता का सर्वथा अभाव है। साधारण कथापाठकों की आलंकारिक और काव्यात्मक कथनों में कोई रुचि नहीं होती जबकि खत्रीजी के युग के साहित्यिक पाठक पग पग पर अलंकृत भाषा, काव्यात्मक पदावली आदि की मांग करते थे। देवकीनन्दन खत्री ने इन उत्कृष्ट साहित्यरसिकों की रुचि की उपेक्षा कर पूर्वोक्त साधारण कथापाठकों की रुचि को प्रधानता दी है। यदि सौन्दर्यवर्णन या प्रकृतिवर्णन का अवसर खत्रीजी को

१ चन्द्रकान्ता सन्तति, चौबीसवाँ हिस्सा, आठवाँ बयान।
२ चन्द्रकान्ता, पहला हिस्सा, १८९८ ई०, पृ० ५।
३ हिन्दी प्रदीप जि० २० सं० ५, ६, ७, जनवरी-मार्च १८९७

मिलता भी है तो वे पाठकों को वहाँ अधिक देरतक नही ठहराते। प्रकृतिवर्णन में उनकी दृष्टि विवरण प्रस्तुत करने पर अधिक रहती है सजावट पर कम।

सारांश यह कि चाहे हम कथावस्तु की दृष्टि से विचार करें या विचार प्रतिपादन की दृष्टि से, शिल्प की दृष्टि से विचार करें या भाषा की दृष्टि से एक ही निष्कर्ष निकलता है। वह यह कि देवकीनन्दन खत्री अपने उद्दिष्ट पाठकों की रुचि भावना और पठनक्षमता का शतप्रतिशत ध्यान रखते हैं। खत्रीजी के उद्दिष्ट पाठक अल्पशिक्षित नागरी लिपि से परिचित (अपरिचित भी) उर्दू भाषा के जानकार और सनातनी हिन्दू थे। इस प्रकार के पाठकों की रुचि जिन विषयों में हो सकती थी खत्री जी ने उन्हें अधिकाधिक मात्रा में अपनी कथापुस्तकों में भरने का प्रयास किया है। अपनी कथापुस्तकों का शिल्प और भाषा भी खत्रीजी ने इन्हीं पाठकों की पठनक्षमता के अनुरूप रखी है। इस प्रकार खत्री जी के तिलिस्म ऐयारी प्रधान रोमांस तत्कालीन जनरुचि का वास्तविक प्रतिफलन कहे जा सकते हैं।

अन्य तिलिस्म ऐयारी प्रधान
रोमांस तथा उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

कथासाहित्य में देवकीनन्दन खत्री की व्यावसायिक सफलता से आकृष्ट होकर अन्य अनेक लेखक भी तिलिस्मी ऐयारी प्रधान रोमांसों के प्रणयन में प्रवृत्त हुए जिनमें हरिकृष्ण जौहर, किशोरी लाल गोस्वामी निहाल चन्द वर्मा और दुर्गा प्रसाद खत्री विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण जौहर ने कुसुमलता (१८९८ १९००), 'मयंक मोहिनी वा मायामहल' (१९०१ ई०) कमलकुमारी या तिलिस्म नीलम' (१९०१-१९०२) आदि किशोरी लाल गोस्वामी ने राजकुमारी (१९०२) और कटे मूड की दो दो बातें वा तिलिस्मी सीसमहल (१९०४) तथा निहाल चंद वर्मा ने 'मोतीमहल या लक्ष्मीदेवी (१९१२ १८) और जादू का महल या रूपवती नामक तिलिस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों की रचना की। दुर्गा प्रसाद खत्री ने देवकीनन्दन खत्री के भूतनाथ को पूरा किया। इन प्रमुख लेखकों के साथ छिटपुट रूप से तिलस्मी कथापुस्तकें लिखनेवाले अनेक लेखक थे, जिनमें १४ १५ वर्ष के किशोर तक सम्मिलित थे।

विवेच्य काल में यद्यपि अनेक कथाकारों ने देवकीनन्दन खत्री के मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया, पर ऐयारी तिलिस्म प्रधान रोमांसों की रचना में कोई उनकी छाया का स्पर्श तक न कर सका। खत्रीजी के तिलस्मी रोमांसों की तुलना में जब हम अन्य *कथाकारों के तिलस्मी रोमांसों को रखकर विचार करते हैं तो बरबस जौक* का वह शेर स्मरण हो आता है—

'न हुआ पर न हुआ मीर का अन्दाज नसीब
जौक यारों ने बहुत जोर गजल में मारा।

परवर्ती तिलस्मी रोमांसों में से अधिकांश तो खत्रीजी के रोमांसों के भद्दे अनुकरणमात्र बनकर रह गये हैं। तिलस्मी तमाशों, कलपुर्जों के चमत्कारों तथा ऐयारियों की रूपकल्पना में खत्री जी जिस पैनी सूझबूझ का परिचय देते हैं, उसका परवर्ती रोमांसों

में सर्वथा अभाव है। परवर्ती तिलिस्मी कथालेखक खत्री जी का तो अनुकरण करते ही हैं व स्वयं अपना भी अनुकरण करने से नहीं हिचकते। इन रोमानों में एक ही घटना या तमाशे की बार बार अल्प और परिलक्ष्य परिवर्तन के साथ आवृत्ति होती है। खत्री जी बराबर अपने पाठकों को तिलस्म और ऐयारी के नये चमत्कार दिखाने में सिद्धहस्त थे। परवर्ती तिलस्मी कथा साहित्य को देखने से ऐसा प्रतीत होता है मानो इस प्रकार की कथा की सभी संभावनाएँ देवकीनंदन खत्री की तिलस्मी कथाओं में ही चुक गयी हों। यही कारण है कि खत्रीजी की तुलना में परवर्ती तिलस्मी लेखकों को बहुत कम पाठक मिले। यों अधिकांश तिलस्मी रोमांसों के एकाधिक संस्करण तो हो ही जाते थे, पर खत्रीजी की कथापुस्तकों की संस्करण संख्याओं को देखते हुए इसे नगण्य कहा जा सकता है।

देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी रोमांसों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उनमें वर्णित तिलस्म और ऐयारी के चमत्कार साधारण पाठकों के लिए सर्वथा बुद्धिसंगत और संभव प्रतीत होते हैं। खत्री जी ने अपने पाठकों की बुद्धिक्षमता के अनुरूप ऐसी यथार्थवादी वर्णन शैली का उपयोग किया है जो असंभव से असंभव घटना को भी बिलकुल विश्वसनीय बना देती है। परवर्ती लेखकों में इस गुण का सर्वथा अभाव है। खत्री जी के तिलस्मी रोमांसों में अतिलौकिक कार्यों और उपकरणों का सर्वथा अभाव है। उपन्यासकार वीरेन्द्रसिंह जैसे अपने प्रिय ऐयार को एक सिद्ध गुटका तक नहीं प्रदान करता, जबकि परवर्ती काल का एक भी ऐसा तिलस्मी रोमांस नहीं है, जो अतिलौकिक उपकरणों और कार्यों से रहित हो। और तो और, 'भूतनाथ' के जो अंश दुर्गाप्रसाद खत्री द्वारा रचित हैं, उनमें अतिलौकिक तिलस्मी करिश्मा—यथा तिलस्मी शैतान, तिलस्मी डंडा, लोहगढ़ी के तिलिस्म में बनावटी नर का जीवित नर की तरह तथा बनावटी पुतलियों और जानवरों का वास्तविक मनुष्यों तथा जानवरों की तरह काम करना—का बाहुल्य है। इन्हें साधारण पाठकों के लिए बुद्धिग्राह्य बनाने का तनिक भी प्रयास नहीं किया गया है। हरिकृष्ण जौहर, निहाल चंद वर्मा तथा अन्य कथाकारों के तिलस्मी रोमांसों में देवों, राक्षसों, मनुष्यों की तरह कार्यरत कृत्रिम पुतलियों तथा जादू मंतर की बहुलता है। विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा रचित वीरेन्द्र कुमार का 'लोहे का तिलस्म' नामक तिलस्मी रोमांस के ऐयार जादू और मंत्र की शक्तियों से सुसज्जित हैं। उनके सहायक भूत हैं। जादू तथा भूतों की सहायता से ये ऐयार बात की बात में आश्चर्यजनक और असंभव कार्य कर दिखाते हैं। निहाल चंद वर्मा लिखित माया महल में कंचन प्रसाद नामक ऐयार ने एक ऐसी रासायनिक तैयार की है जिसमें लेखक के अनुसार 'यह असर था कि उसका लिखा हुआ पुर्जा पढ़ते पढ़ते आँखों के रास्ते बेहोश करनेवाली दवा का असर सारे शरीर में फैल जाता था और आदमी बातें करते करते ही एकाएक बेहोश हो जाता था।'[१] साधारण से साधारण बुद्धि के पाठक को भी इस बात पर विश्वास नहीं हो सकता कि आदमी किसी बेहोशी की दवा को दसफर बिना सूँघे बेहोश हो जा सकता है। तात्पर्य यह कि परवर्ती तिलस्मी कथालेखक अपने तिलस्मी करिश्मों और ऐयारियों को बनाने में संभावना की

१ निहालचंद वर्मा माया महल, पृ० २८।

कोटि में लाने में समर्थ नहीं हुए हैं। वे केवल तमाशा बन कर रह गये हैं। तत्कालीन पाठकों की रुचि ऐसे तमाशों में थी तो अवश्य पर यदि पाठकों को यह भ्रम हो जाता था कि ये तमाशे वास्तविक हैं, तो इनकी लोकप्रियता का ठिकाना नहीं रहता था। परवर्ती कथाकारों को यह भ्रम उत्पन्न करने में सफलता नहीं मिल सकी है। यही कारण है कि परवर्ती तिलस्मी रोमांस तत्कालीन पाठकों में अधिक लोकप्रिय न हो सके।

दुर्गाप्रसाद खत्री के अतिरिक्त अन्य परवर्ती तिलस्मी रोमांस लेखकों ने हिन्दू आदर्शों हिन्दू भावनाओं और हिन्दू पाठकों की रुचियों का अधिक ध्यान नहीं रखा है। देवकीनंदन खत्री के ऐयारों का धर्मभाव अत्यन्त उन्नत है पर परवर्ती तिलस्मी कथाओं के एयार अवसर धोखबाज, कपटी नीति नियमों के विरुद्ध चलनेवाले (हरे कृष्ण जौहर कुसुमलता) तथा दुश्चरित्र हैं। इन कथाओं के ऐयार ऐयाराओं का चुम्बन आलिंगन निस्संकोच भाव से करते हैं। (गोविन्द राव तलग मदनमोहिनी) परवर्ती तिलस्मी रोमांसों के पात्र—केवल प्रेमीगण ही नहीं, एयारगण भी—उर्दू के अश्लील शेरों को पढ़ते नहीं थकते। इन कथाओं के पात्रों का चरित्र हिन्दू आदर्शों के अनुरूप नहीं है। हरिकृष्ण जौहर, किशोरी लाल गोस्वामी गोविन्द राव तलग आदि परवर्ती लेखकों ने अश्लील और कामचेष्टाओं के नग्न वर्णनों के द्वारा अपने तिलस्मी रोमांसों को चटपटा बनाने का प्रयास किया है।

देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी रोमांसों में जो शालीनता, आभिजात्य और शिष्टता पायी जाती है, उसका आभास भी परवर्ती कथाओं में नहीं मिलता। खत्री जी के चरित्र परवर्ती कथाओं के पात्रों की तुलना में अधिक प्रियदर्शी और विश्वसनीय हैं। खत्री जी के राजकुमारों का चरित्र राजकुमारोचित है, जबकि परवर्ती कथाओं के राजकुमार उत्तर-दायित्वरहित छैलों की तरह चित्रित किये गए हैं। स्थान स्थान पर इन कथाओं के पात्र गालीगलौज करते दिखाये गये हैं। इन कथाओं का चरित्रचित्रण पक्ष नितांत दुर्बल है।

तात्पर्य यह कि देवकीनन्दन खत्री की तरह परवर्ती तिलिस्मी कथालेखक न तो कौतूहलोत्पादक घटनाओं की कल्पना में सफल हो सके हैं, न उन्हें विश्वासोत्पादक बनाने में न हिन्दू आदर्शों के चित्रण में न भाषा के प्रयोग में। इन रोमांसों की भाषा निष्प्राण, अशुद्ध तथा ग्राम्य है। देवकीनन्दन खत्री की भाषा में सरलता तो है किन्तु फूहड़पन नहीं है जबकि इन कथाओं की भाषा ग्राम्यता के दोषों से भरी हुई है।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन लेखकों ने पाठकों की रुचि का कम ध्यान रखा है। कौतूहलप्रद घटनाओं की योजना, जादू मंतर देव, राक्षस, तिलस्मी पुतलियां और पशुपक्षियों आदि की कल्पना, कामव्यापारों व अश्लील चित्रण तथा स्थान स्थान पर पाठकों के सम्बोधन आदि में पाठकों की रुचि ही प्रधान है। इन रोमांसों के लेखक भी पाठकों को उन घटनाओं का रहस्य बताते चलते हैं, जिनके उनकी समझ में आने की सम्भावना कम होती है। ये लेखक भी अपने पाठकों की सहायता के लिए सदा उनके पास विद्यमान रहते हैं। कथाओं को जानबूझ कर पाठकों की रुचि के अनुरूप मुखांत बनाया जाता है। इस सम्बन्ध में हरदेव प्रसाद मुन्शिस लिखित सूरजमुखी नामक एयारीप्रधान कथा का एक प्रसंग उद्धतव्य है। कथा के एक पात्र कुंवर रत्नाकर की

मृत्यु पर उपन्यासकार कहता है—'पाठक गण! आपसे प्रार्थना है कि यदि आपलोगों को दुखांत उपन्यास पसन्द हो तो बस यहां से आगे इसको न पढ़िये और यहीं से इसे खतम हुआ समझ लीजिये। परन्तु हाँ यदि आपकी रुचि सुखांत उपन्यास में है तो कृपाकर थोड़ा सा और भी आगे पढ़कर अपना और अपने साथियों का चित्त प्रसन्न कीजिए।' (पृ० ६५) और उपन्यास को सुखांत बना दिया गया है। अल्पशिक्षित पाठक केवल सुखांत कथाएं ही पसंद करते हैं इसका एक प्रमाण यह भी है कि हिन्दी की सभी तिलस्म-ऐयारी प्रधान कथाएँ सुखांत हैं।

यद्यपि अब हिन्दी पाठकों की स्थिति १८९० ई० के आसपास की स्थिति से सर्वथा भिन्न हो गया था फिर भी हिन्दी में अल्पशिक्षित पाठकों का ही बाहुल्य था। यही कारण है कि साहित्य की दृष्टि से देवकीनन्दन खत्री के बाद के तिलिस्मी रोमांस सर्वथा उपेक्ष्य होने पर भी अपने काल के पाठकों में लोकप्रियता प्राप्त करने में सफल हुए थे। खत्री जी की व्यावसायिक सफलता को देखकर अन्य प्रकाशक भी तिलस्मी रोमांस छापने के लिए लालायित रहते थे। हरिकृष्ण जौहर ने प्रकाशकों द्वारा प्रेरित किये जाने पर ही अपने तिलस्मी रोमांसों की रचना की थी।[1]

इसमें एक बात स्पष्ट है। साहित्यिक दृष्टि से भले ही तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों का महत्त्व नगण्य हो, पर हिन्दी पाठकवर्ग के निर्माण की दृष्टि से इनका महत्त्व सर्वोपरि है। इन तिलस्मी कथाओं ने हिन्दी में एक विशाल पाठकवर्ग तैयार कर दिया जो बाद में हिंदी उपन्यास साहित्य के विकास में सहायक हुआ। केवल इसी बात को लेकर देवकीनन्दन खत्री तथा अन्य तिलिस्मी रोमांस लेखकों का महत्त्व हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में अमर रहेगा।



---

१ हरिकृष्ण जौहर : मदनमोहिनी या मायामहल, भूमिका।

अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ तथा उन पर पाठको की रुचि का प्रभाव

प्रवेशन

हिन्दी के अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं के सम्बन्ध म सबसे बडी कठिनाई इस बात का पता लगाना है कि उनम स कौन मौलिक है और कौन अनुवाद । इन लेखको ने अनुवादो को भी मौलिक रूप म ही प्रस्तुत किया है । अपराधप्रधान और जासूसी कथालेखको मे गोपालराम गहमरी मूद्ध य है । यद्यपि इनके उपन्यासो के सम्बन्ध म भी यह निणय करना कठिन है कि उनम कितने मौलिक और कितने अनुवाद हं, फिर भी परिमाणत इनके द्वारा रचित अपराधकथाए अन्य लेखको की तुलना म बहुत अधिक है । प्रस्तुत प्रबन्ध मे गोपालराम गहमरी तथा अन्य फुटकल अपराधप्रधान और जासूसी कथालेखको की कृतियो पर पाठको की रुचि के प्रभाव का विवेचन विश्लेषण करना अभिप्रेत है ।

गोपाल राम गहमरीकृत अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ

विवेच्य काल म विशुद्ध व्यावसायिक दृष्टि से कथासाहित्य की रचना म प्रवत्त होने वाले दूसरे प्रसिद्ध कथाकार गोपाल राम गहमरी थ । गहमरी ने देवकीनन्दन खत्री द्वारा निर्मित ऐयारी तिलिस्म वाले माग पर न चल कर एक भिन्न पथ ग्रहण किया । वस्तुत खत्री जी ने ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमास की समस्त सम्भावनाओ को इस प्रकार निचोड लिया था कि इस माग पर चलनेवाला का सफल होना कठिन था । गहमरी का श्रय इस बात म ह कि उन्होने इस तथ्य को तुरत समझ लिया । उन्होने एक भी एयारी तिलिस्म प्रधान रोमास की रचना न की ।

गहमरी जी न १०० के लगभग अपराधप्रधान और जासूसी कथापुस्तको की रचना की थी । इनके नाम पर प्रचलित शष कथापुस्तके अनुवाद है ।

गहमरी जी का मुख्य उद्देश्य भी देवकीनन्दन खत्री स भिन्न नही था । य भी अपन समकालीन हिन्दी पाठको की कौतूहल और जिज्ञासावत्ति को उदबुद्ध कर उनका मनोरजन करना चाहते थे । गहमरी जी न कथालेखन का काय खत्री जी से लगभग दस वष बाद शुरू किया । यो १९०० ई० के पूव उनकी तीन जासूसी पुस्तकें— अजीब लाश 'जासूस और 'जोडा जासूस वेंकटेश्वर समाचार मे क्रमश प्रकाशित हो चुकी थी और कुछ कथापुस्तको के अनुवाद भी उन्होने किय थ पर बडे पमाने पर अपनी अपराधप्रधान कथाए प्रकाशित करने के लिए उन्होंने मई १९०० ई० म 'जासूस नामक मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया । इसी जासूस पत्र म गहमरीजी की सभी जासूसी कथाए प्रकाशित हुई ।

जहाँ तक पाठकवग का प्रश्न है गोपाल राम गहमरी की स्थिति देवकीनन्दन खत्री से थोडी भिन्न थी । खत्री जी न जब कथा लेखन काय आरम्भ किया था उस समय हिन्दी म सभावित पाठक तो थ पर वास्तविक पाठक बहुत कम थ । खत्रीजी का महत्त्व इस

पाठकों को लेकर विशेष है कि उन्होंने हिन्दी के सम्भावित पाठकों को वास्तविक पाठकों में परिणत कर दिया। गहमरीजी ने जब कथालेखन आरम्भ किया, उस समय घटनाप्रधान कथापुस्तकों के पाठक काफी बड़ी संख्या में विद्यमान थे। एयारी तिलस्म प्रधान उपन्यासों की धूम मची हुई थी। देवकीनन्दन खत्री का प्रसिद्ध तिलस्मी रोमांस 'चन्द्रकान्ता सन्तति', उपन्यास लहरी मासिक पत्र में क्रमश प्रकाशित हो रहा था, और हिन्दी पाठक समुदाय में सर्वत्र उसकी चर्चा थी। अबतक अन्य लेखकों ने भी तिलिस्मी रोमांसों की रचना शुरू कर दी थी और किसी को भी पाठकों का अभाव नहीं रहता था।

हिन्दी पाठकवर्ग की वृद्धि में अन्य हेतुओं ने भी योग दिया। हिन्दी प्रचार आन्दोलन तथा १९०० ई० में उत्तर प्रान्त की अदालतों में नागरी लिपि के प्रवेश से हिन्दी के प्रचार प्रसार की सम्भावनाएँ अमितत बढ़ गयी। अब हिन्दी में पुस्तक विशेषकर कथापुस्तक पढ़नेवालों का अभाव न रहा। गहमरी जी ने हिन्दी की तत्कालीन स्थिति के सम्बन्ध में 'बेकसूर की फाँसी' (जासूस भाग १, अंक २ जून १९०० ई०) की भूमिका में लिखा था, "आजकल हिन्दी की दशा बदली है। तीस चालीस वरस पहले ने इस समय हिन्दी का भंडार बहुत कुछ बढ़ा चढ़ा है। नाना विषयों की धड़ाधड़ पुस्तकें बनती और छपती हैं नित नये मासिक साप्ताहिक पत्रों का प्रचार हो रहा है, कई योग्य और बड़े डील डौल के सचित्र पत्रों से हिन्दी का विचित्र चित्र चित्त को हर लेता है।"

इस वक्तव्य से स्पष्ट है कि १९०० ई० के लगभग हिन्दी में प्रभावशाली पाठकवर्ग का निर्माण शुरू हो गया था। यह दूसरी बात है कि पाठकों के प्रसार में अभी कोई उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ था। जैसा हम देख चुके हैं विवेच्य काल की माध्यमिक और उच्च शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी उपेक्षित थी। हिन्दी की पढ़ाई सामान्यत सातवें वर्ग तक होती थी। इस कारण हिन्दी के अधिकांश पाठक अल्पशिक्षित थे। गहमरी जी ने इसी अल्प शिक्षित पाठक समुदाय की रुचि और पठनक्षमता को ध्यान में रखकर कथा पुस्तकों की रचना की।

गहमरी जी ने अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं की रचना और अनुवाद पर अपना प्रयत्न केन्द्रित किये। इसकी मुख्य प्रेरणा था तत्कालीन हिन्दी पाठकों की कौतूहल वृत्ति को तृप्त करने के लिए उन्हें एक नवीन प्रकार की घटना शृंखला से युक्त कथा प्रदान करने की भावना। हिन्दी पाठक तिलस्मी कथाओं से ऊब तो नहीं रहे थे पर इनमें उनकी अतिरिक्त अन्य रुचि जगाने का था। गहमरी जी ने तिलस्मी रोमांसों में आकृष्ट निमग्न हिन्दी पाठकों का मन स्वादपरिवर्तन के लिए अपराधप्रधान और जासूसी कथा दी। एयारी तिलस्मी रोमांसों और जासूसी या अपराधप्रधान कथाओं में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह होता है कि जहाँ तिलस्मी रोमांसों की धुरी कोई प्रेमकथा होती है वहाँ जासूसी कथाओं का केन्द्र कोई अपराध होता है। तिलस्मी रोमांसों की प्रेमकथा बाध्यपरम्परागत या रूढ़िगत होती है। दो राजकुमार राजकुमारियों में प्रेम होता है इसी बीच प्रेमी राजकुमार का कोई प्रतिद्वन्द्वी भी राजकुमारी से प्रेम करने लगता है। राजकुमारी को लेकर दोनों प्रतिद्वन्द्वी प्रेमियों में संघर्ष होता है। अन्त में प्रथम राजकुमार की विजय होती है।

इस प्रकार की प्रेमकथा म वविध्य की गुजाइश बहुत कम है। तिलस्मी रोमास लखक एयारी और तिलस्म के करिश्मा द्वारा अपनी कथा को ववियध्यपूण बनान का प्रयास करता है। अपराध और जासूसी कथाओ म वविध्य की अनन्त सम्भावनाए होती हैं, क्योकि अपराधो की कोई सीमा नही है। दूसरी बात है जासूसी कथाओ म बौद्धिक क्रीडा के लिए अधिक अवकाश होता है। आधुनिक अपराध शास्त्र और अपराध मनोविज्ञान के विकास ने जासूसी कथाओ क लिए अनन्त सभावनाए प्रस्तुत कर दी है। तिलस्मी रोमास इस सुविधा स वचित है। यद्यपि देवकीनन्दन खत्री न एयारी और तिलस्मी करिश्मा की योजना मे बौद्धिक क्रीडा का चमत्कार, कुछ दूर तक काफी अच्छी सफलता क साथ दिखाया है पर तनिक भी सूक्ष्मेक्षणपूण दष्टि म अवलोकन करने पर खत्रीजो के रोमासो की घटनाओ का वज्ञानिकीकरण मिथ्या प्रतीत होने लगता है—यथा ऐयारो का बेहोश ऐयारो की गठरी बाँध कर दौडते हुए दस बारह कोस तक चला जाना, ऐयारी के समान से भरे हुए उनक बटुए का सदा अदश्य रहना, ऐयारो का बाघ आदि पशु बनकर अपने शत्रुओ को धोखा देना, एक ही व्यक्ति का एक क्षण म लम्बे डील डौल वाला पहलवान बन जाना और दूसरे क्षण षोडशवर्षीया युवती म परिणत हो जाना इस प्रकार की घटनाए थोडे भी जागरूक पाठक का स्वीकाय नही हो सकती। जासूसी कथाओ म इस प्रकार की बुद्धयग्राह्य बातो के लिए कोई स्थान नही होता। उनम रहस्यनिर्माण और उसके उद्घाटन के निमित्त सूक्ष्म पयवेक्षण विलक्षण बुद्धिमत्ता तथा निर्दोष तकश्रृंखला अपेक्षित होती है। यही कारण है कि बडे बडे वज्ञानिक राजनता तथा साहित्यिक भी जासूसी कथाए पढते देखे जाते है। अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ लिखते समय कदाचित गहमरीजी क मन म यह भी धारणा रही हो कि हिन्दी पाठको का बौद्धिक दष्टि से कुछ उच्च कोटि की कथाएँ प्रदान की जाए।

तत्कालीन हिन्दी पाठको के बीच गहमरीजी की अपराधप्रधान और जासूसी कथाओ की लोकप्रियता निर्विवाद है। जून सन १९०० ई० क 'जासूस की भूमिका म गहमरी जी ने लिखा था हमने अजीबनाश नामक इसी तरह की एक पुस्तक लिखी थी जिसको हिन्दी प्रेमियो न बडी चाह म पढा। एक ग्राहक ने हमको लिखा ' रेल म बठकर अजीब नाश पढने लगे। उसम जी इतना लगा कि जहा उतरना था उसकी सुधि जाती रही। जब पूरा पढ चुके और गाडी आगे के स्टेशन म ठहरी तो नाम स्टेशन का पूछने पर मालूम हुआ कि हम सात आठ स्टेशन आगे बढ आये है। लाचार उतरकर दूसरी गाडी म आन जान का २) नुकसान करके अपने स्टेशन को पहुचे। अब विचारवान लोग समझ सकते है। कि इस उपन्यासो के पढने म कितना मन लगता है। अनक हिन्दी प्रेमियो और पुलिस के बडे हाकिमों न हमसे कहा कि ऐसी पुस्तको की बडी जरूरत है।[१]

गहमरी जी न इस प्रकार के अनेक साक्ष्यो का उल्लेख अपनी पुस्तको की भूमिकाओ म किया है जिनसे तत्कालीन पाठको क बीच उनकी कथापुस्तको की लोकप्रियता का पता

१ जासूस पहला भाग अक २, जून, सन् १९०० ई०।

चलता है।[१] गहमरीजी की अपराध कथाएँ तत्कालीन पाठकों के बीच इतनी लोकप्रिय हो गयी थीं कि कुछ प्रकाशक उन्हें चोरी से छापकर बेचने लगे थे। प्रकाशक ने यह घोषणा कर रखी थी कि जिस पुस्तक पर लेखक का हस्ताक्षर न हो वह चोरी की समझी जाए।

गहमरीजी की अपराधकथाओं की इस लोकप्रियता का प्रधान कारण उनका तत्कालीन हिन्दी पाठक समुदाय की रुचि के अनुकूल होना है।

इन कथापुस्तकों की विषयवस्तु, शिल्प और भाषा शैली सब पर तत्कालीन हिन्दी पाठकवर्ग की रुचि की छाप है। जैसा संकेत किया जा चुका है, गहमरीजी की कथाओं की नींव अपराधप्रधान घटनाओं पर खड़ी की गयी है। अपराध घटनाओं में मनुष्य की रुचि स्वभावतः होती है। न्यायालय में यदि किसी सनसनीखेज अपराध का मुकदमा शुरू होता है तो दर्शकों और श्रोताओं की भारी भीड़ उसे सुनने के लिए एकत्र हो जाती है। समाचारपत्रों में अपराध की घटनाएं छपती हैं और पाठक उन्हें गम्भीर राजनीतिक समाचारों से कम महत्त्व नहीं देते। प्रायः सभी श्रेणी और सभी बौद्धिक स्तर के व्यक्ति अपराध घटनाओं में रुचि रखते हैं। अल्प बुद्धि और विकसित बुद्धि के लोगों में अन्तर केवल यह होता है कि विकसित बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति जहाँ ऐसी घटनाओं को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देते, वहाँ अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति ऐसी घटनाओं के प्रत्येक ब्यौरे को जानने के लिए अधीर रहते हैं। गहमरीजी ने अपने काल के अविकसित बुद्धि के पाठकों की इस रुचि का ध्यान रखकर कथापुस्तकों की रचना की और व्यावसायिक दृष्टि से उन्हें खत्री जी के बाद सबसे अधिक सफलता प्राप्त हुई।

जासूसी कथाओं में रोमांचकारी घटनाओं, रहस्य तत्त्व और जासूस के बुद्धिकौशल की प्रधानता होती है। पाठकों का बौद्धिक स्तर जितना ऊंचा होता है जासूसी कथाओं का रहस्य तत्त्व और बुद्धि कौशल उतना ही जटिल और गूढ़ होता है अन्यथा वे अपने पाठकों में लोकप्रियता प्राप्त कर ही नहीं सकतीं। गहमरी जी के उद्दिष्ट पाठक विकसित बुद्धि के नहीं थे, इस कारण उनकी कथाओं में रोमांचपूर्ण घटनाएं तो हैं परन्तु रहस्य तत्त्व और बुद्धि कौशल की जटिलता का उनमें प्रायः अभाव है। गहमरीजी के अधिकांश उपन्यासों की समस्या बहुत आसान होती है। सड़क या किसी घाट पर या रेल के डब्बे में कोई लाश मिलती है जिसे पहचाननेवाला कोई नहीं होता। जासूस अपने उद्योग से उस लाश की पहचान करता है। इस कार्य में उसे कभी कभी भूलें भी करनी पड़ती हैं क्योंकि वह बहुधा समान मुखाकृतिवाले किसी भिन्न व्यक्ति को मृत व्यक्ति समझ लेता है और सन्देह पर उस व्यक्ति के किसी सम्बन्धी का वेश में गहना (हथकड़ी) पहना देता है। फिर बाद में जासूस को अपनी भूल पर लज्जित होना पड़ता है। अन्ततः वह वास्तविक व्यक्ति का पता लगाने में समर्थ होता है। ऐसी प्रकार की महत्त्वहीन और सरल समस्याओं पर गहमरीजी की अधिकांश अपराधकथाएं आधृत हैं। किसी शव की पहचान करना पुलिस के लिए बहुत बड़ी समस्या नहीं होती। इस समस्या का समाधान तो मृत व्यक्ति का फोटो छाप देने और छोटा मोटा इनाम घोषित कर देने से निकल आ सकता है। इस रहस्य के उद्घाटन के

---

१ जासूस वर्ष २, संख्या १ नवम्बर १९०२ ... पृष्ठ १३-१८।

लिए गहमरीजी का जासूस जो आकाश पाताल के कुलावे मिलाता है वह हास्यास्पद प्रतीत होता है।

गहमरीजी की अपराध कथाएं विकसित बुद्धि के पाठकों को सन्तुष्ट नहीं कर पाती। इनकी घटनाओं तथा पात्रों के कार्यों में ऐसी असगतियां दिखायी पडती हैं जो परिष्कृत रुचि के पाठकों को खटके बिना नहीं रहती। उदाहरणतः गहमरी जी के वाह रे जासूस नामक कथा में जासूस मयक मनोहर अपराधियों की चिट्ठियों का एक बडल प्राप्त करते हैं। चिट्ठियों की सहायता से अपराधियों का पता लगाना दोषपूर्ण नहीं पर इस उपन्यास में जो चिट्ठियां दी हुई हैं उन्हें पढने पर ऐसा मालूम पडता है मानो अपराधियों ने अपने को पकडवाने या दड दिलाने के लिए ही ये पत्र लिखे हों। यह सुनात तथ्य है कि प्राय अपराधी पत्रलेखन में साकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं पर इस कथापुस्तक में अपराधियों ने ऐसे पत्र लिखे हैं मानो अपने अपराधों का वर्णन कर उन्हें किसी से पुरस्कार प्राप्त करना है। ये पत्र अविकसित बुद्धि के पाठकों को चाहे न खटकें परिष्कृत रुचि का पाठक इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता।

गहमरी जी की अपराधप्रधान कथापुस्तकें असगत और अविश्वसनीय घटनाओं से भरी हुई हैं। जमना का खून नामक कथापुस्तक में दरवान जमना को उठाने के लिए धीरे से उसकी छाती पर छुरी फेंकता है पर वह इतने जोर से लगती है कि उसकी जान निकल जाती है। यह घटना बिलकुल असगत है। जासूस पर जासूस नामक उपन्यास में, थाने में जहां सिपाही भरे हुए हैं एक लडका जाता है और पहरेदार को ऐसा थप्पड मारता है कि वह लोट जाता है और लडका कैदी की बेडी खोलकर उसे छुडा ले जाता है। ऐसा वही लिख सकता है जिसे थाने का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इस प्रकार के वर्णनों को पढ कर केवल अल्प बुद्धि पाठकों को ही आनन्द मिल सकता है।

गहमरी जी की अपराध कथाओं के जासूस वेश परिवर्तन में कभी कभी चन्द्रकान्ता के ऐयारों से होड लेने लगते हैं। जाली बीबी और डाकू साहब का जासूस वेश परिवर्तन में इतना पटु है कि जब वह स्त्री का रूप धारण करता है तो कोई उसे पहचान नहीं पाता। 'जासूस पर जासूस' का जासूस भी दो मिनट में जिसका रूप चाहता है धारण कर लेता है। वजीरन बीबी' नामक कथापुस्तक में जगन्नाथ जासूस एक आदमी के साथ किसी घटनास्थल पर जा रहे हैं। बीच में ही राह चलते चलते वे ऐसा रूप बदल डालते हैं कि उनका साथी अचानक उन्हें देखकर डर जाता है। इस प्रकार जादू की तरह रूप परिवर्तन अपरिपक्व बुद्धि के पाठकों को चाहे न खटके, विकसित पाठक को इसके प्रति आपत्ति हुए बिना नहीं रह सकती। 'जय पराजय' नामक कथापुस्तक में भैकराज नामक अपराधी जो शरीर से मोटा ताजा है सौ वर्ष की बुढिया का रूप धारण कर लेता है और लोग उसे पहचान नहीं पाते। वजीरन बीबी के जासूस जगन्नाथ जो एक मृत व्यक्ति का रूप धारण कर भूत बने हुए हैं बाबर नामक अपराधी के सिर पर हाथ फेरते हैं जिससे उसे दिखायी देना बन्द हो जाता है। जासूस जगन्नाथ अपने इस वेश में जिस आदमी की कलाई पकड लेते हैं उसे ऐसी पीडा होती है कि वह बेचैन होकर उठ जाता है। उसके सारे शरीर में मानो आग लग जाती है। इसकी सफाई गहमरी जी यह कह कर देते हैं कि

जासूस अपने कपड़े में इलेक्ट्रिक बैटरी छिपाये हुए है। चमत्कारपूर्ण ऐयारियों की ऐसी वैज्ञानिक व्याख्या तो देवकीनन्दन खत्री भी कर ही लेते थे। कपड़े के अन्दर बैटरी छिपाये रख कर किसी अन्य व्यक्ति का हाथ पकड़ते ही उसके शरीर में बिजली की धारा पहुँचा देना कोरे गप्प से अधिक महत्त्व का नहीं, जिसमें कम बुद्धि के पाठक ही विश्वास कर सकते हैं।

गहमरी जी की कथापुस्तकों में सात नली और छह नलीवाली पिस्तौलें होती हैं, जिनसे गोली निकलने के बदले छर्रे निकलते हैं। विकसित बुद्धि के पाठक के लिए इस प्रकार की पिस्तौलों का वर्णन हास्यास्पद है। अल्प बुद्धि के पाठक ही सातनली पिस्तौल के वर्णन से रोमांचित और चमत्कृत किये जा सकते हैं।

तिलस्मी ढंग के वर्णन भी गहमरी जी की कथापुस्तकों में उपलब्ध होते हैं। कटा सिर में इलाहाबाद में स्थित एक ऐसे खंडहर का वर्णन है जिसमें एक गुप्त कोठरी तथा कोठरी में एक ऐसा खटका है, जिसे दबा देने पर सारी दीवाल ही लुप्त हो जाती है और फिर अन्दर से दूसरा खटका दबाने पर दीवाल ज्यों की त्यों खड़ी हो जाती है। 'वजीरन बाबा' नामक कथापुस्तक में गज्जू वजीरन को एक फूल सुंघाकर इस प्रकार बेहोश कर देता है कि वह मृतवत् हो जाती है और सभी लोग समझते हैं कि वजीरन की मृत्यु हो गयी।

गहमरी जी की कथापुस्तकों में ऐसी घटनाएँ और कार्य वर्णित हैं, जो केवल मूढ़मति पाठकों को ही विश्वसनीय जान पड़ सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रतिज्ञापालन में सुरेन्द्र नामक व्यक्ति को फाँसी होनेवाली है और लोग उस चारों तरफ से घेर कर खड़े हैं। सिपाही सुरेन्द्र को घेर कर खड़े लोगों को जेल से बाहर निकाल रहे हैं। प्रश्न उठता है क्या अंगरेजी शासन में अपराधियों को खुले मैदान में फाँसी पर लटकाया जाता था? इस प्रकार का सन्देह अवसर एक अल्पबुद्धि पाठक के मन में नहीं उठता जबकि विकसित बुद्धि का पाठक इस प्रकार के वर्णनों को स्वीकार करने में असमर्थ होता है।

तात्पर्य यह कि गहमरी जी की कथाओं में सनसनीखेज घटनाओं की योजना पर जितना बल दिया गया है उतना उन्हें विश्वसनीय बनाने पर नहीं। इसका कारण है, हिन्दी पाठकों का अविकसित बुद्धि का होना। यदि गहमरी जी ने विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए अपनी जासूसी कथाओं की रचना की होती, तो प्रत्येक घटना का विश्वसनीय होना अनिवार्य होता। अल्प बुद्धि पाठक प्रत्येक घटना की तर्कपूर्ण संगति की माँग नहीं करते। वे बे सिर पैर की घटनाओं में भी सहज रूप से विश्वास कर लेते हैं। उनकी माँग केवल इतनी भर होती है कि घटनाएँ सनसनीखेज, रोमांचकारी और कौतूहलवर्धक हों। यदि लेखक उनकी यह माँग पूरी करने में समर्थ है तो उन वर्ग पाठकों के बीच लोकप्रिय होने में देर नहीं लगती। गहमरी जी की, अपने समकालीन हिन्दी पाठकों के बीच, लोकप्रियता का यही रहस्य है, अन्यथा उनकी अपराध कथाएँ अत्यन्त निम्नकोटि की हैं। उनमें जासूसी, रहस्य और बुद्धि तत्त्व का इतना अभाव है कि विकसित बुद्धि के पाठक उन्हें पढ़कर तृप्त हो ही नहीं सकते।

गहमरी जी की अपराध कथाओं का शिल्प भी बहुत निम्नकोटि का है। कथानक के बीच में रहस्य की सृष्टि करने, उसे जटिल बनाने तथा विश्वसनीय रूप में उसका शनै शनै उदघाटन करने में गहमरी जी को सफलता नहीं मिली है। अनिवार्यत गहमरी जी की कथापुस्तकों के थानेदार तथा पुलिस विभाग के कर्मचारी मूर्ख होते हैं। वे जिस तिस आदमी को अपराधी के स्थान पर पकड लेते हैं तथा उसे सजा दिलाकर अपने कर्त्तव्य-पालन की इतिश्री समझ लेते हैं। अन्तत जासूस वहाँ पहुचता है और वास्तविक अपराधी का पता लगाकर उसे दड दिलाता है। गहमरी जी की अधिकांश कथाओं में समान आकृतिवाले दो व्यक्ति होते हैं, जिनसे अपराधी के स्थान पर निर्दोष व्यक्ति समान आकृति होने के कारण, पकड लिया जाता है। जासूस अन्तत वास्तविक अपराधी को दण्ड दिलाने में समर्थ होता है। किसी अज्ञात शव की पहचान के लिए उन कथापुस्तकों में एक पिटे-पिटाये नुस्खे का उपयोग किया गया है। शव के साथ कोई न कोई कपड़ा, जूता या ऐसा सामान होता है जो नया होता है और उस पर उस दूकान का नाम लिखा होता है, जहाँ से वह चीज खरीदी गई थी। दूकानदार भी ऐसे होते हैं, जो अपने सभी ग्राहकों को, उनके नाम पते के साथ, पहचानते रहते हैं अथवा उसका हुलिया याद रखते हैं। इस प्रकार जासूस मृत व्यक्ति की शिनाख्त करने में समर्थ होता है। अपराधियों का पता लगाने में भी प्राय इन्हीं उपायों का सहारा लिया जाता है।

तात्पर्य यह कि गहमरी जी की कथापुस्तकों में जिन शिल्पगत गुरों (Tricks) का उपयोग किया गया है, वे केवल अल्पबुद्धि पाठकों के लिए विश्वसनीय हो सकते हैं। अगरेजी की जासूसी कथाओं को देखते हुए शिल्प सम्बन्धी उपयुक्त उपाय नितांत बचकाने प्रतीत होते हैं। चूकि गहमरी जी का उद्दिष्ट पाठकवर्ग साक्षरमात्र और बाल बुद्धि का था अत उनकी अपराध कथाए तत्कालीन हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय हुई।

गहमरी जी ने अपनी कथापुस्तकों में तत्कालीन हिन्दी पाठकों की रूढिबद्ध भावनाओं और विचारों का समर्थन किया है। यह एक स्वयसिद्ध तथ्य है कि उस समय के बहुसख्यक हिन्दी पाठक हिन्दू थे। गहमरी जी ने अपने हिन्दू पाठकों को प्रसन्न करने के लिए उनकी धार्मिक-सामाजिक भावनाओं और रुचियों का पूर्णत ध्यान रखा है। तत्कालीन अधिकांश हिन्दी पाठक भूत प्रेत के अस्तित्व में विश्वास करते थे यद्यपि कुछ ऐसे लोग भी अवश्य थे जो भूत प्रेत को नहीं मानते थे। अपनी रूप से यासी नामक कथापुस्तक में गहमरी जी ने अधिकांश पाठकों की रुचि और विश्वास को दृष्टि में रखते हुए भूत प्रेत का समर्थन न केवल प्राचीन संस्कृत ग्रथों के आधार पर बल्कि अलफ्रेड रसल वल्स और डाक्टर बेलन नामक अगरेज लेखकों के साक्ष्य पर भी किया है। इस उपन्यास में एक लडकी की प्रेतात्मा अपनी माँ के पास आकर अपने हत्यारे का पता देती है। गहमरी जी समझते थे कि उनके कुछ पाठक इस बात को अविश्वसनीय समझ सकते हैं अत उन्होंने इसे विश्वसनीय बनाने के लिए ऊपर से प्रमाण दिया है। इस प्रसग में गहमरी जी ने जो वक्तव्य दिया है उससे ज्ञात होता है कि वे जिन पाठकों के लिए अपराधकथाए लिख रहे थे, वे 'हातिमताई वैताल पचीसी तिलस्म होशरुबा या अरेबियन नाइटस' के पाठकों की अपेक्षा परिष्कृत बुद्धि के पाठक थे। 'हातिमताई जैसी किस्सा

कहानियों को गहमरी जी 'रोते हुए बच्चा को चुप कराने योग्य मामिले" मानत हैं। गहमरी जी अपने पाठका का बालबुद्धि का नही समझते, इसीलिए प्रेतात्मा सम्बन्धी विश्वास को मानत हुए भी व उसका समथन अँगरेज विद्वानों क मता स करते हैं। यह दूसरी बात है कि विकसित बुद्धि का पाठक इन प्रमाणा का अधिक महत्त्व नहा द सकना।

'रूप सन्यासी' नामक कथापुस्तक म दो पात्रा क (दलसिंगार और उसके गुरु) वार्तालाप क माध्यम स ईश्वर, आत्मा, भक्ति, तपसाधना आदि क सम्बन्ध म हिन्दू दृष्टिकोण स विचार किया गया है। कथा की घटनाओ क बीच इस वार्तालाप की कोई उपयोगिता नहीं है। गहमरी जी ने अपन हिन्दू पाठका की रुचि और भावना को ध्यान म रखकर इस वार्तालाप की योजना की है।

गहमरी जो की कथापुस्तकों म दुष्टा का कुकर्मों का दड अवश्य मिलता है। 'रूप सन्यासी' नामक कथापुस्तक म लडकी भगानवाले को आजन्म कारावास (कालापानी) की सजा मिलती है और बार बार खून करनवाला अपराधी भी यही सजा पाता है। अपराधियो का सरकारी दड दिलाकर ही गहमरी जी का सन्तोष नहा होता व उन्हें 'ईश्वरीय दड भी दिलात हैं। उदाहरणत रूप सन्यासी म अपराधी पात्र दलसिंगार का यदि फाँसी हो जाती तो उसे कष्ट न होता पर गहमरी जो को उस तडपा तडपा कर मारना है इसलिए व उन कालेपानी की सजा दिलाते हैं। अडमन म उस कोढ़ हो जाता है। वह मैदान म पडा रहता है और जीत ही जी चील कौए उसके शरीर का नाच नाच कर खाते हैं। गद्ध उसकी छाती पर बठकर चोंच मारत हैं लेकिन वह सिर हिला पाने म भी समथ नहा है। वह वहा तडप तडप कर मरता है। अपराधी सन्यासी भी कालापानी म जाकर पागल हो जाता है। उसक शरीर म कोड पड जात हैं और यत्रणा स उसकी मृत्यु होती है।

गहमरी जी की कथापुस्तकें उपदश और नीतिवाक्या स भरी हुई हैं। 'प्रतिज्ञा पालन' का अन्त निम्नलिखित पक्तियो स होता है— इस ससार म पापो की बढ़ती और पापाचारी की सफलता पहल दखी जाती है किन्तु कभी वह चिरस्थायी तक नहीं रहती। अन्त को धम का ही जय होती है। दु ख बिना सुख का स्वाद नही मिलता।

'सुखस्यानन्तर दु ख दु खस्यानन्तर सुखम।
चक्रवत परिवत्तन्ते दु खानि च सुखानि च।'

अपनी कथापुस्तका म गहमरी जी पातिव्रत्य की महिमा गात थकत नहा। उनका अधिकाश स्त्रियाँ पतिव्रता हैं। जा स्त्रियाँ पातिव्रत्य को कलकित करती हैं उन्हे घोर सकट का सामना करना पडता है। 'सुमित्रा देवी' नामक कथापुस्तक क अन्त म पाठक पाठिकाओ का सबोधित कर गहमरी जो अपन उदगार निम्नोद्धत पक्तियो म व्यक्त करत हैं—

'पाठक और पाठिका! विस्मय की बात इसम कुछ नहीं है। जिस हिन्दू नारी का जगत म पति ही सब कुछ है जिस आत्मघाती के लिये पति के सिवाय दूसरी गति नहा उसको उसी पति प्रेम का बल अबला स बलवान और ध्रुव स महत्व कर सकता है। वही

प्रतिप्रेम हृदय म दव बल ला देता है । अधकारमय कटकाकीण दुगम जीवन पथ को वही आलोकित और पुण्य समाच्छन्न कर देता है। उस प्रम की जय हो ! जय हो !" (पृ० ४२)। गहमरी जी विधवा विवाह का विरोध अपनी कथापुस्तको म करते है। 'हत्या' नामक कथापुस्तक की एक पात्री कृष्णा की मा विधवा होकर भी केशव नाम के व्यक्ति के साथ पुनर्विवाह करता है। अपने इस पापकम (!) का दड उसे इसी जीवन म भोगना पडता है। जासूस केशव से कहता है "कृष्णा की माँ ने विधवा होकर विवाह करने का जो पाप किया था उसका वह प्रायश्चित कर चुकी। उसके शरीर न जो दु ख सहा है उससे उसका अब पाप भोग बाकी नही रहा। (पृ० २१) कृष्णा नामक कथापुस्तक म यह भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है कि विधवा विवाह का दड न केवल विधवा स्त्री को, वरन् उसकी सतान तक को भोगना पडता है।

बलिहारी बुद्धि नामक कथापुस्तक म विदेश जाने वाले भारतीयो की, जो वहाँ स लौटने क बाद अपन मातापिता, परिवार गाँव धम और राष्ट्रप्रम का भूल कर पूणत विलायती सभ्यता के गुलाम बन जाते हैं आलोचना की गयी है। अँगरेजी सभ्यता का अधानुकरण करनेवाले उन लोगो की भी आलोचना की गयी है जो देवताओ तथा मदिरो की पवित्रता का उपहास करते ह। अपराधकथाओ क बीच बीच म गहमरी जी अपने पाठको को धम, दया, परोपकार, नीति आदि की शिक्षा दना नही भूलत। भारत के प्राचीन साधु सतो तथा सन्यासियो क प्रति गहमरी जी ने अपनी गहरी श्रद्धा व्यक्त की है।

तात्पय यह कि गहमरी जी न उन सभी भावनाओ और विचारो का जो तत्कालीन हिन्दू समाज म बद्धमूल थ अपनी कथापुस्तका म समथन और प्रतिपादन किया है। रुढ़िबद्ध और परपरागत भावनाओ तथा विचारा म अल्पशिक्षिता की गहरी निष्ठा होती है। सुशिक्षित और विकसित बुद्धि क लोग परपरागत विचारा और भावनाओ को आलोच्य दृष्टि से भी देखत हैं और जब तक बुद्धि और तक की कसौटी पर उनकी परीक्षा नही कर लेते, तब तक उन्ह स्वीकार नही करत। अल्पशिक्षित पाठक बिना सोचे विचारे परपरागत विचारो को मानते है। गहमरी जी के पाठक चूकि उत्तराक्त प्रकार के थे इसलिए उन्हे प्रसन्न करने के लिए उन्होंने हिन्दूधर्मानुमोदित सभी विचारो का प्रतिपादन और समथन किया है।

गहमरी जी की कथापुस्तको की भाषा सामान्यत अल्पशिक्षिता की पठनक्षमता क अनुकूल है, पर यही वह स्थल है जहा गहमरी जी न अपने काल के साहित्यरसिका को रुचि का भी ध्यान रखा है। देवकीनदन खत्री कथाओ की विषयवस्तु भावधारा और शिल्प म ही पाठको की रुचि का ध्यान नही रखत वरन उनकी भाषा भी साक्षरमात्र पाठको की पठनक्षमता के अनुकूल होती ह। इसक विपरीत गहमरी जी भाषा म कही कही काव्यात्मकता की छौंक देने का प्रयत्न करते हैं। गहमरी जी की कथापुस्तको म प्रकृतिवणन और सौन्दयवणन क ऐस शताधिक स्थल है, जहाँ काव्यात्मक और अलकारबहुल भाषा का प्रयोग हुआ है। उदाहरणाथ हत्या रहस्य नामक कथापुस्तक म मरणासन्न राधाबाई को

देखने के लिए उसके प्रेमी जयन्त सिंह जाते हैं और उसे देखकर सोचने लगते हैं—'क्या यह वही राधा बाई है ! यही क्या वह पूर्ण यौवना सुमध्यमा लावण्यवती चारुहासिनी राधा बाई है ! जिसकी सास की हवा से मलयानिल की सुवास पाते थे, जिसकी हँसी से मोती झरता था नील कादम्बिनी वक्षवासिनी बिजली की भाँति जिसकी बनपटी तक फैली हुई आँखों की विद्युन्द्युटा से उनकी जवानी का बहुविपत्ती समाकुल अंधकारमय पिच्छिल जीवन पथ आलोकित हुआ था वह कुसुम कोमला फुल्लबिंबाधरा अतुलनीया '

इस प्रकार के अनेक काव्यात्मक वर्णन गहमरी जी की कथापुस्तकों में उपलब्ध होते हैं। कहीं कहीं सामान्य वर्णनों की भाषा भी संस्कृतनिष्ठ और काव्यात्मक हो जाती है, यथा, 'वाह रे जासूस' का निम्नलिखित अवतरण—

अंधेरे पाख की काली रात ऊपर से मेघों की घटाटोप अंधियारी अपना हाथ पसारे पर भी नहीं सूझता ऐसी अँधेरी निशा में आम के पेड़ पर कौन दो आदमी बैठे हैं इसकी किसी को कुछ खबर नहीं। करालवदना काली निशा कामातुरा मातंगिनी के वेग में प्रचंड लोमहर्षणकारिणी घटनासमूह का साथ लेकर हि हि हँस रही है। इस भयावनी निशा की भयंकर हँसी में वह सती जिस घर में कैद है उस घर के उत्तर ओर पास ही आम के पेड़ पर दुर्गादास और जासूस चढ़े बैठे हैं।[1]

काव्यात्मकता के साथ साथ गहमरीजी की भाषा में एक और वैशिष्ट्य दिखायी पड़ता है। उन्होंने पात्रानुसार भाषा का व्यवहार किया है। निम्न श्रेणी की जाति के लोगों विशेषकर स्त्रियों के वार्तालाप का वर्णन गहमरी जी ऐसी यथार्थ भाषा में प्रस्तुत करते हैं जिसे पढ़ कर परिष्कृत रुचि का साहित्यिक पाठक भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। अंगरेज साहबों की हिन्दी को भी गहमरी जी ने बिलकुल यथार्थ रूप अपनी कथापुस्तकों में रखा है। भोजपुरी क्षेत्र के निवासी पात्रों की भाषा पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्ट दिखायी पड़ता है। तात्पर्य यह कि गहमरी जी भाषा के प्रयोग में साहित्यिक पाठकों की रुचि का ध्यान रखते प्रतीत होते हैं।

अन्य अपराध प्रधान और जासूसी कथाएँ

गहमरी जी द्वारा प्रवर्तित अपराध कथाओं की परम्परा का जिन लेखकों ने अनुसरण किया, उनमें प्रमुख, हरिकृष्ण जौहर, जयराम दास और ठाकुर जगबहादुर सिंह हैं। बिहारीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री तथा दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी अपने ढंग की अपराधप्रधान कथाएं लिखी थीं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक लेखकों ने अपराध कथाओं की रचना की थी।

उपर्युक्त अपराधप्रधान कथाओं का अध्ययन करने पर पहली बात, जिस पर हमारा ध्यान जाता है, यह है कि अँगरेजी में लिखित जासूसी कथाओं की कोटि की एक भी जासूसी कथा हिन्दी में नहीं लिखी गयी। गहमरी जी की कथापुस्तकों का विवेचन करते समय हम देख चुके हैं कि उनमें जासूसी का तत्त्व बहुत कम है। अधिकतर अपराध

१ वाह रे जासूस, पृ० ३०।३१।

प्रधान और सनसनीखेज घटनाओं तथा हल्के स्तर की जासूसी के योग से उनकी कथापुस्तकों का निर्माण हुआ है। परवर्ती कथाओं में गहमरी जी के स्तर की जासूसी भी नहीं मिलती। हरिकृष्ण जौहर, जयराम दास और ठाकुर जगबहादुर सिंह ने अपनी अपराधकथाओं में जासूस को रखा तो अवश्य है, पर इस जासूस के दर्शन सक्रिय रूप में बहुत कम होते हैं। उसकी जासूसी अत्यंत साधारण कोटि की कही जा सकती है। ये लेखक न तो रहस्य को बहुत पेचीदा बना सके हैं और न उसके उदघाटन में सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति और तर्कक्षमता का परिचय दे सके हैं।

गहमरी जी की तरह परवर्ती अपराध कथा लेखकों ने भी अल्पबुद्धि पाठकों की रुचि का पूरा पूरा ध्यान रखा है। हरिकृष्ण जौहर और जयराम दास ने सनसनीखेज तथा कौतूहलजनक घटनाओं के बीच बीच में कामोत्तेजक वर्णनों का समावेश कर अपरिष्कृत रुचि के युवक पाठकों को आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है। हरिकृष्ण जौहर का 'छाती का छुरा' एक कामातुर विलासिनी की अपराधप्रधान कहानी है। इस कथापुस्तक में कामव्यापारों का नग्न वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है। जयराम दास की अपराध कथाओं में कामतत्त्व के साथ साथ तिलस्मी चमत्कारों की भी योजना की गयी है। उनकी भूतों का डेरा नामक कथापुस्तक में एक भुतही कोठरी का वर्णन है। तात्पर्य यह कि अल्पशिक्षित और अल्प बुद्धि पाठकों की रुचि के अनुरूप रोमांचकारी, सनसनीखेज और कौतूहलवर्धक घटनाओं की योजना इन अपराधकथाओं का अन्तिम लक्ष्य है। इन कथाओं में घटनाओं को विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। अनेक वर्णन तो नितांत अनर्गल, बे सिर पैर के और अनैतिहासिक हैं। हरिकृष्ण जौहर की छाती का छुरा' नामक कथापुस्तक में औरंगजेब को शराब पीते और वेश्या के साथ भोगविलास करते दिखाया गया है, जबकि यह एक सुविदित तथ्य है कि औरंगजेब शराब छूता भी नहीं था। ठाकुर जगबहादुर सिंह की शेरसिंह—विलक्षण जासूस नामक कथापुस्तक में जासूस के पास 'कप्तान पुलिस के यहाँ से तुरत मिलने के लिए तार आता है। जासूस अपनी गाड़ी जुतवाकर 'किंचितकाल में' कप्तान पुलिस के यहाँ पहुंच जाता है। लेखक को इस बात का ध्यान न रहा कि एक ही शहर में रहने वाले किसी व्यक्ति को तार देकर नहीं बुलाया जाता। चूंकि अल्पबुद्धि पाठकों का ध्यान घटनाओं की ऐसी असंगतियों पर नहीं जाता, इस कारण लेखक भी ऐसी असंगतियों और अस्वाभाविकताओं की चिंता नहीं करता।

देवकीनन्दन खत्री ने वीरेंद्र वीर अथवा कटोरा भर खून (१८९५) 'नौलखाहार (१८९९) और काजर की कोठरी (१९०२) नामक अपराधप्रधान कथाओं की रचना की थी। इन कथापुस्तकों में अपराध प्रधान घटनाओं की योजना ही प्रमुख है। आधुनिक ढंग के जासूस के दर्शन इनमें नहीं होते यद्यपि अपने ढंग की जासूसी तो इनमें भी है ही। वीरेंद्र वीर हत्या षडयंत्र, धूर्तता निर्दयता आदि की घटनाओं से भरा हुआ है। 'काजर की कोठरी में भी हत्या और षडयंत्रपूर्ण घटनाओं का बाहुल्य है।

यद्यपि खत्री जी की इन अपराधकथाओं का प्रधान उद्देश्य अल्पशिक्षित अथवा निम्नस्तरीय पाठकों का मनोरंजन है पर लेखक उन्हें उपदेश देना भी नहीं भूलता।

वस्तुतः अल्पशिक्षित पाठकों को कथापुस्तकों से उपदेशों की अपेक्षा भी होती है। काजर की कोठरी में पाठकों को वेश्याओं के चंगुल में न पड़ने की शिक्षा दी गयी है। लेखक की मान्यता है कि वेश्याएँ काजल की ऐसी कोठरी है, जिसमें चाहे कितना भी चतुर व्यक्ति क्यों न प्रवेश करे उस पर कुछ न कुछ की रेखा लग ही जाएगी। अपनी इन कथापुस्तकों में खत्री जी ने कर्मफल के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है।

तात्पर्य यह कि अपनी कथापुस्तकों को अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि के अनुरूप ढालने का अधिक से अधिक प्रयास खत्री जी ने किया है। उन्होंने घटनाओं की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता की परवाह कम की है। खत्री जी का ज्यादा ध्यान इस बात पर रहता है कि घटनाएँ अधिकाधिक रोमांचकारी और कौतूहलवर्धक हों। वे घटनाओं को इतनी उलझनपूर्ण नहीं बनाते कि अल्पशिक्षित पाठक उन्हें समझ ही न सकें। यदि कहीं उलझन उत्पन्न भी होती है तो उपन्यासकार अपनी व्याख्या के साथ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। तत्कालीन हिंदी पाठकों के बीच इसी प्रकार की कथापुस्तकों की अधिक माँग थी, यही कारण है कि खत्री जी की अपराधकथाएँ भी अन्य लेखकों की तुलना में अधिक लोकप्रिय हुईं।

किशोरीलाल गोस्वामी ने 'जिन्दे की लाश', 'नौलखाहार' (१९११) और 'खूनी औरत का सात खून' (१९१८) नामक तीन अपराधकथाओं की रचना की थी। इन कथापुस्तकों को भी जासूसी कथा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इनमें जासूसी का तत्त्व नितान्त गौण और अनुल्लेखनीय है। इन कथापुस्तकों में चोरी और हत्या की घटनाओं तथा एतत्सम्बन्धी षड्यंत्रों का वर्णन है। गोस्वामी जी भी अपराधप्रधान घटनाओं को विश्वास्य बनाने की उतनी परवाह नहीं करते। घटनाओं की विचित्रता, रोमांचकता और कौतूहलात्मकता पर ही उनका ध्यान विशेष रूप से केंद्रित रहता है।

गोस्वामी जी की अपराधकथाओं की एक विशेषता यह लक्षित होती है कि उन्होंने साहित्यरसिकों की रुचि का भी यथासम्भव ध्यान रखा है। 'नौलखा हार' के प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में संस्कृत का कोई न कोई श्लोक उद्धृत है। ये श्लोक कथा सरित्सागर 'भर्तृहरिशतक', 'कुमार सम्भव', 'किरातार्जुनीय' आदि संस्कृत काव्यों से उद्धृत किए गए हैं। 'खूनी औरत का सात खून' में भी इस प्रकार के श्लोक प्रचुर मात्रा में उद्धृत हैं। तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी साहित्यरसिकों की रुचि का भी ध्यान रखते हैं। यही कारण है कि उनकी अपराधकथाओं में भी साहित्यिकता के दर्शन हो जाते हैं। गोस्वामी जी भी देवकीनन्दन खत्री की तरह अपने पाठकों को नीतिधर्म आदि की शिक्षा देने से नहीं चूकते। 'खूनी औरत का सात खून' की नायिका दुलारी धार्मिक विचारों वाली तथा हिन्दू धर्म के नियमों का अक्षरशः पालन करनेवाली स्त्री है। इस कथा का प्रमुख उद्देश्य एक निरपराध ब्राह्मण बालिका के सतीत्व और धर्म पर अटल रहने की दृढ़ता को प्रदर्शित करना है।

तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी ने अल्पशिक्षित पाठकों के साथ साथ साहित्यिक पाठकों की रुचि का भी ध्यान रखा है। कदाचित् यही कारण है कि उनकी अपराधकथाएँ सामान्य पाठकों में अधिक लोकप्रिय न हो सकीं।

अन्य अपराधकथाओ के लेखको ने भी तत्कालीन हिन्दी पाठको की रुचि का ध्यान रखकर अपनी कथापुस्तके लिखी थी। इन कथापुस्तको मे घटनाओ की विलक्षणता कौतूहलोत्पादकता और रोमाचकता पर जितना ध्यान दिया गया है उतना उनकी विश्वसनीयता और कारण काय सबध पर नही। इसका एकमात्र कारण है तत्कालीन हिन्दी पाठको का अल्पशिक्षित होना।

निष्कर्ष

हिन्दी कथासाहित्य के क्षेत्र मे देवकीनन्दन खत्री की व्यावसायिक सफलता से प्रभावित होकर अनेक लेखक कथालेखन के क्षेत्र म अवतीर्ण हुए। अनेक लेखको ने उनका असफल अनुकरण किया। गोपाल राम गहमरी ने खत्री जी का अधानुकरण न करके एक भिन्न माग, जिसका उद्देश्य खत्री जी की कथाओ से भिन्न न था, उदघाटित करने का प्रयत्न किया। उस समय अगरेजी पाठको म कानन डायल की जासूसी कथाओ की लोकप्रियता चरमोत्कष पर थी और भारत मे अगरेजी शिक्षा के अधिकाधिक प्रसार के साथ भारतीय पाठको का परिचय भी कानन डायल की जासूसी कथाओ से होता जा रहा था। सवप्रथम बँगला लेखको का ध्यान कानन डायल के ढग की जासूसी कथाएँ बगला म भी, लिखने की ओर गया। यो तो अनेक बगला लेखको ने जासूसी कथाएँ लिखी, पर पाचकौडी दे ने इस क्षेत्र को विशेष रूप से चुना। उन्होने कानन डायल के उपन्यासो की घटनाओ को लेकर तथा अँगरेज पात्रो और विलायती स्थानो को बगाली नाम देकर बगला म जासूसी कथाओ का अबार लगा दिया। ये रूपातरित जासूसी कथाएँ बगला पाठको के बीच बहुत लोकप्रिय हुई। गोपाल राम गहमरी को बँगला भाषा का ज्ञान था। हिन्दी म एयारी तिलिस्म प्रधान रोमासो तथा बँगला म दे साहब की जासूसी कथाओ की लोकप्रियता देखकर गहमरी जी ने भी हिन्दी पाठको के मनोरजन के लिए जासूसी कथाए लिखने का निश्चय किया। गहमरी जी न पाचकौडी दे की सभी रूपातरित जासूसी कथाओ के हिन्दी अनुवाद तो प्रस्तुत किये ही स्वय भी अपराधप्रधान कथाओ की रचना की। यो गहमरीजी की तथाकथित मौलिक कथापुस्तकें कहाँ तक मौलिक है, यह कहना बडा कठिन है क्योकि उन्होने अनेक अनूदित कथाओ को भी अनुवाद घोषित नही किया है फिर भी, प्रस्तुत प्रबध के लेखक का अनुमान है कि गहमरी जी की आकार की दृष्टि से छोटी कथाएँ जिनके अनुवाद होने का सकेत नही दिया गया है, मौलिक ह।

गहमरी जी द्वारा रचित मौलिक अपराधकथाओ म जासूसी का तत्त्व बहुत कम है। इन कथाओ के जासूस विलक्षण बुद्धि, सूक्ष्म अवलोकन शक्ति, और घटनाओ की सगति बिठान की क्षमता स प्राय रहित है। वे अक्सर वेश बदलकर काय करते है। तिलस्मी ऐयारो की विशेषताओ से गहमरी जी के जासूस भी सम्पन्न ह। इन कथाओ की रहस्ययोजना और उसके उदघाटन म विलक्षण बुद्धिव्यापार के दशन नही होते। कानन डायल की जासूसी कथाओ म जो जटिल बुद्धिव्यापार, विकसित जासूसी कला और द्विधा का वातावरण दिखाई पडता है उसके दशन गहमरी जी की जासूसी कथाओ म नही होते। इसका प्रधान कारण यह है कि उस समय तक भारत म अपराधविज्ञान, अपराध मनोविज्ञान

और पुलिस विभाग की उन्नति नहीं हुई थी। हिन्दी पाठक भी कॉनन डायल की जटिल जासूसी कथाओं से प्रायः अपरिचित थे। हिन्दी पाठकों में इस समय कौतूहलोत्पादक, घटनाप्रधान तथा तिलिस्मी रोमांसों का व्यापक प्रचार था। हिन्दी के बहुसंख्यक पाठक अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र थे जिनकी रुचि कौतूहलजनक घटनाओं में विशेष थी। ऐसे ही पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर गहमरी जी ने अपराधकथाओं की रचना की। इन कथाओं में रोमांचकारी, कौतूहलप्रधान और आश्चर्यजनक घटनाओं की बहुलता है। घटनाओं को विश्वसनीय बनाने की चिन्ता गहमरी जी अधिक नहीं करते। अपने हिन्दू पाठकों के धार्मिक विचारों, रूढ़िबद्ध भावनाओं तथा सामाजिक मान्यताओं का समर्थन गहमरी जी अत्यन्त सावधानी से करते हैं। तात्पर्य यह कि घटनायोजना और विचार प्रतिपादन में गहमरी जी सर्वत्र अपने अल्पशिक्षित हिन्दू पाठकों की रुचि और भावनाओं का ध्यान रखते हैं। केवल भाषा प्रयोग में वे साहित्यिक पाठकों या काव्यरसिकों की रुचि का भी ध्यान रखने प्रयत्न होते हैं। जहाँ भी प्रकृतिवर्णन या सौन्दर्यवर्णन का अवसर मिलता है, गहमरी जी काव्यात्मक और आलंकारिक भाषा का प्रयोग करने से नहीं चूकते।

गहमरी जी के समकालीन अन्य अपराध कथालेखकों ने भी तत्कालीन हिन्दी पाठकों की रुचि तथा पठनक्षमता का ध्यान रखकर कथापुस्तकों की रचना की। इन कथापुस्तकों में भी कौतूहलोत्पादक घटनाश्रृंखला तथा उपदेश की योजना पर लेखकों का ध्यान विशेष रूप से है। कुछ लेखकों ने कामव्यापारों के वर्णनों के द्वारा भी अपनी कथाओं को युवक पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। किन्तु किसी भी लेखक का ध्यान घटनाओं को सर्वथा विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने पर नहीं है। हिन्दी पाठकों को इस बात की अपेक्षा भी नहीं थी।

समासतः यह कहा जा सकता है कि विवेच्यकाल की अपराधकथाएँ तत्कालीन हिन्दी पाठकों की रुचि के सर्वथा अनुकूल हैं। यों गोपालराम गहमरी तथा किशोरीलाल गोस्वामी का ध्यान साहित्यिक पाठकों की रुचि पर भी था, पर विवेच्य काल की कथाओं की रचना मुख्यतः अल्पशिक्षित पाठकों की कौतूहल और जिज्ञासा भावना को तृप्त कर अर्थोपार्जन करने की दृष्टि से हुई थी, यह एक निर्विवाद तथ्य है।

हिन्दी की इतिहासाश्रित पुस्तकें और उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

विवेच्य काल की इतिहासाश्रित कथापुस्तकों का, सामान्य रूप से, तीन कोटियों में रखकर उनपर पाठकों की रुचि के प्रभाव का विवेचन किया जा सकता है। ये हैं, (१) ऐतिहासिक रोमांस (२) ऐतिहासिक उपन्यास, और (३) विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ। इस प्रसंग में प्रयुक्त उपर्युक्त पदों का स्पष्टीकरण एवं सीमाबन्धन आवश्यक है

ऐतिहासिक रोमांस पद का प्रयोग उन इतिहासाश्रित कथापुस्तकों के लिए किया गया है जिनके मुख्य पात्र और कुछ घटनाएँ ऐतिहासिक होती हैं किन्तु जिनका मेरुदंड युद्ध प्रेम साहसाभियान और अपराधप्रधान घटनाओं के समन्वय और समीकरण से निर्मित होता है। ऐतिहासिक रोमांसों में इतिहास प्रायः विकृत रूप में सामने आता है। ऐयारी तिलस्म रोमांचक अपराध तथा अन्यान्य कौतूहलप्रधान घटनाओं के बीच इतिहास दब कर विरूप हो जाता है। ऐतिहासिक रोमांसों में लेखक का ध्यान प्रायः प्रेम और कामव्यापारों के अतिरंजित चित्रण पर होता है। इनकी भाषा सामान्यतः अलंकृत और कृत्रिम होती है। कुल मिलाकर ऐतिहासिक रोमांसों में जो संसार हमारे सामने आता है उसमें ऐतिहासिक यथार्थता बहुत कम या प्रायः नहीं होती है। ये रोमांस नाममात्र को ऐतिहासिक होते हैं, या कहा जा सकता है वे इतिहास को छूते हुए निकल जाते हैं।

ऐतिहासिक उपन्यास पद विवेच्य प्रसंग में केवल उन इतिहासाश्रित कथा पुस्तकों के लिए प्रयुक्त हुआ है जिनमें कथा का मेरुदंड इतिहास होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास किंचितमात्र भी विकृत नहीं होता फिर भी, इनमें इतिहास गौण और उपन्यासकार की कल्पना प्रमुख होती है। ऐतिहासिक उपन्यासों में उपन्यासकार की कल्पना दो क्षेत्रों में विशेष क्रियाशील होती है और सामान्यतः इन्हीं क्षेत्रों को उपन्यासकार अपने उपन्यास की कथावस्तु के रूप में चुनता है। वे क्षेत्र हैं (१) जिन ऐतिहासिक घटनाओं की प्रामाणिकता पूर्णतः स्थापित नहीं हुई रहती है और इतिहासकार भी जिनके संबंध में अनुमान से अधिक काम लेते हैं (२) ऐतिहासिक पात्रों का चरित्रचित्रण अर्थात उनके आंतरिक भावों और विचारों का उद्घाटन। इसके साथ साथ तत्कालीन समाज का चित्र उपस्थित करने वाली घटनाओं की कल्पना करने के लिए भी ऐतिहासिक उपन्यासकार स्वतंत्र होता है। उसे ध्यान केवल इतना भर रखना पड़ता है कि उसके द्वारा प्रस्तुत सामाजिक चित्र इतिहासविरोधी न हो।

तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास का पूर्णतः सम्मान करता हुआ अतीत के एक काल्पनिक किन्तु यथार्थ संसार का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करता है।

विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाप्रधान पुस्तकें वे हैं जिनमें इतिहास की किसी प्रसिद्ध घटना या घटनाओं को इतिहास की पुस्तक से अलग करके ज्यों का त्यों कथा रूप में

पुस्तकनिबद्ध कर दिया जाता है। ऐसी कथापुस्तकों को इतिहास पुस्तक भी कहा जा सकता है।

किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक रोमांस और उनपर पाठकों की रुचि का प्रभाव

हिन्दी में ऐतिहासिक रोमांसों की परम्परा के जन्मदाता किशोरीलाल गोस्वामी हैं। इन्होंने विवच्य अवधि में निम्नांकित १२ ऐतिहासिक रोमांसों की रचना की थी—

(१) हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी (१८९०), लवंगलता वा आदर्शबाला (१८९०) (३) गुलबहार वा आदर्श भ्रातृ प्रेम (१९०२) (४) तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी (१९०२) (५) कनक कुसुम वा मस्तानी (१९०४) (६) हीरा बाई वा बेहयायी का बोरका (१९०४) (७) सुलताना रजिया बेगम वा रंग महल में हलाहल (१९०४) (८) मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी (१९०५) (९) लखनऊ की कब्र शाही महलसरा (१९०६ १९१६) (१०) माना और मुगल वा पन्नाबाई (१९०९), (११) लाल कुँवर वा शाही रंगमहल (१९०९) तथा (१२) गुप्त गोदना (१९२२ २३)।

हिन्दी आलोचकों ने गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों को 'उपन्यास' की संज्ञा दी है जो उपन्यास की गत परिच्छेद में प्रस्तुत कसौटी पर खरी नहीं उतरती। उपन्यास में एक काल्पनिक पर यथार्थ संसार का चित्रण होता है। ऐतिहासिक उपन्यासों में मूल पात्र और प्रधान घटनाएँ ऐतिहासिक होती हैं पर पात्रों के आन्तरिक जीवन, उनकी भावना और विचारों के संसार का जो चित्र प्रस्तुत किया जाता है वह कल्पनाप्रसूत होते हुए भी यथार्थ होता है। इसके विपरीत 'रोमांसों' में चित्रित संसार, अयथार्थ, अतिलौकिक और अविश्वसनीय होता है। इनमें जीवन का यथार्थ चित्र सामने नहीं आता। गोस्वामी जी की ऐतिहासिक कथाओं में भी तत्कालीन जीवन तथा पात्रों के भावजगत का चित्र स्पष्ट नहीं होता। इसके विपरीत उनमें अन्तःपुरीय षडयन्त्रों, कामव्यापारों, साहसिक कार्यों तथा तिलिस्मी ढंग की गुफाओं, सुरंगों और कोठरियों आदि का वर्णन मिलता है। इन कथाओं में जो जीवन चित्रित हुआ है, वह, अविश्वसनीय है। इन उपन्यासों को पढ़ते समय हम एक यथार्थ संसार में विचरण करने का भ्रम नहीं होता। गोस्वामी जी के सभी उपन्यास मुख्यतः प्रेमकथाएँ हैं। पात्रों के नाम ऐतिहासिक हैं पर मूल कथाओं का इतिहास से सम्बन्ध नहीं के बराबर है। साहसिक कार्यों तथा प्रेमव्यापारों का अमर्यादित असन्तुलित और अविश्वसनीय वर्णन प्रचुर होने के कारण गोस्वामी जी की ऐतिहासिक कथाओं को ऐतिहासिक रोमांस की संज्ञा देना ही युक्तिसंगत है।

किशोरी लाल गोस्वामी के ऐतिहासिक रोमांसों पर विचार करते समय हमारी दृष्टि सर्वप्रथम इस प्रश्न पर जाती है कि उनके उद्दिष्ट पाठक कौन थे? यह तो नितान्त स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के उद्दिष्ट पाठक देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के पाठकों से ईषत भिन्न थे। साहित्यरचना पर पाठकों की रुचि के प्रभाव का विवेचन करते समय इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि किसी भी युग में एक ही प्रकार की रुचि या भावना का अस्तित्व नहीं होता। प्रत्येक युग में विभिन्न प्रकार की रुचियों और भावनाओं

की अनेक धाराएँ और श्रेणियाँ होती है, जिनमे कुछ प्रमुख होती है, कुछ गौण। विवेच्य काल (१८९०-१९१७) के आरम्भ मे हिन्दी मे अल्प शिक्षित या साक्षरमात्र पाठको का बाहुल्य था। देवकीनन्दन खत्री ने अपने ऐयारी तिलिस्म प्रधान रोमासो के द्वारा इसी कोटि के पाठको की सख्या मे वृद्धि की थी और परवर्ती तिलिस्म तथा जासूसी कथालेखकोने इसी पाठकवर्ग की रुचि और भावना का ध्यान रखकर कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधान कथापुस्तको की रचना की थी। पर इसी समय हिन्दी मे एक ऐसा पाठक-समुदाय भी विद्यमान था, जो साहित्यिक रुचि सपन्न था। यह पाठक समुदाय काव्यरसिक था सस्कृत का या तथा रीतिकालीन कविताओ मे इसकी वृत्ति अधिक रमती थी तथा प्रकृति और नारी सौदर्य के अलकृत एव काव्यात्मक वर्णन इसकी रुचि के अधिक अनुकूल थे। यह पाठकसमुदाय केवल कौतूहल और औत्सुक्य की भावना से परिचालित होकर पठनकार्य मे प्रवृत्त नही होता था। इसकी पठनेच्छा का मुख्य आधार साहित्य मे जीवन के उच्चतर मूल्यो की अभिव्यक्ति का अन्वेषण था। वह काव्य मे भावो की अभिव्यक्ति तथा उन्नत विचारो के प्रतिपादन की माँग करता था। यह तथ्य है कि इस प्रकार के पाठको की सख्या उस समय हिन्दी मे अत्यल्प थी, पर इसका सर्वथा अभाव हो यह नही कहा जा सकता। कम से कम भारतेन्दु युग के सभी हिन्दी लेखक और कवि इस प्रकार की परिष्कृत पठनरुचि से सम्पन्न थे।

किशोरीलाल गोस्वामी ने देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी के प्रतिकूल अपने ऐतिहासिक रोमासो मे अल्पसख्यक काव्यरसिको की रुचि का भी ध्यान रखा। गोस्वामी जी स्वय उत्तरवर्ती भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग के एक लब्धप्रतिष्ठ साहित्यिक थे। वे एक काव्यरसिक थे तथा साहित्यरचना को व्यावसायिक लक्ष्यमात्र नही मानते थे। यही कारण है कि इन्होने अपने ऐतिहासिक रोमासो मे साहित्यिक रुचि के पाठको का ध्यान रखा है, या उन्होने अपरिष्कृत रुचि के पाठको की बिलकुल उपेक्षा नही की, यह उनकी कथापुस्तको के विश्लेषण से स्पष्ट है।

गोस्वामीजी को भारतेन्दुयुगीन उपन्यास लेखको की तरह काव्यरसिको की रुचि के अनुरूप कथालेखन के लिए महगा मूल्य चुकाना पडा। इन्होने अपने प्रथम ऐतिहासिक रोमास 'हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी' की रचना १८९० ई० मे की थी और प० प्रताप नारायण मिश्र ने इसे इसी वर्ष 'हिन्दोस्तान' नामक पत्र मे क्रमश प्रकाशित किया था पर पुस्तक रूप मे प्रकाशित होने का सौभाग्य इसे १९०४ ई० के पूर्व नही मिल सका। इसी प्रकार गोस्वामी जी का दूसरा उपन्यास 'लवगलता वा आदर्श बाला' भी १८९० ई० मे ही लिखा गया था, पर १९०४ ई० के पूर्व इसके प्रकाशित होने की नौबत नही आई। ये तथ्य इस बात के प्रमाण है कि गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमास उन्नीसवी शताब्दी के अतिम दशक मे हिन्दी पाठको मे लोकप्रिय न हो सके, जबकि इसी दशक मे खत्रीजी के ऐयारी तिलिस्म प्रधान रोमासो ने हिन्दी पाठको के बीच आश्चर्यजनक लोकप्रियता प्राप्त की थी। इससे प्रमाणित होता है कि गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमास तत्कालीन बहुसख्यक हिन्दी पाठको की रुचि के अनुरूप नही थे।

जनवरी १९०१ ई० में गोस्वामी जी ने 'उपन्यास मासिक पुस्तक' निकालना आरम्भ किया। अब तक हिन्दी में उपन्यास पाठकों का एक अच्छा खासा समुदाय उत्पन्न हो गया था। गोस्वामी जी ने उक्त मासिक पुस्तक में अपने पूर्व रचित उपन्यासों के साथ साथ और भी अनेक ऐतिहासिक रोमांस तथा सामाजिक उपन्यास प्रकाशित किये। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांस बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी पाठकों के बीच लोकप्रिय हुए थे। 'हृदयहारिणी' के द्वितीय संस्करण (१९१८ ई०) के 'निवेदन' में गोस्वामी जी ने लिखा था 'बहुत दिनों बाद आज यह अवसर आकर प्राप्त हुआ कि लवंगलता और हृदयहारिणी का द्वितीय संस्करण हिन्दी के रसिक उपन्यास प्रेमियों के आगे हम पुनः उपस्थित कर सके। यद्यपि ये दोनों उपन्यास कई वर्ष पूर्व ही निःशेष हो चुके थे पर बिना निज के प्रेस के इनका तथा हमारी अन्यान्य पुस्तकों का पुनः छपना दुर्घट था।' गोस्वामी जी के अधिकांश ऐतिहासिक रोमांसों के १०-१५ वर्षों के भीतर दो दो संस्करण हुए थे। इस काल में हिन्दी पाठकों का, विशेष कर खरीद कर पढ़ने वालों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी, यह हम हिन्दी पाठकों की स्थिति पर विचार करते समय देख चुके हैं। विवेच्य काल में ऐसी पुस्तकों की संख्या कम थी जिनके दो संस्करण १०-१५ वर्षों के भीतर होते थे। इससे यह सिद्ध है कि तत्कालीन पाठकों के एक वर्ग ने गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों को पसन्द किया था।

गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों पर तत्कालीन हिन्दी पाठकों की रुचि का प्रभाव किस रूप में और किस सीमा तक पड़ा है यह एक विचारणीय प्रश्न है।

जैसा आरम्भ में ही कहा गया है, गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों पर तत्कालीन काव्यरसिकों की रुचि की स्पष्ट छाप है। भारतेन्दुकालीन काव्यरसिकों की रुचि नखशिख वर्णन, विरह वर्णन, और प्रकृति वर्णन में विशेष रूप से थी। इस काल की कविता भी अधिकांशतः इन्हीं विषयों के अलंकृत और काव्यात्मक वर्णनों से भरी हुई है। गोस्वामी जी ने अपने ऐतिहासिक रोमांसों में नखशिख, विरह और प्रकृति के विस्तृत और काव्यात्मक वर्णन किये हैं। 'हृदयहारिणी' के दसवें परिच्छेद में पूरे छः पृष्ठों में उपन्यास की नायिका कुसुम के नखशिखसौंदर्य का वर्णन किया गया है। यह नखशिखवर्णन जिसमें गद्य और पद्य दोनों माध्यम प्रयुक्त हुए हैं रीतिकालीन नखशिखवर्णनों की हूबहू नकल है।[1] इसकी योजना रीतिकालीन रुचि के काव्यरसिकों को ध्यान में रखकर की गई है या स्वयं गोस्वामी जी की रुचि भी ऐसे वर्णनों में थी। 'हृदयहारिणी' के उक्त परिच्छेद में इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि तत्कालीन काव्यरसिक उपन्यास में भी नायिका के नखशिख सौन्दर्य वर्णन की माँग करते थे। गोस्वामी जी ने लिखा है—

"प्रयोजन यह है कि उपन्यासों में नायक नायिका के रूप का वर्णन करना भी एक आवश्यक बात मानी गया है इसी के जंजाल में पड़कर आज हम अपनी सारी चौकड़ी ही भूल गये हैं और ऐसा है कि इस आपत्ति (नखशिख वर्णन) से बचाकर अपने तईं उबारें।"[2]

---

१ हृदयहारिणी वा आदर्श रमणी, वृन्दावन १९१०, दसवाँ परिच्छेद।
२ उपरिवत्, पृष्ठ ७२।

दस परिच्छेद का शीर्षक सूफी प्रेमका या के ढग पर नखशिख रखा गया है। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन रसिक नखशिखवर्णन कितना पसन्द करते थे। प० बालकृष्ण भट्ट ने इस नखशिखवर्णन की प्रशंसा करते हुए 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था—"दसवें परिच्छेद में गोस्वामी श्री किशोरी लाल ने नायक नायिका के नखशिख का वर्णन जिस क्रम से उठाया है वह गोस्वामी जी की प्रौढ़ लेखनी का बड़ा उत्तम नमूना है।"[1]

लवंगलता में भी नायिका के नखशिख सौंदर्य का सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है। लेखक के निम्नांकित वक्तव्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन रसिक उपन्यासपाठकों में नखशिखसौंदर्य वर्णन की माँग अत्यधिक थी—'हमारे उपन्यास के सुरसिक पाठकों में से अनेक सज्जनों ने हमसे इस बात का अनुरोध किया है कि—सुन्दरी लवंगलता के नखशिख का भी उसी भांति वर्णन किया जाय जिस प्रकार कुसुम कुमारी के रूप का बयान किया है।'[2] पाठकों की इस माँग के फलस्वरूप लवंगलता का जो नखशिख वर्णन प्रस्तुत किया गया है वह संस्कृत और प्राचीन हिन्दी काव्यों के नखशिखवर्णनों का अंधानुकरण मात्र है।[3] गोस्वामी जी का कोई भी ऐतिहासिक रोमांस ऐसा नहीं है जिसमें नखशिखसौंदर्य वर्णन नहीं पाया जाता हो। इन वर्णनों की भाषा और अलंकृत शैली को देखकर यह अनुमान करना सहज है कि इन्हें पसन्द करनेवाले पाठक अल्पशिक्षित नहीं हो सकते। खत्रीजी के तिलिस्मी रोमांसों में ऐसे काव्यात्मक सौंदर्यवर्णन खोजने से भी नहीं मिल सकते क्योंकि खत्रीजी के उद्दिष्ट पाठक अल्प शिक्षित या साक्षरमात्र थे जिनकी समझ में इस प्रकार की अलंकृत भाषा आ ही नहीं सकती थी। गोस्वामीजी ने साहित्यिक रुचि सम्पन्न पाठकों को ध्यान में रखकर ऐतिहासिक रोमांसों की रचना की थी इसलिए इन्होंने बिना किसी हिचक के काव्यात्मक सौंदर्यवर्णनों की योजना की है। तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठकों ने इन नखशिख वर्णनों को पसन्द किया था। १९०५ ई० में ही आरा निवासी प० जगन्नाथ प्रसाद त्रिपाठी ने 'लवंगलता' पढ़ने के पश्चात् गोस्वामी के पास एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने इसके नखशिखवर्णन की भूरि भूरि प्रशंसा की थी।[4]

गोस्वामीजी के ऐतिहासिक रोमांसों में संस्कृत और प्राचीन हिन्दी काव्यों की विरह वर्णन परम्परा अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है। प्राचीन काव्यों का नायकनायिकाओं की तरह गोस्वामीजी की नायकनायिकाएं भी प्रिय के वियोग में नाना प्रकार से विलाप करती हैं प्रिय की सुधि में रोती कलपती हैं संयोग काल की सुखद स्मृतियों का एक एक कर उल्लेख करती हैं बार बार प्रिय का पत्र कलेजे से लगाती हैं हाय हाय करती हैं तथा काम द्वारा सताये जाने, चाँदनी रात द्वारा जलाये जाने पपीहे और कोयल की बोली सुनकर कष्ट पाने आदि का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत करती हैं। लवंगलता के नायक मदन मोहन का वियोग वर्णन संस्कृत काव्यनायकों के वियोग वर्णन का अनुकरणमात्र है। इस प्रसंग में एक स्थान पर गोस्वामीजी ने किसी संस्कृत काव्य की विरहोक्ति का गद्यानुवाद करके मदनमोहन से

---

१ हिन्दी प्रदीप जिल्द २६ सन् १९०५ (आदर्श रमणी की समीक्षा)।
२ लवंगलता वा आदर्श बाला दूसरी बार १९१५ पृ० ८०।
३ उपरिवत्।
४ राजकुमारी के अन्तिम पृष्ठ पर प्रकाशित जगन्नाथ प्रसाद त्रिपाठी का पत्र।

पहुँचा दिया है। मदनमोहन लवंगलता के वियोग में विक्षिप्त होकर घूम रहा है। इसी बीच उसे उपवन में पड़ा हुआ अपनी प्रेमिका का हार मिल जाता है जो उसकी विरह व्यथा को द्विगुणित कर देता है। उस हार को देखकर मदनमोहन विलाप करता है—

"हे मोती के हार! तू धन्य है कि एक बेर सूई से अपना हिया छिदाकर प्यारी के स्तनों पर लोटा करता था, किन्तु एक मैं अभागा हूँ कि मदन बाणों से हृदय में सैकड़ों छेद कराने पर भी मुझे सपने में भी प्यारी के दर्शन नहीं होते।

कुछ देर तक हार को हृदय से लगाये रहने के बाद मदन मोहन फिर कहता है—

"यह हार उस मृगनैनी के स्तनों पर लोटा करता है। हाय! जब मुक्ता की यह दशा है तो मुझ जैसे काम के गुलाम की तो बात ही न्यारी है।'

मदनमोहन की उपर्युक्त दोनों उक्तियाँ उसकी विरहव्यथा की अनुभूति से उद्भूत नहीं वरन किसी संस्कृत काव्य की उक्तियों के अनुवादमात्र हैं। यह उल्लेखनीय है कि गोस्वामीजी इस तथ्य को छिपाना भी नहीं चाहते। उन्होंने पादटिप्पणी में संस्कृत के मूल श्लोकों को उद्धृत कर दिया है, जो निम्नलिखित हैं—

(१) सूचीमुखेन सकृदेव कृत प्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि॥

(२) हारोऽयं मृगशावाक्ष्या लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः॥

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामीजी पुराने ढंग के काव्यरसिकों की रुचि का अत्यधिक ध्यान रखते हैं। गोस्वामीजी स्वयं भी एक ऐसे साहित्यकार थे अतः उनके लिए यह स्वाभाविक भी था।

गोस्वामी जी हिन्दी के प्रथम कथाकार हैं, जिन्होंने अपनी कथापुस्तकों में काव्यात्मक वातावरण के निर्माण का प्रयत्न किया है। उनके ऐतिहासिक रोमांसों के आवरणपृष्ठों पर, तथा परिच्छेदों के आरंभ में, संस्कृत साहित्य के चुने हुए कवित्वपूर्ण तथा नीतिविषयक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। बहुधा परिच्छेद के आरंभ में उद्धृत श्लोक का भाव उस परिच्छेद में वर्णित कथा से मिलता जुलता है।

इन ऐतिहासिक रोमांसों में घटनाओं के बीच बीच में उर्दू गजलों, शेरों और दूसरी कविताओं की प्रचुरता दिखायी पड़ती है। 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी' 'रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' आदि रोमांसों के प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में शृंगाररस पूर्ण शेर उद्धृत किये गये हैं। इन रोमांसों की घटनाओं के बीच बीच में इश्क विषयक गजलों की बहार दिखायी पड़ती है। इस कथा की नायिका तारा अपने प्रेमी राजसिंह के पास पद्य में एक पत्र लिखती है, जो सात पृष्ठों में पूरा हुआ है।[2] 'रजिया बेगम' की घटनाओं के

१. लवंगलता वा आदर्शबाला, दूसरी बार १९१५ ई०, दस परिच्छेद।
२. तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी तीसरा भाग, तीसरा परिच्छेद।

बीच बीच म भी गजलो और शेरा का बाहुल्य है। इस रोमास के सभी प्रेमी हर दो वाक्य के बाद शेर उद्धत करन के शौकीन जान पडते है। 'सोना और सुगध म पृ० १२७ पर, लगातार कई गजल एक साथ उद्धत ह। इसक चौतीसवें परिच्छेद म गोस्वामी जी ने पडितराज जगन्नाथ के नाम पर एक स्वयनिर्मित गजल उद्धत कर दी है। ऐतिहासिक तथ्या की एमी छीछालेदर वरके भी गोस्वामी जी काव्यप्रमियो की रुचि को परितुष्ट करने का प्रयास करत है।

उपर्युक्त उदाहरणो म स्पष्ट है कि गोस्वामी जी न सस्कृत हिन्दी और उर्दू सब तरह के काव्यरसिको की रुचि को सतुष्ट करन का प्रयत्न किया ह। साक्षरमात्र या अल्पशिक्षित पाठका की रुचि कविताओ म बहुत कम हाती है इसलिए तत्कालीन अधिकाश हिन्दी पाठका के लिए इन कविताओ का महत्त्व नहो के बराबर होगा यह अनुमान युक्ति रहित नही।

किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक रामासो की भाषा म का यात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास सवत्र दिखायी पडता है। गोस्वामी जी की भाषा दवकीनदन खत्री की भाषा की तरह सवत्र सरल वणनात्मक अनलकृत, और निष्प्राण नही है। जहाँ विशुद्ध कथा का वणन करना हाता है वहाँ गोस्वामी जी खत्री जी की तरह सरल और अनलकृत भाषा का प्रयोग करत हे पर जहाँ भी सौदयवणन विरहवणन या प्रकृतिवणन का अवसर आता है, व का यात्मकता के प्रवाह म बह जाते ह। स्पष्ट है कि यह भाषा अल्पशिक्षित कथापाठको की बोधक्षमता के अनुकूल नहो। इस प्रकार की भाषा के प्रयोग के मूल म तत्कालीन काव्यरसिको की रुचि का ही प्रभुत्व है।

गोस्वामी जी के परवर्ती ऐतिहासिक रोमासा म भाषासम्बन्धी एक नवीन विकास दृष्टिगोचर होता है। आरभिक रामासो म हृदय हारिणी और लवगलता म सस्कृत निष्ठ भाषा का प्रयोग किया गया है पर परवर्ती रोमासो जस तारा, रजिया बेगम लखनऊ की कब्र, लाल कुवर आदि की भाषा उर्दू के अत्यधिक निकट है। इसका एक कारण यह है कि इन रामासो के अधिकतर पात्र मुसलमान ह और उनम स अधिकाश प्रमी प्रमिका हैं। य प्रमीप्रेमिका उर्दू फारसी का या क प्रेमीगणों की परपरागत शली म वार्त्तालाप करत ह अत उनकी भाषा म उर्दू और फारसीपन स्वाभाविक रूप म चला आया है। जिन रोमासो के पात्र हिंदू हैं, उनम सस्कृतका यो के ढग का वार्त्तालाप है इस कारण उनम सस्कृतनिष्ठता अधिक है। यह भी सम्भव है कि गोस्वामी जा ने उर्दू काव्य के शौकीन हिंदुओ की रुचि को सतुष्ट करने के लिए मुसलमान पात्रा की भाषा मे उर्दूफारसी का रग भरा हो।

उपर्युक्त विवेचन मे यह निष्कष निकलता है कि गोस्वामी जी ने तत्कालीन हिन्दी रसिको की रुचि का ध्यान रखकर ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना की थी। पर इसका यह अथ नही कि गोस्वामी जी न तत्कालीन बहुसख्यक पाठको की रुचि की उपेक्षा की है। उस युग के उपन्यासकार के लिए यह सम्भव भी नही था। किसी भी युग के साहित्यकार के लिए कतिपय अपवादो को छोडकर अपन समकालीन पाठको की रुचि का सवथा उपेक्षा करना सम्भव नही होता क्योकि उसकी जीविका या पुस्तका के मुद्रण यय का स्रोत पाठको का

बढुआ ही होता है। गोस्वामी जी ने भी अपने ऐतिहासिक रोमासो की कथा और शिल्प योजना म समकालीन बहुसख्यक पाठको की रुचि और पठनक्षमता का ध्यान रखा है।

विवेच्य काल के बहुसख्यक हिन्दी पाठक अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत रुचि के थे यह हम देख चुके हैं। गोस्वामी जी ने इन अल्पशिक्षित पाठको की रुचि के अनुरूप अपने ऐतिहासिक रोमासो को घटनाप्रधान बनाने का प्रयत्न किया है। इन कथापुस्तको के जो भी विज्ञापन देखने को मिलते हैं उनमे इनकी कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधानता पर बल देकर पाठको का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'तारा' के एक विज्ञापन म जोर देकर कहा गया है कि 'एक बार पुस्तक हाथ म उठा लेने पर फिर समाप्त किये बिना चित्त ही नही मानता।'[१] 'मल्लिका देवी वा बगसरोजिनी' के एक विज्ञापन म बताया गया है कि ऐसी ही अद्भुत और आश्चर्यजनक घटनाओ से यह उपन्यास भरा हुआ है। इसमे बडी बडी भयानक लडाइयो का वर्णन है'।[२] 'लखनऊ की कब्र' के एक विज्ञापन मे कहा गया है कि 'पाठक इस उपन्यास को पढकर एक अपूर्व कथा का स्वाद पावेंगे।'

इन विज्ञापनो मे उपन्यासपाठको का ध्यान विज्ञापित 'उपन्यासो' के घटनावैचित्र्य की तरफ आकृष्ट किया गया है। गोस्वामी जी के किसी भी ऐतिहासिक रोमास को पढने पर उसमे कौतूहलोत्पादक घटनाओ का ही बाहुल्य दिखाई पडता है। इन घटनाओ की योजना म कार्यकारण सम्बन्ध की चिन्ता प्राय नहीं की गयी है। कौतूहलजनक घटनाए एक के बाद एक घटती जाती हैं पर लेखक उन्हे विश्वसनीय बनाने की तनिक भी कोशिश नही करता। उदाहरणार्थ 'तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी' म भुवनेश्वर मिश्र नामक पात्र तारा के विवाह की बात पक्की करने के लिए राजसिंह के पास जा रहे हैं। एक डाकू रास्ते म उन्हे मार डालना चाहता है। इसी समय डाकू पर एक शेर टूट पडता है। अचानक उसी समय, राजसिंह अपने साथियो के साथ वहाँ पहुंच जाते हैं और शेर को मारकर भुवनेश्वर मिश्र की रक्षा करते हैं। इन घटनाओ की योजना म कार्यकारण सम्बन्ध का सर्वथा अभाव है और इन पर कोई अल्पबुद्धि पाठक ही विश्वास कर सकता है। इसी प्रकार 'रजिया बेगम' के एक पात्र स्वामी ब्रह्मानंद योगशक्ति के बल पर रात म रजिया बेगम के पास पहुंचते हैं और उन हिन्दू मुसलमानो के साथ नमान व्यवहार करने का उपदेश देते हैं। इस प्रकार के अतिलौकिक और अविश्वसनीय वर्णन ऐतिहासिक उपन्यास के समस्त वातावरण को ही नष्ट कर देते हैं पर गोस्वामी जी को इसकी परवाह नही है। अपने ऐतिहासिक रोमासो को कौतूहलवर्धक बनाने के लिए उन्होने ऐयारी तिलस्म और अपराधप्रधान घटनाओ की भी योजना की है। 'लवंगलता' के आठवें परिच्छेद म सिराजुद्दौला के कुछ 'नमकपोश' लवंगलता को बेहोश करके उठा ले जाते हैं। जिस प्रकार खत्री जी के ऐयार अपने शत्रुओ को फूल या कोई वस्तु सुघाकर बेहोश कर देते हैं उसी प्रकार इस उपन्यास के ऐयार कुमकुमा मारकर अपने शत्रुओ को बेहोश करते हैं। 'तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी' म तो ऐयारो का इतना अद्भुत वर्णन है कि इन ऐतिहासिक रोमासो पढने म भी दिलचस्पी होती है।

---

१ चपला वा नव्य समाजचित्र, चौथी भाग, १९१५, अन्तिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन।

२ माधवी माधव, द्वितीय संस्करण, १९११, भाग १, अन्तिम पृष्ठ का विज्ञापन।

तारा की सहेली रभा ऐयारी के फन म इतनी उस्ताद है कि उसे देखकर चन्द्रकाता की चपला याद हो आती है। रभा तारा का वेश धारणकर दारा और सलाबत का खूब छकाती है।[१] छठे परिच्छेद म, आगरे के किले की पेचदार सुरगो का वणन है। छठे स लेकर दसवें परिच्छेद म रभा हकीम इनायतुल्ला तथा उनके विरोधियो का ऐयारिया के अनोखे कारनामे वर्णित है। इसके दूसरे भाग का बहुलाश ऐयारी के करिश्मा चक्करदार सुरगो गुप्त कोठरियो आदि के वणनो से भरा हुआ है। आगरा का किला एक पूरा तिलस्म ही है। हकीम इनायतुल्ला के पास लोगो को बेहोशी की नीद म सुला दने वाले जहरीले गोले तो है ही, एक तिलस्मी किताब भी है जिसम तिलस्म का पूरा हाल लिखा हुआ है। 'तारा' के तीसरे भाग म चन्द्रावत जसे पात्र भी, जो राजसिंह के दाहिने हाथ है, और इसके पूववर्ती परिच्छेदो म उपन्यासकार ने जिन्ह एक श्रेष्ठ वीर के रूप म चित्रित किया है, वेश बदलकर ऐयारी करने लगते है और ऐयारी के फन म ऐसे उस्ताद निकलते है कि रभा को भी मात कर देते है।

गोस्वामी जी के अन्य ऐतिहासिक रोमासो म भी तिलस्म और ऐयारी प्रधान [illegible] पात्र अयूब के पास एक [illegible] म वह मोती [illegible] हो जाता है। [illegible] सोना और सुगध म लगातार [illegible] पृष्ठो म तिलस्म का वणन है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि किशोरीलाल गोस्वामी के सभी ऐतिहासिक रोमास घटनाप्रधान है तथा लेखक ने [illegible] है विश्वसनीय रूप मे प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही किया है।

किशोरीलाल गोस्वामी मुख्यत एक किस्सागो के रूप म हमारे समक्ष आते है। किस्सा या कहानी प्रकृत्या सुनने सुनाने वाले की माँग करती है। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमासो म किस्सागो की ऊची आवाज बार बार पाठक के कानो के पास सुनाई पडती है। चूकि गोस्वामीजी का पाठकवग औत्सुक्यवृत्ति से परिचालित होनेवाला कथाश्रोता है इसलिए उसे यह आवाज नागवार नही मालूम पडती। यदि कथा की कोई घटना समाप्त होती है या किसी परिच्छेद का अन्त करना होता है तो उपन्यासकार अपने पाठको को नही भूलता। जहाँ भी कथाकार को यह आशका होती है कि उसका पाठक किसी घटना या काय को पढकर शकाग्रस्त हो सकता है वह अपनी व्याख्या और टिप्पणी के साथ पाठक के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। वस्तुत गोस्वामी जी कही, एक क्षण के लिए भी अपने पाठको का साथ नही छोडते। 'तारा' म एक स्थान पर अपने पाठको को सबोधित करते हुए कहते है—

"पहाडी रास्ते म जिन्ह काम पडा है वे ही उसका सुख दुख जान सकते है कि सूनसान, उजाड, भयानक जगलो से घिरे हुए ऊचे नीचे ऊबड, खाबड पहाडी रास्ते कितने

१ तारा वा क्षत्र कुल कमलिनी द्वितीय संस्करण दसवाँ परिच्छेद।

भयावने होते हैं। आज हम अपने प्रिय पाठकों को लिए हुए मेवाड़ प्रान्त की उस बीहड़ पहाड़ नगी में पहुँचते हैं, जो बहुत ही घना, भयावना उजाड़ और बस्ती से सूना था।''[1] लवंगलता'[2] सोना और सुगंध वा पन्नाबाई[3] तथा अन्य रोमांसों में गोस्वामी जी अपने पाठकों को सम्बोधित कर घटनाओं तथा पात्रों के चरित्र की व्याख्या करते दृष्टिगोचर होते हैं।

तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी अपने ऐतिहासिक रोमांसों में प्रधानतः कथाख्यायिता बने रहते हैं, जो तत्कालीन पाठकों की रुचि और पठनक्षमता को देखते हुए अनिवार्य था। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों का शिल्प उनके अल्प शिक्षित पाठकों की रुचि द्वारा बहुत अंशों में निर्दिष्ट है, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है।

शृंगारचित्रण और काम व्यापार वर्णन में सामान्यतः सभी सामाजिक स्तरों के किशोर और वयस्क पाठकों की, विशेषकर पूर्ववर्ती प्रौढ़ावस्था के लोगों की, अत्यधिक रुचि होती है। विवेच्यकाल (१८९०—१९१७) के आरंभिक दशकों में अधिकतर उपन्यासपाठक युवक रसिक थे, इनकी पुष्टि गोस्वामी जी द्वारा अपने पाठकों के लिए प्रयुक्त सम्बोधनों से होती है। गोस्वामी जी ने अपने ऐतिहासिक रोमांसों में इस युवक रसिक पाठकसमुदाय की ही काम रुचि का ध्यान में रखकर ऐसे कामोत्तेजक वर्णनों की योजना स्थान स्थान पर की है। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांस चुंबन, आलिंगन और रतिक्रिया के नग्न वर्णनों से भरे हुए हैं। हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी में कुसुम और वीरेन्द्र के प्रेमालाप तथा चुंबनों के आदान प्रदान के वर्णन में कुरुचि तथा ग्राम्यता दिखाई पड़ती है।[4] तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी के बारहवें परिच्छेद में रत्ना और चन्द्रावत के प्रेमसंभाषण और चुंबन प्रतिचुंबन का नग्न वर्णन किया गया है।[5] अपने युवक पाठकों की कामरुचि के प्रवाह में गोस्वामीजी इस प्रकार बह गये हैं कि शृंगारवर्णन में उन्हें प्रायः औचित्य का भी ध्यान नहीं रहता। तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी के प्रथम परिच्छेद में ही दारा और जहान आरा, जो सहोदर भाई बहन हैं, इस प्रकार प्रेमसंभाषण करते दिखाये गये हैं, जो प्रेमी प्रेमिका के बीच ही संभव है। दारा जहानआरा को बार बार 'प्यारी' कहकर संबोधित करता है, उसके पैरों पर गिरता है, उसके तलवे और हाथों को चूमता है तथा अत्यन्त निर्लज्जतापूर्वक उसके सामने इश्क का रोना रोता है।[6] उपन्यास में सर्वत्र दारा एक शोहदे के रूप में, इश्क में सर्द आहें भरते फिकरे कसते और अश्लील गीत पढ़ते, दिखाया गया है।[7] इस प्रकार का शृंगारवर्णन अपरिष्कृत रुचि के युवकों के ही आनन्द का विषय हो सकता है। गंभीर और परिष्कृत रुचि के पाठक ऐसे वर्णनों को पढ़ने का धैर्य उसी प्रकार नहीं रख सकते, जिस

१ तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी द्वितीय संस्करण १९१४ तीसरा भाग, पृ० १२।
२ लवंगलता, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३६।
३ सोना और सुगंध वा पन्नाबाई, प्र० सं० १९०९, पृ० ६०
४ हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी द्वितीय संस्करण, १९०४ पृष्ठ ८६।
५ तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी द्वितीय संस्करण पृष्ठ ८४।
६ तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी दूसरी बार, १९१४ पृष्ठ २।
७ द्रष्टव्य, उपरिवत्, पृष्ठ २४–२५।

प्रकार सार्वजनिक स्थानों पर शोहदों और आवारों की कामुकतापूर्ण हरकतों को सहन करना उनके लिए कठिन होता है।

गोस्वामीजी के प्रायः सभी ऐतिहासिक रोमांसों में कामुक पुरुषों के गुप्त प्रेमसंबंधों, कामव्यापारों, रतिक्रियाओं आदि का नग्न वर्णन किया गया है। ये वर्णन अपरिष्कृत रुचि सम्पन्न और अश्लील हैं। गोस्वामीजी ने जानबूझ कर कामव्यापार वर्णनों को उत्तेजक बनाने का प्रयत्न किया है तथा ऐसे वर्णनों की त्वरित अनुक्रम में पुनरावृत्ति की है। पात्र अपनी चारित्रिक दृढ़ता का परिचय भी ऐसी भाषा में देते हैं जिसे अश्लील और ग्राम्य कहा जा सकता है।[1] 'सोना और सुगंध' में एक स्थान पर कुछ सखियों के संभाषण की योजना की गयी है, जो इतना नग्न, अश्लील और भ्रष्ट है, जिसे हम किसी को सुनाने तक में संकोच का अनुभव कर सकते हैं।[2]

इन तथ्यों से सिद्ध है कि गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत रुचि के युवक पाठकों का भी ध्यान पर्याप्त मात्रा में रखा है।

गोस्वामी जी ने देवकीनंदन खत्री की तरह तिलस्मी रोमांस न लिखकर ऐतिहासिक रोमांसों की रचना की, यह इस बात का परिचायक है कि उनका ध्यान पाठकों की इतिहास विषयक रुचि को संतुष्ट करने की तरफ भी था। यह निर्विवाद है कि अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि इतिहास में नहीं होती, जब कि परिष्कृत रुचि के पाठक अपने देश के इतिहास के बारे में जानना चाहते हैं। लगता है, गोस्वामी जी अपने समकालीन हिंदी पाठकों की, जो कौतूहलजनक घटनाओं के अतिरिक्त और कुछ पढ़ने के अभ्यस्त नहीं थे, पठनरुचि का परिष्कार करना भी चाहते थे। इतिहास में साधारण पाठकों की रुचि होती है इसलिए गोस्वामीजी ने ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर रूमानी कथाओं की रचना कर तत्कालीन हिन्दी पाठकों की पठनरुचि के परिष्कार का प्रयत्न किया। इस कथन की पुष्टि 'हिन्दी प्रदीप' में प्रकाशित 'आदर्श रमणी' की समीक्षा से होती है। समीक्षाकार ने लिखा था—[3]

"यह एक ऐतिहासिक उपन्यास है। इस समय इसकी बड़ी जरूरत है कि पढ़ने वाले ऐतिहासिक घटनाओं से भी जानकार होते चलें। उपन्यास पढ़ने वाले बहुधा साधारण योग्यता के लोग होते हैं, इतिहास या पुरावृत्त के सम्बन्ध में जो कुछ उन्हें मालूम हो गया वह मानो बिना प्रयास हाथ लगा।

'रजिया बेगम' वा रंगमहल में हलाहल' के उपोद्घात में गोस्वामी जी ने स्वयं भी लिखा है—

"हम इस उपन्यास में रजीया बेगम का हाल लिखते हैं इसलिए हम उसीके राजत्व काल का इतिहास मात्र लिखना था, किन्तु हमने स्वाधीन भारतवर्ष पर पश्चिमवालों की चढ़ाई के आदि से लेकर गुलाम खान्दान तक का हाल, जिसमें रजीया पैदा हुई थी, इसलिये लिख दिया है कि जिसमें इतिहास के सिलसिले में कोई गड़बड़ न हो और पढ़ने वाले उपन्यास के साथ ही साथ कुछ इतिहास का भी आनन्द लें, जिसमें लोगों की रुचि केवल उपन्यास ही

१ द्रष्टव्य 'सोना और सुगंध' वा 'पन्ना बाई', प्रथम संस्करण, १९०९, पृष्ठ ४०।

२ उपरिवत्।

३ हृदय हारिणी वा आदर्श रमणी पर सम्मति, हिन्दी प्रदीप जिल्द २६, सन् १९०५ ई०।

पर न रह कर इतिहास की ओर भी मुड़ें, जिससे हिन्दी भाषा में जो इतिहास का बिलकुल अभाव है, वह मिट।"[१] 'मल्लिका देवी वा बंगसरोजिनी' के उपोद्घात में गोस्वामी जी ने यह आशा व्यक्त की थी कि इसके पढ़ने से पाठक उस पुराने जमाने के आचार, व्यवहार राजनैतिक और सामाजिक तत्त्व तथा देश दशा के परिचय को भलीभाँति पा सकें।[२]

परिष्कृत पाठकों की ऐतिहासिक रुचि को संतुष्ट करने तथा साधारण पाठकों के रुचिपरिष्कार की दृष्टि से गोस्वामी जी ने अपने अधिकतर ऐतिहासिक रोमांसों के आरंभ में लम्बे उपोद्घात जोड़ दिये हैं, जिनमें *भारतीय इतिहास के किसी न किसी कालखंड* का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। जिन रोमांसों के आरंभ में उपोद्घात नहीं जोड़े गये हैं उनके बीच बीच में ऐतिहासिक घटनाओं का विवरण दे दिया गया है। इस प्रकार गोस्वामी जी ने अपने रसाल पाठकों की पठनरुचि को इतिहास की तरफ मोड़ने का भी प्रयत्न किया है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि किशोरी लाल गोस्वामी ने तत्कालीन बहुसंख्यक हिन्दी पाठकों की जो अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र थे, रुचि और पठनक्षमता का शतप्रतिशत ध्यान रख कर अपनी कथापुस्तकों की रचना नहीं की थी। वे एक रीतिकालीन ढंग के काव्यरसिक थे और उन्होंने अपने काल के अल्पसंख्यक साहित्यिक पाठकों की रुचि का जो बहुलांश काव्यप्रेमी थे ध्यान पर्याप्त मात्रा में रखा था। नखशिखवर्णन, विरहवर्णन और प्रकृति वर्णन में प्राचीन ढंग के काव्यरसिकों की रुचि का ही ध्यान रखा गया है। ऐतिहासिक घटनाओं के वर्णनों द्वारा गोस्वामी जी ने एक तरफ तो परिष्कृत पाठकों की ऐतिहासिक रुचि की तृप्ति का प्रयास किया है दूसरी तरफ साधारण कथापाठकों की पठनरुचि के परिष्कार का भी।

गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का प्रभाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इन रोमांसों में हिन्दू पात्रों की तुलना में मुसलमान पात्रों को नीच, दगाबाज विश्वासघाती और व्यभिचारी रूप में प्रस्तुत किया गया है। मस्तानी को छोड़कर गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों का अन्य कोई भी मुसलमान पात्र चाहे वह पुरुष हो या स्त्री सच्चरित्र नहीं है। अकबर, दारा और सिराजुद्दौला जैसे ऐतिहासिक पात्रों को भी, जिनके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों की धारणा अनुकूल है गोस्वामी जी ने कपटी धूर्त, क्रूर और चरित्रहीन व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया है। 'सोना और सुगंध' में अकबर कूटराजनीतिज्ञ विलासी, स्वार्थी तथा व्यभिचारी व्यक्ति के रूप में दिखायी पड़ता है। इस रोमांस में उसे एक वेश्या के साथ वीणा बजाकर गजल गाते दिखाया गया है।[३] 'तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी' में दारा चरित्रभ्रष्ट, कपटी तथा धोखेबाज व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है। जहानआरा एक स्थान पर तारा से दारा के विषय में कहती है— 'तुम उसको इस बात पर हर्गिज न भूलना कि उसने बहुत सी हिन्दू मजहब की किताबों या वेद उपनिषदों का तर्जुमा फारसी में कराया है और उस पर अमल भी करता है, इस वास्ते

१ रज़िया बेगम वा रंगमहल में हलाहल, प्र० सं० १९४०, उपोद्घात।
२ मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी, प्र० सं० १९०५, उपोद्घात।
३ सोना और सुगंध, प्रथम संस्करण, १९०९, पृ० २०१।

हिन्दू मजहब पर उसका पूरा पूरा एतकार (एतबार ?) है, मगर नहा, ऐसा हर्गिज नही है यह कारवाई उसकी सरासर हिदुओ को ठगन और उन बेचारा की आँखा म धूल डालन के वास्ते है। उसका असल मजहब अब क्रिस्तानी है और वह पूरा पूरा इसाइ बन गया है।'[1] वस्तुत दारा के सम्बन्ध म ये विचार गास्वामी जी के है जा जहानआरा क मुख से व्यक्त कराय गय ह। 'लवगलता' म सिराजुद्दौला को एक अत्याचारी और व्यभिचारी नवाब के रूप मे चित्रित किया गया है। सिराजुद्दौला के सम्बन्ध म लेखक की धारणा है कि "यद्यपि उसे कोइ कोई इतिहास लेखक बहुत ही भला याग्य और राजगुणा स युक्त बतलाते ह जिसके मान लेन म हम कोई आपत्ति नही है, किन्तु वह अत्यन्त इद्रियपरायण और हठी था, इसासे उसस बगाला मान का जी फिर गया था और सारा बगाल अग्रेजो की ओर हो गया था। यदि सिराजुद्दौला की एयाशी और तुनुकमिजाजी आसमान तलक न पहुँच गयी होती ता कदाचित उसके समय तक बगाल म कुछ गालमाल न होता, पर जब लागा का अपन घर की बहूबटियो और इज्जत आबरू बचाय रखने का काइ उपाय न सूझा तब लोग अग्रेजा की सरन म गय और इस देश क लिए यह बहुत ही अच्छा हुआ।"[2]

यह ता चारित्रिक उत्कर्ष, वीरता और उदारता के लिए प्रसिद्ध मुसलमान बादशाहा की बात हुई। इन ऐतिहासिक रोमासो क सभी मुसलमान पात्र व्यभिचारी क्रूर अत्याचारी, स्वार्थी कपटी, ऐय्याश और नफ्सपरस्त रूप मे चित्रित किये गय है। इन रोमासा की मुसलमान पात्रिया चरित्रभ्रष्ट, कामुक व्यभिचारिणी, निदय और षड्यन्त्रपटु ह। उनका नित्य नये नये प्रेमियो को फसाना इस काय के लिए कुटनिया और जासूसा को नियुक्त करना भद खुलने पर प्रमियो की हत्या करा दना तथा अनक उपाया से गभपात कराना आदि के अतिरिक्त मानो और कोई काम ही नहा।

इसके विपरीत इन एतिहासिक रामासा मे हिन्दू पात्रपात्रिया का चरित्र उज्ज्वल रूप म अकित किया गया है। गास्वामी जी क ऐतिहासिक रामासो के अधिकतर हिन्दू पात्र राजपूत कुल से सम्बद्ध ह। सभी प्रमुख हिंदू पात्र हमारे सामने आदश प्रेमिया क रूप म आत ह। मुसलमान शाहजादा और बादशाहो की तरह व विलासी आर कामुक नहा। जिस स्त्री को वे प्यार करते ह, उसकी रक्षा के लिए प्राणा की बाजी तक लगान को तत्पर रहते ह। परायी स्त्रा को माँ बेटी का तरह मानत ह। धम उन्ह प्राणा स भी अधिक प्रिय है। परोपकार उनका स्वाभाविक कम है। वीरता उनके चरित्र का अनिवाय अग ह। समासत एक आदश हिन्दू क लिए जो गुण अपेक्षित मान जात है वे सभी गास्वामी जी क हिन्दू पात्रा म उपलब्ध होते हैं। गोस्वामीजी न कुछ देशद्रोही और स्वार्थी हिदू राजाआ का भी चित्रण किया है पर इनकी सख्या कम है और अन्त म एस पात्रा को अपने कार्या का कठार दड मिलता है। इन एतिहासिक रोमासा की हिन्दू पात्रियाँ भी आदश हिन्दू रमणी क गुणा स सम्पन्न है। मुख्यत वे भी आदश प्रमिकाऐं है जो अनक कष्ट सहकर भी अपन प्रम की एकनिष्ठता स विचलित

---

१ तारा वा चत्रकुल कमलिनी, द्वितीय संस्करण, पृ० २०।

२ लवगलता द्वितीय सस्करण, १९१५ पृ० १।

नहीं होती। वे सतीत्व और पातिव्रत्य की रक्षा के लिए अपनी जान हथेली पर लिये रहती हैं। हृदयहारिणी का कुसुमकुमारी 'लवंगलता' की लवंगलता, तारा या क्षत्रकुल कमलिनी की तारा तथा रम्भा, मल्लिका देवी वा बंगसरोजिनी की मल्लिका, सोना और सुगन्ध की पन्नाबाई सभी आदर्श और एकनिष्ठ प्रेमिकाएँ हैं। साथ ही ये पात्रियाँ दया, परोपकार, स्नेह, सहानुभूति, कोमलता, सज्जनता आदि नारीसुलभ गुणों से भी सम्पन्न हैं।

अपने ऐतिहासिक रोमांसों में गोस्वामी जी का उद्देश्य हिन्दू गौरव का चित्रण करना है, पर उन्होंने इतिहास के जिस कालखंड का चित्र अपने रोमांसों में प्रस्तुत किया है वह हिन्दू गौरव के पराभव का काल था। गुलामवंश की रजिया बेगम से लेकर सिराजुद्दौला के शासनकाल तक जिस कालखंड से गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांस सम्बद्ध हैं हिन्दू जाति पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ी रही। पर गोस्वामी जी की मान्यता थी कि इस पराभव की अवस्था में भी हिन्दुओं का गौरव सर्वथा लुप्त नहीं हो गया था। राजनैतिक दृष्टि से दुर्बल होते हुए भी हिन्दू राजाओं का चरित्र [illegible] [illegible] गोस्वामी जी मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा लिखित इतिहासों को, [illegible] मुसलमान बादशाहों की [illegible] और मुसलमानों की नीचता तथा चरित्र हीनता [illegible] करने की सावधानी बरती गयी है प्रामाणिक नहीं समझते। उन्होंने लिखा है, जिन महमूद गजनवी, अलाउद्दीन, औरंगजेब, नादिर सरीखे यवनों ने भारतवर्ष के धर्म, धर्मकीर्ति, मानमर्यादा, सतीत्व, वीरता आदि देवोपम गुणों के नाश करने में कोई बात उठा नहीं रखी और जिन अकबर सरीखे मीठी नीतिवालों ने हिन्दुस्तान के जातीय गौरव के नाश कर डालने ही पर कमर बाँधी, तो बतलाइये कि ऐसे अद्भुत प्रक्रियासम्पन्न मुसलमानों के आश्रित इतिहास लिखनेवाले मुसलमानों के लिखे इतिहास की सत्यता पर पूर्ण विश्वास क्या कर लिया जाय? क्योंकि यह बात सहज ही मन में आ सकती है कि मुसलमान सरीखे कट्टर धर्माग्रही विजेता विजित आर्यों के सच्चे गुणों या मानमर्यादा का वर्णन ही क्या कर सकते थे? वरन् उनके विरुद्ध उन लोगों ने जहाँ तक बना, वहाँ तक यह किया कि आर्यों की धीरता, वीरता, गम्भीरता, दृढ़ता, साधुता, सत्यता, क्षमा, दया, तितिक्षा, दाक्षिण्य, कीर्ति, धर्म, सतीत्व आदि अलौकिक गुणों को एक प्रकार से मटियामेट ही कर डालने में कोई बात उठा न रखी, और इसके साथ ही अपना दुष्टता, कुटिलता, क्रूरता, धूर्तता, शठता, जालसाजी, चपलता, जुल्म, अत्याचार, पापाचार, अमानुषीलीला, कायरता, व्यभिचार, अपमान, बदज्जती, दुराग्रह, आदि दोषों का या तो भरपूर उल्लेख ही नहीं किया, या जहाँ तक बना, उसे छिपाया। ऐसी अवस्था में कट्टर इस्लामियों के इतिहासों पर किसी की सम्पूर्ण श्रद्धा कहाँ तक हो सकती है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं। ऐसी अवस्था में भी जो कुछ वास्तविक बातें इतिहास लेखकों ने अपनी कलम से लिखा है, वर्तमान समय के मुसलमान लोग उसके उर्दू अनुवाद में यथासम्भव अपनी स्फूर्ति से बदल रहे हैं। इसीलिए हमने अपने बनाये उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं का 'गौण' और [illegible]

कल्पना को 'मुख्य' रखा है और कहीं कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर ही से नमस्कार भी कर दिया है।"[१]

गोस्वामी जी ने, यद्यपि, हिन्दुओं का चारित्रिक गौरव और मुसलमानों का चारित्रिक अपकर्ष दिखाने में अधिकतर कल्पना का ही सहारा लिया है, पर उनकी कल्पना जैसा कि उन्होंने 'तारा' की भूमिका में लिखा है, बिलकुल निराधार नहीं। गोस्वामी जी ने मुस्लिम इतिहासकारों को प्रमाण न मानकर अंगरेज लेखकों और यात्रियों के यात्राविवरणों को अपनी कल्पना का आधार बनाया है। उन्होंने अपने ऐतिहासिक रोमांसों के लिए टाडलिखित राजस्थान के इतिहास तथा फिंच, सर टामस रो, बर्नियर म्यानिसी आदि के यात्राविवरणों से सामग्री ली है, और उनके आधार पर कल्पना का महल खड़ा किया है।[२] इन विवरणों से मुस्लिम बादशाहों और शाहजादा शाहजादियों की विलासप्रियता, कपटाचरण तथा अन्तःपुरीय षडयन्त्रों का पता चलता है, जिनका विस्तृत और अतिरंजित वर्णन गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में मिलता है।

हिन्दू पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर ही गोस्वामी जी ने अपने ऐतिहासिक रोमांसों में स्थान स्थान पर हिन्दू जाति की प्रशंसा की है। 'रजियाबेगम' में हरिहर शर्मा हिन्दुओं की प्रशंसा करते हुए कहते हैं— आप इस बात को सच मानें कि जो सचमुच हिन्दू होगा, वह कभी किसी भी विभिन्न धर्मावलंबी के उपासनागार में उनके धर्म के विरुद्ध किसी अपवित्र वस्तु को न फेंकेगा। मुसलमान हिन्दुओं के साथ जैसा बर्ताव करते हैं, इसे सारा संसार जानता है पर क्या आप ऐसा एक भी प्रमाण दे सकते हैं कि किसी हिन्दू ने भी कहीं किसी मस्जिद को ढाहा या कुरान शरीफ को जलाया हो? यह बात शांत और धर्मभीरु हिन्दुओं के स्वभाव से लाखों कोस दूर है।[३] यही नहीं मुसलमानपात्र भी इन रोमांसों में हिन्दुओं की प्रशंसा करते थकते नहीं। 'रजिया बेगम' का एक मुसलमान फकीर हिन्दू जाति की प्रशंसा करते हुए कहता है—' यह बात मैं बखूबी जानता हूं कि हिन्दू कौम से बढ़कर दुनिया में सच बोलनेवाली दूसरी जाति नहीं। इस कौम जैसी हमदर्दी, दियानतदारी, गरीबपवरी, फर्माबर्दारी और पाकरूई दुनिया के पर्दे पर किसी दूसरी जाति में हुई नहीं।[४] सोना और सुगंध में भी स्थान स्थान पर हिन्दू जाति की प्रशंसा की गयी है। इतना ही नहीं, सोना और सुगंध में अकबर द्वारा निर्मित तिलिस्मी महल में बिजली की रोशनी दिखाकर लेखक एक पात्र द्वारा कहलाता है कि बिजली का आविष्कार एक हिन्दू ने ही किया था। गोस्वामी जी को जहाँ भी मौका मिलता है, वे हिन्दुओं के प्राचीन गौरव का उल्लेख करने से नहीं चूकते। हृदयहारिणी, 'रजिया बेगम' तारा आदि प्रायः सभी ऐतिहासिक रोमांसों में उन्होंने हिन्दू जाति के प्राचीन गौरव, विद्या, वैभव वीरता सभ्यता, संस्कृति आदि का सविस्तर वर्णन किया है। जिस समय गोस्वामी जी ने इन ऐतिहासिक रोमांसों की रचना की थी, लगभग उसी समय भारत में

१ तारा वा क्षत्रकुल कमलिनी भूमिका।
२ उपरिवत्।
३ सुलताना रजिया बेगम, प्रथम संस्करण, १९०४, पृ० ४७।
४ उपरिवत्, पृ० ४६।

राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकडने लगा था, और लोग वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट होकर अपने गौरवपूर्ण अतीत की ओर देखने लगे थे। इस प्रकार गोस्वामी जी ने तत्कालीन हिन्दू पाठकों की भावना और रुचि का समर्थन कर उन्हें प्रसन्न करने का सफल प्रयत्न किया है।

इतिहास ग्रन्थों के अनुसार मुस्लिम काल में राजपूत राजाओं ने अपनी कन्याओं का विवाह मुसलमान बादशाहों से किया था। गोस्वामी जी को यह बात हिन्दू गौरव के इतनी प्रतिकूल प्रतीत हुई कि उन्होंने अपने ऐतिहासिक रोमांसों में इस तथ्य को कल्पना के द्वारा बिलकुल नये रंग में रँगकर प्रस्तुत किया। इतिहास के अनुसार अलाउद्दीन ने गुजरात पर विजय प्राप्त करने के बाद वहाँ की परम रूपवती रानी कमला देवी से विवाह किया, पर हीराबाई वा बेहयायी का बोरका में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि कमला देवी के नाम पर हीराबाई नाम की एक मुसलमान युवती, जो असामान्य सौंदर्य सम्पन्न थी अलाउद्दीन के पास भेज दी गयी और उसका विवाह उससे हो गया। इतिहास बताता है कि अलाउद्दीन ने देवगढ के राजा रामदेव की पत्नी देवलदेवी को (जो गोस्वामी जी के अनुसार कमलादेवी की पुत्री थी) बलपूर्वक पकड मँगाया था, पर उपयुक्त रोमांस के अनुसार हीराबाई की लालन नामक एक पुत्री थी जो उसकी पूर्वयोजनानुसार देवगिरि से देवलदेवी के नाम पर पकड मँगायी गयी थी और उसका विवाह अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खाँ से कर दिया गया था। सोना और सुगंध में गोस्वामी जी ने सिद्ध किया है कि अकबर की प्रधान बेगम जोधाबाई दरअसल जोधपुर की राजकुमारी न थी, वरन् काश्मीर में खरीदी हुई 'एक ऊँचे, किन्तु तबाह घराने की लडकी थी। अकबर को प्रसन्न करने के लिए जोधपुर के राणा ने उसे अपनी पुत्री बताकर अकबर से उसका विवाह कर दिया था।'[1] इतिहास गोस्वामी जी की इन धारणाओं से सहमत नहीं है पर गोस्वामी जी के हिन्दू पाठकों को इस रहस्योद्घाटन से एक सुखद आश्चर्य तो हुआ ही होगा। पता नहीं, गोस्वामी जी की इस कल्पना का कोई आधार भी है या नहीं। कदाचित् ऐसी किंवदंतियाँ गोस्वामी जी के समय में प्रचलित रही हों। ऐतिहासिक दृष्टि से गोस्वामी जी की कल्पनाएँ चाहे निर्मूल हों, इनसे यह तो सिद्ध होता ही है कि वे अपने हिन्दू पाठकों की अहंभावना और आत्माभिमान को तृप्त करने का यथाशक्ति प्रयास करते हैं।

तत्कालीन युग की रुचि और भावना की झलक गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में, एक और रूप में दीख पड़ती है। इस बात को प्रायः सभी हिन्दी आलोचक स्वीकार करते हैं कि भारतेन्दुकालीन तथा परवर्ती भारतीय राष्ट्रीयता का झुकाव राजभक्ति की ओर था। गोस्वामी जी के समय में तथा उनके पूर्व, हिन्दू मुसलमानों को अपना शत्रु समझते थे। शताब्दियों तक मुसलमानों के क्रूर शासन में जीवन व्यतीत करने वाले और उनके अत्याचार से पीड़ित हिन्दुओं ने जब मुसलमानों को अँगरेजों के सामने घुटने टेकते देखा, तो उन्हें हार्दिक प्रसन्नता हुई। मुसलमानों के अत्याचारपूर्ण शासन से अँगरेजी शासन हिन्दुओं को अपेक्षाकृत कम असह्य लगा। मुसलमान धन के साथ धर्म और स्त्री का भी अपहरण करते थे, जिस सम्बन्ध में अँगरेज उदार थे। मुसलमानों के शासनकाल में

१ सोना और सुगंध, प्रथम संस्करण १९०९।

हिन्दुओं को अपना धर्म सदा खतरे में दिखाई पड़ता था, पर अँगरेजी राज्य में यह भय नहीं था। यही कारण है कि भारतेन्दुकालीन कवियों ने सामान्यतः अँगरेजी शासन का अभिनन्दन ही किया है। उन्होंने अँगरेजी शासन की यदि निन्दा की है तो उसकी आर्थिक तथा अँगरेजों और मुसलमानों के प्रति पक्षपातपूर्ण नीति के कारण। अखिल भारतीय काँग्रेस भी आरम्भ में अँगरेजी शासन के प्रति वफादार थी। गोस्वामी जी के ऐतिहासिक रोमांसों में इस राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व हुआ है। इन रोमांसों में मुस्लिम शासन की तुलना में ब्रिटिश शासन को वरेण्य सिद्ध किया गया है।[1] 'सोना और सुगन्ध' में अकबर की निन्दा करते हुए गोस्वामीजी ने लिखा है—'औरंगजेब सरीखे जालिम और खुदगरज बादशाह को हिन्दुस्तान के तख्त पर बैठाकर परमेश्वर ने बड़ी कृपा की, क्योंकि अगर वह इतना जालिम और हिन्दूद्वेषी न होता तो मुसलमानी सल्तनत इतनी जल्दी कभी गारत न होती और हम भारतवासियों को अँगरेजों की शांतिमय राज्य की ठंढी छाया में जाने का सौभाग्य भी न मिलता।"[2] अँगरेजी शासन के प्रति उस समय की सामान्य धारणा प्रायः यही थी, जिसे गोस्वामी जी ने अपने रोमांसों में व्यक्त किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि गोस्वामी जी ने अँगरेजी शासन की आलोचना नहीं की है। 'लवंगलता'[3] तथा 'रजिया बेगम'[4] में गोस्वामी जी ने अँगरेजों की, सेठ अमीचन्द के प्रति, कृतघ्नता तथा उनके न्यायविभाग की आलोचना की है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोस्वामी जी ने अपने ऐतिहासिक रोमांसों में तदयुगीन अनेक रुचिधाराओं को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है। अपने युग के प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि को ध्यान में रखकर उन्होंने अलंकृत और काव्यात्मक भाषा में नखशिख विरह और प्रकृति सम्बन्धी वर्णनों की योजना की है तथा घटनाओं के बीच बीच में हिन्दी, संस्कृत और उर्दू कविताओं को स्थान दिया है। ऐतिहासिक रोमांसों में, उपोद्घातों के रूप में तथा घटनाओं के बीच बीच में भारतीय इतिहास के विभिन्न युगों का वर्णन उन्होंने एक तरफ तो परिष्कृत पाठकों की गम्भीर रुचि को ध्यान में रखकर किया था दूसरी तरफ इसके पीछे उनका यह भी उद्देश्य था कि तत्कालीन हिन्दी पाठकों की पठनरुचि का परिष्कार हो सके। पर गोस्वामी जी ने अपने युग के परिष्कृत पाठकों की रुचि का ही नहीं, अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठकों की रुचि का भी पूर्ण ध्यान रखा था, यह उनके ऐतिहासिक रोमांसों में कौतूहलोत्पादक और ऐयारी तथा तिलस्मप्रधान घटनाओं की योजना, पाठकों को स्थान स्थान पर सम्बोधित करने तथा कामव्यापारों के नग्न और अश्लील वर्णनों की प्रचुरता से स्पष्ट है। इन रोमांसों में गोस्वामी जी ने घटनाओं

१ हृदयहारिणी, प्रथम संस्करण, १९०४, पृष्ठ २८ २९।
२ सोना और सुगंध प्रथम संस्करण, १९०९, पृष्ठ १५५।
३ लवंगलता वा आदर्श बाला, द्वितीय संस्करण १९१५ पृष्ठ १२।
४ रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल।

की कौतूहलोत्पादकता पर विशेष ध्यान दिया है, उन्हें विश्वसनीय बनाने या कार्यकारण सम्बन्ध से युक्त करने पर बहुत कम। कारण यह है कि जिन पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर उन्होंने इन घटनाओं की योजना की थी वे 'तब क्या हुआ' की उत्सुकता से ही परिचालित होते हैं, 'ऐसा क्यों हुआ' की जिज्ञासा से कम। चूंकि गोस्वामी जी के उद्दिष्ट पाठक कथाश्रोता आदि के थे, तथा अभी उनमें कथानक समझने की योग्यता नहीं आ पायी थी, इसीलिए उन्हें घटनाओं के बीच बीच में पाठकों को बार बार *सम्बोधित करना तथा उलझी हुई घटनाओं और अस्पष्ट चरित्रों की व्याख्या करनी* पड़ी है। इन रोमांसों में कामव्यापारों के वर्णन में जो अश्लीलता और ग्राम्यता दिखायी पड़ती है, उसका उद्देश्य भी अल्पयोग्यतावाले पाठकों को रिझाना ही है। इसके साथ साथ गोस्वामी जी ने अपने एतिहासिक रोमांसों में हिन्दू पाठकों की रुचि का बहुत अधिक ध्यान रखा है। हिन्दू पात्रों को उज्ज्वल चरित्र सम्पन्न रूप में तथा मुसलमान पात्रों को दुश्चरित्र रूप में चित्रित करने का एकमात्र उद्देश्य हिन्दू पाठकों को प्रसन्न रखना ही है। स्थान स्थान पर हिन्दू जाति की प्रशंसा, हिन्दू धर्म का प्रतिपादन, हिन्दू जाति के अतीत गौरव का गान, तथा यह सिद्ध करना कि अकबर आदि का विवाह राजपूत राजकुमारियों से नहीं हुआ था, आदि से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि गोस्वामी जी को हिन्दू पाठकों की रुचि का अत्यधिक ध्यान था।

समासतः गोस्वामी जी ने अपने एतिहासिक रोमांसों की रचना में तत्कालीन सुशिक्षित और अल्पशिक्षित दोनों प्रकार के हिन्दू पाठकों की रुचियों का ध्यान रखा था।

इस सम्बन्ध में एक आशंका उठायी जा सकती है। कहा जा सकता है कि नखशिख, विरह और प्रकृति के काव्यात्मक वर्णन, शृंगार के नग्न और अश्लील चित्रण ऐतिहासिक घटनाओं के विवरण, हिन्दू जाति की प्रशंसा, अतीत गौरव के गान तथा एतिहासिक घटनाओं की नवीन व्याख्या में लेखक की अपनी रुचि भी यह क्यों नहीं माना जाए? इस शंका का उत्तर, जो वस्तुतः द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है, यह है कि साहित्यरचना के मूल में लेखक और पाठकवर्ग की (जो अनेक रुचिधाराओं और भावना शृंखलाओं से युक्त हो सकता है) रुचियों और भावनाओं का, भिन्न भिन्न अनुपात में समन्वय होता है। लेखक—विशेषकर व्यावसायिक उद्देश्य से लिखने वाले—पाठकों के लिए ही लिखते हैं, यह एक निर्विवाद तथ्य है। यदि गोस्वामीजी आधुनिक युग में उत्पन्न हुए होते तो वे इन एतिहासिक रोमांसों की रचना करते, यह संदिग्ध है। गोस्वामीजी के सभी पाठक यदि मुसलमान होते तो वे स्वयं मुस्लिमविरोधी होते हुए भी अपने रोमांसों में मुसलमानों की निन्दा और हिन्दू जाति की प्रशंसा नहीं कर पाते। यदि यह कहा जाए कि गोस्वामीजी ने केवल अपनी रुचि से प्रेरित होकर एतिहासिक उपन्यासों की रचना की थी, तो शृंगारवर्णन और कौतूहलप्रद घटनाओं की योजना में जो ग्राम्यता, अश्लीलता भोंड़ापन, बुद्धिहीनता और अपरिष्कृत रुचि दिखायी पड़ती है, वह सब गोस्वामीजी का ही दोष हो जाएगा, और यह निर्णय स्वतोव्याघात दोष से युक्त होगा, क्योंकि काव्यात्मक वर्णन तथा एतिहासिक घटनाओं के विवरण में गोस्वामीजी की परिष्कृत और

गम्भीर रुचि के दर्शन होते हैं। तात्पर्य यह कि साहित्यरचना मे केवल लेखक की रुचि और भावना का ही योग नही होता, उसमे पाठकों की रुचि और भावना का भी हाथ होता है। जैसा कहा चुका है, साहित्यरचना एक द्विकूलीय सर्जनप्रक्रिया है, जिसमे लेखक तथा पाठकवर्ग दोनो की रुचियाँ भिन्न भिन्न अनुपात मे प्रमुख होती है।[१] अत यह कहना युक्तिसगत नही कि गोस्वामीजी ने केवल अपनी रुचि के अनुरूप ऐतिहासिक रोमासो की रचना की थी, क्योकि लेखक की रुचि भी तत्कालीन समाज तथा पाठकवर्ग की रुचि से प्रभावित और निदर्शित होती है। श्रेष्ठ लेखक भी जिसका अहभाव अत्यन्त प्रबल होता है, तथा जो अपनी रुचि और भावना को अत्यधिक महत्त्व देते है, अपने अनुरूप पाठक वर्ग की खोज मे चाहे वह भविष्य मे आनेवाला पाठकवर्ग ही क्यो न हो, रहते है। अत निष्कर्ष रूप मे यही कहना अलम है कि गोस्वामीजी के ऐतिहासिक रोमासो की रचना पर तदयुगीन पाठकों की रुचियों का स्पष्ट प्रभाव है।

गगा प्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक रोमांस और उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

किशोरी लाल गोस्वामी के समकालीन ऐतिहासिक रोमास लेखको मे गगा प्रसाद गुप्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी के आलोचको और शोधकर्ताओ ने इन्हे अपने आलोचना और शोधग्रन्थो मे बहुत अल्प स्थान दिया है। इन्होने केवल दो वर्षों के भीतर 'नूरजहाँ वा ससार सुन्दरी' (१९०२) 'पूना मे हलचल वा वनवासी कुमार' (१९०३) 'वीरपत्नी' (१९०३) 'कुवर सिंह सेनापति' (१९०३) 'वीर जयमल वा कृष्णकाता' (१९०३) तथा 'हम्मीर' (१९०४) नामक ऐतिहासिक रोमासो की रचना की।

गगा प्रसाद गुप्त की ऐतिहासिक कथापुस्तको को भी 'ऐतिहासिक रोमास' की सज्ञा देना युक्तिसगत है क्योकि यद्यपि इनकी कुछ कथापुस्तको मे ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण तथा ऐतिहासिक पात्रो के विश्वसनीय चरित्रचित्रण का प्रयत्न किया गया है पर इनकी अधिकाश कथाओ मे युद्ध और प्रेम साहसाभियान और शृगार तथा अयथार्थ घटनाओ और अनैतिहासिक वातावरण की प्रधानता है।

गगा प्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक रोमासो मे से केवल 'नूरजहा' के तीन और 'पूना मे हलचल' के दो सस्करण हुए थे। शेष पुस्तको के एक एक सस्करण ही प्रकाशित हो पाये। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि विवेच्य कथाकार के ऐतिहासिक रोमास तत्कालीन पाठको मे बहुत लोकप्रिय न हुए।

गगा प्रसाद गुप्त ने गोस्वामी जी की तरह पुराने ढर्रे के काव्यरसिको की रुचि का ध्यान नही रखा है। इनके रोमासो मे नखशिख, विरह मिलन तथा प्रकृति के काव्यात्मक वर्णन का अभाव है। गोस्वामी जी की तुलना मे गुप्त जी के रोमासो की भाषा सरल वशिष्ट्यरहित और अकाव्यात्मक है। इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन काव्यरसिको की रुचि का ध्यान इन रोमासो मे नही रखा गया है।

---

१ द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध, द्वितीय अध्याय।

गुप्त जी ने भी, गोस्वामी जी की तरह, ऐतिहासिक घटनाओं का आधार बना कर कथा को मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठाने का प्रयास किया था। ऐतिहासिक घटनाओं में सामान्यतः अल्पयोग्यतावाले पाठकों की रुचि नहीं होती, अतः ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित रोमांसों की रचना करते समय गुप्त जी का ध्यान या तो अपने युग के अल्पसंख्यक परिष्कृत पाठकों की रुचि पर रहा होगा या साधारण योग्यतासम्पन्न कथाप्रेमी पाठकों के रुचिपरिष्कार पर। गुप्त जी 'उपन्यास' को केवल मनोरंजन का साधन नहीं, यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करने वाला साहित्य रूप मानते थे। उन्हीं के शब्दों में "उपन्यास बड़ा ही कोमल मधुर साहित्य है जिन लोगों की पढ़ने की रुचि नहीं है, उपन्यास उनमें पढ़ने की रुचि उत्पन्न करता है। जो लोग गुरु गम्भीर विषयों के पढ़ने में व्यस्त रहते हैं, काम न रह जाने पर उपन्यास उनका जी बहलाता है ... उनके अवकाशकाल की कुचिन्ता मिटा देता है ... सो उपन्यास लड़कों का खेल नहीं है। उपन्यास धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति तथा मनुष्य प्रकृति का निर्मल दर्पण है। ... असंभव घटनाओं की कहानियों के पढ़ने की रुचि होने से, उनके काल्पनिक चित्र मस्तिष्क को हिलोड़ते रहते हैं, इससे गंभीर विषयों के सोचने की शक्ति बिगड़ जाती है। कहानी ही उपन्यास का मूल होने पर भी उसकी घटना सत्य घटना की भाँति सत्य प्रतीत होनी चाहिए उसके चरित्र वास्तव चरित्रों की भाँति वास्तव प्रतीत होने चाहिए। असंभवता का दोष उपस्थित होते ही, उपन्यास लड़कों का खेल हो जाता है।"[1]

इस वक्तव्य से गुप्त जी की उपन्यासविषयक यथार्थवादी धारणा का पता चलता है। 'हम्मीर' के विषय में उन्होंने कहा है कि "इसमें जिन घटनाओं का उल्लेख हुआ है, वे प्राय सत्य हैं। अधिक कल्पना का—अधिक बनावट का—योग इसमें नहीं किया गया है।" 'पूना में हलचल', 'वीर जयमल' और 'वीर पत्नी' में भी इतिहास का काफी ध्यान रखा गया है। इससे ज्ञात होता है कि गंगा प्रसाद गुप्त शिक्षित, परिष्कृत और गंभीर पाठकों को अपने उद्दिष्ट पाठक के रूप में रखते थे या उनकी इच्छा थी कि हिन्दी के पाठकों की रुचि का परिष्कार हो।

किन्तु, जैसा कहा गया है, अपने युग की सामान्य भावना और रुचिधारा की उपेक्षा करने वाले साहित्यकार विरल होते हैं। केवल असाधारण प्रतिभा सम्पन्न लेखक ही ऐसा करने में समर्थ हो पाते हैं। गंगा प्रसाद गुप्त एक सामान्य प्रतिभा सम्पन्न कथालेखक थे, अतः उनके लिए अपने युग की विद्यमान रुचिधारा की उपेक्षा करना संभव नहीं था। हिन्दी का तत्युगीन पाठकवर्ग अल्पशिक्षित था, इसका सविस्तर विवेचन किया जा चुका है।

गुप्त जी के उद्दिष्ट पाठक कौन थे, इसका कुछ आभास उनके ऐतिहासिक रोमांसों के विज्ञापनों से मिलता है। 'नूरजहाँ' के विज्ञापन में कहा गया है, "यदि दिलचस्प उपन्यासों को पढ़ने में जी लगता हो, यदि सबलवान हुए प्रेम की कथा पढ़नी हो, यदि मौके मौके पर चुहचुहाते हुए अशआर (शेर) का आनन्द लेना हो, तो इसे अवश्य पढ़िए।[2] एक दूसरे

[1] गंगा प्रसाद गुप्त, हम्मीर, १९०४ भूमिका।
[2] गंगा प्रसाद गुप्त हम्मीर (१९०४) के अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन।

प्रसग से भी गुप्त जी के पाठको की योग्यता का पता चलता है। 'वीर जयमल', द्वितीय भाग, पृ० २२ पर एक वाक्य आता है—"तुम्हारे प्रेमरूपी चुवक ने मेरे हृदय रूपी लोहे को अपने पास खीच लिया।' यह वाक्य लिखते ही लेखक को लगा जैसे उसके पाठक इसे नही समझेगे, अत वह पादटिप्पणी मे इसकी व्याख्या निम्नलिखित रूप मे करता है—"चुबक मे लोहे को खीचने की तासीर होता है। अक्सर हमारे पाठको ने किस्से कहानियो मे पढा होगा कि कभी कभी बडे बडे जहाज आधी तूफानो मे भूल भटक कर चुबक पहाड के पास पहुँच जाते है तो उनमे जितना लोहे का हिस्सा रहता है सब उखडकर पहाड से जा सटता है, और जहाज (लोहे के कॉटो के निकल जाने से) डूब जाता है। यहाँ पर पर्व सिंह के कहने का यह तात्पर्य है कि तुम्हारी याद मुझे बेचैन करके तुम्हारे पास खीच लाई।'[1] यह व्याख्या गुप्त जी के उद्दिष्ट पाठको की योग्यता को सकेतित करने के लिए पर्याप्त है।

गगा प्रसाद गुप्त ने समकालीन अन्य लेखको की तरह अपने युग के पाठको की रुचि का ध्यान रखा है। उनके ऐतिहासिक रोमासो से अनेक ऐसी घटनाओ का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी योजना अल्पशिक्षित पाठको की रुचि के ही अनुकूल है। इन घटनाओ मे कौतूहल उत्पन्न करने का गुण तो है, पर वे विश्वसनीय नही है।[2]

गुप्त जी के सभी ऐतिहासिक रोमास सुखात है। यहाँ तक कि प्रथम सस्करण मे जो उपन्यास दुखात थे उन्हे भी परवर्ती सस्करण मे सुखात बना दिया गया है। 'पूना मे हलचल' प्रथम सस्करण मे दुखान्त था, पर द्वितीय सस्करण मे, वक्टेश्वर समाचार की सलाह से इसे सुखात मे परिणत कर दिया गया। वीर जयमल के अतिम पृष्ठ पर एक 'नोट' मुद्रित है, जिसमे पाठको से उपन्यास की भाषाविषयक भूलो के लिए क्षमा मागते हुए ग्रथकार ने लिखा है, माननीय पाठकगण क्षमा करें। द्वितीय सस्करण मे शोध कर छापी जायगी और तभी सुखात कर दी जायगी। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन पाठक सुखात कथाएँ ही पसद करते थे। अल्पशिक्षित और अल्पबुद्धि पाठको मे सुखान्त कथाएँ अधिक लोकप्रिय होती है इस प्रश्न पर सविस्तर विचार अन्यत्र किया जा चुका है।[3]

गगा प्रसाद गुप्त के अधिकाश ऐतिहासिक रोमास—पूना मे हलचल, कुवर सिंह सेनापति आदि सचित्र है। अल्प योग्यता वाले पाठको पर कथा मे वर्णित घटनाओ के चित्रो का विशेष प्रभाव पडता है। गुप्त जी ने भी अपने अल्प शिक्षित पाठको की रुचि और बुद्धिमत्ता का ध्यान रखकर अपने उपन्यासो को सचित्र बनाने का प्रयत्न किया है।

विवेच्य ऐतिहासिक रोमासो के शृगार चित्रण मे अपरिष्कृत युवक पाठको की रुचि कार्यशील दिखायी पडती है। नूरजहाँ तथा कुवर सिंह सेनापति मे कामव्यापार के अश्लील तथा ग्राम्य वर्णनो का बाहुल्य है। ये शृगार वर्णन युवक तथा मनचले पाठको की रुचि के बिलकुल अनुरूप है। गुप्त जी के उद्दिष्ट पाठक इसी कोटि के युवक और मन

१ वीर जयमल, १९०३ पृ० २२।

२ द्रष्टव्य, जयमल तोमरा बयान खोजमों पर चीता का आक्रमण तथा उसके बन्द जाने की घटना का बयान।

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत प्रबन्ध, अध्याय १।

चले' पाठक थे। अपने 'जयमल वा कृष्ण कान्ता' नामक रोमांस की भूमिका में उन्होंने अपने पाठकों को 'मनचले पाठक' कह कर ही सम्बोधित किया है।

अपने समकालीन उपन्यासकारों और कथालेखकों की तरह गुप्त जी भी कथा श्रावयिता के रूप में पाठकों के समक्ष विद्यमान रहकर उन्हें सहारा देते चलते हैं।' वीर जयमल में एक स्थान पर उपन्यासकार पाठकों को संबोधित कर कहता है 'पाठक! इन दोनों को इसी तरह बातें करते महल की ओर बढ़ने दीजिए। आइए हम आप जरा उस जवान राजपूत की भी खबर ले आवें जो दोनों हाथों से कलेजा सम्हाले चुपचाप उस दरवाजे की ओर टकटकी लगाये गौर से देख रहा है जिसमें से होकर अभी अभी उसकी हृदयाधीश्वरी कृष्णकान्ता जो अभी आपके सामने बैठी थी उठकर चली गयी है।'[१]

इस प्रकार के उदाहरण जिनमें लेखक शंका समाधान के लिए अपने पाठक के समक्ष आता है, गुप्त जी के ऐतिहासिक रोमांसों में अनेक हैं।[२] हिन्दी कथापाठक, जो पठनरुचि और पठन क्षमता की दृष्टि से अभी कथाश्रोता की कोटि से आगे नहीं बढ़ पाया था, लेखक को सदा अपने पास अदृश्य रूप में विद्यमान देखना चाहता था। गंगा प्रसाद गुप्त ने अपने पाठकों की इस माँग का ध्यान रखा था।

अपने युग के अन्य कथालेखकों की तरह गंगा प्रसाद गुप्त ने हिंदू पाठकों की रुचि और भावना का भी बहुत ध्यान रखा है। इनके ऐतिहासिक रोमांसों के अधिकांश हिन्दू पात्रों का चरित्र उज्ज्वल है, जबकि अधिकांश मुसलमान पात्र क्रूर, स्वार्थी, कपटी, विश्वासघाती और दुराचारी के रूप में चित्रित किये गये हैं। गोस्वामी जी की तरह गुप्त जी का विश्वास था कि अकबर एक धूर्त और काइयाँ मुसलमान था, जिसका उद्देश्य हिंदुओं को मुसलमान बनाना था। 'वीर जयमल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है,[३] "हमारी कहानी १५६७ ई० से आरम्भ होती है जबकि दिल्ली के तख्त पर हिंदुओं का 'गुप्त शत्रु', अकबर विराज रहा था। हमारे पाठकों में से कोई कोई शायद अकबर के साथ 'शत्रु' का शब्द देखकर चौंकेंगे, लेकिन नहीं, अकबर प्रगट में तो हिंदुओं से बहुत मनजोर रखता था, परन्तु उसका असल मतलब हिन्दू मुसलमान सबको एक कर देने का था। ' आदि।

इसके प्रतिकूल हिंदू पात्रों की वीरता आदि चारित्रिक गुणों का वर्णन न केवल लेखक और उपन्यास के हिंदू पात्र करते हैं वरन् मुसलमान पात्र भी—जैसे 'वीर जयमल' में ख्वाजमी[४]—हिंदुओं (राजपूतों) की वीरता और सच्चरित्रता का गुणगान करते थकते नहीं। हिंदू धर्म के सिद्धान्तों, आचार व्यवहारों तथा नैतिक उपदेशों का भी लेखक ने समर्थन और प्रतिपादन किया है।[५]

गंगा प्रसाद गुप्त के रोमांसों की भाषा भी सामान्य हिंदी पाठकों की पठनक्षमता के अनुरूप है। गोस्वामी जी की तरह गुप्त जी ने संस्कृतनिष्ठ और काव्यात्मक भाषा

१ वीर जयमल वा कृष्णकान्ता, पृ० १३।
२ वीर जयमल १९०३, पृष्ठ १६।
३ उपरिवत्, भूमिका।
४ वीर जयमल वा कृष्णकान्ता १९०३, पृष्ठ २१-२२।
५ द्रष्टव्य, वीर जयमल वा कृष्णकान्ता, १९०३, पृष्ठ ८।

का प्रयोग नही किया है। गुप्त जी के एतिहासिक रोमासो की भाषा मे हिंदी के तद्भव तथा उर्दू के प्रचलित शब्दा का बाहुल्य है यद्यपि पलडा उर्दू शब्दो का ही भारी है। इनकी भाषा दवकीनन्दन खत्री की भाषा के काफी निकट है। सरल वाक्यविन्यास, वणनात्मकता तथा साधारणता इस भाषाशैली के विशेष गुण है। यही भाषा तत्कालीन हिन्दी पाठको की, जिनम से अधिकाश का परिचय उर्दू भाषा और साहित्य से था, रुचि और पठनक्षमता के अनुकूल थी। अपने उर्दू प्रेमी हिंदी पाठका की रुचि का ध्यान रख कर गुप्त जी न अपने कतिपय रोमासा म, जसे 'नूरजहाँ' तथा कुवर सिंह सेनापति म, स्थान स्थान पर शृगाररसपूण शेर उद्धत किये है। नूरजहाँ के प्रत्येक परिच्छेद का आरभ किसी न किसी शेर से हुआ है।

इस प्रकार विषय, शिल्पविधि और भाषा शली, सभी दष्टिया से गुप्त जी के ऐतिहासिक रोमासो पर तत्कालीन पाठका की रुचि और पठनक्षमता का प्रभाव दिखायी पडता है।

जयरामदास गुप्त के एतिहासिक रोमांस तथा उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

किशोरीलाल गोस्वामी, गगा प्रसाद गुप्त और जयरामदास गुप्त, तीनो समकालीन थ। जयरामदास गुप्त ने भी किशोरीलाल गोस्वामी और गगा प्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक रोमासा की परपरा मे काश्मीर पतन (१९०७) किशोरी वा वीरबाला' (१९०७) 'मायारानी, (१९०८), नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह (१९०८) कलावती (१९०९) 'प्रभात कुमारी (१९०९), 'वीर वारागना (१९०९) 'रानीपन्ना वा राजललना (१९१०) तथा राजरानी' नामक एतिहासिक रोमासो की रचना की थी। इनमे से किशोरी वा वीरबाला नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह तथा 'वीर वारागना' के दो दो सस्करण हान का पता चलता है। शेष रोमासों के केवल एक एक सस्करण हो पाये। इससे निष्कष निकाला जा सकता है कि जयरामदास के ऐतिहासिक रामास तदयुगीन पाठका म बहुत लोकप्रिय नही हुए थे।

जयरामदास गुप्त के एतिहासिक रामासो म रूमानी तत्त्वा का, युद्ध और प्रेम के अतिरजित और अविश्वसनीय वणनो का प्राचुय उपरिविवेचित दोना लेखको की तुलना म अधिक दिखायी पडता है। तिलस्मी ढग क करिश्मा, ऐयारी के चमत्कारो आश्चयजनक, पर अविश्वसनीय घटनाशृखलाआ तथा प्रमव्यापार के अतिरजित और नग्न वणनो म कथा की ऐतिहासिकता बिलकुल दब सी गयी है। इन रोमासो म अतिलौकिक और अतिरजित घटनावणन के कारण ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण हो ही नही पाया है। समासत जयरामदास को ऐतिहासिक कथापुस्तको का 'ऐतिहासिक रोमास की सना देना ही युक्तिसगत है।

पूव विवेचित एतिहासिक रोमास लेखको की तरह जयरामदास ने भी अपरिष्कृत तथा अल्पयाग्यता वाल पाठको की रुचि और पठनक्षमता को ध्यान म रखकर अपन रामासा की रचना की थी।

जयरामदास के उद्दिष्ट पाठकों की रुचि किस कोटि की थी, इसका थोड़ा आभास उनके 'नवाबी परिस्तान' के एक विज्ञापन से मिलता है—"अगर आपको लखनऊ (अवध) के प्रसिद्ध ऐय्याश नवाब वाजिद अली शाह की ऐय्याशी उनके जमाने का रोमांच खड़ा कर देनेवाला वृत्तान्त उनके कौतूहल वर्द्धक गुप्त भेद, तथा उनके महल का रहस्य, बेगमों की उस्तादी, उनके चहेतियों की भयानक लीला, लोमहर्षक दंड, इत्यादि मालूम करना हो तथा घर बैठे बैठे उनके कैसर बाग की सैर करना चाहते हो और महलों का आनन्द लेना चाहते हो तो इस उपन्यास को पढ़िये।"[१] इन पाठकों की रुचि का ध्यान रखने के कारण ही विवेच्य ऐतिहासिक रोमांसों की वस्तुयोजना में इतिहास कम, अतिरंजित कल्पना अधिक है। अल्पयोग्यता संपन्न पाठकों के रुच्यनुरूप कथाकार कौतूहलोत्पादक घटनाओं की योजना पर विशेष ध्यान देता है, किन्तु उन्हें विश्वसनीय बनाने की चिन्ता वह प्रायः नहीं करता। 'काश्मीरपतन' में एक महात्मा जहाँ पर पटकते हैं, वहाँ एक तहखाना प्रकट हो जाता है तथा उनके इशारा करते ही चारों तरफ से, न जाने कहाँ से, काली काली सूरतें नंगी तलवारें लिये आ निकलती हैं। इसी रोमांस में महेश्वर नाम का पात्र कनकप्रभा की माँ को अलौकिक शक्ति के बल पर कहीं दूर कैद कनकप्रभा को दिखा देता है। 'किशोरी वा वीरबाला' में अकबर द्वारा नियुक्त ऐयारों और कुटनियों के अद्भुत करिश्मों का वर्णन है। 'नवाबी परिस्तान' में अपराधपूर्ण घटनाओं का बाहुल्य है। वाजिदअली शाह के महल की गुप्त सुरंगों और चोर दरवाजों के वर्णन के माध्यम से पाठकों को तिलस्मी ढंग की सामग्री देने का भी प्रयास किया गया है। 'प्रभात कुमारी' के छठे और नवें परिच्छेद में तिलस्मी करिश्मों का बाहुल्य है। तात्पर्य यह कि जयरामदास के ऐतिहासिक रोमांसों में अल्पयोग्यता संपन्न पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर कौतूहलोत्पादक घटनाओं की योजना, अत्यन्त अयथार्थ रूप में, की गयी है।

जयरामदास गुप्त के ऐतिहासिक रोमांसों में उपलब्ध शृंगारचित्रण में भी अर्धशिक्षित युवक पाठकों की रुचि का ही अधिक ध्यान रखा गया है। इनके सभी रोमांस, मुख्यतः, प्रेमकथाएँ हैं, पात्र ही नाममात्र ऐतिहासिक हैं। अनावश्यक रूप से लम्बे सौन्दर्यवर्णनों से, जिनकी भाषा अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत रुचि के पाठकों के लिए सुबोधगम्य है, सभी रोमांस आक्रान्त हैं। इन रोमांसों के सभी प्रेमी नायक-नायिका शृंगारपूर्ण शेरों के प्रेमी हैं और अपने कथन के बीच बीच में शेर उद्धृत करने का उन्हें रोग सा है।' 'नवाबी परिस्तान' में लेखक ने वाजिदअली शाह की बेगमों के नाज नखरों और चुहलबाजियों का वर्णन करने में, अपने युवक पाठकों को ध्यान में रखकर ही, आवश्यकता से अधिक रस लिया है। जयरामदास गुप्त के प्रायः सभी ऐतिहासिक रोमांसों में नारी पात्रों के सौंदर्य और कामचेष्टाओं का अपरिष्कृत वर्णन दृष्टिगोचर होता है, जो अल्पयोग्यता संपन्न युवक पाठकों की रुचि के अनुरूप है।

जयरामदास गुप्त कथाओं के वर्णनक्रम में पाठकों के साथ ऐसा घनिष्ठ संबंध बनाये रखते हैं, जो एक किस्सागो की विशेषता है। कथाश्रोता चाहता है कि कथावाचक जो दृश्य अपनी आँखों से देख रहा है, उसे वह भी देखे। जयरामदास के उद्दिष्ट पाठक इसी प्रकार

१ जयरामदास, बेगो वा डाकन, १९०९, अन्तिम पृष्ठों का विज्ञापन।

की श्रोताकोटि के थे, और इसलिए, वे भी सदा किस्सागो के रूप में पाठकों के समक्ष विद्यमान रहते हैं। जयरामदास का कोई भी रोमांस ऐसा नहीं है, जिसमें वे बार बार पाठकों के समक्ष, कभी किसी घटना के रहस्य को स्पष्ट करने के लिए, कभी किसी पात्र के चरित्र की व्याख्या के लिए, कभी विभिन्न कथाओं की शृंखला मिलाने के लिए, और कभी किसी पुरानी घटना की याद दिलाने के लिए, नहीं आते। अल्पयोग्यता संपन्न पाठकों को इन बातों की अपेक्षा भी रहती है। इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'किशोरी वा वीरबाला' के तीसरे परिच्छेद में कथाकार पाठकों को संबोधित करके कहता है—

"हमारे प्रिय पाठकगण अत्यन्त विस्मय और कौतूहल में पड गए होंगे कि उपन्यास तो वीरबाला वा किशोरी के नाम से लिखा गया है और इसका तीसरा परिच्छेद भी प्रारंभ हुआ, पर अभी तक उक्त नायिका का वृत्तान्त दृष्टिगोचर नहीं हुआ। अच्छा पाठकगण! लीजिये वही बयान आरंभ होता है।"[१]

इस प्रकार के अनेक उद्धरण विवेच्य रोमांसों से उद्धृत किये जा सकते हैं जो इस मान्यता को सिद्ध करते हैं कि जयरामदास गुप्त अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि और पठन क्षमता को सदा ध्यान में रखते थे।

ऐसे पाठक सुखान्त कथाएँ पढ़ना विशेष पसन्द करते हैं, इसका सविस्तर विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। जयरामदास गुप्त ने भी तत्कालीन उपन्यास पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर अपने सभी उपन्यासों को सुखांत रखा है। अपनी कथाओं को सुखांत बनाने में जयरामदास कृत्रिमता और अस्वाभाविकता की भी परवाह नहीं करते। 'रानी पन्ना वा राजललना' में उन्होंने कथा को सुखांत बनाने के लिए उसे सर्वथा कृत्रिम और अविश्वसनीय बना दिया है। इस कथा के नायक रुद्रसिंह यह सुनकर कि उनका विवाह पन्नाबाई से नहीं हो सकता बेहोश हो जाते हैं। इस पर उपन्यासकार पाठकों को संबोधित कर कहता है—"दुःखांत के प्रेमी पाठक! बस अब आपलोग क्षमा कीजिये। अब आप लोगों को मैं अधिक कष्ट नहीं दिया चाहता।' और इसके बाद कथा को बलपूर्वक सुखांत बना दिया गया है।

जयरामदास गुप्त ने अपने हिन्दू पाठकों की रुचि का भी यथासंभव ध्यान रखा है। उनके ऐतिहासिक रोमांसों में पाठकों को यथास्थान हिन्दूधर्मानुरूप उपदेश दिये गये हैं। 'काश्मीर पतन' में एक स्थान पर कथाप्रवाह से अलग हटकर लेखक पूरे दो पृष्ठों में संसार की परिवर्तनशीलता का वर्णन करता है। हिन्दू स्त्रियों की दृढ़ता और सतीत्वरक्षा का वर्णन लेखक ने सोत्साह किया है। हिन्दू पात्रों का चरित्र प्रायः उज्ज्वल और मुसलमान पात्रों का अनुज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया गया है। अकबर जैसे प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्र के चरित्र को भी उपन्यासकार ने गर्हित रूप में सामने रखा है। 'किशोरी' नामक रोमांस में अकबर और करीमन के वार्तालाप से ऐसा मालूम होता है मानो करीमन किसी बादशाह से नहीं, चोबदार से बातें कर रही हो। किशोरी को प्राप्त करने के

१ किशोरी वा वीरबाला, पृ० १२।

लिए अकबर जो षड्यन्त्र रचता है वे उसके चरित्र को बहुत नीचे गिरा देते हैं। 'रानी पन्ना वा राजललना' में अकबर को 'हिन्दूधर्म के गुप्त विरोधी' के रूप में चित्रित किया गया है। इससे सिद्ध है कि लेखक हिन्दू पाठकों को प्रसन्न रखने का प्रयास करता है।

जयरामदास गुप्त के ऐतिहासिक रोमांसों में लम्बे लम्बे प्रकृतिवर्णन तथा नगर, सेना, किले आदि के विवरण की बहुलता है। प्रकृतिवर्णन में जयरामदास गुप्त किशोरीलाल गोस्वामी का अनुकरण करते जान पड़ते हैं, पर संस्कृत भाषा और साहित्य का ज्ञान न रहने तथा सूक्ष्म अवलोकन क्षमता के अभाव के कारण ये प्रकृतिवर्णन भद्दे, अपरिष्कृत और उबानेवाले हो गये हैं। इन वर्णनों पर उर्दू काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है।[1] ये प्रकृतिवर्णन परिष्कृत रुचि के पाठकों के अनुरूप बिलकुल ही नहीं हैं।[2] और चूंकि अल्पशिक्षित पाठक प्रकृतिवर्णन के लिए कथा नहीं पढ़ते, इस कारण इनकी कोई सार्थकता नहीं। ये वर्णन जयरामदास गुप्त के रोमांसों के अधिक लोकप्रिय न होने के प्रधान कारण हैं।

जयरामदास गुप्त यों अधिकांशत अपने उद्दिष्ट पाठकों की रुचि का अनुगमन करते ही दीख पड़ते हैं, पर वे तद्युगीन अल्पशिक्षित पाठकों के रुचिपरिष्कार का भी थोड़ा बहुत प्रयत्न करते हैं। उनके ऐतिहासिक रोमांसों के आरम्भ में दी गयी उपक्रमणिकाओं के, जिनमें कथा के पात्रों से सम्बद्ध ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन किया गया है, माध्यम से इसी उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। 'प्रभात कुमारी' की उपक्रमणिका में जयरामदास गुप्त ने अपने इस उद्देश्य का संकेत भी किया है। उन्होंने लिखा है 'इससे उसका (मीरजुमला) थोड़ा सा वृत्तान्त इसलिए यहाँ लिख देना हम उचित समझते हैं जिसमें हमारे प्रेमी पाठकों को उपन्यास के साथ ही शुद्ध इतिहास का भी आनन्द मिल जाय और उसके आदि के वृत्तान्त से भी जानि हो जाय।' ये ऐतिहासिक उपक्रमणिकाएँ और भूमिकाएँ पर्याप्त गम्भीर और तथ्यपूर्ण हैं, जब कि ऐतिहासिक रोमांसों में ऐतिहासिक तथ्यों की प्राय उपेक्षा की गयी है।

जयरामदास गुप्त के ऐतिहासिक रोमांसों की भाषा ग्राम्य अपरिष्कृत उर्दू फारसी शब्द बहुल तथा अशक्त है। इस प्रकार की भाषा अल्पाध्ययनवाले पाठकों को ही ग्राह्य हो सकती है। कहीं कहीं भाषा में गोस्वामी जी के अनुकरण पर काव्यात्मकता के आधान का प्रयत्न है, पर इसमें लेखक को सफलता नहीं मिली है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जयरामदास गुप्त ने अपने समकालीन कथाकारों की तरह ही हिन्दी के अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि और पठनक्षमता का ध्यान रखा है। साथ ही उन्होंने ऐतिहासिक रोमांसों की रचना कर तथा उनके आरम्भ में भूमिकाओं और उपक्रमणिकाओं के रूप में, ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कर हिन्दी पाठकों के रुचिपरिष्कार का भी प्रयत्न किया है।

---

१ नवाबी परिस्तान, पृष्ठ ३८।

२ उदाहरण के रूप में 'नवाबी परिस्तान' का आरम्भ तथा पृष्ठ ३८, 'कलावती' पृष्ठ १०-११, रानी पन्ना वा राजललना, पृष्ठ १२।

अन्य इतिहासाश्रित कथापुस्तक तथा उनपर पाठको की रुचि का प्रभाव

किशोरीलाल गोस्वामी, गगा प्रसाद गुप्त और जयरामदास गुप्त, विवेच्य अवधि क प्रमुख लेखक हैं, पर इनके समकालीन अन्य लेखका ने भी इतिहासाश्रित कथाओ, रोमासो और उपन्यासा की रचना की थी। जहाँ तक ऐतिहासिक रोमासा की बात है, इस क्षत्र मे उपयुक्त तीनो लेखक छाये से रहे और बहुत कम अन्य लेखका ने ऐतिहासिक रोमास लिखने का प्रयत्न किया।

इस अवधि के कुछ प्रमुख फुटकल ऐतिहासिक रोमास कार्तिक प्रसाद खत्री कृत जया' (१९०१), प० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली', रामजीवन नागरकृत 'जगदेव परमार' (१९१२), मथुरा प्रसाद शर्मा कृत 'नूरजहा (१९०५), जयराम लाल रस्तोगी कृत मौतेली माँ या अतिम युवराज' (१९०६) तथा 'ताजमहल वा फतहपुरी बेगम' (१९०७), ठाकुर प्रसाद खत्री कृत 'लखनऊ की नवाबी (१९०६) चुनी लाल खत्री कृत 'रणवीर' तथा स्वामी अनुभवानन्द सरस्वती कृत 'यमुनाबाई आदि है। इन रोमासा म अतिलौकिक वणनों, साहसिक कार्यों तथा प्रेमचित्रण को प्रधानता है। ऐतिहासिक यथाथ का चित्रण इनम बिलकुल ही नही मिलता। दूसरी तरफ, अनेक लेखका ने छिटपुट रूप से, विशुद्ध ऐतिहासिक कथाओ और ऐतिहासिक उपन्यासा की रचना की।

एतिहासिक उपन्यास

प्रस्तुत प्रसग म एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कारण है, कि विवेच्य अवधि म जैस कुछ लेखको ने जमकर ऐतिहासिक रोमास लिखे, वस ही कोई उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासलेखन म पूणरूप से क्या नही प्रवत्त हुआ। जसा कि ऐतिहासिक उपन्यासा के अवलोकन से स्पष्ट है, विवेच्य काल म किसी भी लखक न तीन स अधिक एतिहासिक उपन्यास नही लिखे। इसका एकमात्र कारण हिन्दी म उपन्यासपाठको का अभाव है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विवेच्य काल के, विशेष कर उसके प्रथम दो दशका के अधिकाश हिन्दी पाठक अल्प शिक्षित युवक थे। ऐसे पाठको की रुचि अतीत कालीन समाज और सस्कृति क चित्रण तथा ऐतिहासिक पात्रो क भावजगत क उद्घाटन म नही होती। इन पाठका की रुचि कौतूहलवधक घटनाओ और कामव्यापार के वणनो म विशेष होती है। यही कारण है कि विवेच्यकाल म, इस प्रकार के हिन्दीपाठका के लिए, कुछ लेखको ने विशेष रूप से एतिहासिक रोमासा की रचना की, जबकि एतिहासिक उपन्यासा की रचना म लखक डरते डरते प्रवत्त होते थे, और कोई भी लेखक, एतिहासिक उपन्यासपाठका और प्रकाशका के अभाव मे, एक या दो से अधिक उपन्यासा की रचना नही कर पाता था।

विवेच्य काल क कुछ प्रमुख एतिहासिक उपन्यासलेखक और कृतियाँ, जिन पर तत्कालीन पाठका की रुचि क प्रभाव का विवेचन करना उद्दिष्ट है, निम्नलिखित हैं—

मुशी देवी प्रसाद—'रूठी रानी (१९०६) और सुप्यार दे की आरती (१९१७), हरिचरण सिंह चौहान—'वीर नारायण (१८९८) ब्रज विहारी सिह— कोटारानी (१९०२) बलदेव प्रसाद मिश्र-'पानीपत (१९०२) लालजी सिह— वीर बाला' (१९०३), गिरिजा

नन्दन तिवारी —'पद्मिनी (१९०५), बलभद्र सिंह—'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय (१९०९), रामनरेश त्रिपाठी—'वीरांगना (१९११) बलभद्र सिंह—'जयश्री' (१९११) तथा 'सौम्य प्रभा वा अद्भुत अंगूठी (१९११) राम प्रताप गुप्त—'महाराष्ट्र वीर' (१९१३) सिद्धनाथ सिंह—'प्रणपालन (१९१५) अखौरी कृष्ण प्रकाश—वीर चूडामणि (१९१५) चन्द्रशेखर पाठक—'भीम सिंह (१९१५) युगुल किशोर नारायण सिंह—'राजपूत रमणी (१९१६), व्रजनन्दन सहाय—'लालचीन (१९१६) मिश्रबन्धु—'वीरमणि (१९१७)।

उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासों के विषय में यह उल्लेखनीय है कि इनमें से केवल रामनरेश त्रिपाठी लिखित 'वीरांगना' (१९११), राम प्रताप गुप्त लिखित महाराष्ट्र वीर (१९१३), अखौरी कृष्ण प्रकाश लिखित वीर चूडामणि (१९१५) और व्रजनन्दन सहाय लिखित 'लालचीन' के ही दो संस्करण हुए थे। इससे स्पष्ट है कि विवेच्य काल में, विशेषकर इसके प्रथम दो दशकों में ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय नहीं थे। अन्तिम दशक में कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों के भी दो दो संस्करण हुए जिनसे यह अनुमान करना युक्तिरहित न होगा कि इस अवधि तक गम्भीर रुचि के पाठकों का वर्ग भी बनने लगा था। इस तथ्य की पुष्टि विवेच्य काल के सामाजिक उपन्यासों की लोकप्रियता तथा इसके परवर्ती दशक में प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासों की लोकप्रियता में भी होती है।

विवेच्य काल के ऐतिहासिक उपन्यास प्रथम कोटि के नहीं कहे जा सकते। औपन्यासिक कसौटी पर इनमें शिल्प और विषय चित्रण सम्बन्धी अनेक दोष परिलक्षित होते हैं किन्तु इनमें पूर्व विवेचित ऐतिहासिक रोमांसों की तरह इतिहास का गला घोटकर कामव्यापारों तथा साहसिकता अपराध और कौतूहलप्रद घटनाओं का वर्णन नहीं किया गया है। इन उपन्यासों का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू वीरों की वीरता, उदारहृदयता, धर्मप्रियता तथा हिन्दू स्त्रियों के पातिव्रत्य त्याग और वीरत्व का चित्रण कर भारतीय गौरव को पाठकों के सामने लाना है। इस अवधि के कुछ प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों में जैसे वीरनारायण में मर्तुंदे के सरदार नारायण सिंह कोटा रानी में काश्मीर की विधवा महारानी कोटारानी 'वीर बाला' तथा 'राजपूत रमणी' में उदयपुर के राणा राजसिंह के प्रधान सरदार चन्दावत तथा उनकी वीरपत्नी हाड़ा रानी सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय में शिवाजी के दाहिने हाथ तनाजी 'वीरांगना और 'भीमसिंह' में पद्मावती सौन्दर्यप्रभा वा अद्भुत अंगूठी' तथा 'महाराष्ट्रवीर' में शिवाजी प्रणपालन में मेवाड़ के महाराणा लाखाजी के पुत्र चूडाजी आदि हिन्दू पात्रपात्रियों की वीरता त्याग आत्म बलिदान उदारता पातिव्रत्य आदि का प्रभावशाली वर्णन किया गया है।

विवेच्य उपन्यासों में हिन्दू पाठकों की रुचि का सर्वत्र ध्यान रखा गया है। मुसलमान पात्र और पात्रियाँ नामान्यतः क्रूर विलासी धोखेबाज कायर स्वार्थी और व्यभिचारी रूप में चित्रित की गयी हैं जबकि हिन्दू पात्रपात्रियों का चरित्र विमल और हिन्दू आदर्शानुरूप है। स्थान स्थान पर हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और आदर्शों जैसे कर्मफलवाद ईश्वर में विश्वास धार्मिक कृत्य पातिव्रत्य आदि का अनुमोदन भी किया गया है। कर्मफलवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादनार्थ दुष्ट पात्रों को दुर्वार दंड दिलाया

अन्य इतिहासाश्रित कथापुस्तक तथा उनपर पाठको की रुचि का प्रभाव

किशोरीलाल गोस्वामी गगा प्रसाद गुप्त और जयरामदास गुप्त विवेच्य अवधि के प्रमुख लेखक है पर इनके समकालीन अन्य लेखको ने भी इतिहासाश्रित कथाओ, रोमासो और उपन्यासो की रचना की थी। जहाँ तक एतिहासिक रोमासो की बात है, इस क्षेत्र मे उपयुक्त तीनो लेखक छाये से रहे, और बहुत कम अन्य लेखको ने ऐतिहासिक रोमास लिखने का प्रयत्न किया।

इस अवधि के कुछ प्रमुख फुटकल ऐतिहासिक रोमास कार्तिक प्रसाद खत्री कृत 'जया' (१९०१), प० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली रामजीवन नागरकृत 'जगदेव परमार' (१९१२), मथुरा प्रसाद शर्मा कृत 'नूरजहाँ' (१९०५), जयराम लाल रस्तोगी कृत 'सौतेली माँ या अतिम युवराज' (१९०६) तथा 'ताजमहल वा फतहपुरी बेगम' (१९०७), ठाकुर प्रसाद खत्री कृत 'लखनऊ की नवाबी (१९०६) चुन्नी लाल खत्री कृत 'रणवीर' तथा स्वामी अनुभवानन्द सरस्वती कृत 'यमुनाबाई' आदि है। इन रोमासो मे अतिलौकिक वर्णनो, साहसिक कार्यों तथा प्रेमचित्रण को प्रधानता है। ऐतिहासिक यथार्थ का चित्रण इनमे बिलकुल ही नही मिलता। दूसरी तरफ, अनेक लेखको ने छिटपुट रूप से, विशुद्ध ऐतिहासिक कथाओ और ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना की।

ऐतिहासिक उपन्यास

प्रस्तुत प्रसग मे एक विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या कारण है कि विवेच्य अवधि मे जहाँ कुछ लेखको ने जमकर ऐतिहासिक रोमास लिखे, वसे ही कोई उपन्यासकार ऐतिहासिक उपन्यासलेखन मे पूर्णरूप से क्यो नही प्रवृत्त हुआ। जैसा कि ऐतिहासिक उपन्यासो के अवलोकन से स्पष्ट है, विवेच्य काल मे किसी भी लेखक ने तीन से अधिक एतिहासिक उपन्यास नही लिखे। इसका एकमात्र कारण हिन्दी मे उपन्यासपाठको का अभाव है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विवेच्य काल के, विशेष कर उसके प्रथम दो दशको के, अधिकाश हिन्दी पाठक अल्प शिक्षित युवक थे। ऐसे पाठको की रुचि अतीत कालीन समाज और सस्कृति के चित्रण तथा ऐतिहासिक पात्रो के भावजगत के उदघाटन मे नही होती। इन पाठको की रुचि कौतूहलवर्धक घटनाओ और कामव्यापार के वर्णनो मे विशेष होती है। यही कारण है कि विवेच्यकाल मे, इस प्रकार के हिन्दीपाठको के लिए, कुछ लेखको ने विशेष रूप से एतिहासिक रोमासो की रचना की, जबकि ऐतिहासिक उपन्यासो की रचना मे लेखक डरते डरते प्रवृत्त होते थे, और कोई भी लेखक, एतिहासिक उपन्यासपाठको और प्रकाशको के अभाव मे, एक या दो से अधिक उपन्यासो की रचना नही कर पाता था।

विवेच्य काल के कुछ प्रमुख एतिहासिक उपन्यासलेखक और कृतियाँ, जिन पर तत्कालीन पाठको की रुचि के प्रभाव का विवेचन करना उद्दिष्ट है, निम्नलिखित है—

मुशी देवी प्रसाद—'रूठी रानी (१९०६) और सुप्यार दे की आरती (१९१७), हरिचरण सिंह चौहान—'वीर नारायण (१८९४) व्रज विहारी सिंह—कोटारानी (१९०२) बलदेव प्रसाद मिश्र—'पानीपत (१९०२), लालजी सिंह—वीर बाला (१९०३), गिरिजा

नन्दन तिवारी' — पद्मिनी (१९०५), बलभद्र सिंह—'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय' (१९०९) रामनरेश त्रिपाठी—'वीरागना (१९११) बलभद्र सिंह—'जयश्री' (१९११) तथा 'सौन्दर्य प्रभा वा अदभुत अगूठी (१९११), राम प्रताप गुप्त—'महाराष्ट्र वीर' (१९१३), सिद्धनाथ सिंह—'प्रणपालन (१९१५) अखौरी कृष्ण प्रकाश—वीर चूडामणि' (१९१५) चन्द्रशेखर पाठक—'भीम सिंह (१९१५) युगुल किशोर नारायण सिंह—'राजपूत रमणी (१९१६), व्रजनन्दन सहाय—'लालचीन (१९१६) मिश्रबन्धु—'वीरमणि' (१९१७)।

उपर्युक्त ऐतिहासिक उपन्यासो के विषय म यह उल्लेखनीय है कि इनम से केवल रामनरेश त्रिपाठी लिखित 'वीरागना (१९११), राम प्रताप गुप्त लिखित 'महाराष्ट्र वीर (१९१३), अखौरी कृष्ण प्रकाश लिखित 'वीर चूडामणि (१९१५) और व्रजनन्दन सहाय लिखित लालचीन के दो दो सस्करण हुए थे। इससे स्पष्ट है कि विवेच्य काल म, विशेषकर इसके प्रथम दो दशको म, ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी पाठको म लोकप्रिय नही थे। अन्तिम दशक म कुछ ऐतिहासिक उपन्यासो के भी दो दो सस्करण हुए जिससे यह अनुमान करना युक्तिरहित न होगा कि इस अवधि तक गम्भीर रुचि के पाठको का वर्ग भी बनने लगा था। इस तथ्य की पुष्टि विवेच्य काल के सामाजिक उपन्यासो की लोकप्रियता तथा इसके परवर्ती दशक म प्रेमचन्द के सामाजिक उपन्यासो की लोकप्रियता से भी होती है।

विवेच्य काल के ऐतिहासिक उपन्यास प्रथम कोटि के नही कहे जा सकते। औपन्यासिक कसौटी पर इनम शिल्प और विषय चित्रण सम्बन्धी अनेक दोष परिलक्षित होते हैं, किन्तु इनम पूर्व विवेचित ऐतिहासिक रोमासो की तरह इतिहास का गला घोटकर कामव्यापारो तथा साहसिकता, अपराध और कौतूहलप्रद घटनाओ का वर्णन नही किया गया है। इन उपन्यासो का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू वीरो की वीरता, उदारहृदयता, धर्मप्रियता तथा हिन्दू स्त्रियो के पातिव्रत्य त्याग और वीरत्व का चित्रण कर भारतीय गौरव को पाठको के सामने लाना है। इस अवधि क कुछ प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासो म, जैसे 'वीरनारायण' म मलूंदे के सरदार नारायण सिंह कोटा रानी' म काश्मीर की विधवा महारानी कोटारानी, 'वीर बाला' तथा 'राजपूत रमणी' म उदयपुर के राणा राजसिंह के प्रधान सरदार चन्दावत तथा उनकी वीरपत्नी हाडा रानी 'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय म शिवाजी के दाहिने हाथ नेताजी, वीरागना' और 'भीमसिंह म पद्मावती सौन्दर्यप्रभा वा अद्भुत अगूठी' तथा महाराष्ट्रवीर म शिवाजी 'प्रणपालन' म मराठो के महाराणा सागा [illegible] आदि हिन्दू पात्रपात्रियो की वीरता, त्याग आत्म बलिदान [illegible], पातिव्रत्य आदि का प्रभावशाली वर्णन किया गया है।

विवेच्य उपन्यासो म हिन्दू पाठको की रुचि का [illegible] ध्यान रखा गया है। मुसलमान पात्र और पात्रियाँ [illegible], [illegible], [illegible] स्वार्थी और व्यभिचारी रूप म चित्रित [illegible] गयी हैं [illegible] हिन्दू [illegible] का चरित्र निर्मल और हिन्दू आदर्शानुरूप है। [illegible] कर्मफलवाद, ईश्वर म विश्वास धार्मिक [illegible] और आदर्शो, जन [illegible] गया है। कर्मफलवाद के [illegible] का अनुमोदन भी किया [illegible] दिखाया

गया है। गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'पद्मिनी' का विश्वासघाती पात्र तेजसिंह कोढी होकर कुत्ते की मौत मरता है। किन्तु इन लेखको ने अल्प योग्यता वाले युवक पाठको की मुख्य प्रवृत्ति, कौतूहल और कामभाव, को सहलाने और उत्तेजित करने का प्रयत्न नही किया है। या इन उपन्यासो म चित्रित अनेक घटनाए विश्वसनीय नही बन पायी है पर इनका उद्देश्य पाठको म कौतूहलभाव जागत करना कदापि नही है।[१] इन उपन्यासो का प्रमुख ध्येय चरित्रचित्रण है। यद्यपि इस चरित्रचित्रण म आन्तरिक भावो के उदघाटन का प्रयत्न, अपवादस्वरूप व्रजनन्दन सहाय के 'लाल चीन' को छोडकर, बहुत कम किया गया है, फिर भी है यह चरित्रचित्रण ही। यही कारण है कि विवेच्य ऐतिहासिक उपन्यास तत्कालीन पाठको म लोकप्रिय न हो सके। किन्तु साहित्यिक विवेचन की दृष्टि से, इन उपन्यासो का विशेष महत्त्व है। दुर्भाग्यवश हिन्दी उपन्यासविषयक शोधकर्त्ताओ ने इन उपन्यासो का उल्लेखमात्र करके सन्तोष कर लिया है।

फिर भी इन उपन्यासो पर तत्कालीन अल्पयोग्यता वाले पाठको की रुचि और पठनक्षमता का बिलकुल प्रभाव नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। विवेच्य ऐतिहासिक उपन्यासो म इतिहास का गला तो नही घोटा गया है लेकिन जिन ऐतिहासिक पुस्तको का आधार मानकर इस काल के उपन्यासकार चले है—जैसे टाड कृत 'राजस्थान का इतिहास' या 'इडियन शिवेलरी' जैसी पुस्तक—वे स्वय विशेष प्रामाणिक नही है। इन उपन्यासकारो का इतिहासज्ञान नाममात्र का था। यद्यपि यह त्रुटि उपन्यासकारो की ही है पाठको की नही, पर यह कहा जा सकता है कि यदि विवेच्यकाल के हिन्दी पाठको का इतिहासज्ञान विकसित होता तो लेखक ऐसी अनैतिहासिक घटनाओ पर आधारित उपन्यास लिखने का प्रयत्न नही करते। इस प्रकार इन उपन्यासो की रचना पर तत्कालीन पाठको की रुचि का अप्रत्यक्ष प्रभाव है।

विवेच्यकाल के ऐतिहासिक उपन्यासकार अल्पशिक्षित तथा अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठको को तरह तरह का उपदेश देना मानो अपना कर्तव्य समझते है। इन उपन्यासो म स्थान स्थान पर पाठकपाठिकाओ को वीरत्व, लोभत्याग, धर्मपालन, चरित्रनिर्माण तथा पातिव्रत्य आदि के उपदेश दिये गये है।

विवेच्य ऐतिहासिक उपन्यासो के शिल्प पर तत्कालीन पाठको की, जो अभी श्रोता कोटि के पाठक थे, रुचि और पठनक्षमता का प्रभाव दिखायी पड़ता है। ये उपन्यासकार प्राय पाठको को सबोधित कर कभी घटनाओ की शृखला मिलाते हैं, कभी उपदेश देते है और कभी ऊबते हुए पाठको का ध्यान कथा की ओर खीचते है। उदाहरणार्थ हरिचरण सिंह चौहान 'वीरनारायण' के द्वितीय 'प्रकरण' म पाठको का ध्यान एक इतर प्रसग की ओर आकृष्ट करते हुए कहते है—'पाठको को इस बात के जानने की इच्छा अवश्य होगी कि बून्दी पर मुसलमानो का अधिकार कैसे हुआ ? इसलिये यहाँ पर इस वृत्तात को प्रकाश कर उसका परिचय देना भी उचित ही है"। (पृ० ७) गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'पद्मिनी'

१ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'पद्मिनी' का वह प्रसग जहाँ अलाउद्दीन ग्रामीण स्त्रियों से 'पद्मिनी के सौन्दय की प्रशसा सुन उसके विरह में हाय हाय करने लगता है। (पृ० ४-५)

(१९०५), रामनरेश त्रिपाठी कृत 'वीरांगना', सिद्धनाथ सिंह कृत 'प्रणपालन', अखौरी कृष्ण प्रकाश कृत 'वीरचूड़ामणि', श्रद्धेश्वर पाठक कृत 'भीमसिंह' तथा व्रजनन्दन सहाय कृत 'लालचीन' आदि उपन्यासों में भी उपन्यासकार धार्मिकता के रूप में बार-बार आता है। इससे स्पष्ट है कि विवेच्य ऐतिहासिक उपन्यासकार अपने अल्पशिक्षित वाले पाठकों का भी ध्यान रखते थे।

उपर्युक्त अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास पाठकों के रुच्यनुरूप सुखान्त हैं, यद्यपि इनमें सुखान्त के लिए इतिहास और यथार्थ की हत्या नहीं की गयी है।

विवेच्य ऐतिहासिक उपन्यासों में सुशिक्षित और परिष्कृत पाठकों की रुचि का ध्यान प्रायः रखा गया है। कतिपय उपन्यासों के आवरणपृष्ठों पर, प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में और घटनाओं के बीच-बीच में संस्कृत और हिन्दी के पद्य उद्धृत हैं।[1] कहीं-कहीं उर्दू के शेर भी आये हैं। प्रकृति और सौन्दर्य वर्णन[2] में भी ये उपन्यासकार अपने युग के परिष्कृत रुचिसम्पन्न पाठकों का ध्यान रखते हैं। गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'पद्मिनी' में पद्मिनी के नखशिख का, प्राचीन काव्यों की रीति पर आलंकारिक वर्णन किया गया है। लालजी सिंह कृत 'वीरबाला' (१९०३) का आरम्भ आलंकारिक प्रकृति वर्णन से हुआ है, तथा कथा के बीच-बीच में भी इस प्रकार के प्रकृतिवर्णन आये हैं। ठाकुर बलभद्र सिंह कृत 'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय' तथा व्रजनन्दन सहाय कृत 'लाल चीन' में प्रकृति के काव्यात्मक वर्णनों की बहुलता है। रामनरेश त्रिपाठी कृत 'वीरांगना' में प्रकृतिवर्णनों और पद्यों के द्वारा काव्यात्मकता लाने का प्रयत्न किया गया है।[3]

इससे स्पष्ट है कि विवेच्यकाल के ऐतिहासिक उपन्यासकारों ने अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकों की तुलना में, सुशिक्षित और परिष्कृत हिन्दी पाठकों की रुचि का अधिक ध्यान रखा है।

विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ

जैसा आरम्भ में कहा जा चुका है विवेच्य अवधि में कुछ विशुद्ध ऐतिहासिक कथाएँ भी लिखी गयीं। इन कथाओं में से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं—

पं० अयोध्यासिंह कृत 'निहाल दे की पुस्तक' (१८९०), कार्तिक प्रसाद खत्री कृत महाराज विक्रमादित्य का जीवन चरित (१८९३) तथा 'महाराज छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' (१८९४), जयन्ती प्रसाद उपाध्याय कृत 'पृथ्वीराज चौहान' (१९०२), हरिदास माणिक कृत 'महाराणा प्रताप सिंह की वीरता' (१९०७), कालिदास माणिक और हरिदास माणिक कृत 'राणा साँगा और बाबर' (१९१२), 'मेवाड़ का उद्धारकर्ता' (१९११) आदि।

---

१ द्रष्टव्य, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'पानीपत' (१९०२), ठाकुर बलभद्र सिंह कृत 'सौन्दर्य कुसुम वा महाराष्ट्र का उदय' (१९०९) तथा 'सौन्दर्य प्रभा वा अद्भुत अंगूठी' (१९११), सिद्धनाथ सिंह कृत 'प्रणपालन' (१९१०) आदि।

२ गिरिजानन्दन तिवारी, 'पद्मिनी' (१९०५), पृ० ७, ८, १०, ३९।

३ द्रष्टव्य, वीरांगना, प्रथम दृश्य।

इन कथापुस्तकों में ऐतिहासिक घटनाओं का ज्यों का त्यों वर्णन प्रस्तुत कर दिया गया है। इनका उद्देश्य किसी काल्पनिक संसार की सृष्टि नहीं। इसलिए इन्हें 'तथ्य' की संज्ञा दी जा सकती है, 'उपन्यास' की नहीं।

लाल चीन

विवेच्यकाल की इतिहासाश्रित कथापुस्तकों में ब्रजनन्दन सहाय कृत 'लालचीन' आपवादिक महत्त्व की कृति है। अतः इसका स्वतन्त्र विवेचन अपेक्षित है।

'लाल चीन' विवेच्य काल का प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें चरित्रचित्रण को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। पूर्ववर्ती इतिहासाश्रित रोमांसों और उपन्यासों में मनोरंजन तत्त्व और आदर्श निरूपण की प्रधानता था तथा चरित्रचित्रण गौण और प्रायः नहीं होता था। ब्रजनन्दन सहाय ने चरित्रचित्रण को ऐतिहासिक उपन्यास का प्रधान उद्देश्य घोषित कर तथा 'लालचीन' के रूप में उसका उदाहरण प्रस्तुत कर हिन्दी ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा में नया मोड़ उपस्थित किया।

'लाल चीन' के प्रथम संस्करण की भूमिका में अवध विहारी शरण ने लिखा है—' *हिन्दी साहित्य में उपन्यास के प्रायः दो ही उद्देश्य समझे जाते हैं। एक तो मनोरंजन करना और* दूसरे उच्च भाव अथवा आदर्श प्रदर्शित करना। ... उपन्यास का एक तीसरा प्रधान अंग है जिसकी ओर विशेष कर पाश्चात्य ही लोगों की दृष्टि गयी है। अंगरेजी में इसे character sketch कहते हैं और हम हिन्दी में इसे चरित्रचित्रण कह सकते हैं। किस अवस्था में पड़कर कौन मनुष्य कैसा होगा, किस व्यक्ति से कितनी आशा करनी चाहिए इसका ज्ञान केवल अनुभवी लेखक अपने पाठकों को दिला सकते हैं। ... इस प्रकार के उपन्यासों में कल्पना कम और वास्तविकता अधिक होती है। अस्तु, इस उपन्यास में *चरित्र का चित्रण ही प्रधान रखा गया है।'*

'लाल चीन' में कौतूहलोत्पादक घटनाओं की योजना पर नहीं, चरित्रचित्रण पर विशेष बल है। इस उपन्यास में लाल चीन, कुलसुम, गयासुद्दीन और जुल्फुन्निसा के अन्तर्द्वन्द्व का विश्वसनीय और प्रभावशाली चित्रण प्रस्तुत किया गया है। पात्रों के आंतरिक भावों के चित्रण में उपन्यासकार की विशेष रुचि है। खल पात्रों को भी अपनी सहानुभूति से वंचित न रखकर लेखक ने चरित्रचित्रण की विकसित प्रविधि का परिचय दिया है।

चरित्रचित्रण सम्बन्धी कोई दोष यदि इस उपन्यास में है, तो वह यह कि लालचीन और कुलसुम शेक्सपीयर के मकबेथ और लेडी मकबेथ के भारतीय प्रतिरूप हैं। उपन्यासकार ने लालचीन में मकबेथ और कुलसुम में लेडी मकबेथ का परकायप्रवेश करा दिया है। यहाँ तक कि वार्तालाप के प्रसंग में कुलसुम वही पंक्तियाँ बोलती है, जो 'मकबेथ' में लेडी मकबेथ के मुख से कहलायी गयी हैं। कुलसुम कहती है, '*मैंने शिशु को पयपान कराया है* और मैं जानती हूँ कि माता पर शिशु का स्नेह कैसा प्रबल होता है, तथापि स्तनपान करते समय बालक मेरी गोद को सुशोभित करता हुआ मेरे मुँह की ओर देख कर हँस रहा है उस समय भी उसके दंतहीन मुख से कुच को खींचकर और प्रस्तर खंड पर उसे पटक कर मैं उसके भेजा को बाहर कर सकती हूँ, यदि मैं कभी ऐसी प्रतिज्ञा करूँ, जैसी तुमने मेरे

सम्मुख गयासुद्दीन के सर्वनाश करने की की थी"। कुलसुम का यह कथन लेडी मैकबेथ के निम्नांकित कथन का अनुवादमात्र है—

"I have given suck, and know
How tender 'tis to love the bab that milks me
I would, while it was smiling in my face,
Have pluck'd my nipple from his boneless gums,
And dash'd the brains out, had I so sworn as you
Have done to this"[1]

यह उदाहरण अकेला नहीं है। कुलसुम और लाल चीन की अनेक उक्तियाँ लेडी मकबेथ और मैकबेथ की उक्तियों के अनुवादमात्र हैं। लाल चीन की अन्य अनेक घटनाएं भी मैकबेथ की घटनाओं के समनुरूप हैं। जब गयासुद्दीन उसी प्रकार लालचीन का अतिथि बन कर अपनी आँखें गँवाता तथा बंदी बनता है जिस प्रकार डंकन मकबेथ का आतिथ्य ग्रहण कर अपने प्राणों से हाथ धोता है।

'मैकबेथ' के इस हूबहू अनुकरण के कारण 'लालचीन' का महत्त्व घट जाता है, पर इतना तो मानना ही होगा कि व्रजनन्दन सहाय ने हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास को, रोमांस, तिलस्म और ऐयारी के गर्त से बाहर निकाल कर, एक नयी दिशा दी। उन्होंने अल्पयोग्यता वाले पाठकों की रुचि और पठनक्षमता की उपेक्षा कर सुशिक्षित विकसित बुद्धि तथा परिष्कृत पाठकों की रुचि के अनुरूप ऐतिहासिक उपन्यास की रचना की।

व्रजनन्दन सहाय ने 'लालचीन' में स्थान स्थान पर प्रकृति वर्णनों की योजना संस्कृत गद्यकाव्यों के अनुकरण पर की है। उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रकृति वर्णन—

"वसन्त ऋतु की विचित्र शोभा वन में छा रही थी। नाना प्रकार के आरण्य पुष्प वन में विकसित थे। उनके सौरभ से वन सुगंधित हो उठा था। विपिनवासी नाना जाति के पक्षी सुबह शाम अपना अपना सुखदुख सुना रहे थे। भ्रमर एवं मधुमक्खियाँ वन में स्थान स्थान पर छत्ता बना मधुसंचय कर रही थीं। नवपल्लव द्रुम तथा वल्लरी का सौन्दर्य बढ़ा रहे थे। सघन कुञ्जों में वनजन्तु विहार कर रहे थे। नाना प्रकार के फलफूलों से वनविटप लद रहे थे। यह प्राकृतिक शोभा देखने नित्य सैकड़ों मनुष्य विपिन में आते थे।"[2]

इस प्रकार के प्रकृतिवर्णनों से सारा उपन्यास भरा हुआ है, जिससे पता चलता है कि उपन्यासकार की दृष्टि परिष्कृत और सुशिक्षित काव्यरसिकों की रुचि पर विशेष थी। व्रजनन्दन सहाय ने विवेच्य उपन्यास में हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का भी ध्यान रखा है। उपन्यास में अनेकत्र हिन्दू धर्म की प्रशंसा की गयी है तथा हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। पृष्ठ २४ पर ईश्वर की लीला, इन्द्रियनिग्रह तथा विश्ववैचित्र्य का वर्णन है। पृष्ठ ३२ पर लोभ, कुवासना और असत् विचार के भयानक दुष्परिणाम दिखाये गये हैं। पृष्ठ १४२ १४३ पर एक फकीर और धार अफगान के वार्तालाप के व्याज से पाठकों को ईश्वरभक्ति, परोपकार, निष्काम कर्म तथा संसार

१ मैकबेथ, सं० प०, डब्ल्यू० वेरिटी, यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, १९५२, पृ० २०-२१।
२ लालचीन, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १४०-१४१।

को नाटकवत समझने का उपदेश दिया गया है। पृष्ठ २०१ पर उपयुक्त फकीर पाप-परिणाम का वणन करता है तथा एक स्थान पर पूरे तीन पृष्ठों म गयासुद्दीन को कमफल एव निष्काम कम का सिद्धात समझाता है। वह बार बार हिदूधम की दुहाई देता है तथा हिन्दुओं की प्रशसा करते थकता नही। इससे स्पष्ट है कि उपयास की रचना मे हिदू पाठकों की रुचि और भावना को तुष्ट करन की क्षमता है।

'लालचीन' की भाषा सस्कृतनिष्ठ और स्थान स्थान पर अलकृत तथा काव्यात्मक गुणों से मडित है। सामायत वणनों की भाषा विशेष अलकृत और सस्कृतनिष्ठ है, जबकि कथावणन और वार्त्तालाप म अपेक्षाकृत सरल और सीधी भाषा का प्रयोग किया गया है। लालचीन की भाषा की सस्कृतनिष्ठता का पता निम्नाकित वाक्यों से चलता है—"सुगध द्रय से भरे कृत्रिम फौआरे मृदु मद शब्द के साथ उद्वसित चारों ओर सुगध फला रहे थे। सुखमामयी नतकियों के कलकठ नि सृत सगीत के काकलीमय उच्छ्वास से कक्ष गूज रहा था।' यह भाषा अल्पयोग्यता सपन्न पाठकों की पठनक्षमता के सवथा परे है। स्पष्ट है कि ब्रजनदन सहाय ने सुशिक्षित पाठकों की ही रुचि को ध्यान म रखकर लालचीन की रचना की थी।

उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि लालचीन विषय और भाषा दोनों ही दष्टियों से परिष्कृत और सुशिक्षित हिदू पाठकों की रुचि तथा भावना के सवथा अनुरूप है। कवल इसकी शिल्पयोजना पर अल्पयोग्यता सपन्न पाठकों की जो पाठक रूप म भी श्रोता ही बने रहना चाहते है, रुचि और पठनक्षमता का कुछ प्रभाव है। लेखक, प्राय तो नही पर कभी कभी पाठकों को सबोधित कर, उनसे मित्रता स्थापित कर अपनी बातें स्पष्ट करन का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त लालचीन पर अल्पयोग्यता सपन्न पाठकों की रुचि का कोई प्रभाव नही है।

समासत 'लालचीन' विवेच्यकाल का एकमात्र एतिहासिक उपयास है जिसम वास्तविक एतिहासिक उपयास की विशेषताएँ परिलक्षित होती है। इसम अल्पयोग्यता सपन्न तथा अपरिष्कृत पाठकों की रुचि का अयल्प और सुशिक्षित तथा परिष्कृत पाठकों की रुचि का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। फिर भी प्रथम बार प्रकाशित होने के पाँच वर्षों के भीतर इसका दूसरा सस्करण हुआ। यह इस तथ्य का परिचायक है कि बीसवी शतादी के द्वितीय दशक म हिदी म परिष्कृत और योग्यतासम्पन्न पाठकों की सख्या म वद्धि होने लगी थी।

★

सामान्य रूमानी कथाएँ और उनके पाठकों की रुचि का प्रभाव

विवेच्य काल में कतिपय हिन्दी लेखकों ने ऐसी कथापुस्तकों की रचना की जिन्हें 'सामान्य रूमानी कथा' की संज्ञा दी जा सकती है। 'रूमानी कथा' या 'रोमांस' पद का प्रयोग प्रस्तुत प्रबन्ध में वैसी कथाओं के लिए किया गया है जिनमें चित्रित संसार यथार्थ नहीं होता। इन कथाओं में शौर्य, साहसिकता, प्रेम, तिलस्म, ऐयारी, अपराध तथा अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं का अमर्यादित तथा अतिरंजित वर्णन होता है। जीवन के यथार्थ रूप के दर्शन इन कथाओं में नहीं होते। इनका उद्देश्य, मुख्यतः, पाठकों का मनोरंजन और, गौणतः उपदेश या अभिजातवर्गीय सिद्धान्तों एवं जीवनदर्शन का प्रतिपादन होता है।

'सामान्य' शब्द का प्रयोग सोद्देश्य है। कुछ रूमानी कथाएँ इतिहासाश्रित होती हैं, जिन्हें प्रस्तुत प्रबन्ध में 'ऐतिहासिक रोमांस' की संज्ञा दी गयी है। जिन रोमांसों में इतिहास का आश्रय नहीं लिया गया है, उनके लिए 'सामान्य रूमानी कथा' पद का प्रयोग किया गया है।

स्थूलतः इन रोमांसों को तीन कोटियों में रखा जा सकता है (१) संस्कृत काव्यों के अनुकरण पर लिखित (२) उर्दू-फारसी कथाओं के ढंग पर रचित, और (३) अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठकों के लिए सरल भाषा में लिखित घटनाप्रधान रोमांस।

संस्कृत गद्यकाव्यों के आधार पर लिखित रोमांस

संस्कृत गद्यकाव्यों के अनुकरण पर लिखित रोमांसों में जैनेन्द्र किशोर कृत 'कमलिनी' (१८९१) देवी प्रसाद जी शर्मा उपाध्याय लिखित 'सुन्दर सरोजिनी' (१८९३), अनिरुद्ध चौबे रचित 'चम्पक वरणी' (१९०४), चतुर्भुज सहाय लिखित 'कुमारी चन्द्रकिरण' (१९०६) तथा अम्बिका प्रसाद गुप्त कृत 'सच्चा मित्र' (१९०६) विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन गद्यकाव्यात्मक रोमांसों के पाठक किस कोटि के थे इसका पता इनकी भूमिकाओं तथा तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित विज्ञापनों और समीक्षाओं से चलता है। जैनेन्द्र किशोर ने 'निज निर्मित अपना तुच्छ उपहार' (कमलिनी) हिन्दी के महामान्य रसिकों[1] की सेवा में प्रस्तुत किया था। उन्होंने 'कमलिनी' के 'उपोद्घात' में लिखा था—"इस उपन्यास से यदि हिन्दी के रसिकों को कुछ भी आमोद हुआ तो हम उत्साहित होकर इसके उपसंहार भाग चम्पक लता उपन्यास को शीघ्र प्रकाशित करेंगे।"[2] देवी प्रसाद उपाध्याय कृत 'सुन्दर सरोजिनी' (१८९३) की 'भूमिका' में कथाकार ने लिखा था—'हम हिन्दी के सुरसिक पाठकों के समीप एक नये उपन्यास का उपहार लेकर उपस्थित

---

१ जैनेन्द्र किशोर: कमलिनी, प्रथम संस्करण, उपोद्घात।
उपरिवत्।

है। इसमें 'मित्रता' 'पातिव्रत' 'ईश्वर महिमा' 'धर्म' 'आश्चर्य घटना' 'जानने के योग्य भूगोल एवं इतिहास की बातें' यथासंभव योग्यता के साथ रक्खी गई है और स्थान स्थान पर कवितायें भी दी हैं। यथासंभव पाठकों के लाभ और शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया है।"[१]

तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में 'सुन्दर सरोजिनी' की जो समीक्षाएं प्रकाशित हुई थीं, उनसे भी इसके संभावित पाठकों की रुचि का पता चलता है। 'हिन्दी बंगवासी' (१९ जून सन १८९३) ने इसके सम्बन्ध में लिखा था—" 'सुन्दर सरोजिनी' अपनी चाल ढाल की हिन्दी में पहली पुस्तक है जानने के योग्य एवं भूगोल एवं इतिहास की बातें योग्यता के साथ रखी गई हैं स्थान २ की कविताएँ भी बहुत ललित हैं इसके प्रत्येक पृष्ठ से लेखक की विद्याबुद्धि और जानकारी का परिचय मिलता है समूची पुस्तक ऐसी सुन्दर भाषा में लिखी गई है कि वाह रे वाह!" २ जून १८९३ ई० के 'भारत जीवन' में प्रकाशित 'सुन्दर सरोजिनी' की समीक्षा की कुछ उल्लेखनीय पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—" घटनाओं का विचित्र वर्णन है उपन्यास रसीला है आरम्भ करने से समाप्त करने ही की इच्छा होती है इसमें कुशलचन्द्र की मित्रता सरोजिनी का पातिव्रत धर्म, उसके मातापिता का वात्सल्य प्रेम तथा च कई एक आश्चर्ययुक्त घटनाओं का चित्र उतारा है। भाषा इसकी सुन्दर और रसीली है" २ सितम्बर १८९३ ई० के 'शुभचिंतक' मासिक पत्र में इसके विषय में कहा गया था—"यह अत्युत्तम हिन्दी गद्य पद्य में प्रकाश किया गया है जिसमें मित्रता पातिव्रत धर्म, ईश्वर महिमा, धर्म्म, एवं आश्चर्य घटना जानने के योग्य भूगोल एवं इतिहास की बातें यथायोग्य रक्खी गयी हैं ललित हिन्दी का लावण्य रस इसके नस नस में टपकता है।" 'राजस्थान समाचार' (२१ दिसम्बर १८९३), 'हिन्दोस्तान' (१६ दिसम्बर १८९३), 'भाषा भूषण' (बम्बई) 'साहित्यसुधानिधि' (मुजफ्फरपुर) आदि पत्रपत्रिकाओं में भी सुन्दर सरोजिनी की प्रशंसात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं।[२]

उपर्युद्धत समीक्षाओं से स्पष्ट है कि विवरण्य रूमानी कथाएं मुख्यतः हिन्दी के काव्य रसिकों का ध्यान में रखकर लिखी गयी थीं। साथ ही हिन्दू पाठकों एवं कौतूहल प्रधान कथा पसंद करनेवाले युवकों की रुचि का भी थोड़ा बहुत ध्यान रखा गया था। इन कथापुस्तकों में से 'कमलिनी' के दो संस्करण तथा 'सुन्दर सरोजिनी' के तीन संस्करण हुए थे। 'सुन्दर सरोजिनी' के दूसरे संस्करण की 'भूमिका' में लेखक ने लिखा था—" सुन्दर सरोजिनी का अब दूसरा संस्करण भी आप के समीप समर्पित है जिसके लिये आप लोग व्यग्र थे। सुन्दर सरोजिनी की प्रतियाँ यद्यपि हाथों हाथ शीघ्र बिककर निश्शेष हो गईं और हम पुनः प्रकाशित करने के लिये आपलोग बारम्बार तकाजा करते रहे।" लेखक के इस कथन तथा सुन्दर सरोजिनी की तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित प्रशंसात्मक समीक्षाओं से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक अपने पाठकों में काफी लोकप्रिय हुई थी।

१ देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय, सुन्दर सरोजिनी १८९३ उपोद्घात।

२ ये समीक्षायें, 'सुन्दर सरोजिनी' के द्वितीय संस्करण के साथ संलग्न हैं।

किशोरी लाल गोस्वामी के ऐतिहासिक रोमांसों के विवेचन प्रसंग में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि विवेच्य काल के प्रारंभिक दो दशकों में प्राचीन काव्यरसिकों का एक वर्ग था, यद्यपि यह वर्ग बहुत सीमित था। 'कमलिनी' और 'सुंदर सरोजिनी' की लोकप्रियता इस मान्यता का समर्थन करती है। 'कमलिनी' की रचना १८९१ ई० में हुई थी, पर पुस्तक रूप में यह सर्वप्रथम १८९४ ई० में प्रकाशित हुई थी और इसका दूसरा संस्करण १२ वर्ष बाद १९०६ ई० में निकला था। 'सुंदर सरोजिनी' का पहला संस्करण १८९३ ई० में प्रकाशित हुआ था और दूसरा संस्करण १४ वर्ष बाद १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ। इससे यही सिद्ध होता है कि विवेच्य अवधि के प्रथम दो दशकों में हिन्दी में प्राचीन काव्यों में रुचि रखने वाले काव्यरसिकों का एक वर्ग विद्यमान था—अवश्य ही यह वर्ग सीमित था—जिसकी रुचि का ध्यान रखकर विवेच्य लेखकों ने गद्यकाव्यात्मक रूमानी कथाओं की रचना की थी।

विवेच्य कथाओं में सर्वत्र काव्यात्मक वातावरण उत्पन्न करने का प्रयास परिलक्षित होता है। 'कमलिनी' के प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में कोई न कोई संस्कृत श्लोक उद्धृत है, जिसका भाव उस परिच्छेद की कथा से मिलता जुलता है। 'सुंदर सरोजिनी' और 'कुमारी चन्द्रकिरण' के प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ में हिन्दी की कविताएं उद्धृत हैं। इस प्रकार परिच्छेदों के आरंभ में संस्कृत और हिन्दी के छंद उद्धृत कर इन कथाकारों ने प्राचीन काव्यप्रेमियों की रुचि को तुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

इन रोमांसों में संस्कृत गद्यकाव्यों के अनुकरण पर अलंकृत प्रकृति, सौंदर्य और विरह वर्णनों का बाहुल्य है। प्रायः सभी रोमांसों के अधिकांश परिच्छेदों के आरंभ में—बीच बीच में भी—ऐसे प्रकृतिवर्णन आये हैं, जिनमें सूक्ष्म अवलोकन और अनुभूति का समावेश अत्यल्प तथा अलंकरण अधिक है। निम्नलिखित उद्धरण से इस कथन की पुष्टि होती है—"संध्या समागम हुआ दिननाथ का दर्शन दुर्लभ हुआ, यह समय सुहावना और भयावना दोनों प्रकार प्रतीत होता था, अधुना दिवाकर रजनीरत्न स्वपति के वियोग में सुन दशा विचार अस्ताचल को पधार ही थे कि इधर रजनी रत्न जटित आभूषण भूषित मयंक मुख को अवनत से दिवाकर स्वपति के वियोग में वियोग प्रगट करने लगा, उनके कोमल कपोलों पर मौक्तिक सम अश्रु बह २ कर स्नेह संतप्त माता वसुंधरा को शीतल करने लगा।"[1]

इस वर्णन में प्रकृति के मानवीकरण और अलंकरण पर जितना बल दिया गया है, उतना उसके यथार्थ अंकन पर नहीं। इन कथाओं में उद्दीपन रूप में प्रकृतिचित्रण की प्रधानता है।[2] कहीं कहीं वस्तुपरिगणनात्मक शैली में पुष्पों लताओं और वृक्षों के नाम गिना दिये गये हैं।[3] 'सुंदर सरोजिनी' में लेखक को जब अलंकृत गद्य में प्रकृतिवर्णन से संतोष नहीं होता, तो पद्य पर उतर आता है।[4] 'चन्द्रप्रभा', 'कुमारी चन्द्रकिरण' और 'सच्चा मित्र' में भी इस प्रकार के प्रकृतिवर्णन प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

१ जैनेन्द्र किशोर, कमलिनी, १८९४ पृ० ४६।
२ उपरिवत्, पृ० ५४ ५५।
३ उपरिवत्, पृ० ५७
४ देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय, सुंदर सरोजिनी, पृ० १।

इन रोमांसों में सौन्दर्य का अलंकृत वर्णन भी मिलता है। 'कमलिनी' के पृष्ठ ६७ पर नायिका के नख शिख सौंदर्य का विस्तृत वर्णन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन काव्यों के अनुकरण पर किया गया है।[1] सुंदर सरोजिनी में नायिका का नखशिख वर्णन तीन पृष्ठों में हुआ है, और इस प्रसंग में कथाकार पद्य के प्रयोग से भी नहीं हिचका है। 'कुमारी चन्द्रकिरण' 'सच्चा मित्र'[2] आदि अन्य गद्यकथात्मक रोमांसों में भी अलंकृत सौन्दर्यवर्णन का प्राचुर्य है।

विवेच्य रूमानी कथाओं में अलंकृत विरहवर्णनों के दर्शन भी प्रचुर मात्रा में होते हैं। 'कमलिनी' में मदनमोहन के वियोग का वर्णन परम्परागत काव्यप्रणाली पर किया गया है, जिसका एक अंश द्रष्टव्य है—"हा! प्यारी! यदि मैं जानता कि तू मुझे ऐसी भूल जायगी, तो तुझे प्रेमपुर परित्याग कदापि नहीं करने देता! ' आदि आदि। 'सुंदर सरोजिनी' में सुंदर के समुद्र में डूब जाने पर कुशलचंद्र का मित्रवियोग वर्णन अलंकृत भाषा में प्रस्तुत किया गया है।[3] ऐसे ही वियोग वर्णनों को, जिनमें दुःखानुभूति का पूर्ण अभाव होता है, देखकर जान डेनिश ने कहा था कि उन्हें पढ़कर उसे या तो हंसी आती है या नींद। 'कुमारी चन्द्रकिरण' में भी प्रेमीगण विरह में हाय हाय करते, तड़पते, अपनी आशा को दोष देते और प्रकृति को कोसते दीख पड़ते हैं। 'चम्पक वरणी', 'कुमारी चन्द्रकिरण', 'सच्चामित्र' आदि कथापुस्तकों में भी प्राचीन काव्यपरंपरागत विरहवर्णन की योजना स्थान स्थान पर की गयी है।

इन रोमांसों में कथाप्रवाह के बीच बीच में संस्कृत कवियों की सूक्तियों का गद्यानुवाद भी दे दिया गया है।

इस प्रकार परिच्छेदों के आरम्भ में उद्धृत संस्कृत और हिन्दी के पद्यों, प्रकृति सौंदर्य और विरह के अलंकृत वर्णनों तथा कथाप्रवाह के बीच में नियोजित संस्कृत काव्यों की सूक्तियों के अनुवाद से सिद्ध होता है कि विवेच्य गद्यकाव्यात्मक रोमांसों के मूल में प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि का प्रमुख हाथ है। जिस प्रकार की अलंकृत और संस्कृतनिष्ठ भाषा में ये वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं वह साक्षरमात्र पाठकों की पठनक्षमता के सर्वथा परे है।

विवेच्य रोमांसों की कथा अयथार्थ और अविश्वसनीय है। इन कथाओं में वर्णित स्थान—प्रेमपुरी, नवीन नगर, मदन नगर आदि—हमारी पृथ्वी के वास्तविक स्थान नहीं। पात्रों के नाम भी व्यक्तिवाचक कम, गुणों के मानवीकृत रूप अधिक हैं। इन रोमांसों में अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं का बाहुल्य है। कमलिनी का नायक मदनमोहन स्वप्न में एक सुंदरी को देखकर उससे प्रेम करने लगता है। सुंदर सरोजिनी का नायक सुन्दरदास भी अपनी प्रेमिका सरोजिनी को स्वप्न में ही देखता है। सरोजिनी भी उसी समय सुंदरदास को स्वप्न में देखकर उससे प्रेम करने तथा उसके वियोग में तड़पने लगती

१ जैनेन्द्र किशोर, कमलिनी १८९४, पृ ६७।

२ अम्बिका प्रसाद गुप्त, सच्चा मित्र १९०६, पृ० ८।

३ देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय, सुंदर सरोजिनी १८९३, पृ० ११।

है। 'कमलिनी' के दो पात्र लक्ष्मी और धर्मरक्षक सिंह मरकर जी जाते हैं। 'सुन्दर सरोजिनी' की तो समस्त कथा अतिलौकिक तत्त्वों और अविश्वसनीय घटनाओं पर आश्रित है। 'सच्चा मित्र' में तिलस्मी ढंग की गुफाओं, कोठरियों और तहखानों का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार की कथाओं में अल्पशिक्षित पाठकों की विशेष रुचि होती है परन्तु जिस प्रकार की अलंकृत भाषा में ये कथाएँ वर्णित हैं वह अल्पशिक्षित पाठकों के योग्य नहीं है। इस विरोधाभास का समाधान यह है कि प्राचीन काल्पनिक घटनाओं की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता की चिन्ता नहीं करते थे। उनका ध्यान मुख्यतः अलंकृत वर्णनों पर रहता था। 'कादम्बरी', 'दशकुमार चरित' आदि संस्कृत गद्यकाव्यों में अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं की भरमार है फिर भी वे परिष्कृत और सुशिक्षित पाठकों की रुचि की पुस्तकें थीं और हैं। विवेच्य गद्यकाव्यात्मक रोमांसों के, जिनकी कथा अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं से भरी हुई है, विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

विवेच्य रोमांसों के उद्दिष्ट पाठक परिष्कृत रुचि के काव्यरसिक होते हुए भी श्रोताकोटि के पाठक थे। कथा के जटिल शिल्पविधान से अभी उनका परिचय स्थापित नहीं हुआ था। वे कथाकार को पुस्तक के पृष्ठों में अदृश्य रूप में ही सही विद्यमान देखना और उसकी आवाज सुनते रहना चाहते थे। विवेच्य रोमांसों में लेखक कहीं भी अपने पाठकों का साथ नहीं छोड़ता। उनको आवाज सदा सुनायी पड़ती रहती है। 'कुमारी चन्द्रकिरण' में लेखक पाठकों को सम्बोधित करता हुआ कहता है— 'पाठक चलो हम भी उसके पीछे चलकर देखें कि वह कहाँ जाकर क्या करती है।'[1] 'सच्चा मित्र' में लेखक पाठकों को सम्बोधित कर पात्रों से उसका परिचय कराता है[2] तथा सच्ची मित्रता का उपदेश देता है।[3] 'सुन्दर सरोजिनी' में कथाकार पाठकों से कहता है 'तुरत ही कथा के अन्त कर देने से कुछ कुछ कहते रहना अच्छा है अतः ध्यान देकर पाठक एक दूसरी बात सुनें।'[4] 'कमलिनी' में कथाकार अपने पाठकों को उनके उतावलेपन के लिए झिड़कता भी है— 'हमारे पाठकों के चित्त में भी उस वन की शोभा देखने की अभिरुचि होगी पर अभी तो हम दूसरे काम में फँसे हैं समयानुसार देखा जायगा।'[5]

तात्पर्य यह कि इन रोमांसों में कथाकार अपने पाठकों के समक्ष सदा वाचयिता के रूप में विद्यमान रहता है। इसका अर्थ यह है कि उस समय के परिष्कृत काव्यपाठक भी उपन्यासपठन की दृष्टि से अपरिपक्व थे।

विवेच्य रोमांसों का मुख्य निरूप्य विषय प्रेम है। शृंगार का सरस और कहीं कहीं नग्न वर्णन इन रोमांसों में मिलता है। अम्बिका प्रसाद गुप्त कृत 'सच्चा मित्र' में प्रेमी प्रेमिका के मिलनवर्णन के बाद जब रतिक्रिया के वर्णन का प्रसंग आता है तो लेखक कहता है— 'दोनों प्रेमी (दूलह दुलहिन) शयनागार वाले कमरे में चले गये ... बस अब

१ चतुर्भुज सहाय, कुमारी चन्द्रकिरण, १९०६, पृ० १९।
२ अम्बिका प्रसाद गुप्त, सच्चा मित्र, १९०६, पृ० १२।
३ उपरिवत्, पृ० ३५।
४ देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय, सुन्दर सरोजिनी, १८९३, पृ० ४४।
५ जैनेन्द्र किशोर, कमलिनी, १८९४, पृ० ५०।

हम आगे वणन नही कर सकते, आगे हमारे मनचले, रँगीले, रसिक पाठक गण ! आपही अनुभव कर सकते है कि आगे क्या हुआ ।"[१] इसम पाठको को जो "मनचले रगील और रसिक' कहा गया है, वह परिष्कृत और गम्भीर पाठको के अनुरूप विशेषण कदापि नही। इससे पता चलता है कि इन लेखको का ध्यान शृगार चित्रण म रुचि रखनेवाले युवक पाठको की तरफ भी रहता था । उस समय के कथापाठको मे, जो अधिकाशत युवक थे, शृगारवणन कितना लोकप्रिय था, इसका पता रामेश्वर प्रसाद खत्री लिखित मदनकिशोरी' की 'भूमिका' की निम्नलिखित पक्ति से चलता है—"बहुत से उपन्यास को अपने जात भाइयो का बनाया हुआ देख मुझे यह अभिलाषा उपजी कि मैं भी एक शान्त रस म उपन्यास बनाऊँ किन्तु अपने दो चार मित्रो के आग्रह से शृगार रस म बनाना पडा ।[२]

विवेच्य रोमासो म नीति और धम के उपदश प्रचुर मात्रा म आये है। यह भी तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठको के अनुकूल है कथापुस्तको से गम्भीर पाठको की यह अपेक्षा रहती थी कि उनम नीति और धमसम्बन्धी गम्भीर प्रसग भी आएँ। घटना प्रधान कथाओ के लेखक भी पाठको के रुचिपरिष्कार के लिए बीच बीच म नीति और धम की गम्भीर बातें कहना अपना कत्त य समझते थे। यही कारण है कि विवच्य रोमासो मे नीति और उपदेशवचनो का बाहुल्य है।

निष्कष रूप मे कहा जा सकता है कि विवेच्य काल के गद्यकाव्यात्मक रोमासो पर तत्कालीन प्राचीन काव्य प्रमियो की रुचि का अधिक प्रभाव है। इन कथाओ की रचना युवक रसिक पाठको की रुचि को ध्यान म रखकर की गयी है। इन रोमासो का उद्देश्य अल्पशिक्षित और साधारण पाठको का मनोरजन नही जान पडता।

उर्दू फारसी की प्रेमकहानियों से प्रभावित रोमास

जसा आरम्भ म कहा जा चुका है विवच्य काल म हिन्दी म उद फारसी की कथाओ के ढग पर भी कतिपय रोमासो की रचना हुई। एसी रूमानी कथाओ म प० रूपनारायण कृत 'श्याम कुमारी' (१८९६) हरिकृष्ण जौहर कृत शीरी फरहाद' (१८९९), श्री पुत्तन लाल कृत 'स्वतत्रबाला' (१९०३), जयरामदास गुप्त कृत 'रग म भग', (१९०७) रामलाल वर्मा कृत 'बनारसी दुपट्टा या गुलरू जरीना (१९०८), श्री कृष्ण हसरत लिखित एक औरत की वकालत व किस्सा दिलफरोश (१९०८), प० जगनाथ मिश्र रचित 'मधुपलतिका वा इश्क की आग (१९१२), निहाल चन्द वर्मा लिखित 'प्रम का फल या मिस जौहरा' (१९१३) तथा देवकीनन्दन खत्री कृत 'लला मजनू" प्रमुख हैं। इन रूमानी कथाओ पर तत्कालीन पाठको की रुचि के प्रभाव का विवचन विश्लेषण परवर्ती पृष्ठो म प्रस्तुत किया जा रहा है।

उदूफारसी की प्रेमकथाओ क ढग पर रचित हिन्दी रोमासो म अति लौकिक और अविश्वसनीय घटनाओ कामव्यापारो उदू शेरो तथा उदूनिष्ठ हिन्दी म प्रकृति तथा अन्य प्रकार के वणनो का बाहुल्य है। इन सभी रूमानी कथाओ का मेरुदड कोई न कोई प्रेमकहानी है। 'श्यामकुमारी मे श्यामकुमारी और श्याम कुवर के, 'शीरी फरहाद' म शीरी

१ अम्बिका प्रसाद गुप्त, सच्चा मित्र या जि दे की लाश, पृ० ५४।
२ रामेश्वर प्रसाद खत्री, मदन किशोरी, १९०४ भूमिका।

और फरहाद के 'स्वतंत्र बाला' में राम और लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा के, 'रंग में भंग' में याकूब और गुलशन के, 'बनारसी दुपट्टा' में गुलरु और जरीना के, तथा 'लैला मजनूं' में लैला और मजनूं के इश्क और कामचेष्टाओं का वर्णन किया गया है। यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त अधिकांश कथाओं के पात्र मुसलमान हैं, और उर्दू फारसी की प्रेम कथाओं में जिस ढंग के इश्कव्यापार के वर्णन प्रायः मिलते हैं उन्हीं का अनुकरण इनमें किया गया है। विवेच्य काल के उपन्यासपाठक मुख्यतः युवक रसिक थे, जिनकी रुचि शृंगारचित्रण में, विशेष कर कामव्यापारों के नग्न और अश्लील चित्रण में, अधिक होती है। विवेच्य रोमांसों में इश्क और कामव्यापारों के नग्न चित्रण का बाहुल्य है, अतः यह कहा जा सकता है कि इन रोमांसों के लेखकों ने तद्युगीन युवक रसिकों की कामरुचि का ध्यान रखा था।

विवेच्य रूमानी कथाएँ अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं से, जिनमें अल्प योग्यतावाले पाठकों की कुतूहल भावना को जगाने और तृप्त करने की पूर्ण क्षमता है, भरी हुई हैं। जयरामदास कृत 'रंग में भंग' में जादूगरी का चमत्कार दिखाया गया है। इस रोमांस का फरेब खाँ नामक पात्र याकूब खाँ को जादू से पागल बना देता है। एक जादूगरनी बुढ़िया के जादुई कारनामों का भी विस्तृत वर्णन किया गया है। इसी कथा में याकूब खाँ पर दो दिनों का भूखा शेर छोड़ा जाता है, पर शेर याकूब पर आक्रमण नहीं करता। तभी जोरों का भूचाल होता है और उस भूचाल से अत्याचारी फरेब खाँ की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार की अविश्वसनीय घटनाएं अल्प योग्यतासंपन्न पाठकों को ही आनन्द प्रदान कर पाती हैं।

विवेच्य रोमांसों में उर्दू फारसी ढंग की काव्यात्मकता के आधान का भी प्रयत्न लक्षित होता है। प्रायः इन सभी रोमांसों में कथा और पात्रों के वार्तालाप के बीच बीच में उर्दू शेरों की बहार दिखाई पड़ती है। 'श्याम कुमारी' में शेरों और गजलों की संख्या इतनी अधिक है कि, जान पड़ता है, लेखक कथा के द्वारा नहीं, शेरों के द्वारा पाठकों को बहलाना चाहता है। 'स्वतंत्र बाला' में रावण की भगिनी शूर्पणखा तक शेरों की झड़ी लगाती दीख पड़ती है। 'रंग में भंग', 'बनारसी दुपट्टा' का गुलरु जरीना तथा 'मधुप लतिका' सबमें बात बात पर शेर कहे गये हैं। इन रोमांसों में, उर्दू काव्यों के ढंग पर, प्रकृति, नारी सौन्दर्य तथा नगर आदि के वर्णनों की भी योजना है। 'श्याम कुमारी' में अनावश्यक रूप से विस्तृत वर्णनों की प्रचुरता है। 'स्वतंत्र बाला' का प्रकृतिवर्णन उर्दू काव्यों की छिछली रसिकता से युक्त है। इस वर्णन की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—"आधी रात का वक्त है चाँद किसी चुलबुले माशूक की तरह आसमान पर महीन छोटे से बदली के टुकड़े की नकाब से कभी अपना मुंह छिपा लेता और कभी फिर उस नकाब से खिलखिलाते हुए चेहरे को बाहर कर लेता है, सरसराती हुई ठण्डी हवा के मन्द मन्द झकोरे आशक मिजाजों की तबियत में ताजी आग भड़का रहे हैं। 'आग लगे हुए' तबीयतदार आशिक-मिजाजों को किसी की जुदाई में न टलने वाली पहाड़ सी रात छाती से टालना कठिन हो जाता है।"[१]

१ पुत्तनलाल शारदक, स्वतंत्र बाला, १९०१, पृष्ठ २१।

इस रोमास की नूपणखा का विरहवणन उदू काव्यो म आय विरहवणनो के ढग का है। उसकी तडपन और हाय हाय का अमर्यादित वणन किया गया है। रग म भग म नगर वणन, प्रकृति वणन, सौन्दयवणन, विरह वणन तथा अय प्रकार के वणनो की प्रचुरता ऊब पैदा करनेवाली है। आशिका और माशूको की हाय हाय स यह रोमास भी भरा हुआ है। बनारसी दुपट्टा म भी आशिकाना ढग के प्रकृतिवणन तथा सौंदय वणन मिलते हैं।

विवेच्य रोमासो की भाषा भी उदूनिष्ठ है। इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए श्याम कुमारी से लिया गया निम्नाकित उदाहरण द्रष्टव्य है—

'गुजरी हुई अगली एक कहानी।
यो नकल है खाम की जुबानी॥

सिंध जो के हिन्दुस्तान के पश्चिम तफ हिन्दी समुद्र के नजदीक अब भी वाक है—उस फिजा और तफरीह की जगह है—और जो जमाना हाल म एक हिन्दू राजा की राजधानी है—अरसा नौ सौ वप की एक कहानी है कि वह एक बडा खुशनुमा और जरखज राजा था—जहाँ का राजा तानसन महाराज था—जो बडा सुखी और रयत परवर—बहुत नेक और बडा बहादुर था।' [१]

'रग म भग, बनारसी दुपट्टा, मधुपलतिका, आदि की भाषा इससे भी अधिक उदूनिष्ठ है।

विवेच्य रोमासलेखक तत्कालीन समाज की जिनके बीच से उनके उद्दिष्ट पाठको के आने की सभावना होती थी, कुछ रूढिबद्ध भावनाओ का भी बध समथन करते हैं। उदाहरणाथ बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण मे हिंदू समाज म ऐस लोगो का बहुमत था, जो स्त्रीशिक्षा और स्त्रीस्वातत्र्य के विरोधी थे। विवेच्य रोमासलेखको के उद्दिष्ट पाठक चूकि इसी समाज स आते थ अत इन लेखको म स कुछ ने, अपने युग की प्रचलित भावना का ध्यान रख कर अपनी कथाओ म स्त्रीस्वातत्र्य और स्त्रीशिक्षा का विरोध किया है।

पुत्तनलाल सारस्वत कृत स्वतत्र बाला नामक रोमास अश्लील वणनो से भरी कथा है, पर इसके अत म लखक घोषणा करता है, 'पाठक गण यदि चाहेगे तो इसके परिणाम को सोचकर कुछ शिक्षा अवश्य ग्रहण करेंगे। स्त्री स्वाधीनता के पक्षपातियो को तो यह अवश्य ही कुछ शिक्षा देगा।

निहालचन्द वर्मा कृत प्रेम का फल या मिस जौहरा (१९१३ ई०) के उपसहार रूप म कथाकार कहता है—

'हे भारतवासियो आपलोग अपनी प्यारी लडकियो के कोमल हृदय पर बेपदगी तथा स्वतन्त्रता का वृक्ष न उगने दो। उसके उगते ही उखाड कर फक दो।

हा जहाँ की नारिया स्वाधीन।
दुख सहगा होकर पाप म लीन॥

१ रूपनारायण दर श्याम कुमारी १८९६, पृष्ठ १

। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विवेच्य कथापुस्तकों पर उनके पाठकों की रुचि का प्रभाव किस सीमा तक है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि क्या विषय वस्तु, क्या शिल्प क्या भाषा और क्या विचारप्रतिपादन, सभी दृष्टियों से विवेच्य रोमांसों पर उर्दूप्रेमी हिंदू पाठकों की रुचि का प्रभाव है। जैसा कि प्रस्तुत अध्याय के आरंभ में स्पष्ट किया गया है, इस युग में उर्दू भाषा का प्रचार बहुत था और अनेक हिंदू भी उर्दू भाषा के प्रेमी थे। विवेच्य रोमांसों की रचना ऐसे ही पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर हुई थी।

घटनाप्रधान रोमांस

विवेच्य काल में कुछ ऐसी रूमानी कथाएँ भी लिखी गयीं, जिन्हें 'घटनाप्रधान रोमांस' की संज्ञा दी जा सकती है। इन रोमांसों में न तो संस्कृत गद्यकाव्यों के ढंग के अलंकृत वर्णन हैं, न स्थान स्थान पर कविताओं की योजना। इनमें न तो संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया गया है और न इनमें उर्दू फारसी की प्रेमकहानियों के ढंग का नग्न शृंगारवर्णन, आशिकाना ढंग का प्रकृति और सौन्दर्य वर्णन या उर्दूनिष्ठ भाषा का प्रयोग है। इन रोमांसों में, जिनकी संख्या अधिक नहीं है, देवकीनंदन खत्री कृत 'नरेन्द्र मोहिनी' (१८९३) 'कुसुम कुमारी' (१८९४-९८), और 'गुप्त गोदना' (१९०४), सरस्वती गुप्ता प्रणीत 'राजकुमार' (१९००), जयरामदास रचित 'चपा' (१९०४) आदि उल्लेखनीय हैं। इन रोमांसों में देवकीनंदन खत्री के रोमांस विशेष लोकप्रिय हुए थे, जिसका कारण कुछ तो इनका तत्कालीन पाठकों की रुचि के अनुकूल होना और कुछ खत्री जी की अपनी लोकप्रियता थी।

विवेच्य कथाओं में सरल बोलचाल की भाषा में कौतूहलप्रद घटनाओं का, जो अधिकतर अपराधप्रधान हैं, वर्णन किया गया है।

देवकीनंदन खत्री के घटनाप्रधान रोमांसों की विशेषता यह है कि उनमें घटनाओं को यथासंभव विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न किया गया है जबकि अन्य रोमांसों में यह प्रयास भी परिलक्षित नहीं होता। जयराम दास रचित 'चपा' में अलौकिक घटनाओं की इतनी भरमार है कि लेखक और पाठक दोनों की बुद्धि पर तरस आता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है। इस रोमांस के दो पात्र, मनहरण और चपा, मेले में भूलकर एक बीहड़ वन में चले जाते हैं। अचानक एक सिंह दहाड़ता हुआ आता है और उन पर आक्रमण करना चाहता है। इसी बीच एक हरिण दौड़ता हुआ आता है और शेर मनहरण और चपा को छोड़कर हरिण का पीछा करता है। इसी बीच एक भालू पहुँच जाता है और चपा पर आक्रमण करता है। अचानक एक तीर कहीं से सनसनाता हुआ आता है और भालू को लगता है, जिससे उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार की घटनाएँ केवल बाल-बुद्धि पाठकों की रुचि के अनुकूल हो सकती हैं। इससे सिद्ध है कि विवेच्य रोमांसों में अविश्वसनीयता की चिन्ता न कर कौतूहलप्रद घटनाओं के द्वारा पाठकों का मनोरंजन करने का प्रयास किया गया है।

विवेच्य रोमांसों में भी, इस काल के अन्य कथापुस्तकों की तरह, कथा-व्यक्त उपन्यास के पृष्ठों में भावचिंता के रूप में विद्यमान रहता है। ये सभी रोमांस, अपने

पाठकों की रुचि के अनुरूप सुखांत हैं। 'नरेन्द्र मोहिनी' के एक विज्ञापन में तत्कालीन पाठकों की रुचि पर निम्नलिखित पंक्तियों में प्रकाश डाला गया है—

"उपन्यासों के प्रेमी दो तरह के होते हैं एक वह जिनकी रुचि दुःखान्त उपन्यास पढ़ने की विशेष रहती है, दूसरे वह जो सुखान्त उपन्यास को पसंद करते हैं। यह 'नरेन्द्र मोहिनी' इस ढंग की बनाई गई है जिससे दोनों दल वाले अपना चित्त प्रसन्न कर सकते हैं अर्थात् यह सुखांत चाहने वालों के लिए सुखान्त और दुःखान्त पसंद करने वालों के लिए दुखान्त है।"[१]
यद्यपि 'नरेन्द्र मोहिनी' में दुःखान्त प्रेमियों को भुलाया नहीं गया है, फिर भी प्रधानता सुखान्त की ही है। अन्य रोमांस तो सुखांत हैं ही। तात्पर्य यह कि इन रोमांस लेखकों ने अल्प योग्यता वाले पाठकों की रुचि का, जो सुखांत कथा पढ़ना अधिक पसन्द करते हैं, पूरा ध्यान रखा है।

विवेच्य घटनाप्रधान रोमांसों में सच्ची मित्रता, भ्रातृ स्नेह, पातिव्रत्य, वीरता आदि का वर्णन कर पाठकों को स्थान स्थान पर नानाप्रकार के उपदेश दिये गये हैं। देवकीनंदन खत्री के रोमांसों में हिन्दू पाठकों की रुचि का ध्यान रखा गया है यद्यपि अन्य रोमांसों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, विवेच्य कथापुस्तकों की भाषा सरल और अनलंकृत है। देवकीनंदन खत्री के रोमांसों की भाषा तो साक्षरमात्र पाठकों तक की समझ में आने वाली है। दैनिक बोलचाल के गद्य में, जिसमें तद्भव और उर्दू के प्रचलित शब्दों की प्रधानता है, ये रोमांस लिखे गये हैं। केवल जयरामदास गुप्त की भाषा में उर्दू की तरफ कुछ झुकाव है। इन रोमांसों की भाषा तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि और पठनक्षमता के सर्वथा अनुकूल है।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकते हैं कि घटनाप्रधान रोमांसों पर तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि और पठनक्षमता का प्रभूत एवं प्रत्यक्ष प्रभाव है। वर्ण्य विषय, शिल्प और भाषा, सभी दृष्टियों से ये रोमांस अल्पशिक्षित पाठकों का मनोरंजन करने में सर्वथा सफल हैं।

*

१. दुर्गाप्रसाद खत्री, सामरखा का खून, १९३४, अंतिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन।

पाठको की रुचि के अनुरूप सुखात हैं। 'नरेन्द्र मोहिनी' के एक विज्ञापन म तत्कालीन पाठको की रुचि पर निम्नलिखित पक्तिया म प्रकाश डाला गया है—

"उपन्यासा के प्रेमी दो तरह के होते ह एक वह जिनकी रुचि दु खान्त उपन्यास पढने की विशेष रहती है, दूसर वह जा सुखान्त उपन्यास को पसद करते है। यह 'नरेन्द्र मोहिनी इस ढग की बनाई गइ है जिससे दोना दल वाले अपना चित्त प्रसन्न कर सकते हैं अर्थात यह सुखान्त चाहने वाला के लिए सुखान्त और दु खान्त पसद करने वालो के लिए दुखान्त है।[१] यद्यपि 'नरेन्द्र मोहिनी मे दु खान्त प्रमिया को भुलाया नही गया है, फिर भी प्रधानता सुखान्त की ही है। अन्य रोमास तो सुखात है ही। तात्पय यह कि इन रोमास लेखको ने अल्प योग्यता वाले पाठको की रुचि का, जो सुखात कथा पढना अधिक पसन्द करते हैं, पूरा ध्यान रखा है।

विवेच्य घटनाप्रधान रोमासा मे सच्ची मित्रता, भातृ स्नेह, पातिव्रत्य, वीरता आदि का वणन कर पाठको को स्थान स्थान पर नानाप्रकार के उपदेश दिये गये हैं। देवकीनदन खत्री के रोमासा म हिन्दू पाठको की रुचि का ध्यान रखा गया है यद्यपि अन्य रोमासो के विषय म यह बात नही कही जा सकती।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, विवेच्य कथापुस्तको की भाषा सरल और अनलकृत है। देवकीनदन खत्री के रोमासा की भाषा तो साक्षरमात्र पाठको तक की समझ म आने वाली है। दनिक बोलचाल के गद्य म, जिसम तदभव और उदू के प्रचलित शब्दो की प्रधानता है, ये रोमास लिखे गये हैं। केवल जयरामदास गुप्त की भाषा मे उदू की तरफ कुछ झुकाव है। इन रोमासा की भाषा तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठको की रुचि और पठनक्षमता के सवथा अनुकूल है।

उपयुक्त विवचन से हम यह निष्कष प्रस्तुत कर सकते हैं कि घटनाप्रधान रोमासा पर तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठको की रुचि और पठनक्षमता का प्रभूत एव प्रत्यक्ष प्रभाव है। वण्य विषय, शिल्प और भाषा, सभी दृष्टियो से ये रोमास अल्पशिक्षित पाठको का मनोरजन करने म सवथा सफल है।

*

१ दुर्गा प्रसाद खत्री, रामरखा का खून, १९३४, अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन।

पाठको की रुचि के अनुरूप सुखात हैं। 'नरेन्द्र मोहिनी' के एक विज्ञापन मे तत्कालीन पाठका की रुचि पर निम्नलिखित पक्तिया म प्रकाश डाला गया है—

"उपन्यासा के प्रेमी दो तरह के होते है एक वह जिनकी रुचि दु खान्त उपन्यास पढने की विशेष रहती है, दूसरे वह जो सुखान्त उपन्यास का पसद करते है। यह 'नरेन्द्र मोहिनी इस ढग की बनाई गई है जिसस दोना दल वाले अपना चित्त प्रसन्न कर सकते है अर्थात् यह सुखान्त चाहने वालो क लिए सुखान्त और दु खान्त पसद करने वालो के लिए दुखान्त है।[१] यद्यपि 'नरेन्द्र मोहिनी म दु खान्त प्रमियो को भुलाया नही गया है, फिर भी प्रधानता सुखान्त की ही है। अन्य रोमास तो सुखान्त है ही। तात्पय यह कि इन रोमास लेखका न अल्प योग्यता वाले पाठका की रुचि का, जो सुखान्त कथा पढना अधिक पसन्द करत है, पूरा ध्यान रखा है।

विवेच्य घटनाप्रधान रोमासा म सच्ची मित्रता, भातृ स्नेह, पातिव्रत्य, वीरता आदि का वणन कर पाठको को स्थान स्थान पर नानाप्रकार के उपदेश दिये गये है। देवकीनदन खत्री के रोमासो म हिन्दू पाठको की रुचि का ध्यान रखा गया है यद्यपि अन्य रोमासो के विषय म यह बात नही कही जा सकती।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, विवेच्य कथापुस्तको की भाषा सरल और अनलङ्कृत है। देवकीनदन खत्री क रोमासा की भाषा तो साक्षरमात्र पाठको तक की समझ म आने वाली है। दनिक बोलचाल के गद्य म, जिसम तदभव और उदू के प्रचलित शब्दो की प्रधानता है, य रोमास लिखे गये हैं। केवल जयरामदास गुप्त की भाषा म उदू की तरफ कुछ झुकाव है। इन रोमासा की भाषा तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठको की रुचि और पठनक्षमता के सवथा अनुकूल है।

उपयुक्त विवचन से हम यह निष्कष प्रस्तुत कर सकते है कि घटनाप्रधान रोमासा पर तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठको की रुचि और पठनक्षमता का प्रभूत एव प्रत्यक्ष प्रभाव है। वण्य विषय, शिल्प और भाषा, सभी दृष्टियो स ये रोमास अल्पशिक्षित पाठको का मनारजन करने म सवथा सफल है।

*

१ दुर्गा प्रसाद खत्री, रामरखा का खून, १९३४, अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन।

पारी आइ । अब सिवाय इसक और क्या कहा जा सकता ह कि—मेरे मन कछु और है, करता के कछु और !!!"[१] गोस्वामी जी के ऐतिहासिक और अनूदित उपन्यासो का प्रकाशन सम्बन्धी इतिहास भी उपयुक्त कथन का समथन करता है ।

बीसवी शताब्दी के प्रथम दो दशकों म, विशेषकर १९०१ ई० से लेकर प्रेमचन्द क उपन्यास क्षेत्र म पदापण करने तक, गोस्वामी जी के उपन्यास एक विशेष पाठकवग मे, पर्याप्त लोकप्रिय हुए । चतुर्थ हिन्दी सभा पटना के चतुथ वार्षिक कार्यविवरण (१९१५ ई०) म चैतन्य पुस्तकालय, पटना म पाठको द्वारा पठित पुस्तकों के सम्बन्ध म निम्नलिखित सूचना प्राप्त होती है—

"पाठको की रुचि उपन्यासो की ओर १२ आने एव अन्य ग्रन्थो की ओर ४ आने रही । स्वर्गीय बाबू देवकीनन्दन खत्री और प० किशोरी लाल गोस्वामी क उपन्यासो की अधिक माँग रही ।" इसस सिद्ध होता है कि १९१५ ई० के लगभग गोस्वामी जी के उपन्यास काफी लोकप्रिय थे । गोस्वामी जी के उपन्यासो के विज्ञापनो और भूमिकाओं स भी इस तथ्य की पुष्टि होती है ।[२] वृन्दावनलाल वर्मा ने १९१३ ई० म गोस्वामी जी के उपन्यासो की लोकप्रियता की तरफ सकेत करते हुए लिखा था, आप हिन्दी क नामी लेखको म गिने जाते हैं । आपने कई दजन उपन्यास लिखे ह । सुना है कि हमारे हिन्दी भाषा के भावी नौजवान आपके उपन्यासो को बहुत पढते हैं ।"[३]

गोस्वामी जी के सभी तो नहीं, किन्तु लगभग आधे उपन्यासो के दो दो सस्करण हुए थ । सामान्यत प्रत्येक सस्करण की एक एक हजार प्रतियाँ मुद्रित होती थी । इस तथ्य स गोस्वामी जी क उपन्यासो की लोकप्रियता सिद्ध नही होती । जिस उपन्यास की १५ वर्ष म केवल दो हजार प्रतियाँ बिकें, उसे बहुत लोकप्रिय नही कहा जा सकता । पर जब

---

१ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, प्र० स० १९०२, भूमिका ।

२ (क) 'उपन्यास प्रेमियों ने इसे बहुत पसन्द किया है, इसलिए हम उनके कृतज्ञ हैं । लावण्यमयी द्वितीय स०, १९१६ भूमिका ।

(ख) 'अन्त में हम हिन्दी के रसिक उपन्यास प्रेमियों को अनेक हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन महाशयों ने हमारे उपन्यासों की बड़ी कद्र की ।"—लवगलता वा आदर्श बाला दूसरी बार, १९१५ ई० भूमिका ।

(ग) "उपन्यास नाम की मासिक पुस्तक में १९०१ ई० में यह प्रकाशित हुआ था । यह १५ वर्ष की बात है । यह उपन्यास हिन्दी के रसिक और उपन्यास प्रेमियों को ऐसा रुचिकर हुआ था कि इसकी सब कापियाँ थोड़े ही दिनों में बिक चुक गयी थीं । इसके बाद उपन्यास प्रेमियों की बराबर माँग पर माँग आने लगी, पर इसका द्वितीय सस्करण हम न निकाल सके ।"—कुसुम कुमारी द्वितीय स०, १९१६, भूमिका ।

(घ) इसका (तारावती) दुबारा छपना यह सूचित करता है कि उपन्यास प्रेमियों में इसकी चाह हुई है ।"—'सरस्वती', फरवरी १९०८ ई०, पुस्तक परिचय ।

(ङ) राजकुमारी 'उपन्यास सन् १९०२ ई० में छपा था । अब तक इसके कई सस्करण हो चुके होते पर कई झगड़ों से इसके दूसरे सस्करण की बारी आज आई ।"—राजकुमारी, द्वितीय सस्करण १९१६, भूमिका ।

३ वृन्दावनलाल वर्मा की आलोचना 'प्रभा' भाग १ स० १ जून १९१३ ई० पृ० १५० 'माधवी माधव' ।

हम इस काल के हिन्दी पाठको की स्थिति पर ध्यान देते है, जो शिक्षादीक्षा और आर्थिक स्थिति दोनो दृष्टियो से पिछडे हुए थे तब हम गोस्वामी जी के प्रत्येक उपन्यास की इतनी कम प्रतियो की खपत होने पर भी उन्हे लोकप्रिय उपन्यासकारो की श्रेणी मे रखने को बाध्य हो जाते हैं। यह वह समय था जब उपन्यासपाठक हेय दृष्टि से देखे जाते थे और मातापिता अपने बच्चो को उपन्यास के मायाजाल से बचाने का प्रयत्न करते थे। ऐसी परिस्थिति मे किसी उपन्यास की दो हजार प्रतियाँ बिक जाना भी उसकी लोकप्रियता का ही सूचक है। वस्तुत देवकीनन्दन खत्री के उपन्यासो को छोडकर विवेच्य काल मे इने गिने हिन्दी उपन्यासो के ही एकाधिक सस्करण प्राप्त होते है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास उन्नीसवी शताब्दी के अतिम दशक मे क्या नाकप्रिय न हो सके, इसके कारण विचारणीय है। इसका प्रमुख कारण हिन्दी मे पाठक वर्ग का अभाव था। हिन्दी का जो विशाल सभावित पाठक वर्ग था, वह साक्षर मात्र था, और गोस्वामी जी ने इस पाठकवर्ग की पठनक्षमता और रुचि को ध्यान मे रखकर, अपने उपन्यासो की रचना नही की। हिन्दी मे उपन्यासपाठको का वर्ग तैयार करने का श्रेय देवकीनन्दन खत्री का है। १९०० ई० के बाद सामान्य रूप से उपन्यासो की माग मे जो वृद्धि दिखाई पडती है उसका श्रेय खत्री जी को ही है। जब हिन्दी मे उपन्यास पाठको का एक वर्ग तैयार हो गया तो स्वभावत गोस्वामी जी के उपन्यासो की माँग बढ़ी और गोस्वामी जी ने भी १९०० ई० के बाद जो उपन्यास लिखे उन्हे यथासभव तत्कालीन बहुसख्यक पाठको की रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।

सन् १९०० ई० के पूर्व गोस्वामी जी के उपन्यासो के लोकप्रिय न होने का दूसरा कारण था मुद्रणालयो और प्रकाशनसस्थाओ का अभाव। उस समय नवलकिशोर प्रेस (लखनऊ) भारत जीवन प्रेस (काशी) हरिप्रकाश यन्त्रालय (काशी) खड्गविलास प्रेस (बाँकीपुर) आदि हिन्दी की पुस्तकें प्रकाशित करनेवाले कतिपय मुद्रणालय थे। ये मुद्रणालय उपन्यास प्रकाशित तो करते थे, पर पाठको का अभाव देखकर फूकफूक कर पाँव रखते थे। यही कारण है कि विवेच्य काल के प्रमुख लेखको को प्रकाशक बनने को भी बाध्य होना पडा था। देवकीनन्दन खत्री ने अपने उपन्यास प्रकाशित करने के लिए १८९४ ई० मे 'उपन्यास लहरी' मासिक पत्र का गोपाल राम गहमरी ने मई १९०० ई० मे जासूस का और किशोरीलाल गोस्वामी ने जनवरी १९०१ ई० मे 'उपन्यास मासिक पुस्तक' का प्रकाशन आरभ किया था। प्रकाशको के अभाव के कारण भी गोस्वामी जी के उपन्यास १९वी शताब्दी के अतिम दशक मे लोकप्रिय न हो सके यद्यपि उन्हे प्रकाशक न मिलने का कारण उनके पाठको मे लोकप्रिय न हो पाने की आशका ही रही होगी, यह स्पष्ट है। जब १९०० ई० के लगभग उपन्यासपाठको का वर्ग बन गया और गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासो को स्वय प्रकाशित करना आरभ किया तो उनकी लोकप्रियता मे भी स्वभावत वृद्धि हो गयी।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो के उन्नीसवी शताब्दी के अतिम दशक मे लोकप्रिय न होने का सबसे बडा कारण उनका तत्कालीन साक्षरमात्र पाठको की रुचि और पठनक्षमता के अनुकूल न होना है। प्रथमत इन उपन्यासो की भाषा इतनी सस्कृत

निष्ठ और अलकृत है कि १८९० ई० के आस पास के बहुसख्यक हिन्दी पाठको के लिए उसे समझना नितात कठिन था। उन दिनो सस्कृतनिष्ठ और अलकृत हिन्दी समझने वाले पाठको का बिलकुल अभाव हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर ऐसे पाठको की सख्या अत्यल्प थी, यह असदिग्ध है। दूसरी तरफ सभावित हिन्दी पाठक—यानी वैसे लोग जो सामान्य बोल चाल मे हिन्दी का व्यवहार करते थे, पर या तो साक्षरमात्र थे या नागरी अक्षर से अनभ्यस्त थे—विशाल सख्या मे थे। देवकीनन्दन खत्री ने उपयुक्त प्रकार के पाठको की रुचि का ध्यान रखा और उन्होने इस सभावित पाठकवर्ग को वास्तविक पाठकवर्ग मे बदल दिया। किशोरीलाल गोस्वामी ने ऐसे पाठको की रुचि का उस सीमा तक अनुगमन नहीं किया, जिस सीमा तक देवकीनन्दन खत्री ने।

किशोरीलाल गोस्वामी के उद्दिष्ट पाठक मुख्यत प्राचीन और रीतिकालीन परपरा के काव्यरसिक थे। ऐसे पाठको की रुचि नखशिखसौन्दर्य प्रकृति और विरहमिलन के अलकृत वर्णनो मे अधिक होती है। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासो मे उनकी रुचि को ध्यान मे रखकर ही ऐसे वर्णनो की योजना की है।

गोस्वामी जी का एक भी ऐसा उपन्यास नहीं है, जिसमे नायिका का नखशिख सौन्दर्य वर्णन न किया गया हो। सौन्दर्य वर्णन के द्वारा गोस्वामी जी ने दो प्रकार के पाठको की रुचि का पोषण किया है—इन्हे अलकृत बनाकर प्राचीन परम्परा के काव्य-रसिको और अत्यधिक शृगारिक बनाकर युवक उपन्यासपाठको की रुचि का। उक्त दोनो तरह के पाठको की पसद का ध्यान मे रखकर गोस्वामी जी ने नायिकाओ के नखशिख वर्णन, जो अलकृत और कामोद्दीपक है, प्रस्तुत किये हैं। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' मे कुसुम कुमारी और उसकी बहन गुलाब के सौन्दर्य वर्णन को सायास कामोद्दीपक और अलकृत बनाने का प्रयत्न किया गया है। जिस रूप मे पाठको को सबोधित करके यह नखशिखवर्णन प्रस्तुत किया गया है, उसमे स्पष्ट जान पडता है कि गोस्वामी जी के उद्दिष्ट पाठक ऐसे वर्णनो की माँग करते थे। उदाहरणार्थ—

'इसी जगह हम कुसुम के नखशिख का वर्णन करना उचित समझते हैं। सुनिये,—यह एक स्वच्छ कुसुम्भी रग की बनारसी साडी पहिरे थी। साडी का एक कोना कमर से दोनो भुजाओ के नीचे तक फैला था। पीठ खुली, पर वक्षस्थल ढाका था। वसन्तानिल उसी उन्नत उरोज के वसनाचल से मन माना खेला करता था। वह कभी वस्त्र उठाकर, कभी चिपकाकर उन्नत उरोजो की दूनी शोभा कर देता था। साडी के भीतर से चपक समान अग के रूप लावण्य की विभा फूट फूट कर बाहर निकलती तथा अपूर्व रस का स्वाद चखाती थी।"[१]

गुलाब का सौन्दर्यवर्णन निम्नांकित पक्तियो मे प्रस्तुत है—"वह कोमल नाजुक छोटा सा कद, वह चपक समान गोर बर्न, वह शशधरविनिन्दित मुखमडल वह अगुल्फ प्रलब कुचित केश, वह तिलपुष्पाभ नासिका, वह साप से सुहावने काकुपुहर, वह गुलाब की पत्ती से गुलाबी गोल गाल, वह आकर्णावलबित नयनकमल, वह सरस कटाक्ष, वह कमनीय

१ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय स०, १९११ पृ १०६।

कबुकठ, वह बिंब के से मधुर आष्ठाधर, वह कमलकलिका कल्प कुच कुडमल ये सबएक एक अग पचबाण के पचवाण पर सान देते थे। रक्तांवर मे से नाली कसीली चोली गाली सी आकर लगती थी। अग अग मे अदूपण भूषण सहज लावण्य के दूषण प्राय थे।"

'तरुण तपस्विनी' म पूरे डेढ पृष्ठो म चपला और चमेली के नखशिखसौदय का वणन किया गया है, जिसमे लेखक ने ललाट से लेकर कमर तक का सौदयवणन रस ले लेकर किया है।[1] पृ० ३३ से ३५ तक चपला के नखशिखसौदय का पुन सविस्तर वणन प्रस्तुत किया गया है। एक स्थान पर तो चपला के शरीर पर इतने आभूपण गिना दिये गये हैं, मानो वह युवती न होकर किसी जौहरी की दुकान का चलता फिरता विज्ञापन हो। उदाहरण द्रष्टव्य है—"नाक म नथुनी झुमकी, कान म वाली बाला, पत्ते, मछली, करणफूल, गले मे कठा, कठी, माला, गोप, सकरी, धुकधुकी, हमल, बाँह म बाँक, बाजूबद, बरेखी, जोशन, अनत, हाथ मे काली पतली चूडा, कडे, ताडे, छद, पछेली, वकनी, पहुँची, हाथ म हथफूल, अगुलिया म जडाऊ आरसी, अगूठी, छल्ले और कमर म घुघरू वाली लटकती हुई करधनी विचित्र शाभा दे रही थी। पाँव म हलके हलके बिछिये, कडे, छडे, और झाझन, झनकार का उपक्रम कर रही है। अहा! वह देखिये जुल्फ और बनावदी के बीच से निकलकर दो अलकावली कुचो पर नागिन सी लहरा रही है, और सिर की साडी सरकने से सीसफूल की सौगुनी शोभा बढ गयी है।" इस वणन से मन पर नायिका के सौन्दय का तनिक भी प्रभाव नही पडता। सचमुच यदि कोई युवती इतने आभूपणो से लदकर हमारे सामने आये तो वह हास्य का ही आलबन होगी, रति का नही। इस वणन पर रीतिकालीन वणना का स्पष्ट प्रभाव है। गोस्वामी जी के समसामयिक रीतिकालीन रुचि क पाठक, कदाचित् ऐसे वणन पसद करते हो।

उपयु द्धत नखशिखवणन से स्पष्ट है कि किशोरीलाल गोस्वामी रीतिकालीन काव्य प्रेमियो की, जिनका एक लघु वग उनके समय म विद्यमान था, रुचि का ध्यान रखते थे। साथ ही युवक उपन्यासपाठको की, जिनमे नारी अगो के प्रति अत्यधिक आकपण होता है रुचि का प्रभाव भी इन वणनों पर दिखायी पडता है।

किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास अलकृत प्रकृतिवणना स भरे हुए है। इन वणनो म प्रकृति के सूक्ष्म अवलोकन, मानव मन पर प्राकृतिक सौन्दय के प्रभाव तथा प्रकृति पर मानव अनुभूतियो के आरोपण आदि के दशन नही होते। इनम उपन्यासकार की अधिकाधिक चेष्टा काव्यात्मकता के आधान, अलकरण और कोमलकात तत्सम पदावली पर रही है। उदाहरणाथ निम्नोद्धृत प्रकृतिवणन—"अभी अँधेरा है, प्रात काल होने मे विलब है चन्द्रमा का प्रकाश पतनोन्मुख मडलश्वर की भाँति, वा निर्वाणोन्मुख दीपक की भाँति अस्त होने के समय फीका पडने पर भी रह रहकर ज्योति विकिरण कर रहा है, नील नभमडल से नाटयशाला के पात्रो की भाँति नक्षत्रमडली यात्रा के लिए गमनोन्मुख हो रही है, प्रात कालीन मलयानिल के मृदुमद हिलोरे स खिले फूलो के गुच्छे हिल हिलकर चारो ओर स्निग्ध सुगंधि फला रहे हैं ' आदि।[2]

१ तरुण तपस्विनी, प्रथम स० १९०५।
२ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी प्रथम स०, पृष्ट ८।

इस प्रकार के अनेक अलंकृत प्रकृतिवर्णन 'तरुण तपस्विनी'[१], 'त्रिवेणी'[२], 'पुनर्जन्म वा सौतियाडाह'[३], 'अँगूठी का नगीना'[४] आदि उपन्यासो मे स्थान स्थान पर मिलते हैं। स्पष्टत ये प्रकृतिवर्णन अल्प शिक्षित या साक्षरमात्र पाठको की बोधक्षमता और रुचि से कोसो दूर हैं। इनमे केवल प्राचीन परंपरा के काव्यरसिको की ही रुचि हो सकती थी, और वस्तुत इन वर्णनो की योजना मे गोस्वामी जी का उद्देश्य काव्यरसिको को ही सतुष्ट करना था।

गोस्वामी जी के उपन्यासो मे संस्कृत और प्राचीन हिन्दी काव्यो के ढंग पर प्रस्तुत अलंकृत और काव्यात्मक विरहवर्णन भी स्थान स्थान पर उपलब्ध होते हैं। 'तरुण तपस्विनी' की नायिका ऐसी विरहिणी है, जो रीतिकालीन नायिकाओ की तरह प्रिय की सुधि मे विलाप करती है, संयोगकाल की स्मृतियो का एक एक कर उल्लेख करती है, प्रिय का पत्र बारबार कलेजे से लगाती है तथा प्रकृति के उपादानो को कोसती है। प्राचीन काव्यो की नायिकाओ की तरह उसकी आँखो से इतने आँसू निकलते हैं कि वह पत्र नहीं लिख पाती। पत्र लिखना और फाड़ना यही उसका काम हो गया है। उपन्यासकार उसका वर्णन निम्न रूप मे करता है—

प्यार की जुदाई बड़ी दुखदाई होती है। प्रियतम के बिना वियोगी वियोगिनी को संसार के कोई भी पदार्थ सुखी नहीं कर सकते। इस भावना का अनुभव भुक्तभोगी जन अच्छी तरह कर सकते हैं। आदि।[५]

'चपला' मे पृष्ठ २५ से लेकर २७ तक चपला का विरहवर्णन अलंकृत और काव्यात्मक भाषा मे, जिसके बीच मे एक विरहसम्बन्धी लम्बी कविता भी उद्धृत है, किया गया है। 'त्रिवेणी' मे एक युवक का, जिसकी पत्नी जल मे डूब गयी है, विरहप्रलाप पाँच छह पृष्ठो मे वर्णित है, जिसकी कुछ पंक्तियाँ निम्नोद्धृत है—

प्रिये तू कहाँ है? क्या तू अपने इस मृतकल्प प्राणप्यारे के अस्थिचर्मावशिष्ट देह पंजर की ओर कभी भूलकर भी देखती हो? अथवा इस दुर्बल व्यक्ति को परलोक मे भी पहचान सकोगी? मुझे तो ऐसा विश्वास है कि, प्यारी, अब तू इस हाड़ के पंजर शरीर अपने प्यारे को कदाचित् न चाह सकेगी। हा, प्यारी! इसमे तेरा कुछ भी दोष नहीं है क्योकि मेरी ऐसी दुर्दशा मेरे दुर्भाग्य ने की, नहीं तो तू मेरे गले की हार होकर फिर क्यो मुझे छोड़कर बिना कहे सुने चल देती? प्रिये! तेरे वियोग मे मेरे तीन वर्ष जिस तरह कटे हैं, उसका दुख मेरा हृदय ही जानता है, क्योकि इन तीन वर्षों मे मेरी ऐसी अवस्था हुई है मानो मैंने दूसरा कलेवर बदला हो! हा!!![६]

१ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, प्र० सं०, पृष्ठ ७ तथा चौथे और पाँचवें परिच्छेद के प्रारंभ।
२ त्रिवेणी, पृष्ठ ३।
३ पुनर्जन्म वा सौतियाडाह, पृष्ठ १७।
४ अँगूठी का नगीना, प्रथम संस्करण पृष्ठ १०७।
५ तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी पृष्ठ ८१।
६ त्रिवेणी पृष्ठ ६।

यह विरहवर्णन, जो कई पृष्ठों में समाप्त हुआ है, नितांत अस्वाभाविक और अनुभूतिशून्य है। प्रेमी विलाप के क्रम में जगत् दशा, कालपरिवर्तन, भारत की दशा आदि के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार या प्रलाप करता चलता है। एक स्थान पर तो वह मुहावरों की झड़ी लगा देता है।[1] 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी', 'अँगूठी का नगीना' आदि उपन्यासों में भी ऐसे अलंकृत और अनुभूतिशून्य वियोगवर्णनों का प्राचुर्य है। गोस्वामीजी के उपन्यासों के विरही नायक—जैसे 'तरुण तपस्विनी' का घनश्याम—बात बात पर बेहोश या पागल हो जाते हैं। नायिकाएँ भी अपना विवाह अपने प्रेमी के अतिरिक्त अन्य किसी से होते देख बेहोश हो जाती हैं—जैसे 'तरुण तपस्विनी' की चपला—और उनकी बेहोशी तब तक बनी रहती है, जबतक विवाह की तिथि टल नहीं जाती। 'अँगूठी का नगीना' का नायक अपनी प्रेमिका के वियोग में बीमार पड़ जाता है, और यह विरह की बीमारी इतनी प्रबल है कि वह मरते मरते बचता है।

तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी के उपन्यासों के विरहवर्णन बिलकुल रीतिकालीन परंपरा के हैं, जिनमें स्वाभाविकता पर कम, ऊहा और अलंकारों पर विशेष बल है। ऐसे वर्णनों में प्राचीन काव्यरसिकों की ही रुचि हो सकती थी, अल्प शिक्षित पाठकों की नहीं।

नखशिख, प्रकृति और वियोग के अलंकृत वर्णनों के द्वारा तो गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों को प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया ही है, उपन्यासों के मुखपृष्ठ तथा प्रत्येक परिच्छेद के आरंभ और बीच बीच में संस्कृत, उर्दू तथा हिन्दी पद्यों का उद्धरण देकर भी उन्होंने काव्यात्मकता के आधान का प्रयास किया है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में हिन्दी पद्यों और उर्दू गजलों की बहार सी दिखायी पड़ती है। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी' में कुसुम एक प्रेमपत्रिका लिखती है, जिसमें १११ शृंगारपरक दोहे हैं।[2] उदाहरण के रूप में निम्नोद्धृत दोहे द्रष्टव्य हैं—

> प्यारे प्रीति लगाइ कै, मोहि परत नहिं चैन।
> तन मन धन अरपन कियो, तऊ तपावत मैन।।
> प्यारे छल कीनो बड़ो, छीनि लियो मन मोर।
> बेमन करि अब तो हमैं, बात बनावत जोर।।

'स्वर्गीय कुसुम' में स्थान स्थान पर ऐसी कविताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। 'तरुण तपस्विनी' में एक स्थान पर दो स्त्रियाँ परस्पर पद्य में बातें करती दिखायी पड़ती हैं।[3] 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' में पूरे चार पृष्ठों की एक कविता है, जिसमें कृष्ण और गोपियों की लीला का वर्णन है।[4] 'अँगूठी का नगीना' में भी एक पृष्ठ की एक विरहप्रधान कविता है।[5] इसी उपन्यास में पृ० १९८ पर एक चित्रकाव्य भी दिया हुआ है।

---

१ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, पृष्ठ ७।
२ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय संस्करण, छत्तीसवाँ परिच्छेद।
३ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, पृष्ठ २०।
४ त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी, प्रथम सं०, १९०७, पृ० १८।
५ अँगूठी का नगीना, प्रथम संस्करण, पृ० ८१।

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में संस्कृत गद्यकाव्यों का अधिकाधिक अनुकरण करते हैं। अवश्य ही इस प्रयत्न में उन्होंने हिन्दी के तत्कालीन अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यतावाले पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा है। उपर्युद्धृत काव्यात्मक वर्णनों और कविताओं द्वारा गोस्वामी जी ने हिन्दी के तत्कालीन काव्यरसिकों की रुचि को तृप्त करने का प्रयास किया है।

अपने इस गुण के कारण गोस्वामी जी समकालीन परिष्कृत पाठकों और आलोचकों की प्रशंसा प्राप्त करने में भी समर्थ हुए थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित एक समीक्षा में कुसुम कुमारी के सम्बन्ध में कहा गया था—"गोस्वामी जी ने इस उपन्यास को एक सच्ची घटना के आधार पर लिखा है। बीच बीच में काव्यास्वादन का भी मजा मिलता है। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में संस्कृत साहित्य से चुने हुए श्लोक आपने दे दिए हैं।'[1] उस समय के सर्वाधिक सम्मान्य मासिक पत्रों, 'हिन्दी प्रदीप' और 'सरस्वती', में गोस्वामी जी के उपन्यासों की प्रशंसात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं।[2] इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी के समकालीन वृन्दावननिवासी (पटना प्रवासी) श्रीयुक्त राधालाल गोस्वामी[3], प० प्रताप नारायण मिश्र[4], प० ज्वाला दत्त शर्मा,[5], आदि अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों और सम्मान्य आलोचकों ने, जिन्हें परिष्कृत रुचि के पाठकों का प्रतिनिधि माना जा सकता है गोस्वामी जी के उपन्यासों की, विशेषकर उनकी गद्यकाव्यात्मकता की, प्रशंसा की थी।

किन्तु गोस्वामी जी ने समकालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का बिलकुल ही ध्यान नहीं रखा हो ऐसी बात नहीं। इतना अवश्य है कि अपने आरम्भिक यानी १८९० ई० के पूर्व लिखित उपन्यासों में गोस्वामी जी ने तत्कालीन बहुसंख्यक पाठकों का अधिक ध्यान नहीं रखा है, पर १९०० ई० के बाद के उपन्यासों में उन्होंने अल्पशिक्षित तथा अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठकों की रुचि का अधिकाधिक अनुगमन किया है।

जैसा इंगित किया जा चुका है काम और कौतूहल मनुष्य की आदिम और मूल प्रवृत्तियाँ हैं। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ तथा वयवर्गों में इन प्रवृत्तियों के विभिन्न रूप—परिष्कृत अपरिष्कृत—देखने को मिलते हैं। इस सम्बन्ध में निर्विवाद धारणा यह है कि युवकों में कामभाव की और अशिक्षित एवं अल्प योग्यतावाले व्यक्तियों में कौतूहलभाव की प्रमुखता होती है। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में युवक और अल्पशिक्षित दोनों प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर कामव्यापारचित्रण और कौतूहलोत्पादक घटनाओं की योजना को प्रमुखता दी है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि विवेच्य काल में उपन्यासपाठकों का समुदाय मुख्यतः युवकों और अल्पशिक्षित पाठकों का था।

१ सरस्वती, भाग १७, अंक ४, पृ० २८।
२ द्रष्टव्य गोपालराय, श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों की समकालीन समीक्षा, परिषद् पत्रिका, पटना वर्ष २, अंक १, पृ० १०२ की पाद टिप्पणियाँ।
३ त्रिवेणी, १९०० ई०, 'भूमिका'।
४ हृदयहारिणी, प्रथम सं०, १९०४ ई०, 'निवेदन'।
५ सरस्वती, भाग १७, अंक ४, १९१६ ई०।

यह विरहवणन, जा कई पृष्ठा मे समाप्त हुआ है नितात अस्वाभाविक और अनुभूति शून्य है। प्रेमी विलाप के नम म जगत दशा, कालपरिवर्तन, भारत की दशा आदि के सम्बध म विस्तार के साथ विचार या प्रलाप करता चलता है। एक स्थान पर तो वह मुहावरो की झडी लगा देता है।[1] 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी', 'अगूठी का नगीना' आदि उपन्यासो म भी ऐसे अलकृत और अनुभूतिशून्य वियोगवणना का प्राचुय है। गोस्वामीजी के उपन्यासा के विरही नायक—जसे 'तरुण तपस्विनी' का घनश्याम—बात बात पर बेहोश या पागल हो जाते हैं। नायिकाएँ भी अपना विवाह अपने प्रेमी के अतिरिक्त अन्य किसी से होते देख बेहोश हो जाती है—जसे 'तरुण तपस्विनी' की चपला—और उनकी बेहोशी तब तक बनी रहती है, जबतक विवाह की तिथि टल नही जाती। 'अगूठी का नगीना' का नायक अपनी प्रेमिका के वियाग म बीमार पड जाता है, और यह विरह की बीमारी इतनी प्रबल है कि वह मरते मरते बचता है।

तात्पय यह कि गोस्वामी जी के उपन्यासो के विरहवर्णन बिलकुल रीतिकालीन परपरा के हैं, जिनमे स्वाभाविकता पर कम, ऊहा और अलकारो पर विशेष बल है। ऐसे वणनो मे प्राचीन काव्यरसिको की ही रुचि हो सकती थी, अल्प शिक्षित पाठको की नही।

नखशिख, प्रकृति और वियोग के अलकृत वणनो के द्वारा तो गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासो को प्राचीन काव्यरसिको की रुचि के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया ही है, उपन्यासो के *मुखपृष्ठ तथा प्रत्येक परिच्छेद के आरभ और बीच बीच म* सस्कृत, उर्दू तथा हिन्दी पद्या का उद्धरण देकर भी उन्हाने काव्यात्मकता के आधान का प्रयास किया है। गोस्वामी जी के उपन्यासो म हिन्दी पद्या और उर्दू गजला की बहार सी दिखायी पडती है। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी म कुसुम एक प्रमपत्रिका लिखती है, जिसम १११ शृगारपरक दोहे हैं।[2] उदाहरण के रूप म निम्नोद्धत दोहे द्रष्टव्य हैं—

प्यारे प्रीति लगाइ कै, मोहि परत नहिं चैन।
तन मन धन अरपन कियो, तऊ तपावत मन॥
प्यारे छल कीनो बडो, छीनि लियो मन मार।
बेमन करि अब तो हमैं, बात बनावत जोर॥

'स्वर्गीय कुसुम' म स्थान स्थान पर एसी कविताए दृष्टिगोचर होती हैं। 'तरुण तपस्विनी' मे एक स्थान पर दो स्त्रियाँ परसपर पद्य मे बातें करती दिखायी पडती हैं।[3] 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी म पूरे चार पृष्ठा की एक कविता है, जिसमे कृष्ण और गोपियो की लीला का वणन है।[4] 'अंगूठी का नगीना म भी एक पृष्ठ की एक विरहप्रधान कविता है।[5] इसी उपन्यास म पृ० १९८ पर एक चित्रकाव्य भी दिया हुआ है।

१ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, पृष्ठ ७।
२ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय सस्करण उन्नीसवाँ परिच्छेद।
३ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, पृष्ठ २०।
४ त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी, प्रथम सं०, १९०७, पृ० १८।
५ अँगूठी का नगीना, प्रथम सस्करण, पृ० ८१।

इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में संस्कृत गद्यकाव्यों का अधिकाधिक अनुकरण करते हैं। अवश्य ही इस प्रयत्न में उन्होंने हिन्दी के तत्कालीन अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यतावाले पाठकों की रुचि का ध्यान नहीं रखा है। उपर्युक्त काव्यात्मक वर्णनों और कविताओं द्वारा गोस्वामी जी ने हिन्दी के तत्कालीन काव्यरसिकों की रुचि को तृप्त करने का प्रयास किया है।

अपने इस गुण के कारण गोस्वामी जी समकालीन परिष्कृत पाठकों और आलोचकों की प्रशंसा प्राप्त करने में भी समर्थ हुए थे। सरस्वती में प्रकाशित एक समीक्षा में 'कुसुम कुमारी' के सम्बन्ध में कहा गया था—"गोस्वामी जी ने इस उपन्यास को एक सच्ची घटना के आधार पर लिखा है। बीच बीच में काव्यास्वादन का भी मजा मिलता है। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में संस्कृत साहित्य से चुने हुए श्लोक आपने दे दिए हैं।"[1] उस समय के सर्वाधिक सम्मान्य मासिक पत्रों, हिन्दी प्रदीप और सरस्वती में गोस्वामी जी के उपन्यासों की प्रशंसात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं।[2] इसके अतिरिक्त गोस्वामी जी के समकालीन वृन्दावननिवासी (पटना प्रवासी) श्रीयुक्त राधालाल गोस्वामी[3], पं० प्रताप नारायण मिश्र[4] पं० ज्वाला दत्त शर्मा[5], आदि अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों और सम्मान्य आलोचकों ने जिन्हें परिष्कृत रुचि के पाठकों का प्रतिनिधि माना जा सकता है गोस्वामी जी के उपन्यासों की, विशेषकर उनकी गद्यकाव्यात्मकता की, प्रशंसा की थी।

किन्तु गोस्वामी जी ने समकालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का बिलकुल ही ध्यान नहीं रखा हो ऐसी बात नहीं। इतना अवश्य है कि अपने आरम्भिक, यानी १८९० ई० के पूर्व लिखित, उपन्यासों में गोस्वामी जी ने तत्कालीन वयस्क पाठकों का अधिक ध्यान नहीं रखा है पर १९०० ई० के बाद के उपन्यासों में उन्होंने अल्पशिक्षित तथा अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठकों की रुचि का अधिकाधिक अनुगमन किया है।

जैसा इंगित किया जा चुका है काम और कौतूहल मनुष्य की आदिम और मूल प्रवृत्तियाँ हैं। विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, शारीरिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा वयवर्गों में इन प्रवृत्तियों के विभिन्न रूप—परिष्कृत अपरिष्कृत—देखने को मिलते हैं। इस सम्बन्ध में निर्विवाद धारणा यह है कि युवकों में कामभाव का और अशिक्षित एवं अल्प योग्यतावाले व्यक्तियों में कौतूहलभाव की प्रमुखता होती है। गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में युवक और अल्पशिक्षित दोनों प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर कामव्यापारचित्रण और कौतूहलोत्पादक घटनाओं की योजना को प्रमुखता दी है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि विवेच्य काल में उपन्यासपाठकों का समुदाय मुख्यतः युवकों और अल्पशिक्षित पाठकों का था।

---

१ सरस्वती, भाग १७, अंक ४, पृ० २८।

२ द्रष्टव्य, गोपालराय, श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों की ऐतिहासिकता, परिषद् पत्रिका, पटना वर्ष २, अंक १, पृ० १०२ ३ की पाद टिप्पणियाँ।

३ त्रिवेणी, १९०० ई०, 'आभास'।

४ हृदयहारिणी, प्रथम सं०, १९०४ ई०, 'निवेदन'।

५ सरस्वती, भाग १७, अंक ४, १९१६ ई०।

गोस्वामी जी के समय म शृगारिक कथाआ की विशेष माँग थी, इसकी पुष्टि त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रणी' म आय एक उल्लेख से होती है। इस उपयास मे गोस्वामी जी न एक स्थान पर पाठका से क्षमायाचना करते हुए लिखा है—"यद्यपि पूणत शृगार रस के न होन के कारण यह उपयास सवसाधारण को रुचिकर न होगा और आश्चय नहा कि विशिष्ट जन भी इसस चिढ जाए, पर क्या कर, हमारा इसम क्या वश है ? जहाँ तक सम्भव था, हमने एक समीचीन घटनावली की अवतारणा ज्यो की त्या कर दी। अब यह जसा है, पाठको के सामने है, और आशा है कि सज्जन जन इसमे से अपनी अपनी रुचि के अनुसार कुछ न कुछ अवश्य ही आनन्द की सामग्री प्राप्त करेंगे ।'[१] इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन सामान्य पाठको की रुचि शृगारिक कथाआ म ही थी।

गोस्वामी जी के सभी उपन्यास मूलत प्रेमकथाआ पर आधत है और इनम सयोग और विप्रलम्भ शृगार तथा कामचेष्टाआ का ऐसा अमर्यादित और अयथाथ वणन है कि इन उपयासो के लिए 'रोमास' सना अधिक साथक प्रतीत होती है। गोस्वामी जी के उपयासो मे औपन्यासिक तत्त्व किस मात्रा म विद्यमान है, इस प्रश्न पर हम तनिक बाद म विचार करेंगे, अभी हमे यह देखना है कि उन्होने युवक और अपरिष्कृत पाठको की रुचि को ध्यान म रखकर कामव्यापार वणनो को कितना महत्त्व दिया है।

गोस्वामी जी के उपन्यासो म स्थान स्थान पर कामव्यापारो के नग्न, ग्राम्य और उत्तेजक वणन प्राप्त होते हैं। लेखक जानबूझकर केवल युवक और अपरिष्कृत पाठको की रुचि को ध्यान मे रखकर शृगारवणनो की योजना और उनकी अनावश्यक पुनरावृत्ति करता है। अधिकाश उपयासो म चुबन और आलिगन का उल्लेख ही नही, उसका ब्योरेवार विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। 'चपला उपयास म हरिनाथ नाम का पात्र, कामिनी का, जिस वह 'बहन कहकर सम्बोधित करता है, चुबन करता है। इस चुबनव्यापार का वणन लेखक ने जिस भाषा म किया है, वह द्रष्टव्य है—

"बाबू हरिनाथ न कहा,—"खर, तो जब तक कोई बात पक्की न हो, तब तक तुम मुझको भी अपना भाई समझो।

इतना कहकर उन्होने कामिनी के गाल सिर पीठ, पेट, बाह, कधा, कलाई, हाथ आदि विविध स्थानो के सैकडा हजारा चुम्मे लेने प्रारम्भ किए जिससे मारे लज्जा, घणा, क्रोध और घबराहट के कामिनी के सारे शरीर से थरथराहट के साथ पसीन छूटने लगे मह तपे हुए ताम की भाति लाल हो गया।[२]'

पर कामिनी की यह लज्जा, घणा, क्रोध और घबराहट अधिक दर तक नही टिक पायी, हरिनाथ की दो ही चार मीठी बातो मे समाप्त हो गयी और हरिनाथ ने पुन, लेखक क शब्दा म, "उसके अग प्रत्यग का विधिपूवक चुबन करना प्रारम्भ किया और चुबन क्रिया को सागोपाग पूरी करके उन्हाने कहा—अच्छा बताओ तो प्यारी। मैं कौन हूँ। [३]

१ त्रिवेणी, प्रथम स०, पृष्ठ ४०।
२ चपला द्वि० स० पृ० ८९ ९०।
३ उपरिवत्।

चुम्बन-व्यापार के बाद कुछ देर तक दोनों प्रेमियों का प्रेमसंभाषण चलता है। अंत में हरिनाथ कामिनी से विवाह का प्रस्ताव करता है, जिसे कामिनी सहर्ष स्वीकार कर लेती है। गोस्वामी जी इस विवाहपूर्व प्रेम को 'कोर्टशिप' कहते है, और इस प्रकार के 'कोर्टशिपों' का कामोत्तेजक वर्णन बिना किसी हिचक के करते हैं। हरिनाथ और कामिनी के 'कोर्टशिप' का वर्णन करने के बाद लेखक इस संबंध में एक टिप्पणी देता है, जिससे उसके उद्दिष्ट पाठकों और उनकी रुचि का पता चलता है—

"बस कोर्टशिप हो गया। भारतवर्ष के नव्य समाज का कोर्टशिप ऐसा न होगा तो कैसा होगा? खैर जो हो, पुराने लोग चाहे इससे चिढ़ जायं, पर यह तो नवीनों की बातचीत है, कुछ पुरानों की नहीं।"[१] इस टिप्पणी से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कामव्यापारों का वर्णन करते समय लेखक को 'पुराने लोगों' का ध्यान है, पर वह उनकी विशेष परवाह नहीं करता। इससे भी यह स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने युवक उपन्यासपाठकों की कामरुचि को ध्यान में रखकर इस प्रकार के कामव्यापारों का नग्न वर्णन किया है।

गोस्वामी जी चुंबन आलिंगन का वर्णन करके ही संतोष नहीं करते। बाह्य रति का भी इन्होंने अत्यंत नग्न और उत्तेजक वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन इतनी प्रचुर मात्रा में, और इतने प्रकार के, हैं कि सबका उदाहरण देना सम्भव नहीं। एक उद्धरण से उपर्युक्त कथन का स्पष्टीकरण हो जाएगा—

"आगत युवा ने युवती को अपनी भुजा में भरकर गाढालेष किया और दोनों गलबाहीं देकर बैठ गए। युवती ने हँस कर कहा—"क्या कोमल है न!'

युवा—'यह तो अतिशय कोमल नहीं है, पर तुम्हारे पास एक और कोमल स्थान है।

युवती—" कहाँ! मैं तो नहीं जानती।"

युवा—" तो तुम छिपाती हो। देखो तुम्हारा उरस (?) अत्यन्त कोमल है कि नहीं?"

युवती—"इच्छा हो तो वह भी प्रस्तुत है, कोई बाधा नहीं है।

अनन्तर युवती ने युवक के गालों का सस्नेह चुम्बन करके कहा—शतरंज खेलोगे?

अनन्तर दोनों शतरंज खेलने लगे। अंत में युवती जीती, तब उसने कहा— प्याजी! अब तो तुम हारे! मैं अपना बदला लूं न?

युवती— देखो! अब मैं तुम्हें बाँधती हूँ।

यों कहकर युवती ने युवा को भुजपाश में जकड़ कर बांध लिया, और तब वह खिलखिलाकर हँसने लगी।

अनन्तर दोनों रहस्यवार्ता करने लगे। उसके सुनने का किसी को अधिकार नहीं है, इसलिए हम यहीं से पाठक और पाठिका जन का विदा करते हैं।"[२]

---

१ चपला द्वि० भा० पृ० ८९-९०

२ हृदय हारिणी, प्र० सं०, पृ० ११-१४।

इस प्रकार के कामव्यापार वणन, जिनमे बाह्य रतिव्यापार का ब्योरेवार वणन करके सभोग का सकेत कर दिया गया है, गोस्वामी जी के उपन्यासो मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हात हैं।[१] यह उल्लखनीय है, पर अप्रत्याशित नही, कि गोस्वामी जी ने बाह्य रतिक्रीडाओ का नग्न और ब्योरेवार वणन करके भी जिसका एकमात्र उद्देश्य किशार और युवक पाठका की कामवत्ति को उत्तजित करना है—रतिक्रिया का वणन करने मे हिचक का अनुभव किया है। जहाँ कही भी एस अवसर आये हैं, और ऐसे अवसर बार बार जान बूझकर लाये गये है, उपन्यासकार ने या तो पाठका से क्षमा माँग ली है, या उन्ह समझा बुझाकर प्रेमीप्रेमिका क क्रीडागह से अलग कर दिया है।

इसके दो कारण हो सकते हैं। प्रथमत कदाचित्, परिष्कृत पाठका की भावना का ख्याल करके लेखक बाह्य रतिव्यापार वणन से आगे बढना पसन्द नही करता हो। गोस्वामी जी कामव्यापार का वणन करत समय भी आचारविचार सपन्न हिन्दू पाठक की भावना का ख्याल रखत है। वे विवाह के पूव प्रेमीप्रेमिकाओ का रति व्यापार मे प्रवृत्त होते नही दिखाते। 'कुसुम कुमारी म वसत और कुसुम को 'रगीली सेज पर पहुँचाने के बाद लेखक कहता है—"बस इसके आग हमे और कुछ लिखने का या पाठका का सुनने का अधिकार नही है, इसलिए हम अपने प्रेमी पाठको के साथ कुसुम क शयन मदिर से बाहर निकलत हैं और अपने पाठका को यह बात समझाए देत हैं कि आज क पहिले कुसुम और वसत मे सिवाय प्रेम और पाक मुहब्बत के स्त्री पुरुष का सरोकार नही हुआ था, जसा कि आज हुआ।'[२]

सभव है, परिष्कृत हिन्दू पाठको की रुचि का ख़याल करके ही गोस्वामी जी ने रतिव्यापार का वणन न किया हो, पर इतना स्पष्ट है, कि रतिव्यापार का वणन न करके भी गोस्वामी जी अपन उद्देश्य को सिद्ध करने मे चूकते नही। जिस रूप में उन्हाने रतिव्यापारा का सकेत किया है, वह स्पष्ट वणन से सभवत अधिक प्रभावशाली है। किशोर और युवक पाठका को कामोत्तेजित करन के लिए बाह्य रतिक्रीडाओ का वणन ही अधिक कारगर होता है। य पाठक सभागवणन के बिन्दु तक पहुचते पहुचत इतने कामोत्तजित हो गय रहत हैं कि उनके लिए सभोग वणन करना, न करना दोनो बराबर होता है। सभोग का सकेतमात्र करके आग बढ जान का एक प्रभाव यह भी होता है कि पाठक सदा सोचता रहता है कि शायद आग के किसी वणन म सभोग का सविस्तर वणन हो। इस प्रकार पाठका को उलझाय रखन म लेखक को सफलता मिलती है। सभव है गोस्वामी जी न एक गुर के रूप म भी इस प्रकार का रतिवणन किया हो। जा हो यह कहने मे काई अयुक्ति नही है कि गास्वामी जी के उपन्यासा म आय काम व्यापार वणन अश्लील और अपरिष्कृत रुचि के पाठका क अनुकूल हैं। जिस अनगढ़ भाषा

१ द्रष्टव्य स्वर्गीय कुसुम, द्वि० स०, पृ० ६९ चपला द्वि० सं०, पृ० ६२, ७०, ७३ चन्द्रावली, प्र० सं०, पृ० ११ पुनज म, प्र० स० १९०७, पृ० ४२ अँगूठी का नगीना, प्र० स०, पृ० ११२, ६२, ७०, ७२।

२ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय स० १९१६, पृ० ६९।

में जो वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं उससे उपर्युक्त कथन की ओर भी पुष्टि होती है। 'माधवी माधव' में एक प्रेमीयुगल की रतिक्रिया का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी लिखते हैं— 'वे दोनों बतरणी में सन्तरण करने लगे।' भाषा का यह रूप सर्वथा अवाञ्छनीय है। सुसंस्कृत व्यक्ति सार्वजनिक रूप से ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करते।

जैसा पहले कहा जा चुका है, काम और कौतूहल मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें *उत्तेजित कर युवक और अल्पशिक्षित पाठकों का मनोरंजन करना तथा उपन्यास के क्षेत्र* में व्यावसायिक सफलता प्राप्ति गोस्वामी जी का लक्ष्य है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गोस्वामी जी ने जिस समय उपन्यास लिखना आरम्भ किया था उस समय हिन्दी के कथापाठक रुचिपरिष्कार की दृष्टि से, शैशवावस्था में थे। वे कथा के अतिरिक्त और कुछ पसन्द कर ही नहीं सकते थे। गोस्वामी जी ने इन पाठकों की रुचि का पूरा ध्यान रखा है। उनके सभी उपन्यास, अपवादतः 'त्रिवेणी या सौभाग्य श्रेणी' को, जो पाठकों में बिलकुल ही लोकप्रिय न हुआ छोड़कर, घटनाप्रधान उपन्यास हैं। गोस्वामी जी के उपन्यासों के सम्बन्ध में जो भी विज्ञापन मिलते हैं, उन में उनकी कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधानता पर बल देकर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं में प्रकाशित गोस्वामी जी के उपन्यासों की समीक्षाओं में भी उनकी इस विशेषता का उल्लेख किया गया है। 'मल्लिका देवी' के *अंतिम पृष्ठ के विज्ञापन में 'लीलावती' के सम्बन्ध में जोर देकर कहा गया है कि* "इसकी विचित्र और चित्त को आकर्षण करने वाली घटनाएं पढ़ने वालों के मन को प्रफुल्लित कर देती हैं। यह उपन्यास इतना मनोहर, अद्भुत, आश्चर्यजनक और कौतूहलवर्द्धक है कि एक बार पुस्तक हाथ में उठा लेने पर फिर समाप्त किये बिना चित्त ही नहीं मानता।"[१] 'चपला वा नव्य समाज चित्र' के आवरणपृष्ठ पर इसे एक 'रहस्यपूर्ण सामाजिक उपन्यास' कहा गया है।[२] तात्पर्य यह कि इन उपन्यासों के विज्ञापनों में पाठकों का ध्यान विज्ञापित उपन्यासों के घटना वैचित्र्य की तरफ आकृष्ट किया गया है, और गोस्वामी जी के उपन्यास इन विज्ञापनों के साथ किंचित्मात्र भी विश्वासघात नहीं करते। गोस्वामी के अधिकांश उपन्यासों में घटनावैचित्र्य के माध्यम से कौतूहल की सृष्टि की गयी है। इनमें घटनाओं को यथार्थ या विश्वसनीय बनाने का तनिक भी प्रयास नहीं है।

इस कथन के स्पष्टीकरण के लिए हम 'तरुण तपस्विनी या कुटीरवासिनी' की कथा का विश्लेषण करें। इस उपन्यास में बड़ी घटनाओं का बाहुल्य है, जिन पर केवल अपरिपक्व रुचि के पाठक ही विश्वास कर सकते हैं। इसकी नायिका अपना विवाह अपने प्रेमी से न होने पर विवाह की तिथि के चार दिन पूर्व इस प्रकार बहाना करती है कि निर्धारित तिथि तक उठ नहीं पाती और अन्त में लोग उसे मृत समझ लेते हैं। विवाह की तिथि टल जाती है। अल्पशिक्षित पाठक इस घटना की सम्भवनीयता पर विचार नहीं करता। वह केवल यह जानने के लिए उत्कण्ठित रहता है कि "तब क्या

१ मल्लिका देवी वा बंग सरोजिनी दूसरी बार १९१५ अन्तिम पृष्ठ का विज्ञापन।
२ चपला वा नव्य समाज चित्र, दूसरा बार १९१५।

हुआ ?" इस प्रकार की अनगल घटनाओ को कवल वही पाठक सहन कर सक्ते है, जो घटनाओ मे कारणत्व की मांग नही करते ।

चपला को मृत समझ कर लोग उसे श्मशान ले जात है, पर ज्योही उसका शव चिता पर रखा जाता है, एक बाघ गरजता हुआ आता है और शव को उठा ले जाता है। पर बाघ चपला को मृत जानकर छोड देता है क्योकि उपन्यासकार के अनुसार "बाघ शव को नही खाता । । इसी बीच एक युवक सन्यासी उस माग से गुजरता है, जिसे शव मे प्राण के लक्षण दिखायी पडते हैं। वह चपला का अपनी कुटी मे ल जाता है और उस जिला देता है। सन्यासी अपने को चन्द्रगुप्त का मत्री चाणक्य बताता है जो योगबल से अब तक तरुण बना हुआ है। वह योगी त्रिकालदर्शी, सवज्ञ और हस्तरेखा विशारद है।[१]

आरम्भ म घटनाओ का वणन बिलकुल इसी रूप म किया गया है, और लेखक *चाहता है कि उसके पाठका का कौतूहल बढे। किन्तु ऊपर जा घटनाए वर्णित है, वे* इतनी असगत है कि उन पर नितान्त अल्पबुद्धि पाठक ही विश्वास कर सकते हैं। लेखक पहल मान लेता है कि उसके पाठक इन पर विश्वास कर विस्मय के सागर म गोते लगाएँगे। तदनन्तर वह अपने पाठको के भोलेपन पर हँसता है और एक रहस्य का उदघाटन करता है कि चपला की सहेली सौदामिनी ने बाघ बनकर घोर गजन किया था, और साथ के लोगो के भयभीत हाकर भाग जाने पर वह शव को उठा ले गयी थी। उसी ने सन्यासी बन कर उसे स्वस्थ किया था। स्पष्ट है कि यह सफाई पूववर्ती वणन से अधिक अस्वाभाविक और हास्यास्पद है। मनुष्य का बाघ की खाल ओढकर बिलकुल बाघ का भ्रम पदा करना ऐयारी तिलस्म प्रधान रोमासो क ससार मे ही सम्भव हो सकता है।[२] सौदामिनी का बाघ की खाल ओढकर बिलकुल बाघ सा दिखायी पडना, और बाघ की तरह गजन करना जसी अनगल बातो पर नितान्त बालबुद्धि पाठक ही विश्वास कर सकता है। स्पष्टत गोस्वामी जी का उद्देश्य तत्कालीन अल्पबुद्धि पाठको को कौतूहलपूण घटनाओ के ससार म विचरण कराना है।

गोस्वामी जी के उपन्यासो म सयोगाधत और रोमाचकारी घटनाओ की बहुलता है। 'चपला' म कमलकिशोर और श्रीनाथ कामिनी का सतीत्व अपहरण करने ही वाले हैं कि वहाँ आश्चयजनक रीति से कामिनी के वास्तविक प्रेमी हरिनाथ आ जाते है और उसकी रक्षा करते हैं। इस उपन्यास में एक तरफ तो शकर प्रसाद के परिवार की, विपत्ति के दिनो म भी, धम के माग पर अडिग रहने की मार्मिक कहानी है, दूसरी तरफ रोमाचकारी डाको, तिलस्म और गडे खजाने आदि का भी सविस्तर वणन किया गया है। इस प्रकार की कौतूहलवधक परन्तु अविश्वसनीय घटनाओ के वणन स यह उपन्यास भरा हुआ है। घटनाओ के वणन म बहुधा *अतिनाटकीय शली का प्रयोग किया गया है।*[३]

---

१ तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी, प्रथम सं० १९०५, पृ० ९७।

२ द्रष्टव्य, देवकीनन्दन खत्री, चन्द्रकान्ता स तति, प्रथम भाग।

३ द्रष्टव्य, चपला का आरम्भ।

गोस्वामीजी के उपन्यासों में तिलस्म और ऐयारी प्रधान घटनाओं के भी वर्णन आये हैं। 'स्वर्गीय कुसुम या कुसुम कुमारी' में वर्णित अजायब घर एक छोटा मोटा तिलस्म ही है। इस अजायब घर में वैसी ही पेचदार सुरंगें, खटके पर खुलनेवाले दरवाजे और गुप्त कोठरियों का वर्णन है, जैसा खत्री जी के तिलस्मी रोमांसों में। नरेन्द्र सिंह ('कुसुम कुमारी') का शत्रुओं द्वारा मार डाले जाने के बाद भी जी उठना और छिपकर बुन्नी की नौकरी करना, अजायब घर की ताली गायब कर देना, करीमबख्श आदि के ... में मिलकर उन्हें हम्मामवाली कोठरी में बंद करना आदि ऐयारी के ही—यद्यपि हलकी फुलकी ऐयारी के—करिश्मे हैं।[1] चपला में कमलकिशोर घनश्याम को बेहोशी की दवा सुँघाकर एक तिलिस्मी मकान में कैद कर लेता है, और जिस कमरे में घनश्याम सोया हुआ था उसमें खून आदि छिड़क कर एक कटी कलाई, जिसमें विवाह का कंगन बँधा हुआ है छोड़ देता है जिससे लोगों को घनश्याम की हत्या का विश्वास हो जाए। कुछ दिन बाद कमल किशोर चपला को भी बेहोशी की दवा सुँघाकर अपने तिलस्मी मकान में कैद कर लेता है। जिस प्रकार चन्द्रकान्ता के तिलिस्म में वीरेन्द्र सिंह का भव्य स्वागत होता है पर कोई आदमी नहीं दिखायी पड़ता, उसी प्रकार तिलस्म में चपला का भी स्वागत होता है। इन तिलस्म और ऐयारीप्रधान घटनाओं के वर्णनों से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी के उद्दिष्ट पाठक ऐसी कौतूहलोत्पादक घटनाओं में विशेष रुचि रखते थे।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि गोस्वामी जी के समसामयिक हिन्दी पाठक श्रोताकोटि के थे। सभी अल्प योग्यता वाले पाठक निरपवाद श्रोता बने रहना चाहते हैं। किस्सा या कहानी प्रकृतितः सुने सुनाये जाने की माँग करती है। श्रोता और श्रावयिता के अभाव में कहानी का अस्तित्व सम्भव ही नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों में श्रावयिता या किस्सागो की ऊँची आवाज सदा पाठक को सुनायी पड़ती रहती है। चूँकि ... पाठकसमुदाय 'तब क्या हुआ?' की उत्सुकता से परिचालित होनेवाले बालबुद्धि कथाश्रोताओं का भी था इसलिए उसे यह आवाज प्रिय ही नहीं मालूम पड़ती वरन् उसके लिए अनिवार्य भी थी। कहा जा सकता है कि उपन्यासकार पाठकों को बिना अपने सामने बैठाये कथा कह ही नहीं सकता था। फलतः यदि उपन्यास की कोई घटना समाप्त होती है या किसी परिच्छेद का अन्त करना होता है, तो उपन्यासकार अपने पाठकों को नहीं भूलता। वह कहता है— अच्छा अब हमारे प्रिय पाठक साथ भी रातभर सुख से टाँगें फैलाकर सोएँ। कल जब राजा कदर मोहन का दरबार लगेगा तब फिर हम अपने पाठकों को लिए हुए चुपचाप वहाँ पहुँच जायेंगे।'[2] उपन्यासकार को यदि कोई सिद्धान्त की बात कहनी होती है तो वह नाटककार की तरह किसी पात्र का मुँह नहीं जोहता पाठकों से वह सीधे ही कहता है— 'प्यारे पाठक! इस संसार में मनुष्यता

[1] स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, ... सं०, १९१६ ई०।

[2] कंगूठी का नगीना, प्रथम बार १९१८ पृ० २६१।

कौन नहीं चाहता।'[१] ऐसे अवसरों पर वह पाठकों का अधिक समय लेने में भी नहीं हिचकता।[२] कहानी के बीच बीच में वह पाठकों को उपदेश भी देता है।[३]

गोस्वामी के उपन्यासों में औपन्यासिक कथाशिल्प, अर्थात समय का विपर्यसन, नाटकीय पद्धति आदि का प्रयोग हुआ है, किंतु प्राचीन कथाकहानियों के शिल्प का बिलकुल परित्याग करने में वे सफल नहीं हो सके हैं। उदाहरणत उनके उपन्यासों का आरंभ तो नाटकीय पद्धति पर, प्राय बीच की किसी घटना से, होता है पर दूसरे परिच्छेद में ही वे पात्रों का विस्तृत परिचय देकर घटनाओं की शृंखला मिलाने का प्रयत्न करने लगते हैं। प्रश्न उठता है, क्या गोस्वामी जी अपने उपन्यासों में द्वितीय या तृतीय परिच्छेद में प्राचीन किस्साकहानियों के ढंग पर पाठकों को संबोधित कर अपने पात्रों का सविस्तर परिचय देते हैं? क्यों नहीं वे पात्रों का प्रत्यक्षत परिचय देने के बदले कथानक, कथोपकथन या अन्य अप्रत्यक्ष साधनों से शनै शनै चरित्रोद्घाटन करते। इसका कारण निश्चय ही, अल्पयोग्यता वाले कथाप्रेमी पाठकों का ध्यान रखना है। इस प्रकार के पाठकों में बुद्धि और स्मरणशक्ति न्यून मात्रा में होती है जिससे वे कथानक, कथोपकथन या अप्रत्यक्ष संकेतों द्वारा प्रस्तुत चरित्रचित्रण को समझ नहीं पाते। प्राचीन किस्साकहानियों में, इसी कारण, आरंभ में पात्रों का परिचय दिया गया रहता है, और बीच बीच में पाठकों को संबोधित किया जाता है। गोस्वामी जी अपने उपन्यासों का आरंभ तो औपन्यासिक विधि पर करते हैं, लेकिन दूसरे या तीसरे परिच्छेद में वे पाठकों की रुचि और अवबोध शक्ति का ध्यान कर पात्रों का परिचय भी दे देते हैं।

गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों में कथाओं के युगपत संक्रमण की योजना भी की है। पर ऐसा करते हुए वे अपने पाठकों को भूलते नहीं और उन्हें अपने पास से कभी अलग नहीं होने देते। कहा जा चुका है कि किस्साकहानियों के पाठकों और श्रोताओं की स्मरणशक्ति प्राय दुर्बल होती है, इसलिए श्रावयिता घटनाओं की शृंखला जोड़ने के लिए श्रोताओं को पूर्ववर्णित घटनाओं की याद दिलाता चलता है। जहाँ एकाधिक घटनाओं का युगपत संक्रमण होता है वहाँ बुद्धि और स्मरणशक्ति की और भी अपेक्षा होती है, क्योंकि इनके अभाव में पाठक विभिन्न कार्यों की शृंखलाओं को जोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। गोस्वामी जी के अधिकांश उपन्यासपाठक चूंकि साधारण बुद्धि और दुर्बल स्मरणशक्ति से युक्त थे, इसलिए लेखक को उन्हें बार बार सचेत करना पड़ता है तथा पूर्व घटनाओं की याद दिलानी पड़ती है। उदाहरणत 'चपला' के दूसरे भाग के आरंभ में, कथा शुरू करने के पहले, उपन्यासकार पाठकों की स्मृति जागृत करता है—"तो प्यारे, पाठक! आपलोग इस बात को जानने के लिये बहुत ही घबरा रहे होंगे कि ठाकुर प्रसाद के स्वर्ग सिधारने के बाद उनके दुखी कुटुंब की क्या दशा हुई! अस्तु, हम भी यहाँ पर पहिले उसी घराने का कुछ हाल लिखना उचित समझते हैं।'[४] यदि उपन्यासकार को कहीं आशंका होती है कि उसका पाठक अपनी नासमझी

१ नौलखा हार, मर्यादा, भाग १ सं ३ जनवरी १९११ पृ० ७९।
२ द्रष्टव्य, अंगूठी का नगीना प्रथम सं०, पृ० ५।
३ , चपला वा नव्य समाजचित्र द्वितीय सं १९१५, पृ० ८६।
४ चपला वा नव्य समाजचित्र, द्वितीय सं० १९१५ ई० भाग २, पृ० १।

के कारण किसी घटना का गलत अर्थ लगा लेगा, तो वह पाठकों की स्नेहपूर्ण भर्त्सना करने से भी बाज नहीं आता। उदाहरणार्थ 'तरुण तपस्विनी' का निम्नांकित उदाहरण—"लोग चकित होंगे, और आश्चर्य की बात ही है कि चपला कुलवधू होकर इस निर्जन स्थान में—अँधेरे में—अकेली बैठी बैठी क्या कर रही है? पर इसका उत्तर कौन दे? यदि धीरज हो तो धीरे धीरे पुस्तक के अंत तक चलने का श्रम स्वीकार करिये, नहीं तो पुस्तक उठा कर आले में धर दीजिये।"[1] *उपन्यास में वर्णित कार्य का—यदि वह कार्य सामाजिक व्यवहार के* प्रतिकूल है—औचित्य सिद्ध करने के लिए भी लेखक पाठकपाठिकाओं को संबोधित करता है। 'तरुण तपस्विनी' में घनश्याम और चपला के एकांत मिलन पर उपन्यासकार *पाठिकाओं को संबोधित कर कहता है—"वह पाइसी युवती कुमारी थी। अतएव कुमारी* युवती परपुरुष से इस प्रकार निर्लज्ज होकर बातें करती है, यह बात वर्तमान सभ्यताभिमानिनी स्त्रियों को जहर सी कड़ुई लगेगी। पर इतना स्मरण रखना चाहिये कि इन *दोनों की बातें द्वार के भीतर हुई थीं न कि गली में।'*[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी जी औपन्यासिक शिल्प का प्रयोग करते हुए यह कभी नहीं भूलते कि उनके पाठक अल्पयोग्यता सम्पन्न हैं, और इसलिए वे अपने पाठकों *के साथ श्रावयिता श्रोता सम्बन्ध बनाये रखते हैं।*

किशोरीलाल गोस्वामी के सभी उपन्यास निरपवादतः सुखांत हैं। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' में सुखान्त दुःखान्त के सम्बन्ध में एक बड़ा रोचक प्रसंग आया है, जो दीर्घ होने पर भी, गोस्वामी जी के उपन्यासों पर तत्कालीन पाठकों की रुचि के विश्लेषण के लिए, अपरिहार्यतः उद्धरणीय है—

'एक प्रश्न

असारे खलु संसारे सारं यत्तद्ब्रवीम्यहम्
संयोग एव नित्यस्यान्न वियोगः कदाचन्।

(साहित्य मंजरी)

'महा कवि कालिदास ने कहा है कि,—भिन्न रुचिर्हि लोक —अर्थात्—'सभी लोगों की रुचि एक सी नहीं होती। ठीक है, इसे हम भी मानते हैं और इसीलिये हम यहाँ पर कुछ कहना चाहते हैं।

'हमारे प्यारे पाठकों में भी कुछ लोग वियोगांत के अनुरागी होंगे, इसलिये दोनों प्रकार की रुचि वाले प्रसन्न हों, यह समझ कर यहाँ हम पहिले वियोगान्त रुचिवालों से यह कहते हैं कि,—"बस अब आप लोग इस उपन्यास को यहां तक पढ़ कर रख दीजिए और समझ लीजिए कि,—'कुसुम मर गई, पागल बसन्त भी मर गया और उन दोनों के मरने पर बबुआ गुलाब ने भी अपनी जान देकर अपने पाप, अर्थात् सपत्नीवध और पतिहत्या का प्रायश्चित कर डाला।' फिर पीछे क्या हुआ? वही, जो नाटकों में बूढ़ कौशल का होता है!! अर्थात् 'मांस के टुकड़े पर चील झपट्टे की भांति जरासी-परासी, अपन-पराए,

१ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी, प्रथम सं०, १९०० ई० पृ० ५।
२ उपरिवत् पृ० ४।

वारिस बेवारिस आदि लोगा न मनमानी लूट-खसाट मचाई, पर जसे चीला को मार भगा कर पक्षिराज गिद्ध अपना ही अधिकार जमाता है, वैसे ही सब लुटेरो को दूर करके लावारिस सम्पत्ति पर राजा ने अपना कब्जा किया और या देखते दखत एक नई फुलवारी जिसम बसन्त की आमद स कुसुम की कली अभी खिली भी नही थी, और गुलाब की कली चटकी भी नही थी कि एकाएक आकाश स अकाल के उल्कापात से वह जल भुन कर खाक स्याह हा गई।

क्या साहब! वियोगान्त के प्रेमिया! अब ता आप खुश हुए न! किन्तु हा जरा आप हमारे सामने ता तशरीफ लाइए, क्योकि हम देखा चाहते है कि आपका वज्र हृदय 'दधीचि' के किस अग के हाड से विधाता न गढा है! हा, खद! भला हम आपस यह पूछते है कि कुसुम या वसत ने धम, कम, ससार, समाज, लाक, परलाक, दश, विदश, या किसी वियोगान्त प्रेमी व्यक्ति विशप का क्या विगाडा है कि दोना यो ससार से निकाल बाहर किए जाय, और जिन अथपिशाच नर राक्षसा स धम, कम, ससार, समाज, देश, विदेश और व्यक्ति विशेष का सत्यानाश हो रहा है वे दुराचारी लोग मूछो पर ताव फरते हुए दूसरे माकण्डेय बन कर दीघजीवी हा? हा, धिक!!!

इसलिये वियोगान्त के प्रेमिया म हमारा यह प्रश्न है कि—'आप बतलावें कि, 'वियोगान्त वणन किस या कम स्थल विशप म वत्तनी चाहिए? यदि आपलाग कृपा कर इस निगूढ तत्त्व को हमारे हृदय म प्रवश करान म समथ होग, ता आग हम आप ही के बतलाए हुए माग को ग्रहण करग किन्तु जब तक आपलोगा का मत हमारे जी म न धँसेगा, तब तक हमारा ही मत हमको माननीय रहेगा?

"बस, प्यार, वियोगान्त के प्रेमियो! आप अब इस पढना बस कीजिए,—

"और प्राणप्यारे, सयोगिया, या सयोगान्त वणन के प्रेमिया! आपलोग क्या उदास हान लगे? घबराइय मत कुसुम या वसन्त का कुछ भी नही हा सकता क्योकि जब वसन्त साक्षात ईश्वर का दूसरा रूप है,—"ऋतूना कुसुमाकर —तब फिर नाम क नात स क्या कुसुम और वसन्त का विनाश कभी हा सकता है? कभी नही! ता फिर यह भी निश्चय ही जानिय कि तब गुलाब की बाडी भी खिलगी, पर नई दुनियावालो की नई युक्ति म अब उसम काट नही निकलग!!!

इस उद्धरण का विश्लेषण करन पर कई बात स्पष्ट हाती हैं। प्रथमत यह ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी अपन पाठका की विभिन्न रुचिया क पूण ध्यान रखते थे। वे जानते थे कि उनके पाठको मे स कुछ दुखान्त कथा पसद करनेवाल हा सकते है, गो कि इनकी सख्या कम ही हागी। दूसरी तरफ, उन्हे यह भी ज्ञात था, कि सुखान्त कथा पसद करनेवाल पाठक अधिक है। गोस्वामी जी दाना प्रकार के पाठका को सतुष्ट करन का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि व 'वियागान्त प्रमियो' की अधिक परवाह नही करते। उपन्यासकार तथाकथित वियोगान्त प्रेमिया का मजाक उडाता है। उनके लिए वह कथा का एक विशेष 'अत' बना तो देता है, पर एस अत के लिए वह इनकी कडी भर्त्सना करता है उन्ह वज्रहृदय कहता है। लगता है, एसे पाठका स उसे सख्त

नफरत है। वह इन पाठकों को व्यंग्यपूर्वक सम्बोधित करता है। दूसरी तरफ, तथाकथित 'सुखान्त प्रेमियों' को वह बड़ी आत्मीयता के साथ, स्नेहपूर्ण ढंग से, सम्बोधित करता है—"प्राण प्यारे, सयोगियो या सयोगात वर्णन के प्रेमियो। आप लोग उदास क्यों होने लगे'—और कथा को सुखान्त बना देता है।

'कुसुम कुमारी' का अंत नितान्त कृत्रिम, अकलात्मक और अविश्वसनीय है, और इसका दायित्व एकमात्र तत्कालीन पाठकों की रुचि और योग्यता पर है। अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यता वाले पाठकों की सुखांत कथाओं में विशेष रुचि होती है, इसका विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। गोस्वामी जी अपने पाठकों के बालहठ से—जो अपने प्रिय कथापात्रों को अंत में दुखी नहीं देख सकते, तथा जो कहानी सुनकर हँसते हँसते बिस्तर पर जाना चाहते हैं—उपन्यासों को कृत्रिम रूप से भी सुखांत बनाने में द्विधा का अनुभव नहीं करते।

गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासों की रचना तत्कालीन रसिक पाठकों के मनोरंजन के लिए की थी। अतः उनके उपन्यासों का सयोगान्त या सुखांत होना अनिवार्य था। इन उपन्यासों की समाप्ति ठीक प्राचीन ढंग के किस्सों की तरह होती है। 'स्वर्गीय कुसुम' का अंत निम्नलिखित वाक्य से होता है—"प्रभो! ससार में एक ही सुखी परिवार हो, तो अच्छा है।"[1] यह बच्चों की कहानियों की शैली है। 'तरुण तपस्विनी' के अन्त में निम्नलिखित पंक्ति आती है—'अन्त में उस परमात्मा से यही याञ्चा है कि वह दीनदयालु इस मनोरम कहानी को ससार में अचल करे और इसके पढ़नेवालों को सदा सुखी रक्खे।'[2] गोस्वामी जी के प्रायः समस्त उपन्यासों का अन्त इसी पद्धति पर किया गया है।

गोस्वामी जी के उपन्यासों में चित्रित हास्य के स्तर से भी पता चलता है कि उनके पाठकों का पठनस्तर निम्न था। उनके तीन उपन्यासों 'चपला,'[3] 'तरुण तपस्विनी' और 'अँगूठी का नगीना' में हास्य चित्रण के स्थल दिखायी पड़ते हैं, पर ये सभी चित्रण ग्राम्य भोंडे और अपरिष्कृत हैं। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' में सुरति निरोध' का एक प्रसग विस्तार से वर्णित है, जो तत्कालीन पाठकों की निम्न रुचि का परिचायक है।[4]

गोस्वामी जी ने चित्रों के द्वारा भी अपने बालबुद्धि पाठकों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न किया है। बच्चों की तरह अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि भी चित्रों में अत्यधिक होती है। लेखक ने उन्हें तुष्ट करने के लिए अपने कुछ उपन्यासों के आवरणपृष्ठों पर तथा पुस्तक के बीच में सुन्दरियों के चित्र दिये हैं। कलात्मक दृष्टि से इन चित्रों का मूल्य शून्य है, फिर भी अपरिष्कृत पाठकों के मनबहलाव के लिए इन चित्रों में पर्याप्त आकर्षण है। गोस्वामी जी के उपन्यासों की भूमिकाओं और विज्ञापनों से ज्ञात होता है कि उन्होंने चित्रों के द्वारा अपने पाठकों को आकृष्ट करने का प्रयत्न

१ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय स० १९१७।
२ तरुण तपस्विनी वा कुटीरवासिनी प्रथम स० १९०५ पृ० १४१।
३ चपला वा नव्य समाज चित्र भाग १ पृ० २७।
४ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी, द्वितीय स० १९१६, पृष्ठ १२४।

किया था। 'स्वर्गीय कुसुम के दूसरे सस्करण की विशेषता बताते हुए उसकी भूमिका म अन्य बाता के साथ यह भी कहा गया है कि "सबस बढ़कर तो अबकी बार यह बात हुई है कि इस उपन्यास म 'कुसुम कुमारी' का एक मनोहर चित्र भी दे दिया गया है। एक रुपया ता क्या—इस चित्र पर लाख रुपया न्योछावर कर दिया जा सकता है।[१] चपला,[२] 'माधवी माधव'[३] आदि के साथ सलग्न विज्ञापनो मे भी गोस्वामी जी के उपन्यासो म दिय गये चित्रो की प्रशसा कर पाठको का ध्यान आकृष्ट करने की चेष्टा है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गास्वामी जी ने अपने उपन्यासो को अल्पयाग्यता सपन्न पाठको के मनोनुकूल बनाने का प्रत्येक सम्भव प्रयास किया था।

इन उपन्यासा के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी ने हिंदू पाठका की रुचि और भावना का ध्यान सवत्र रखा है। हिंदू समाज की आलोचना भी वे यत्रतत्र करत हैं पर उसी प्रकार जसे कोई व्यक्ति अपनी बहुत अच्छी गाडी के एकाध पुर्जे के घिस जाने या उसके रग के फीके हो जाने की शिकायत करता है। गास्वामी जी हिंदू समाज की बुराइया की आलोचना करते हैं, पर कुल मिलाकर, व हिंदू धम और समाज को ससार म सवश्रेष्ठ मानते हैं। स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी म वसत और कुसुम कुमारी के वार्तालाप क द्वारा हिंदू धम की सवश्रेष्ठता का सविस्तर विवचन किया गया है।[४] गोस्वामी जी के पाठक, जो निर्विवाद रूप स हिंदू थ इस प्रकार के वर्णन पढकर आत्माभिमान और आत्मगौरव से भर उठत हाग यह असदिग्ध है।

या गोस्वामी जी ने हिंदू समाज मे फली बुराइया की, जस 'स्वर्गीय कुसुम' म दवदासी प्रथा की[५], 'चपला म मनमाना ज्योतिष गढकर लडका लडकी क विवाह म अड़चन उपस्थित करनेवाले ज्योतिषिया की, खूनी औरत वा सात खून म विलायत स लौटे व्यक्तियो को जातिबहिष्कृत करनेवाल समाज की,[६] चपला म हिंदू समाज की सकीणता की,[७] तथा 'तरुण तपस्विनी म वर कन्या के बमेल विवाह की,[८] आलाचना की है, पर उनकी दृष्टि मुख्यत सनातनी हिंदू की दृष्टि है। उस समय के अधिकाश हिंदू पाठक भी सनातनी थे और गोस्वामीजी ने अपन उपन्यासा म ऐसे पाठको की रुचि का बहुत ध्यान रखा है। यद्यपि उन्हान ढागी ज्योतिषिया की निन्दा की है पर वास्तविक ज्योतिष के महत्त्व का प्रतिपादन भी स्थान स्थान पर किया है। चपला म एक पात्र कहता है— जिसका नाम ज्योतिष है, वह कभी नही झूठा हा सकता।"[९] इसी उपन्यास म एक

१ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी द्वि० स०, १९१६ भूमिका।
२ चपला, द्वितीय स० १९१५, विज्ञापन।
३ माधवी माधव द्वितीय स० १९१९ भाग १ अन्तिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन।
४ स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी द्वितीय स० पृ० ११९।
५ उपरिवत् पतोसवाँ परिच्छेद, पृ० १३६ ३९, १६० ६४।
६ खूनी औरत का सात खून, प्रथम बार १९१८ पृ० १५६।
७ चपला वा नव्य समाज चित्र, १९१५, भाग २, पृ० ९३।
८ तरुण तपस्विनी वा कुटीर वासिनी पृ० ५०।
९ चपला वा नव्य समाज चित्र, द्वितीय स० १९१५ भाग १, पृ० ४१।

स्थान पर लगभग दो पृष्ठों में, एक ज्योतिषी द्वारा ज्योतिष शास्त्र की महत्ता प्रतिपादित करायी गयी है।[१] 'अँगूठी का नगीना'[२] तथा रजिया बेगम में भी ज्योतिष की महत्ता सिद्ध की गयी है।

गोस्वामीजी के उपन्यासों में हिन्दू धर्म शास्त्रानुसार कर्मफल के सिद्धान्त का स्थान स्थान पर और सविस्तर प्रतिपादन मिलता है। 'स्वर्गीय कुसुम' तथा 'चपला वा नव्य समाज चित्र'[३] में बड़े विस्तार से कर्म फलवाद का विवेचन है। उनके किसी भी उपन्यास में ढूँढने से भी ऐसा पात्र नहीं मिलता, जिसे अपने दुष्कर्मों का दण्ड न मिला हो, साथ ही सद्पात्रों को उनके सुकर्मों का सुफल भी अवश्य प्राप्त होता है।

'स्वर्गीय कुसुम' में पापी त्र्यबक पाडे तथा चुन्नी को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है। त्र्यबक पाडे की सारी देह में कोढ़ फूट जाती है और चुन्नी जल में डूबकर मरती है। 'चपला' के सभी दुष्टों को दंड और सत्पात्रों को पुरस्कार प्राप्त होता है। एक दुष्ट 'कुटनी' को दंड दिलाकर उपन्यासकार कहता है "किन्तु उस हरामजादी कुटनी लौंडी को जगदीश्वर ने उसी दिन उसके भयानक पाप का दंड दे दिया और वह उसी दिन एकाएक मकान की सबसे ऊपर वाली छत से गिरकर यमलोक सिधार गई।"[४] इसी प्रकार गोस्वामीजी के अन्य उपन्यासों में भी दुष्ट पात्रों को उनके कर्मों का दंड, स्वाभाविकता की सीमा लाँघ कर भी, दिलाया गया है। इसका एकमात्र कारण यह है कि गोस्वामी जी का हिन्दू पाठक कर्मफलवाद में विश्वास करता था और उसे प्रसन्न रखने के लिए ऐसा वर्णन आवश्यक था।

गोस्वामीजी ने अपने उपन्यासों में यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि मनुष्य को विपत्तिग्रस्त होने पर भी अधर्म के मार्ग पर पाँव नहीं रखना चाहिए। 'चपला' में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हरप्रसाद और उनके परिवार की दृढ़ धर्मनिष्ठा के द्वारा किया गया है। गोस्वामीजी के प्रायः सभी उपन्यासों में पातिव्रत्य और सतीत्व का महत्त्व प्रतिपादित है।[५] इन उपन्यासों की अधिकांश हिन्दू पात्रियाँ आदर्श की प्रतिमा रूप में चित्रित की गयी हैं। तत्कालीन हिन्दू पाठकों की दृढ़ धारणा थी कि स्त्रियों को पातिव्रत्य का पालन करना ही चाहिए।

गोस्वामीजी के उपन्यासों में हिन्दू धर्म की अन्य बातों का समर्थन भी स्थान, स्थान पर किया गया है। 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी' कुल ४१ पृष्ठों का उपन्यास है पर कथा का अंश ५ पृष्ठ से अधिक नहीं है। शेष भाग में हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों, आचार विचार, पूजापाठ, देवीदेवता आदि के वर्णन हैं। इस उपन्यास के मनोहरदास के रूप में उपन्यासकार ने पाठकों के समक्ष एक आदर्श हिन्दू का प्रत्यक्ष उपस्थित किया है।[६]

---

१ *चपला वा नव्य समाज चित्र*, द्वि० सं०, १९१५।
२ *अँगूठी का नगीना*, प्रथम सं०, १९१८, पृ० ७७, ७८ ७९, ८६।
३ *चपला वा नव्य समाज चित्र*, द्वितीय सं०, १९१५, तीसरा भाग, पृ० १८ १९।
४ उपरिवत् भाग २ पृ० २।
५ किशोरीलाल गोस्वामी, (अनु०) प्रेममयी, द्वितीय सं०, १९१४ पृ० ६१ पुनर्जन्म वा सौतिया डाह, प्रथम सं० १९०७, पृ० २० आदि।
६ त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी प्रथम सं १९०७ पृ० १९।

तात्पय यह कि गोस्वामीजी ने तत्कालीन हिन्दू पाठको की रुचि का पूरा ध्यान रखा है। कही कही तो हिन्दू धम के सिद्धान्तो के सविस्तर प्रतिपादन स कथाप्रवाह म बाधा तक पडी है। गोस्वामीजी को हिन्दू पाठको की भावना का कितना ध्यान था यह इसीसे प्रमाणित है।

गोस्वामी जी ने अपने उपन्यासा म दा तरह की भाषा का प्रयाग किया है। नारीसौदय प्रकृतिसौदय, विरह और सिद्धान्त वणन की भाषा जहा सस्कृतनिष्ठ और अलकृत है वहाँ कथावणन की भाषा सामान्य बोलचाल की है। फिर भी इन उपन्यासो की भाषा कही भी खत्री जी के उपन्यासो की तरह अल्पशिक्षितजनोचित और उदू के सरल शब्दो से युक्त नही है। इनकी भाषा म तत्सम शब्दावली का बाहुल्य है। निष्कष रूप म कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी के उपन्यासा की भाषा अधिकतर साहित्यिक है, पर कथावणन मे उन्होंने उसे सामान्य पाठको के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है।

उपयुक्त विवचन से गोस्वामी जी के उपन्यास रोमास के अधिक निकट जान पडत है। इन उपन्यासो की अविश्वसनीय घटनापूण कथा अमर्यादित कामव्यापार वणन, अलकृत प्रकृतिवणन, स्थान स्थान पर कविताओ का समावेश, कथाशिल्प म श्राता श्रावयिता की सहवतमानता आदि विशषताए इन्ह 'रोमास के निकट ला देती हैं पर कुछ एसी बातें है जिनके कारण इनके उपन्यासो को विशुद्ध रोमासा की कोटि मे नही रखा जा सकता। इन उपन्यासा का वातावरण सामतीय नही है। इनक पात्र राज परिवार स नही, मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय समाज स लिये गय है। इनम आय स्थाना क नाम वास्तविक है, काल्पनिक नही। इनम वर्णित प्रेम सूफी प्रेमाख्यानो या तिलस्मी रोमासो म वर्णित प्रेम से काफी भिन्न है यद्यपि इनका नखशिखवणन और विरह वणन उन्हा जसा है। इन उपन्यासा की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ, जो इन्ह रोमासो स भिन्न करती हैं दो है—प्रथम, इनम तत्कालीन जीवन की सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक समस्याओ पर गौण रूप म ही सही प्रकाश डाला गया है, तथा अवसरानुकूल उनकी आलोचना की गयी है। 'स्वर्गीय कुसुम वा कुसुम कुमारी' म दवदासी प्रथा और वश्या गमन का तथा 'चपला' म ज्योतिष गणना सम्बन्धी अविश्वासो अँगरजी शिक्षा, विवाहित लडकियो को अधिक दिन मायके म रखने की प्रथा आदि की आलोचना का गयी है। चपला म शिव प्रसाद के परिवार की निधनता और आर्थिक कष्ट के वणन द्वारा गोस्वामी जी ने तत्कालीन मध्यवर्गीय परिवार का विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास म गोस्वामी जी ने बेकारी की समस्या का भी चित्रण किया है तथा उद्योगधन्धो और व्यापार म न प्रवेश कर नौकरियो के लिए मारे मारे फिरनेवालो की आलोचना की है। इस प्रकार के अनक प्रसग इन उपन्यासा स उद्धत किये जा सकत हैं जिनम नवयुग की धडकन है। इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से गोस्वामी जी के उपन्यास 'रोमासो से अग्रेसर हैं, यद्यपि उनम रोमासो की अनेक विशेषताएँ प्राप्त होती है।

शिल्प की दृष्टि से भी गोस्वामी जी के उपन्यास रामांस से विकसित हैं। इन उपन्यासों में नाटकीय प्रविधि, समयानुक्रम विपर्यसन, कथाओं के युगपत् सङ्क्रमण की प्रणाली आदि का प्रयोग किया गया है, जो औपन्यासिक शिल्पविधियाँ हैं।

उनके उपन्यासों में प्राप्त नखशिख प्रकृति और विरह वर्णनों में प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि का ध्यान रखा गया है। इसके साथ साथ अतिलौकिक और अविश्वसनीय कौतूहलजनक घटनाओं की योजना, श्रोता श्रावयिता वाली शिल्पयोजना मुसाहब कथा एवं हास्यचित्रण में निम्नस्तरीय पाठकों की रुचि का प्राधान्य है। हिन्दू पात्रों के चरित्रचित्रण हिन्दू धर्म की प्रशंसा तथा भारतीय रीतिरिवाजों के प्रतिपादन में गोस्वामीजी ने अपने हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का पूर्णतः ध्यान रखा है। इस प्रकार गोस्वामीजी के उद्दिष्ट पाठक हिन्दू थे जिनमें प्राचीन काव्यरसिक भी थे और अल्पशिक्षित पाठक भी। दुर्भाग्यवश इस काल में प्राचीन काव्यरसिकों एवं परिष्कृत पाठकों की संख्या अधिक न थी। साक्षरमात्र पाठक काव्यात्मक वर्णनों में अधिक रुचि नहीं ले पाते। परिणामस्वरूप गोस्वामी जी के उपन्यास खत्रीजी के उपन्यासों के समान लोकप्रिय न हो सके। पर इस बात का अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि गोस्वामीजी के उपन्यासों ने तत्कालीन साधारण उपन्यास पाठकों की रुचि का बहुत कुछ परिष्कार किया। खत्रीजी के उपन्यास विशुद्ध कथा के पर्याय हैं। गोस्वामी जी ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि 'उपन्यास कथा से कुछ अधिक है'। इस प्रकार गोस्वामीजी ने उपन्यासविषयक धारणा के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया।

भुवनेश्वर मिश्र के उपन्यास और उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

भुवनेश्वर मिश्र उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के ही नहीं, प्रेमचन्दपूर्व युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। इन्होंने केवल दो उपन्यासों की रचना की थी—'घराऊ घटना' (१८९३) और 'बलवंत भूमिहार' (१८९६)। इनमें 'घराऊ घटना' ने तत्कालीन हिन्दी पाठकों में बहुत लोकप्रियता प्राप्त की। केवल १५ वर्षों के भीतर इसके चार संस्करण हुए जो सौभाग्य उस समय के उपन्यासों को दुर्लभ था। किन्तु 'बलवंत' प्रेमचन्दपूर्व युग का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास होने पर भी पाठकों में लोकप्रिय न हो सका। कदाचित् इसकी श्रेष्ठता ही इसकी लोकप्रियता में बाधक बनी। इस उपन्यास की रचना १८९६ ई० में हुई, पर पुस्तक रूप में प्रकाशित होने का अवसर इसे १९०१ ई० के पूर्व नहीं मिल सका। इसका दूसरा संस्करण तो निकला ही नहीं। इसकी अलोकप्रियता का अनुमान इस तथ्य से भी किया जा सकता है कि हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में शोध करने वाले किसी भी शोधकर्ता या आलोचक ने इस उपन्यास का, जो अपने युग की आपवादिक कृति है उल्लेख नहीं किया है।

मिश्र जी का प्रथम उपन्यास 'घराऊ घटना' समसामयिक रुचियों से प्रभावित होने पर भी अपने युग की विशिष्ट कृति है। यह हिन्दी का प्रथम उपन्यास है, जिसमें

मध्यवर्ग के एक सामान्य गृहस्थ के दैनिक जीवन का, उसके सूक्ष्म ब्योरों के साथ, यथार्थ और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन समाज के रीतिरिवाजों और विचारधाराओं का जैसा विश्वासोत्पादक वर्णन इस उपन्यास में उपलब्ध है, वह पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासों में दुर्लभ है। अपने दशक के अन्य रोमांसों और उपन्यासों की तरह इसमें अतिलौकिक और अयथार्थ घटनाओं, तिलस्म और ऐयारी के करिश्मों तथा रोमांचकारी अपराधप्रधान घटनाओं के वर्णन नहीं मिलते। इसके विपरीत, इसमें जीवन की साधारण बातों का—मध्यवर्गीय दाम्पत्य जीवन की समस्याओं, सामाजिक रीतिरिवाजों और समसामयिक विचारधाराओं का—अत्यन्त यथार्थ वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ, माँ अपने बेटे के सिर पर मौर देखने के लिए कितनी उत्सुक रहती थी, उस समय कोई वर विवाह के समय कन्या को देखने नहीं पाता था, युवक मातापिता तथा गुरुजनों की आँख बचाकर तम्बाकू पीते थे, विवाह के दो तीन वर्ष के भीतर यदि किसी को संतान नहीं होती तो लोग चिन्तित होने लगते थे, तथा संतानप्राप्ति के लिए जादू टोना, जड़ी बूटी, साधु संन्यासी, पूजापाठ, ओझा वैद, सभी साधनों की सहायता ली जाने लगती थी, बच्चे के नामकरण के समय कैसी समस्याएँ सामने आती थीं, स्त्रियाँ अपने पति को गहनों के लिए किस प्रकार परेशान करती थीं, स्त्रियाँ व्यर्थ के कार्यों, पूजापाठ तथा रीतिरस्म के पालन में कितना अपव्यय करती थीं तथा पति से रुपये प्राप्त करने के लिये कैसे कैसे हथकंडों का प्रयोग करती थीं, बेपढ़ी लिखी स्त्रियाँ लेखक पति के जीवन को कितना दूभर बना देती थीं, अपनी साधारण से साधारण आवश्यकता की पूर्ति के लिए वे कैसा काण्ड उपस्थित करती थीं—जैसी दैनिक जीवन की बिलकुल साधारण बातों का ब्योरेवार वर्णन समूचे उपन्यास में किया गया है। समासतः इस उपन्यास में तत्कालीन मध्यवर्गीय जीवन का वास्तविक और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करने में उपन्यासकार को पूरी सफलता मिली है।

भुवनेश्वर मिश्र ने मार्गभ्रष्ट हिन्दी उपन्यास को उचित दिशा में ले जाने का प्रयास किया था, फिर भी, विवेच्य उपन्यास में वे समसामयिक रुचि की बिलकुल उपेक्षा नहीं कर सके हैं। जैसा किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यासों के विवेचन प्रसंग में देखा जा चुका है उस समय के अधिकांश हिन्दी पाठक युवक और अल्पशिक्षित थे। कौतूहलप्रधान घटनाओं और शृंगारवर्णनों की पाठकों में विशेष माँग थी। भुवनेश्वर मिश्र ने 'घराऊ घटना' में कौतूहलोत्पादक घटनाओं का तो बिलकुल बहिष्कार किया है पर तत्कालीन युवक उपन्यास पाठकों की रुचि के अनुरूप, शृंगारचित्रण या कामव्यापार वर्णन की योजना स्थान स्थान पर की है। लेखक जानबूझकर एक दम्पत्ति की कामक्रीड़ा के विभिन्न दृश्यों की आवृत्ति करता है, तथा कामचेष्टाओं का स्पष्ट उल्लेख करके पाठकों की कामभावना को उत्तेजित करने का प्रयत्न करता जान पड़ता है। यद्यपि यथार्थ चित्रण की दृष्टि से यह शृंगारवर्णन निर्दोष है, फिर भी इसका उद्देश्य युवक पाठकों के कामोत्सुक्य को उद्दीप्त करना ही है। इस उपन्यास का कोई भी परिच्छेद ऐसा नहीं है, जिसमें किसी न किसी बहाने पतिपत्नी के चुम्बनप्रतिचुम्बन या अन्य कामचेष्टाओं का वर्णन न किया गया हो। अपने युग के अन्य कथाकारों की तरह भुवनेश्वर मिश्र भी

बाह्यरति का ब्योरेवार वणन करते हैं पर सभागनिया का सकतमात्र करक विरत हो जाते हैं[1]। यह एक सुविदित तथ्य है कि इस प्रकार का शृगार वणन नग्न चित्रण से कम उत्तजक नही होता। ऐसे कामव्यापारो के प्रायिक और उत्तजक वणना क द्वारा भुवनश्वर मिश्र ने अपने समकालीन युवक उपन्यासपाठको की रुचि को सतुष्ट करने का प्रयत्न किया है।

'घराऊ घटना' की 'भूमिका' से ज्ञात होता है कि कुछ लोगो ने इसक नग्न शृगार वणन की आलाचना की थी तथा इस पर व्यग्य किया था कि 'पुस्तक खूब बिकेगी"। इस व्यग्यवाक्य से तत्कालीन पाठको की रुचि पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इसस ज्ञात होता है कि निम्नस्तरीय पाठक, जिनमे अल्पशिक्षित युवको की प्रधानता थी, शृगारवणन विशेष पसन्द करते थे, पर ऐसे पाठक और लखक उच्चस्तरीय पाठको द्वारा सम्मानपूण दृष्टि से नही देखे जाते थे।

वस्तुत उत्तजक शृगारवणन की प्रधानता क कारण 'घराऊ घटना तत्कालीन हिन्दी पाठको म बहुत लोकप्रिय हुआ। १८ वर्षों के भीतर इसक चार सस्करणों के प्रकाशित होने का यही रहस्य है।

शिल्प की दृष्टि स विचार करें तो 'घराऊ घटना' म आत्मकथात्मक शिल्पविधि का प्रयोग किया गया है, जिसम झगडू लाल नामक पात्र अपन दाम्पत्य जीवन की घटनाओ का वणन करता है। समस्त उपन्यास म कवल एक ही कथा है। प्रासगिक कथाएँ नही हैं तथा जटिल वस्तुविधान का अभाव है। उपन्यासकार कथा के बीच बीच म पाठका का सम्बोधित भी करता है और उपन्यास के पृष्ठा म सदा श्रावयिता के रूप म ऊची ऊँची आवाज क साथ विद्यमान रहता है। इस प्रकार घराऊ घटना का शिल्प अल्पशिक्षित पाठका की रुचि और पठनक्षमता क सवथा अनुरूप है।

प्रस्तुत रचना की भाषा भी अल्पयोग्यता वाल पाठका की बोधक्षमता के अनुकूल है। किशोरी लाल गोस्वामी क उपन्यासा की तरह इसम अलकृत और काव्यात्मक वणना क दर्शन नहा हात। बिलकुल सरल दनिक बोलचाल की भाषा म दनिक जीवन की अति सामान्य घटनाआ का, बीच बीच म शृगारिक चष्टाआ की चाशनी देकर, वणन किया गया है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि घराऊ घटना उन्नीसवीं शताब्दी क अतिम दशक का उल्लखनीय उपन्यास है। यद्यपि इस पर अल्पशिक्षित युवक उपन्यास पाठका की रुचि और पठनक्षमता का प्रभाव है, पर यथाथ चित्रण की दृष्टि स, जा उपन्यास का प्रमुख गुण है, यह अपन पूववर्ती उपन्यासा से बहुत अग्रसर है।

भुवनश्वर मिश्र की दूसरी कृति बलवत भूमिहार' है जिस जीवन क यथाथ अकन, विश्वसनीय चरित्रचित्रण, अपेक्षाकृत जटिलवस्तुविन्यास और यथाथ को वहन करनवाली सक्षम भाषा के कारण प्रमचन्दपूव युग का उत्कृष्टतम उपन्यास कहना सवथा युक्तिसगत

---

१ घराऊ घटना, १८९३, पृष्ठ ११ १२, २६ ५०, ८०।

है। उपन्यास की 'भूमिका' में उपन्यासकार ने लिखा है, "बिहार प्रदेश के उत्तरीय भाग के जमीन्दारों की संख्या में अधिक लोग भूमिहार जाति के पाये जाते हैं। जमीन्दारों में इनकी इतनी बहुतायत इस ओर है कि साधारण लोग इनको "जमीन्दार बाभन" जाति का कहते हैं। इस कारण मैंने इन लोगों का चरित्र इस पुस्तक में लिखा है। इसकी कथा आज से प्रायः ३० वर्ष पूर्व की सी दी गई है, पर जैसा चरित्र भूमिहारों का इसमें लिखा गया है प्रायः वैसा ही चरित्र उन लोगों का आज तक है। मैंने उस चरित्र में दोषारोपण नहीं किया है और न उसकी उत्तमता प्रगट करने की चेष्टा की है— पर जैसा मैंने उसे पाया है इस पुस्तक में लिख दिया है।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण की अंतिम पंक्तियों में जो यथार्थवादी स्वर है, वह विवेच्य काल के किसी भी उपन्यास में नहीं सुनायी पड़ता। १८७० ई० में लिखित 'देवरानी जेठानी की कहानी' में यह स्वर सर्वप्रथम सुनायी पड़ता है, पर उपदेश तत्त्व की प्रधानता और शिल्पगत विशेषताओं के अभाव के कारण यह कथापुस्तक बिलकुल आधुनिक अर्थों में 'उपन्यास' बनने में समर्थ नहीं हो पायी है। 'बलवंत' 'देवरानी जेठानी की कहानी' की इन न्यूनताओं से सर्वथा मुक्त तथा उपन्यास की सर्वस्वीकृत विशेषताओं से युक्त होने के कारण हिन्दी का पहला वास्तविक उपन्यास है। हिन्दी आलोचकों और शोधकर्ताओं का ध्यान अद्यावधि इस उत्कृष्ट औपन्यासिक कृति की तरफ नहीं गया है, यह चिन्त्य है। इस कृति के रहते प्रेमचन्द को हिन्दी का *पहला वास्तविक उपन्यासकार नहीं माना जा सकता*, जो प्रचलित धारणा है।

'बलवंत' की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक का एक आश्चर्यजनक चमत्कार है। यह वह समय था, जब हिन्दी पाठकसमुदाय में सर्वत्र 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता संतति' का चक्रवर्तित्व स्थापित था। हिन्दी पाठकसमुदाय मुख्यतः अल्पशिक्षितों और युवकों का था। पाठकों में दो ही प्रकार की कथापुस्तकों की माँग थी—कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधान कथाओं की विशेषकर तिलस्म ऐयारी प्रधान रोमांसों की और शृंगारचित्रण प्रधान कथापुस्तकों की। तत्कालीन कथालेखक इस समसामयिक रुचिधारा में आँख मूँद कर बह रहे थे। भुवनेश्वर मिश्र ने भी अपने प्रथम उपन्यास 'घराऊ घटना' में समसामयिक रुचिधारा का एक सीमा तक ध्यान रखा था, पर 'बलवंत' में उन्होंने इस धारा के सर्वथा विपरीत चलने का निश्चय किया, चले भी। महान् कलाकार समसामयिक रुचि का अंधानुगमन नहीं करते, वे अपनी कलाकृति के द्वारा नवीन रुचि का निर्माण करते हैं जिसके आधार पर परवर्ती कला का मूल्यांकन होता है। भुवनेश्वर मिश्र इस अर्थ में महान उपन्यासकार थे। यद्यपि वे अननुकूल समाजशास्त्रीय कारणों से उपन्याससम्बन्धी नवीन रुचि का निर्माण करने में समर्थ नहीं हो पाये, पर समसामयिक रुचि का अंधानुगमन न कर प्रत्युत उसकी विपरीत दिशा में चल कर उन्होंने एक सच्चे और महान कलाकार का धर्म निभाया।

'बलवंत' में एक भी ऐसी घटना नहीं जो अल्पशिक्षित पाठकों की कौतूहल भावना या युवक पाठकों की कामवृत्ति को उत्तेजित करने के उद्देश्य से नियोजित हो। इस उपन्यास

१ बलवंत भूमिहार, १९०१, भूमिका।

में दो जमीन्दार परिवारों के संघर्ष की कहानी अत्यंत विश्वसनीय और मार्मिक रूप में वर्णित है। चांदपुर के जमीन्दार रनपाल सिंह का माधोपट्टी के जमींदार हनुमन्त सिंह से पुश्तैनी वैर है। रनपाल सिंह बरबस हनुमन्त सिंह के पुत्र बलवंत सिंह पर झूठा मुकद्दमा चलाकर न केवल उसकी समूची जमींदारी हड़प लेते हैं वरन उसकी जान के ग्राहक भी बन जाते हैं। बलवंत प्राणरक्षा के लिए इधर उधर छिपता फिरता है। इसी क्रम में एक दिन जब वह एक शिव मन्दिर में अपने दुखों से मुक्ति पाने के लिए प्रार्थना कर रहा है उसी समय रनपाल सिंह की पुत्री यमुना भी अपनी दाई के साथ आती है। बलवंत तथा यमुना एक दूसरे को देखते हैं और तत्काल दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति स्नेहभाव उत्पन्न हो जाता है। तदनन्तर बलवंत प्राणरक्षा के लिए इधर उधर छिपता और रनपाल सिंह के साले बाबू रामपदारथ सिंह की सहायता से अपनी जान बचाता है। एक दिन जबकि रनपाल सिंह के आदमी बलवंत का पीछा कर रहे हैं वह अपनी जान बचाने के लिए खिड़की के रास्ते रनपाल सिंह के घर में ही प्रवेश कर जाता है और यमुना को पलंग पर लेटी देखता है। घबराहट में वह लौटने का उपक्रम कर ही रहा है कि आवाज होने से यमुना जग जाती है और उसकी दाई भी आ पहुंचती है। दाई बलवंत को डाँटती है और बलवंत जो तीन चार दिनों का भूखा है, कमजोरी के कारण एकबार कातर दृष्टि से यमुना की ओर देख कर बेहोश हो गिर जाता है। होशियार दाई बलवंत को देखते ही पहचान जाती है। वह यमुना को अलग ले जा कर डाँटती है और उसे बलवंत के मर जाने की गलत सूचना दे देती है। यमुना अत्यंत संयत और शालीन भाषा में युवक के प्रति अपना प्रेमभाव व्यक्त कर देती है। दाई के मन में जिसने यमुना को अपना दूध पिलाकर पाला है, यमुना के प्रति करुणा हो आती है, और वह मन में यमुना का विवाह उस युवक से कराने का निश्चय करती है। इधर रामपदारथ सिंह अपनी बहन यमुना की मां का पत्र लिखकर बलवंत को अपने यहाँ बुला लेते हैं। अन्ततः दाई, बलवंत सिंह यमुना की माँ तथा रामपदारथ सिंह के प्रयत्नों से रनपाल सिंह अपनी अकड़ और आत्मसम्मान की पूर्णतः रक्षा करते हुए बलवंत पर से मुकदमा हटाकर उसकी जमीन्दारी लौटा देते हैं तथा उससे यमुना का विवाह कर देते हैं।

इस मरने और कौतूहलोत्पादक घटनाओं से रहित कथा के माध्यम से उपन्यासकार ने उत्तरी बिहार के जमीन्दार समाज की पारिवारिक सामाजिक तथा जमीन्दारी सम्बन्धी परिस्थितियों का नितांत यथार्थ एवं स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। इसमें मूल में, अन्य समसामयिक उपन्यासों की तरह, कोई समस्या प्रधान नहीं बनी है। प्रेमचन्द तक के उपन्यासों में यह दोष सामान्य रूप से पाया जाता है। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में कैसा या समाज की समस्यायें प्रमुख एवं यथार्थ जीवन तथा पात्रों का चित्रण गौण हो गया है।

किन्तु उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें किसी समस्या को केन्द्र बना कर औपन्यासिक संसार का अनुमान का निर्माण नहीं किया गया है। इसका नायक उपन्यास के अंत में अपने विवाह के अवसर पर तिलक दहेज का मांग न

करके तत्कालीन समाज की एक बुराई को दूर करने का आदर्श प्रस्तुत करता है, पर लेखक को तिलक दहेज की समस्या पर भाषण देने की बात तो अलग रहे, टिप्पणी देते तक हम नही पाते। वाणी का ऐसा सयम तो प्रेमचन्द म भी नही दिखायी पडता। इस कृति म कही भी नीति और उपदेश वचनो की झडी नही लगायी गयी है, कही भी जीवन दर्शन सम्बन्धी लच्छेदार बातें नहा कही गयी हैं, तथा सामाजिक कुरीतियो पर टीकाटिप्पणी करने का प्रयास नही दिखाई पडता। इन बातो की उपन्यास म कमी नही है, पर ये कथा की घटनाओ द्वारा व्यजित हैं सीधे इनका वणन नही किया गया है। जिस दोष से प्रमचन्द अपने को आरम्भिक उपन्यासो म मुक्त नही कर सके हैं, उन दोषो से उन्नीसवी शताब्दी के इस हिंदी उपन्यासकार ने अपने को सहज ही बचा लिया है। इस उपन्यास का मुख्य उद्देश्य तत्कालीन भूमिहार जमीन्दार समाज का चित्र प्रस्तुत करना है, और जिस ससार का निमाण यहाँ किया गया है, वह अत्यत यथाथ और मोहक है। ऐसे मोहक ससार म प्रवेश कर मन गदगद हो जाता है।

विवेच्य उपन्यास में जिन घटनाओ या कार्यों के चित्र प्रस्तुत हैं वे इतने यथाथ और सुपरिचित है कि उन्हे पढकर मन मे एक प्रकार का पुलक भाव जागृत हा जाता है। बलवत का अपने शत्रु रनपाल सिंह के सिपाहियो से छिपकर भागना, राम पदारथ सिंह की सहायता से प्राण बचाने का प्रयत्न करना भागते भागते एक घर की खुली खिडकी म घुस जाना ये सभी वणन इतने स्वाभाविक और विश्वसनीय हैं, कि पढ़कर आश्चयचकित रह जाना पडता है वस्तुओ के वणन मे सूक्ष्म ब्योरा का ध्यान बारीकी स रखा गया है उदाहरणत निम्नोद्धत वणन—

'यह खिडकी एक बडे पक्के मकान से पिछवाडे की ओर होकर बाहर निकलने की राह की थी। इस राह के दूसरे किनारे जो दरवाजा था वह भीतर से बन्द मालूम होता था, उस दर्वाजे और इस खिडकी के बीच प्राय तीस हाथ का अन्तर था। रास्ता एक प्रकार की लम्बी कोठरी सी मालूम होती थी। बलवत सिंह के दाहिने हाथ के पास स जो दीवाल थी उसमे कोई खिडकी वा दरवाजा नही था, पर बाई ओर वाली दीवाल म तीन दरवाजे थे। दो दरवाजे भीतर से बन्द थे पर बीच वाला खुला मालूम देता था"[1]

उपन्यास के तीसरे अध्याय म रनपाल सिंह और बलवन्त सिंह के तीन पुश्तो के सघष का अत्यत विश्वसनीय वणन किया गया है। रनपाल सिंह की कचहरी का वणन करते समय उपन्यासकार उसके सूक्ष्म ब्योरो का, जसे मकान किस मुह का है, कमरे का आकार प्रकार कसा है, किस तरह की कालीन बिछी है, कौन व्यक्ति कहाँ बठा है, कौन क्या कर रहा है, सविस्तर उल्लेख करता है।

जमीदार समाज का जसा विश्वसनीय चित्र इस उपन्यास मे प्रस्तुत किया गया है, वह अन्यत्र शायद ही मिल सके। जमीदारो और किसानो के पारस्परिक सम्बन्धो का अत्यन्त यथाथ चित्रण इस उपन्यास म मिलता है। तत्कालीन जमीदारो के दीवान कसे होते थ इसका वणन निम्नोद्धत पक्तियो से द्रष्टव्य है—

१ बलवन्त भूमिहार, १९०१, पृ० १५।

'दीवान जी के बाप दादे बाबू साहब के बाप दादे के दीवान थे और यह बात भी निश्चित थी कि बूमक लाल के बेटे पोते रनपाल सिंह के बेटे पोतों के दीवान होंगे। ऐसी अवस्था में दीवान जी को कोई बेईमान या अपने स्वामी की हानि करने वाला नहीं कह सकता था। बल्कि वह सदा इसी यत्न में रहा करते थे कि कैसे बाबू साहब की और उनकी जमींदारी की भलाई होगी और कैसे वह मुनीम प्रसन्न होंगे। इस प्रकार की स्वामीभक्ति में लीन होकर उन्होंने अपनी वृत्ति नहीं छोड़ी थी--अपने थोड़े मुशाहरे को अन्य रीति से बढ़ाने में वह कभी कोताही नहीं करते थे। नये गुमाश्ता, पटवारी बराहिल आदि दीवान जी को चुपचाप सलामी न देने से बहाली का परवाना कभी नहीं पाते थे। कोई अमला दिहात में न था जिस पर दीवान जी साल में घट से घट एक बार भी किसी प्रकार का अपवाद नहीं लगाते थे और फिर अपनी पूजा प्रतिष्ठा कर जिसके मामले को समाप्त नहीं कर देते थे। रैयत और जेठ रैयत लोग भी उनके यहाँ अक्सर हाजरी दिया करते थे।'[१]

जमींदार किसानों से कितनी कठोरतापूर्वक लगान वसूलते थे, पुलिस विभाग के कर्मचारी गरीबों के साथ कितनी निर्दयता से पेश आते थे, केवल हिंदी जाननेवालों के लिए नौकरी पाना कितना कठिन था, युवकों में बेकारी की समस्या कितनी विकट थी, तथा तत्कालीन समाज में विवाहपूर्व प्रेम कितना कंटकाकीर्ण था आदि बातों का विवेच्य उपन्यास में अलभ्यपूर्व वर्णन प्राप्त होता है।

बलवंत में भी एक प्रेम कहानी है। संसार का शायद ही कोई उपन्यास हो जिसमें कोई न कोई प्रेमकथा न पायी जाती हो। इस उपन्यास में प्रेम का आरंभ एक आकस्मिक घटना से--शिवमंदिर में अकस्मात बलवंत और यमुना एक दूसरे को देख प्यार करने लगते हैं--होता है, जो प्रचलित रूमानी कथाओं के ढंग का है। पर उपन्यासकार ने इस परंपरागत ढंग पर आरंभ प्रेम का एक अन्य रूप प्रस्तुत किया है, जो प्राचीन प्रेमाख्यानों या तत्कालीन रोमांसों में नहीं मिलता। जब हम तत्कालीन परिस्थितियों पर ध्यान देते हैं तो यह प्रेमारंभ भी अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता। लेखक इसे छोड़कर अन्य किसी प्रकार से बलवंत और यमुना का मिलन दिखा ही नहीं सकता था। जमींदार की बेटी हवेली से बाहर मंदिर के अतिरिक्त अन्यत्र जा ही कहाँ सकती थी? किसी मंदिर में ही किसी युवक को देखना उसके लिए संभव था। लेखक ने प्रेमोदय के इस एकमात्र उपाय का उपयोग इतनी दक्षता से किया है कि पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है। प्रेमारंभ के वर्णन में लेखक का संयम निम्नोद्धृत पंक्तियों में स्पष्ट है--

"ये दोनों एक दूसरे का अनुपम सौन्दर्य उसी स्वल्प समय में देख कर कातर हुए हों तो आश्चर्य क्या? पर इतना हम कह सकते हैं कि इन दोनों सुन्दरियों के हृदय में और कोई बात नहीं आई। प्रत्येक के दुखित चित्त में दूसरे का मनोहर चित्र खिंच गया, पर रंजिनाथ को मजाल न हुआ कि यहाँ अपनी सूरत भी दिखला सके।[२]

स्पष्ट है कि इस प्रेमोत्पत्ति के मूल में कामभाव की उत्तेजना नहीं, जैसा कि रोमांसों या प्रेमाख्यानों में होता है, वरन् दो दुखित हृदयों का करुणाजन्य आकर्षण है। बलवंत

१ बलवंत भूमिहार पृष्ठ ५७-५८।
२ बलवंत भूमिहार पृष्ठ ६।

मंदिर में अपने दुःखों से मुक्ति पाने के लिए शिव की आराधना करने जाता है। यमुना भी निश्छल भक्तिभाव से शिव के मंदिर में अपनी मनोकामनाओं के पूर्त्यर्थ आती है। अतः दोनों के परस्पर प्रेमभाव में एक विश्वसनीय पवित्रता है। प्रथम दृष्टि में ही बलवंत और यमुना एक दूसरे से स्नेह करने लगते हैं, पर दोनों में से कोई भी प्रेमसूचक अनुभावों का प्रदर्शन नहीं करता। गोस्वामी जी के उपन्यासों या सूफी प्रेमाख्यानों की नायक नायिकाओं की तरह ये प्रेमी मंदिर से लौटते ही विरह में हाय हाय नहीं करने लगते। दोनों में से किसी के भी मुख से, स्वगतालाप के रूप में भी, हम वियोगजन्य व्यथा का प्रकाशन होते नहीं देखते। दूसरी बार भी, जब आकस्मिक रूप से, दोनों प्रेमियों का साक्षात्कार होता है प्रेम के प्रकाशन में असंयम का परिचय नहीं दिया गया है। बलवंत, तीन दिनों का भूखा प्यासा रहने के कारण बेहोश होकर गिर जाता है और गिरते समय वह केवल कातर दृष्टि से यमुना को देखता है। यमुना भी बलवंत को अपनी समूची आत्मा से प्यार करने के बावजूद शील और लज्जा का त्याग नहीं करती। जब दाई उसे बलवंत की मृत्यु की सूचना देती है, तभी वह उसके समक्ष अपना प्रेमभाव व्यक्त करती है। यमुना के इस प्रेमभाव के प्रकाशन में कितनी करुणा, स्नेह, और और गांभीर्य है, यह निम्नोद्धृत पंक्तियों से स्पष्ट है—

' उन्होंने मेरी ओर इतने कष्ट से देखा था और तुरत ही वह ऐसे मूर्च्छित होकर गिरे थे कि अब ही तक उनका वह भोला चितवन मेरे जी से नहीं गया है। उनके लिये उस समय मुझे इतनी दया हुई थी कि यदि तुम मुझे रोकती नहीं तो मैं उन्हें जरूर उठाती और यद्यपि उनके शरीर से जान निकल चुकी थी तौ भी उन्हें होश में लाने के लिये मैं यथोचित यत्न करती। जैसे तुमने उनको वहाँ देखा था, वैसे ही एक तलवार लगाकर अगर उनका काम तुम तमाम कर देती तो मुझे कुछ भी उनके मरने का शोक नहीं होता, पर जब उन्होंने मेरी सहायता की प्रार्थना करने के लिये वह दृष्टि मेरी ओर की, और तब मेरी सहायता बिना लिये ही उन्होंने शरीर त्याग किया इसका शोक मुझे बहुत बड़ा मालूम होता है। अब तो उन्हें कोई आदमी नहीं देख सकता है पर यदि वह जीते भी रहते तौभी उनसे फिर देखादेखी करने और अपने कुल में कलंक लगाने की इच्छा मैं कभी नहीं करती। पर यह शोक मेरे जी से कभी नहीं जायगा। भूमिहारों की बेटियों को बड़े बड़े कष्ट सहने की कथा सुन चुकी हूँ, लेकिन इससे बड़ा कष्ट मैं नहीं समझती कि किसी को हुआ होगा।

इस प्रेमप्रकाशन में, विशेषकर अंतिम दो पंक्तियों में, प्रेमानुभूति और वियोगजन्य व्यथा की ऐसी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति हुई है, जिसका समानान्तर उच्चकोटि के उपन्यासों में ही मिलता है। प्रेमप्रकाशन या विरहवर्णन को, यदि इसे विरहवर्णन की संज्ञा दी जाए, विवेच्य उपन्यास में बस इतना ही स्थान मिल पाया है। जिस जमाने में हिन्दी के पाठक और लेखक, दोनों, उपन्यासों में शृंगारवर्णन को अमर्यादित महत्त्व दे रहे थे, उस जमाने में किसी उपन्यासकार का शृंगारवर्णन में ऐसा असामान्य संयम उसे श्रेष्ठ उपन्यासकारों की पंक्ति में बिठाने के लिए पर्याप्त है।

उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता सफल चरित्रचित्रण में निहित होती है। वस्तुतः विभिन्न स्वभाव और व्यक्तित्वयुक्त पात्रों के चरित्रचित्रण द्वारा ही उपन्यासकार

यथार्थ समाज की सृष्टि में सफल होता है। हमारे वास्तविक समाज का प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र व्यक्तित्व सम्पन्न है। मनुष्यों के केवल नाम ही अलग अलग नहीं होते वरन वे रंगरूप भावना बुद्धि और विचार की दृष्टि से भी परस्पर भिन्न होते हैं। सफल उपन्यासकार अपने औपन्यासिक समाज के व्यक्तियों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करने का प्रयत्न करता है, और जो उपन्यासकार इस प्रयास में जितना सफल होता है, अनुपातत वह उतना ही महान् होता है।

'बलवंत भूमिहार' में लेखक को प्रत्येक पात्र को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करने में पूर्ण सफलता मिली है। इस उपन्यास के पात्रों को हम देखते ही पहचान लेते हैं किसी का भी रूपाकार अस्पष्ट नहीं है। रनपाल सिंह, उनकी पत्नी जसवन्त बलवन्त, यमुना, यमुना की दाई, सभी स्वतन्त्र व्यक्तित्वयुक्त हैं। रनपाल सिंह की पत्नी का चरित्र चित्रण तो अद्भुत रूप में यथार्थ, ग्राहक और प्रभावशाली है। उसकी राजमहिषी की सी चाल, निर्व्याज उदारता, प्रभावशाली व्यक्तित्व फौलाद की सी दृढ़ता और समुद्र की तरह गंभीरता, सब पट्टमहिषीजनोचित हैं। इस प्रकार के पात्र की सृष्टि करने में हिन्दी का कोई भी उपन्यासकार समर्थ हो सका है यह कहना कठिन है।

यमुना के रूप में उपन्यासकार ने एक अत्यन्त मोहक पात्र की सृष्टि करने में सफलता प्राप्त की है। वह प्रेम करती है पर कभी धैर्य नहीं खोती अपने प्रिय के लिए वह दुखी है, पर कहीं भी उच्छृंखलता का प्रदर्शन नहीं करती, सुन्दरी है, पर चपल नहीं, प्रेमिका है, पर कुलमर्यादा पर लात मारने वाली नहीं, अपना हृदय दूसरे को दे देती है, पर लज्जा का त्याग नहीं करती वह प्रेम और करुणा की भावना से लबालब भरी हुई, कुल मर्यादा की प्रतिमूर्ति धैर्यशील संयमी और शीलवती आर्य ललना है।

इसी प्रकार बलवंत यमुना की भाभी दाई मुन्नी, रनपाल सिंह आदि सभी पात्रों को स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करने में उपन्यासकार को सफलता मिली है तथा उनका सर्वथा विश्वसनीय चरित्र प्रस्तुत किया गया है। बलवंत की दीनावस्था का अत्यंत यथार्थ और मर्मस्पर्शी चित्रण चित्रण उपन्यास में हुआ है। मुन्नी को हम अन्य सभी दाइयों के बीच उसी प्रकार आसानी से पहचान ले सकते हैं, जिस प्रकार रनपाल सिंह को सभी जमींदारों के और यमुना को सभी युवतियों के मध्य। उपन्यासकार की दृष्टि सभी पात्रों पर, चाहे वे मुख्य हों या गौण, समान रूप से है।

चरित्रचित्रण की पद्धति में भी विवेच्य उपन्यासकार समकालीन उपन्यासकारों से बहुत आगे है। इस काल के अन्य हिन्दी उपन्यासकार उपन्यास का आरंभ कथा की किसी मध्यवर्ती घटना से करके, दूसरे परिच्छेद में ही पात्रों का सम्मिश्र परिचय एक साथ दे देते हैं। ऐसा इस उपन्यास में नहीं होता। लेखक उपन्यास के नायक बलवंत का एक ही बार पूरा परिचय नहीं देता, वरन् धीरे धीरे घटनाओं के विकास क्रम में उसके चरित्र का उद्घाटन सहज रूप से करता जाता है। अन्य पात्रों का चरित्रचित्रण भी प्राय इसी पद्धति पर हुआ है। लेखक पात्रों का परिचय स्वयं देने के बदले उनके चरित्र का उद्घाटन कार्यों तथा अन्य पात्रों के वार्तालाप से करता है। चरित्रचित्रण की यह विकसित प्रणाली प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती अन्य किसी उपन्यास में नहीं मिलती।

इस प्रकार चरित्रचित्रण की दृष्टि से विवेच्य उपन्यास अपने युग की आपवादिक कृति है, ऐसा कहना युक्तिरहित न होगा।

प्रकृति तथा अन्य वर्णनों के प्रसंग में भी लेखक ने अभूतपूर्व यथार्थ दृष्टि और दुर्लभ वाक्संयम का परिचय दिया है। इस उपन्यास में आये प्रकृतिवर्णन किशोरीलाल गोस्वामी के प्रकृतिवर्णनों की तरह, अवलोकन रहित, अनुभूतिशून्य, अलंकृत, कृत्रिम और अयथार्थ नहीं हैं। प्रकृति के वैसे यथार्थ वर्णन, जिनमें अवलोकन की प्रधानता है, इस उपन्यास में सर्वत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत वर्णन—

विहार प्रदेश के अन्तर्गत मुजफ्फरपुर जिले में एक विस्तृत मैदान के बीच में एक बहुत बड़ा तालाब है। अनाज के हरे भरे खेत, सुन्दर सुहावने वृक्षों के कुंज, छोटे अनगढ़े, मिट्टी के ढेर आदि के यहाँ वहाँ रहने के कारण जैसे विषम होने पर भी वह मैदान शोभायमान मालूम होता है, वैसे ही बड़ ऊँचे भिण्डों से घिरा, स्वच्छ निर्मल जल से भरा और अनेक जल-जन्तुओं से पूरा रहने के कारण कंवल और हंस से रहित होने पर भी वह तालाब अति मनोहर मालूम होता है। इसकी अपूर्व शोभा की ख्याति सुनकर भगवान गिरिराज सुतापति कैलाश का परित्यागकर, श्वेत लिंगाकार धारण कर, तालाब के पश्चिम किनारे स्वयं आ पहुंचे हैं और किसी भक्त के बनवाये पुराने मन्दिर में बैठकर इस अनुपम दृश्य से अलौकिक तृप्ति पा रहे हैं।"[१]

उल्लेखनीय है कि विवेच्य उपन्यासकार गोस्वामी जी की तरह प्रकृतिवर्णन में अधिक स्थान नहीं लेता। प्रकृति की एक यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करने के बाद वह तुरंत आगे बढ़ जाता है।[२] अन्य प्रकार के अनावश्यक वर्णनों में भी जैसे बारात की सजावट, नगरशोभा आदि में, जिसमें तत्कालीन रोमांसलेखक अधिक रुचि लेते प्रतीत होते हैं मिश्र जी ने मितव्ययिता और संयम का परिचय दिया है। बलवंत और यमुना के विवाहवर्णन के लिए वे इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि 'जेठ ही महीने तिलक हुई और और आसाढ़ सुदी सप्तमी को बलवंत सिंह का विवाह यमुना के साथ हो गया। बराती बड़ी धूमधाम के साथ आई और राम पदारथ सिंह के उद्योग से उत्सव बहुत ही उत्साह के साथ मनाया गया।' इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास उर्दू प्रेमकहानियों तथा संस्कृत गद्यकाव्यों के कुप्रभावों से सर्वथा मुक्त है।

बलवंत भूमिहार की भाषा चित्रणीय विषय के सर्वथा अनुकूल है। न तो देवकी नन्दन खत्री के उपन्यासों की तरह इसकी भाषा निष्प्राण है न गोस्वामी जी की तरह अतिशय काव्यात्मक और कृत्रिम। इसकी भाषा सरल, निराडंबर, तथ्यपरक और यथार्थ चित्रण के अनुकूल होने पर भी साहित्यिक गुणों से रहित नहीं है। पात्रों के मनोभावों को व्यक्त करने में यह भाषा पूर्णतः सक्षम है। सर्वत्र भाषा को पात्रानुरूप रखने का प्रयत्न किया गया है। उपन्यास के अभिजात पात्र जहाँ सरल पर संस्कृत के प्रचलित शब्दों से युक्त प्रभावोत्पादक भाषा का प्रयोग करते हैं, वहाँ

---

१ बलवंत भूमिहार पृ० १२।

२ उपरिवत्, पृ० ४१४२।

निम्नवर्गों के पात्र 'गँवारी' भाषा बोलते हैं। बलवंत जिस बुढ़िया के यहाँ छिपकर अपने दुःख के दिन बिता रहा है उसकी भाषा का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

'बबुआ! एल? तोहर राह त हम आती देर से देखत रहली है। भला कह तू दूपहर दिन हो गल आ ता अभी बौनाइते रहल ह। एसन कोई काम करे। दमछ न ज बरी चारो ओर लगल हौ। जब सरकार रहय तब त एकर सबसे डर न रह उनका डर से खड़ जरत रहे।'[१]

इस प्रकार भाषा के सम्बन्ध में भी उपन्यासकार का दृष्टिकोण नितान्त यथार्थवादी है। वह न तो साक्षरमात्र हिन्दी पाठकों की पठनक्षमता को ध्यान में रखकर अपनी भाषा को बिलकुल साधारण स्तर की और असाहित्यिक होने देता है न काव्यरसिकों की रुचि के अनुरूप उसे संस्कृत गद्यकाव्यों का भद्दा अनुकरण बनने देता है। भाषा विषयक इस यथार्थवादी आग्रह के कारण भी उपन्यास में चित्रित संसार अधिक विश्वसनीय बन पड़ा है।

शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर विवेच्य उपन्यास पर समसामयिक रुचि का हल्का सा प्रभाव दिखायी पड़ता है। यों नाटकीय पद्धति पर घटनाओं की योजना, समयानुक्रम में विपर्यय, कथाओं का युगपत् संक्रमण तथा कार्यों और भावप्रकाशनों के द्वारा धीरे धीरे पात्रों का चरित्रोद्घाटन आदि औपन्यासिक शिल्पविधियों का पूर्ववर्ती और समसामयिक उपन्यासों की तुलना में कहीं ज्यादा कुशल प्रयोग इस उपन्यास में हुआ है, पर उपन्यासकार कहीं कहीं घटनाओं की शृंखला मिलाने के लिए सूत्रधार के रूप में पाठकों के समक्ष आता है। उदाहरणतः दूसरे अध्याय के आरम्भ में वह लिखता है— "इस अध्याय में भी हम अपने पाठकों को बलवन्त सिंह के पास ले चलेंगे।"[२] कहीं कहीं वह स्वयं पाठकों से आत्मीयता स्थापित कर उपन्यास के पात्रों के सम्बन्ध में बातें करता है। लेकिन इस प्रकार के प्रसंग उपन्यास में इतने अल्प हैं कि वे खटकते नहीं। इस उपन्यास में लेखक पाठकों से उपदेश बारंबार नहीं करता। बहुत कम स्थानों पर उपन्यासकार ने विस्तारों का दायित्व ग्रहण करने का प्रयत्न किया है। इससे भी ज्ञात होता है कि भुवनेश्वर मिश्र समसामयिक रुचिधारा के यथानुगमन का प्रयास नहीं करते।

'बलवंत भूमिहार' यद्यपि एक सुखांत उपन्यास है पर उपन्यासकार ने इसे सुखांत बनाने के लिए कथा का कृत्रिम रूप से मोड़ने का प्रयत्न नहीं किया है। बलवन्त के प्रति रनपाल सिंह के विरोध भाव को दूर कराने में जो कथा को सुखांत बनाने के लिए अनिवार्य था, लेखक ने तनिक भी अधैर्य और असंतोष का परिचय नहीं दिया है। धीरे धीरे दारोगा, मानवत, यमुना की माँ दीवान जी और रामस्वरूप सिंह के प्रयत्नों से रनपाल सिंह बलवन्त के प्रति विरोधभाव का त्याग कर उसके साथ अपनी बेटी यमुना का विवाह कर देते हैं। उपन्यास का अंत यमुना और उसकी भौजाई के दिनानुदिन वार्तालाप से होता है।

१ बलवंत भूमिहार, पृ० ७।

२ बलवंत भूमिहार, द्वितीय अध्याय, पृ० १०।

भारतीय घरो मे ननद भौजाई के मधुर सबध का इससे अच्छा चित्र शायद ही अयत्र मिल सके। इस तरह का विनोदपूण परिवारिक वातावरण बकिम बाबू के उपयासो म ही दिखायी पडता है।

इस प्रकार यह उपन्यास सुखात है और यही इसका एकमात्र स्वाभाविक अत हो सकता था। उपयासकार ने पाठको की रुचि के अनुरूप उपयास को सुखात बनाने म पात्रो को प्राणहीन नही बनने दिया है। प्रमच द तक के उपन्यासा का यह सामान्य दोष है कि उनके अत प्राय कृत्रिम हो गये हैं, और कथा के सूत्रो को बटोरने के लिए उ हे पात्रो को अविश्वसनीय रूप से, मृत्यु क द्वारा, कथानक क माग से हटा देना या उनके चरित्र को कृत्रिम रूप म मोडना पडा है। विवेच्य उपयास शिल्पसबधी इन दोषो से मुक्त है।

इन सभी दृष्टियो मे विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भुवनेश्वर मिश्र ने 'बलवत भूमिहार' मे समसामयिक प्रमुख रुचिधाराओ का अनुगमन न करने का कलाकारोचित साहसपूण और मौलिक कदम उठाया था, जिसका अनुकरण समकालीन अय उपयासकार न कर सके। यही कारण है कि यह उपयास अपने युग की धारा से कट कर अलग खडा रह गया और पाठका मे इसे लोकप्रियता न प्राप्त हो सकी। दुर्भाग्यवश इस उपयास पर आलोचको की दष्टि अब तक नही पडी है। यह उपक्षित कलाकृति आज की हि दी आलोचको से याय की माँग कर रही है।

ब्रजनदन सहाय के उपन्यास और उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

प्राक प्रेमचदयुग के उन उपयासकारा म जि होने तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठका की रचि का अधानुगमन न कर उसे परिष्कृत और अभिजात बनाने का प्रयत्न किया था ब्रजनदन सहाय मूध य हैं। उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम दशक म जब हि दी म देवकीनदन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी तथा गोपाल राम गहमरी की कौतूहलजनक, शृगारिक तथा अपराधप्रधान कथापुस्तको की धूम थी, सहाय जी ने कतिपय शुद्ध साहित्यिक उपन्यासो की रचना की थी। ब्रजनदन सहाय के जिन उपयासा का पता चलता है, वे निम्नलिखित हैं—

(१) राजेद्र मालती (१८९७), (२) अदभुत प्रायश्चित (१९०१), (३) सौंदर्योपासक (१९११), (४) राधाकात (१९१२), तथा (५) अरण्य बाला (१९१५)।

उपयुक्त सभी उपयासा के दो दो सस्करण लगभग १० वर्षों के भीतर प्रकाशित हुए थ। यद्यपि विवच्यकाल के तिलस्मी रोमासो की तुलना म यह सस्करणसख्या तुच्छ है पर एक उपयास के लिए—रोमास के लिए नहा—इसस अधिक की आशा भी उस समय नहीं की जा सकती थी। ब्रजनदन सहाय के उपयासा की भूमिकाओ से स्पष्ट है कि व अपन उपयासा की लोकप्रियता से सतुष्ट थ। राधाकात की भूमिका म उन्होन लिखा था—'पहले मेरा ध्यान था कि यदि इस ढग का उपयास लिखा जायगा तो लोग उसका आदर नही करेंग, कदाचित इसी भय से ग्रथकर्ता एसी पुस्तको की रचना नही करते, किंतु

जब से "सौन्दर्योपासक" को रसिकों ने यथोचित आदर किया तब से मेरा यह भ्रम मिट गया।[1] इससे इस बात का आभास मिलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक तक आते आते हिन्दी में परिष्कृत रुचिसम्पन्न पाठकों का भी एक समुदाय बन गया था। 'सौन्दर्योपासक' को तत्कालीन अभिजात रुचि के हिन्दी पाठकों ने पसन्द किया था, इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। 'सरस्वती'[2], 'नागरी हितैषिणी'[3] आदि साहित्यिक पत्रिकाओं में इस उपन्यास की प्रशंसात्मक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई थीं। मैथिली शरण गुप्त ने 'सरस्वती' में इसके सम्बन्ध में लिखा था "हिन्दी उपन्यास लेखकों के जितने उपन्यास मैंने देखे हैं उनमें से किसी भी हिन्दी उपन्यासकर्ता की अपनी निज की रचना ऐसी भावपूर्ण मैंने नहीं देखी। बंगला के उपन्यासों के साथ बैठने का सौभाग्य इसी को मिल सकता है।'[4] 'प्रकाशकीय वक्तव्य' से ज्ञात होता है कि सहाय जी का 'राधाकांत' नामक उपन्यास भी तत्कालीन पाठकों में लोकप्रिय हुआ था। प्रकाशक ने लिखा था—' हमारे सभी उपन्यास सभी श्रेणी के पाठकों ने दिल से पसंद किये और शौक से पढ़े, मगर बाल वृद्ध युवा युवती सभी ने जैसा आदर 'राधाकांत' का किया, वैसा औरों का नहीं। पहले हमने इसका मूल्य अत्यल्प रखा था। इस बार कागज के दुर्भिक्ष के कारण इसका मूल्य हमें बढ़ाकर १) करना पड़ा है।'[5] 'सरस्वती'[6] 'प्रताप'[7] आदि पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित 'राधाकांत' की भी प्रशंसात्मक समीक्षाओं से भी ज्ञात होता है कि हिन्दी के अभिजात पाठकों ने इसे बहुत पसंद किया था।

उपर्युक्त तथ्यों से ज्ञात होता है कि ब्रजनंदन सहाय के उपन्यास हिन्दी के सुशिक्षित पाठकसमाज में लोकप्रिय एवं प्रशंसित हुए थे। साधारण या अल्पशिक्षित पाठकों ने, जिनकी संख्या अधिक थी, इन्हें पसंद नहीं किया था यह इनके संस्करणों की अल्प संख्या से सूचित होता है।

ब्रजनन्दन सहाय के उद्दिष्ट पाठक किस प्रकार के लोग थे, इसका पता उनके उपन्यास की भूमिकाओं से चलता है। 'अद्भुत प्रायश्चित' की रचना के मूल में उपन्यासकार का लक्ष्य था कि वह 'पाठकों को रुचिकर हो और सदुपदेशों से भरे रहने के कारण लड़कों के पढ़ने पढ़ाने के योग्य भी हो।'[8] 'सौन्दर्योपासक' के उपसंहार में उपन्यासकार ने लिखा है, ' एक बात मुझे यह कहनी है कि मैं इस विषय से अभिज्ञ नहीं हूँ कि इस प्रबंध में स्थान स्थान पर जो धर्म तथा पुण्यकर्मों की आलोचना की गई है आजकल के बहुतेर रसिक पाठकों को मनोरंजक नहीं होगी। क्योंकि प्रायः रसिक चित्तविनोदार्थ ही उपन्यासों को पढ़ा करते

१ राधाकांत, द्वितीय संस्करण भूमिका।
२ सरस्वती, दिसंबर १९११, पुस्तक परीक्षा (सौंदर्योपासक)।
३ नागरी हितैषिणी (साहित्य पत्रिका), खंड ८ सं० ७, अक्टूबर १९११।
४ सरस्वती, दिसंबर १९११, पुस्तक परीक्षा (सौंदर्योपासक)।
५ राधाकांत, द्वितीय सं०, भूमिका।
६ सरस्वती, भाग १४ अंक ५ मई १९१३ पुस्तक समीक्षा।
७ प्रताप, २६ ५ १९१९, साहित्य समालोचन'।
८ अद्भुत प्रायश्चित, दूसरा संस्करण १९१०, भूमिका।

हैं और जो कही उन्ह इन पुस्तको मे गूढ विषयो पर सरल एव अनिर्दिष्ट उपदेशजनक विचार मिला तो इनसे उनकी अरुचि हो जाती है । उपन्यास प्रेमी प्राय कथा भाग ही की लालच से उपन्यासो के निकट जाते हैं और उनकी यही इच्छा रहती है कि जहाँ तक कथा उत्तम एव मनोहर हो वही अच्छी वे अन्य भावमूलक उपन्यासा की ओर दृष्टिपात तक नही करते किन्तु कितने विज्ञ पाठक ऐसे ह, जिन्ह गूढ तथा गभीर विषय ही प्रिय होता है ।"[1] राधाकात की भूमिका म उपन्यासकार न लिखा है—'आजकल उपन्यासो का बाजार इतना गरम है कि कभी कभी लोगो का उपन्यासो का नाम सुनकर नाक भौं सिकोडनी पडती है । प्रश्न यह उठता है, कि ऐसी पुस्तका का इतना अधिक प्रचार क्यो हो रहा है ? इसका कारण यह है कि देश म अविद्या क फलने से हमलाग ऐसी पुस्तकें पढना चाहत हैं कि, जिनमे परिश्रम न हो और विलासिता के फलने स हमलोगा की रुचि भी सब प्रकार से भ्रष्ट हो रही है । उपन्यास लेखको को उपन्यास बहुत सोच विचार कर लिखने उचित हैं । मुझे अपने पाठका से भूमिका के रूप म यह कहना है कि, जब घटनापूण, अश्लीलमय चरित्रनाशी रसीली कहानियाँ पढते पढते आपलोगा का जी ऊब जाय तब आपलोग इसे अपन हाथ म लीजियगा और देखियेगा कि आपलोगो के मन को इससे कुछ विश्राम मिलता है या नही । घटना की ओर विशष ध्यान न देकर निबध रूप से इसम वणना की गयी है । इसका लक्ष्य यह है कि स्कूल तथा कालिज के विद्यार्थियों को भी निबध लिखने मे इससे किंचित सहायता मिल सके ।[2]

उपर्युद्धत भूमिकाओ स ब्रजनदन सहाय के पाठको का प्रकार स्पष्ट है । उनके उद्दिष्ट पाठक असदिग्ध रूप म हिन्दी के तत्कालीन कथा और शृगारवणन क प्रेमी पाठक नही थे । ब्रजनदन सहाय ने 'विज्ञपाठको की रुचि को ध्यान म रखकर उपन्यासा की रचना की थी । अवश्य ही इन उपन्यासो के द्वारा वे तत्कालीन बहुसख्यक उपन्यास पाठका का रुचिपरिष्कार भी करना चाहते है उसका अनुगमन नही ।

ब्रजनदन सहाय हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं, जिन्होंने समसामयिक प्रमुख रुचि धारा की सवाधिक उपेक्षा की है । भुवनेश्वर मिश्र न भी बलवत भूमिहार म समसामयिक रुचिधारा की उपेक्षा की थी, पर अपने प्रथम उपन्यास 'घराऊ घटना म उन्होंने रसिक पाठका की रुचि का काफी ध्यान रखा था । ब्रजनदन सहाय इस विषय म अत्यधिक सतक हैं । उनके उपन्यासा म एक भी घटना, काय या वणन ऐसा नही मिलता जिसकी योजना निम्नस्तरीय पाठका की रुचि को ध्यान म रखकर की गयी हो । निम्नस्तरीय या अल्पशिक्षित युवक पाठको की रुचि कौतूहलजनक घटनाओ और कामव्यापार वणना म अत्यधिक होती है । ब्रजनदन सहाय ने इस प्रकार की घटनाओ और शृगारवणना को अपन उपन्यासा म स्थान ही नही दिया है, जिनका एकमात्र उद्देश्य पाठका की कौतूहल और कामभावना को उत्तजित करना हो ।

सवप्रथम हम ब्रजनदन सहाय के उपन्यासो पर घटनायोजना की दृष्टि से विचार करें । उनके प्रथम उपन्यास राजेन्द्र मालती' म तिलस्मी ढग की कतिपय कौतूहलवधक

१ सौंदर्योपासक, प्रथम सस्करण १९११ उपसहार (प्र थकार की दो दा बातें)।
२ राधाकांत, द्वितीय सस्करण, १९१८, 'भूमिका'।

और रोमांचकारी घटनाओं की योजना मिलती है पर बाद के उपन्यासों में इनका अभाव है। राधाकांत की भूमिका में लेखक ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उनमें घटनाओं पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। सौन्दर्योपासक में कथा का सूत्र इतना क्षीण है कि उसे एक वाक्य में समाहित किया जा सकता है। आरण्यबाला में कथा का आधार इतना दुर्बल है कि उसके लिए अन्य प्रकार के वर्णनों का—उपन्यास का ९५% धार्मिक उपदेश, नीति, प्रेम, कर्तव्य, दया, ममता, परोपकार, स्वास्थ्य, योग, भक्ति, तपस्या, शिक्षा आदि के महत्त्वप्रतिपादन से भरा हुआ है—भार सँभालना कठिन हो गया है। इससे स्पष्ट है कि उपन्यासकार का उद्देश्य कौतूहलवर्धक घटनाओं की योजना कर अल्पशिक्षित पाठकों का मनोरंजन नहीं। 'राधाकांत' और 'आरण्यबाला' में कतिपय अतिलौकिक और तिलस्मी ढंग की घटनाओं का वर्णन आया है, पर ये पाठकों के कौतूहलवर्धन के लिए नहीं, किन्तु सिद्धांत या शिक्षा के प्रतिपादनार्थ नियोजित की गयी हैं। उदाहरणार्थ आरण्यबाला में ब्रह्म गुफा का वर्णन। यह ब्रह्म गुफा तिलस्मी ढंग की है तथा इसमें बहुत सी अतिलौकिक घटनाएँ घटती हैं पर इन घटनाओं का उद्देश्य नायक मुकुन्ददेव के प्रेम की परीक्षा लेना है पाठकों का कौतूहलवर्धन नहीं। यों इनसे पाठकों का मनोरंजन तो होता ही है।

इसी प्रकार ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों में कामव्यापारों के उत्तेजक वर्णनों को स्थान नहीं मिला है जो अल्पशिक्षित युवकों के मनोरंजन का एक सामान्य साधन है। यद्यपि विवेच्य उपन्यासों में प्रेम और शृंगारवर्णन का अभाव नहीं है, पर यह प्रेम शरीर के धरातल पर कम भाव के धरातल पर अधिक प्रतिष्ठित है। ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों में कहीं भी कामचेष्टाओं का नग्न और अश्लील वर्णन नहीं मिलता। 'सौन्दर्योपासक' एक शृंगारप्रधान उपन्यास है, पर उपन्यासकार कहीं भी रतिक्रीडाओं के वर्णन में प्रवृत्त नहीं होता। केवल एक स्थान पर नायक अपनी प्रेमिका को जो नाते में उसकी साली लगती है चुंबन करता है। पर तुरत लेखक को हिन्दू समाज की एतद्विषयक भावना की उसे याद हो जाती है और वह कहता है— 'पाठक! मेरा अपराध क्षमा करें। मुझे दोष न दें। यह बात विचारें कि ये आलिंगन एवं चुंबन किस प्रकार के थे। ये सरल एवं पवित्र चुंबनालिंगन एवं मर्मस्पर्शी प्रगाढ़ तथा शुद्ध प्रेम के उद्रेक से थे कि देवदूत भी इनकी निन्दा नहीं कर सकते।'

एक स्थान पर उपन्यास का नायक अपने प्रेमव्यवहार की पवित्रता की सफाई देते हुए कहता है— 'पाठक! जिनमें आप लोगों का भ्रम न हो मैं साफ खोलकर कह देता हूँ कि इस संयोग के दिनों में मैंने कोई निन्दनीय व्यवहार मालती के साथ नहीं किया। कोई ऐसा काम नहीं हुआ जिसे कहते मुझे लज्जा हो अथवा आपलोगों को सुनकर घृणा हो। हमलोगों का सहवास सराहनीय तथा पवित्र था। हमलोगों का प्रेम निर्दोष था, हमलोगों का मिलन शुद्ध था, हमलोगों का समागम सरल था और हमलोगों का व्यवहार प्रशंसनीय था।'

इस प्रकार 'सौन्दर्योपासक' का शृंगारवर्णन कहीं भी कामोत्तेजक नहीं हुआ है। 'राधाकांत' और 'आरण्यबाला' में भी प्रेम का वर्णन मिलता है, पर इनमें ऐन्द्रियता और स्थूलता का सर्वथा अभाव है।

स्पष्ट है कि व्रजनन्दन सहाय काम यापार के चटपटे वणना से अपने उप यासो को लोकप्रिय बनाने का प्रयास नही करते । उनकी रुचि पवित्रतावादी है और पवित्रतावादी रुचि वाले पाठकों के दष्टिकोण स ही इस प्रकार क शृगारचित्रण की योजना की गयी है ।

प्रस्तुत विवेचन से यह निष्कप निकालना अनुचित न होगा कि व्रजन दन सहाय ने अल्पशिक्षित युवक पाठका की रुचि को ध्यान म रखकर अपने उपन्यासो की रचना नही की थी । वस्तुत इनके उद्दिष्ट पाठक जसा उ हाने 'सौ दर्योपासक' की भूमिका म लिखा है "विज जन है, "जि ह गूढ तथा गभीर विषय ही प्रिय होता है ।"

व्रजन दन सहाय के विज पाठका म तत्कालीन समस्त उच्चकोटिक हिन्दी पाठक जिनमे प्राचीन काव्यरसिक अँगरेजी साहित्य से परिचित तथा साहित्येतर विषयो के ज्ञाता हि दीप्रमी थे, आते है । साथ ही यह पाठकसमुदाय धमप्राण हि दू है, और अपनी धार्मिक सामाजिक समस्याओ के प्रति जागरूक भी । स्वय उपन्यासकार भी इसी रुचि का व्यक्ति है और उसने तदनुकूल उप यासो की रचना की है ।

अब हम यह देखें कि का यरसिकों की रुचि का लखक ने किस प्रकार सतुष्ट किया है । विवेच्य उपन्यासा म लेखक ने स्थान स्थान पर सौन्दय प्रकृति और विरह क का यात्मक एव अलकृत वणनो तथा अँगरजी, सस्कृत, उदू और हि दी की कविताओ का सन्निवेश किया है । इन उप यासो की कोई भी नायिका ऐसी नही है, जिसका सौन्दयवणन प्राचीन काव्यो के ढग पर न किया गया हो । उदाहरणाथ 'सौन्दर्यपासक म मालती का निम्नाद्धत सौ दय वणन द्रष्टव्य ह—

"वह् वर्षावारि प्रमथिना उमग बाढ विवलित, हाव भावावत्त धारिणी तीव्रगामिनी परिपूण नदी ता नही थी, कि तु वसत निकुज प्रह्लादिनी, मद गामिनी सुखद कल्लोलिनी, उज्ज्वल अपूण तरगिणी स्त्री विशेष ज्ञात होती थी ।[1]

प्राचीन काव्यो की ऊहात्मक और प्रलाप शली म किये गये विरहवणन भी व्रजनन्दन सहाय क उपन्यासो म दृष्टिगोचर होते है । उदाहरणाथ 'सौ दर्योपासक' के नायक का निम्नलिखित विरह-वणन—

'मालती ! मैं तुझे प्राणा से भी अधिक चाहता हू । कि तु मेरा ध्यान तेरे हृदय म नहा है । मालती ! मालती ! हाय, मालती ! क्या अभी तक तुझे इतना ज्ञात नहा हुआ कि मैं तेरे लिए मर रहा हूँ । मेरा जीवन का ध्रुवतारा, प्रेमक्रीडा की सामग्री प्रममयी मालती तू नहा जानती कि तेरे लिये मेरी कसी बुरी दशा हो रही है × × × × हाय ! मालती ! मालती ! ! मालती ! ! ! हा ! मनोहर मालती ! [2]

व्रजनन्दन सहाय के उपन्यासो म काव्यात्मक प्रकृतिवणना की भर मार है । आरण्यबाला' की तो पृष्ठभूमि ही प्राकृतिक सुषमा से युक्त वनस्थली है । इन प्रकृतिवणना की एक विशेषता यह है कि य किशोरीलाल गोस्वामी आदि समकालीन उप यासकारो के

१ सौन्दर्योपासक, द्वितीय सस्करण, पृ० ६ ।
२ सौन्दर्योपासक, प्रथम सस्करण, पृ० ४१

प्रकृतिवर्णनों की तरह केवल अलंकारमंडित और कोमलकांत पदावली से युक्त नहीं हैं वरन् उत्तम अवलोकन से उद्भूत यथार्थता भी है। उदाहरणार्थ निम्नांकित प्रकृति-वर्णन—

"ग्रीष्म ऋतु की सुखद संध्या में वायुसेवन करने मुकुंद बाहर मैदान में निकला था। आस-पास के वृक्षों पर पक्षी सानन्द चहचहा रहे थे, सघन पत्तों से झर झर ध्वनि आ रही थी। क्रमशः रजनी का राज्य स्थापित हो रहा था। निकटस्थ वाटिकाओं के पुष्पों से सुवासित हुए पवन के स्पर्श से अंग अंग में विश्राम तथा आनन्द का संचार हो रहा था। मैदान की हरी हरी दूबों के सुन्दर बिछावन को देखकर आँखें तृप्त हो रही थीं।"[1]

व्रजनन्दन सहाय ने अपने उपन्यासों में यत्रतत्र कविताओं का भी सन्निवेश करके काव्यरसिकों की रुचि को परितुष्ट करने का प्रयत्न किया है। 'सौन्दर्योपासक' के प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में अँगरेजी की प्रेम विषयक कविताओं की पंक्तियाँ उद्धृत हैं। इस उपन्यास के बिलकुल आरम्भ में ही एक चार पृष्ठों की प्रेमविषयक कविता है। कथा-प्रवाह के बीच-बीच में भी बिहारी, रहीम, तुलसी और भारतेन्दु की काव्यपंक्तियाँ तथा संस्कृत के श्लोक और उर्दू के शेर उद्धृत हैं। यह बात निस्संकोच कही जा सकती है कि सौन्दर्य, विरह और प्रकृति-वर्णनों तथा कविताओं में अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि नहीं होती। उपन्यासकार ने इनकी योजना काव्यरसिकों की रुचि को ध्यान में रखकर ही की है।

व्रजनन्दन सहाय एक हिन्दू तथा भक्त लेखक थे अतः इनके उपन्यासों में हिन्दू समाज की भावनाओं, विचारों तथा रुचियों को प्रमुख स्थान मिला है। 'अद्भुत प्रायश्चित्त' में बालक पाठकों को धर्मग्रंथ पढ़ने, ईश्वर में विश्वास रखने, सत्य की राह पर चलने, मिथ्याभाषण न करने आदि के उपदेश दिये गये हैं। 'सौन्दर्योपासक' भगवान् कृष्ण को समर्पित किया गया है। इसकी समस्त चतुर्थ कल्पना में प्रश्नोत्तर रूप में भक्ति, निष्काम कर्म, गौणी और प्रेमा भक्ति, निर्गुण और सगुण भक्ति, प्रार्थना, भगवान् के भोग लगाने आदि का विवेचन है। इसमें एक महात्मा के द्वारा पापपुण्य, ईश्वरीय कृपा, भगवान् की लीला, निष्काम कर्म आदि का विवेचन कराया गया है। एकादश कल्पना में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का विवेचन तथा प्रतिपादन है। यहाँ आदर्श स्त्री का जो रूप कल्पित है, वह तत्कालीन हिन्दू समाज की रुचि के सर्वथा अनुकूल है। उपन्यासकार के अनुसार सौन्दर्योपासक की नायिका 'तीन पिरान में तो कदाचित् विरला ही ऐसा निपुण होगा, देखा है सिल्क का 'बौडिस' तथा 'जम्पर' आदि भी स्वयं सी लेती है जिन्हें देखकर यह कहना कठिन है कि ये कलकत्ते के बने हैं या नहीं। ऊन तथा कारपेट का काम तो 'बस' उसी शीघ्र एवं साफ करती है। फुलकारी, चिकन तथा कामदानी पर भी हाथ भरपूर बैठा है। पाकशास्त्र की तो आचार्या ही जान होती है। सुनता हूँ कि 'कम्पाउंडर', 'उत्तम प्रतिभा' आदि ग्रंथों की भाषा तथा भाव को भलीभाँति समझ लेती है। कभी कभी सरस्वती भी पढ़ती है।'[2]

१ अद्भुत प्रायश्चित्त, दूसरा संस्करण, पृ० ९।

२ सौन्दर्योपासक, प्रथम संस्करण, पृ० १०-११।

'आरण्य बाला' म धार्मिक उपदेश नीतिवचन, कर्तव्य, दया, ममता, परोपकार, योग भक्ति, तपस्या, शिक्षा आदि से सम्बद्ध विचारो और भावनाओ का बाहुल्य है। यह उपन्यास अपने पाठको से उस धैर्य की माग करता है, जो किसी धर्मग्रथ अथवा नीति ग्रथ को समाप्त करने के लिए अपेक्षित है। एक आदर्श धार्मिक हिन्दूजीवन के बारे म जो कल्पना हो सकती है, उसका सागोपाग रूप इस उपन्यास म प्रस्तुत है। समस्त उपन्यास हिन्दी उपन्यासकार क दिवास्वप्न का विराट भूदश्य है। यह इतना उपदेश-बहुल है कि इसे उपन्यास के बदले प्रवचन ग्रथ कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसके पात्र मानव प्राणी न होकर हिन्दू आदर्शों क निर्जीव प्रतीक ह। ऐसे पात्रो का अस्तित्व हमारे वास्तविक ससार म नही होता।

स्पष्ट है कि विवेच्य उपन्यासकार ने हिन्दू भावना और रुचि का पूर्णतया ध्यान रखकर अपने उपन्यासो की रचना की थी।

व्रजनन्दन सहाय के उपन्यासो म नवीन सामाजिक चेतना का भी अभाव नही है। 'अद्भुत प्रायश्चित मे शराबबन्दी आन्दोलन का वर्णन आया है। सौन्दर्योपासक मे विवाह सम्बन्धी कुप्रथाओ का, जसे तिलक दहेज, वृद्धविवाह, अपव्ययआदि का, वर्णन है।[१] राधाकात म तत्कालीन समालोचना के स्तर, पारसी थियेटरो के जनता पर पडनेवाले कुप्रभाव, कारागारो और अस्पतालो मे फले भ्रष्टाचार आदि क वर्णन हैं। 'आरण्य बाला म व्रजमजरी तथा मुकुद को जब ओंकारमल की अपरिमित सपत्ति प्राप्त होती है तो वे उसे देश के विकास म लगाने की योजना बनाते है। भारत के सर्वागीण विकास के सम्बन्ध म उपन्यासकार का जो स्वप्न है, वह उपन्यास के पचम खण्ड के छठे परिच्छेद म व्यक्त हुआ है। देश म आधुनिक शिक्षा क प्रसार, व्यापार की शिक्षा, कृषि के विकास, मवशी पालन, जगलो की रक्षा आधुनिक यातायात के साधन, हिन्दी भाषा के विकास देशी भाषाओ के माध्यम से शिक्षा के प्रचार, अनाथालय विधवाश्रम की स्थापना, आदि के चित्रण प्रस्तुत ह। स्त्रीशिक्षा को भी उपन्यासकार भूला नही है, यद्यपि स्त्रीशिक्षा विषयक उसकी धारणा आधुनिक स्त्रीशिक्षा स सर्वथा भिन्न है।

इससे ज्ञात होता कि यह लखक सनातनी हिन्दू होते हुए भी, लज्जाराम शर्मा की तरह, सामाजिक चेतना से रहित नही था। अल्पशिक्षित पाठको की रुचि सामाजिक चित्रण म नही, कौतूहलवर्द्धक घटनाओ या कामव्यापार वर्णनो म होती है। इसस सिद्ध है व्रजनन्दन सहाय ने अल्पशिक्षित पाठको की रुचि को ध्यान म रखकर अपने उपन्यासो की रचना नही की थी।

व्रजनन्दन सहाय के उपन्यासो की भाषा सस्कृतनिष्ठ, परिष्कृत और परिनिष्ठित है। उर्दू और अगरेजी शब्दो का प्रयोग करन म उन्ह कोई सकोच नही है पर वे भाषा को कही भी, ग्राम्य अतिसरल और असाहित्यिक नही होन देते। इनकी भाषा देवकीनन्दन खत्री की तरह सरल और निष्प्राण नही है। काव्यभाषा का एक बहुत बडा गुण, चित्रात्मकता, उनकी भाषा म कूट कूट कर भरा है।

१ सौंदर्योपासक, पृ० १२४।

इस प्रकार व्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सुशिक्षित हिन्दी पाठकों की रुचि और ग्रहणक्षमता का ध्यान म रखकर उपन्यास लिखे थे। केवल शिल्प और अतिलौकिक घटनाओं की योजना अशिक्षित पाठकों की रुचि और बाधगम्यता के कुछ अनुकूल जान पडती है। व्रजनन्दन सहाय अपने उपन्यासों म जिस्सागो के रूप म तो अधिक नहीं, पर प्रवचनकर्ता के रूप म बार बार सामने आते हैं। उदाहरणत —

'मेरे नायक के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण करें मैं आशा करता तथा अनुरोध करता हूँ कि आप लोग सयमी होने का यत्न करेंगे।'

इसी प्रकार अतिलौकिक घटनाओं की योजना भी विवेच्य उपन्यासों म अनेकत्र हुई है। यथा 'आरण्य बाला' के प्रमानन्द योगशक्ति स लोगो के मन की बातें जान जाते हैं। उन्हें सभी पात्रों के पूवजन्म का इतिहास भी ज्ञात है। प्रमानन्द की योगशक्ति से इस गुफा म मुकुन्ददेव के प्रम की परीक्षा के लिए अनेक अतिलौकिक घटनाएँ घटित होती हैं। 'सौन्दर्योपासक'[1] राधाकान्त और आरण्य बाला तीनों म स्वप्न द्वारा भावी घटनाओं की सूचना मिलती है।

किन्तु श्रावयिता और प्रवचनकर्ता के रूप म उपन्यासकार के पाठकों के समक्ष बार बार आने तथा अतिलौकिक घटनाओं की योजना के मूल म अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि ही प्रधान है ऐसा असदिग्ध रूप म नहीं कहा जा सकता। प्रमचन्दपूर्व युग का सुशिक्षित हिन्दी पाठक समाज भी अधुनातन पाश्चात्य उपन्यासों की शिल्पविधि से परिचित नहीं हुआ था। अठारहवीं शताब्दी के अगरेजी उपन्यासों म भी जिनसे सम्भव है हिन्दी के उच्चकोटि के लखक और पाठक परिचित हों, लखक अपने पाठकों को सम्बोधित किया करते थे। विवेच्य काल के विशेषकर इसके प्रथम दो दशकों के, हिन्दी उपन्यासकार संस्कृत गद्याख्या और उर्दू फारसी परपरा की प्रेमकथाओं से परिचित और प्रभावित थे जिनमे श्रोता-श्रावयिता शिल्पविधि बिना किसी अपवाद के पायी जाती है। अतः व्रजनन्दन सहाय के उपन्यासों म उक्त शिल्पविधि को निम्नकोटि के पाठकों की रुचि का परिणाम नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जिन अतिलौकिक घटनाओं का वर्णन व्रजनन्दन सहाय ने किया है उनका उद्देश्य कौतूहलवर्द्धन नहीं। वे हिन्दू धर्म ग्रन्थों में योगशक्ति के रूप म वर्णित हैं।

निष्कर्ष रूप म कहा जा सकता है कि व्रजनन्दन सहाय का उद्देश्य अपने उपन्यासों के द्वारा निम्नस्तरीय या अल्पशिक्षित युवक पाठकों का मनोरंजन करना नहीं था। वे देवकीनन्दन खत्री या गोपालराम गहमरी की तरह व्यावसायिक उद्देश्य से उपन्यास-लेखन म प्रवृत्त नहीं हुए थे। उनका उद्देश्य साहित्यिकता और शिक्षित पाठकों की रुचि परिष्कार था। इस कारण उन्होंने कहीं भी हिन्दी के तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठकों की अभिरुचि का अनुगमन नहीं किया है। उनकी दृष्टि इस बात पर रही है कि हिन्दी के बहुसंख्यक उपन्यासपाठक, उनके उपन्यासों को पढ़कर अपनी रुचि, बुद्धि, विचार और

---

१ सौन्दर्योपासक, प्रथम प्रकरण पृ० १२४।

चरित्र का परिष्कार कर सकें। इस उद्देश्य से उन्होंने इनकी रचना उच्चस्तरीय और सुशिक्षित पाठकों की रुचि, भावना और विचारों के अनुरूप की है। चाहे हम विषय वस्तु की दृष्टि से विचार करें या वर्णनपद्धति की दृष्टि से, शिल्प की दृष्टि से विचार करें या भाषा की दृष्टि से, व्रजनन्दन सहाय उच्चस्तरीय हिन्दी पाठकों के प्रतिनिधि उपन्यासकार के रूप में हमारे सामने आते हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास और उनपर पाठकों की रुचि का प्रभाव

प्रेमचन्दपूर्व युग के उपन्यासकारों में उपन्यासों की संख्या की दृष्टि से, किशोरीलाल गोस्वामी के बाद मेहता लज्जाराम शर्मा का स्थान है। जितनी संख्या में मेहता जी ने विशुद्ध सामाजिक उपन्यास लिखे, उतनी संख्या में किसी भी पूर्ववर्ती उपन्यासकार ने नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी ने एक दर्जन उपन्यास लिखे थे पर उनके उपन्यासों में सामाजिक चित्र गौण, शृंगारवर्णन प्रधान है। मेहता जी के उपन्यास इस दोष से मुक्त हैं। उन्होंने १८९९ ई० से लेकर १९१५ ई० तक ८ सामाजिक उपन्यास लिखे, जो निम्नलिखित हैं—

धूर्त रसिक लाल (१८९९), स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी (१८९९), हिन्दू गृहस्थ (१९०२) आदर्श दम्पति (१९०२), सुशीला विधवा (१९०७) बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी (१९०७), विपत्ति की कसौटी (१९०९), आदर्श हिन्दू (१९१४-१५)।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास तत्कालीन पाठकों में बहुत लोकप्रिय थे इसके प्रमाण नहीं मिलते। इनके किसी भी उपन्यास का दूसरा संस्करण नहीं निकला जो इनकी अलोकप्रियता का प्रमाण है। यों स्वयं मेहताजी ने भूमिकाओं में अपने उपन्यासों के तत्कालीन पाठकों के बीच लोकप्रिय होने के संकेत दिये हैं। 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' की भूमिका से ज्ञात होता है कि हिन्दी पाठकों ने मेहता जी के प्रथम उपन्यास 'धूर्त रसिक लाल' को पसंद किया था। स्वयं लेखक के शब्दों में "आठ वर्ष पूर्व जब मैंने प्रथम बार 'धूर्त रसिक लाल' की रचना का आरम्भ किया तो मुझको आशा नहीं थी कि उस छोटी सी पुस्तक का हिन्दी रसिकों में आदर होगा। मेरी आशा से कहीं बढ़कर उत्तम फल निकला और इसी कारण से आज मुझको दूसरा उपन्यास लिखने का साहस हुआ।[1] 'आदर्श दम्पति' की भूमिका से ज्ञात होता है कि मेहता जी के स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी नामक उपन्यास का भी *हिन्दी पाठकसमुदाय में पर्याप्त आदर हुआ था।*[2] पर इन कथनों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि मेहता जी के आरंभिक उपन्यासों को सीमित मात्रा में पाठक प्राप्त हुए थे। यदि उनके उपन्यास तत्कालीन पाठकसमुदाय में लोकप्रिय होते या उनके लोकप्रिय होने की सम्भावना होती तो अवश्य ही उनके एकाधिक संस्करण प्रकाशित हुए होते।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासरचना में प्रवृत्त होने का मुख्य उद्देश्य, देवकी नन्दन खत्री या गोपाल राम गहमरी की तरह विशुद्ध व्यवसाय नहीं था। अपनी भूमिकाओं

१. स्वतंत्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी १८९९, भूमिका।

२ आदर्श दंपती, १९०४ भूमिका।

में उन्होंने स्थान स्थान पर अपने उपन्यासरचना सम्बन्धी उद्देश्य का स्पष्टीकरण किया है। 'धूर्त रसिक लाल' की भूमिका में उन्होंने लिखा है— यद्यपि हिन्दी भाषा में शृंगाररस के अनेक नाटक उपन्यास देखने में आते हैं परन्तु ऐसी पुस्तक अभी तक मेरे देखने में नहीं आई जिसमें उनके शिक्षाजनक बातों का एक ही में वर्णन हो। यदि यह उपन्यास हिन्दीरसिकों के लिए कुछ भी रोचक और शिक्षाप्रद हुआ तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा।[१] अपनी अन्य भूमिकाओं में भी मेहता जी ने मनोरंजन और शिक्षा को उपन्यास रचना का उद्देश्य बनाया है।[२] इसके साथ 'प्रजा के मध्य चरित्र का भाव'[३] तथा 'चरित्र शोधन'[४] भी उनके उपन्यासों का उद्देश्य है। निज के अनुसार अथवा सती सुखदेवी की भूमिका में मेहता जी ने लिखा है— कान्ता सम्मित शास्त्र धर्म की अवधि के भीतर मनुष्य को आनंद देकर आमोद प्रमोद के व्याज से चरित्रशोधन की शिक्षा देनेवाले हैं। इसी के दृश्य और श्रव्य दो भाग। में से 'उपन्यास' श्रव्य का एक अंग है। मैंने अब तक जितने उपन्यास लिखे हैं वे सब इसी उद्देश्य से लिखे हैं।[५] मेहता जी के उपन्यासों के मुखपृष्ठों पर प्रयुक्त वाक्यखंडों और विशेषणों—"एक स्त्रीशिक्षा विधायक, बोधजनक उपन्यास'[६], 'एक शिक्षाजनक सामाजिक उपन्यास'[७], 'स्त्रीशिक्षा विधायक उपदेशपूर्ण सामाजिक उपन्यास'[८] 'विधवा विवाह निराकरण और विधवा धर्म का वर्णन किया गया है'[९] एवं दुराचारी पति सती पत्नी के सतीत्व से सदाचारी बन सका है"[१०]—से भी उनके उपन्यास रचनाविषयक उद्देश्य का पता चलता है।

मेहता लज्जाराम शर्मा ने अपने उपन्यासों में इन्हीं बातों पर अर्थात उपदेश, चरित्र शोधन और मनोरंजन पर विशेष ध्यान रखा है। 'धूर्त रसिक लाल' में मद्यपान, वेश्यागमन, व्यभिचार, घुड़दौड़ आदि की बुराइयाँ दिखाकर पाठकों को इनसे बचने का उपदेश दिया गया है। स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी में स्त्रीशिक्षा और स्त्रीस्वातंत्र्य की बुराइयों का चित्रण कर बालिकाओं को पतिव्रता हर प्रकार से प्रसन्न रखने तथा आदर्श गृहिणी बनने के उपदेश दिए गए हैं। हिन्दू गृहस्थ में हिन्दू धर्मानुकूल चरित्र, 'आदर्श दम्पति' में अपविश्वासों से बचने सच्ची मित्रता निभाने, पातिव्रत्य का पालन करने, विपत्ति में धैर्य न खोने, धर्म का त्याग न करने आदि की शिक्षा दी गयी है। स्पष्ट नीति और उपदेश की बातें कहने के लिए जब अवसर ढूंढता रहता है। मेहता जी के उपन्यासों में उपदेशों की इतनी भरमार है कि वे उपन्यास न रहकर उपदेशाख्यान बन गए हैं। सामान्यतः उपदेशों

१ धूर्त रसिक लाल, १८९९, भूमिका।
२ स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी (१८९९) भूमिका, आदर्श दम्पति (१९०४), भूमिका।
३ आदर्श दम्पति (१९०४) भूमिका।
४ सुशीला विधवा (१९०७), भूमिका।
५. आदर्श दम्पति, १९०४, भूमिका।
६ स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी।
७ हिन्दू गृहस्थ।
८ सुशीला विधवा।
९. उपरिवत्।
१० बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी

में पाठकों की रुचि नहीं होती। अल्पशिक्षित पाठक भी उपदेशों को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना कौतूहलप्रधान कथा को। यही कारण है कि मेहता जी के उपन्यास तत्कालीन हिन्दी पाठकों में, जो अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यता युक्त थे, लोकप्रियता न प्राप्त कर सके।

मेहता जी ने अपने उपन्यासों को 'मनोरंजक बनाने का भी प्रयास किया है। उन्होंने लिखा है, 'उपन्यास अवश्य ही मनोरंजन के लिए हैं परन्तु मेरा यह सिद्धान्त है कि इसके साथ २ पाठक पाठिकाओं को किसी न किसी तरह की अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये।'[१] पर मेहता जी का मनोरंजन सम्बन्धी दृष्टिकोण देवकीनन्दन खत्री और गोपाल राम गहमरी से भिन्न है। प्रथमतः इनके उपन्यासों में मनोरंजन गौण है, उपदेश और चरित्रसुधार मुख्य। द्वितीयतः इन्होंने अपने उपन्यासों को मनोरंजक बनाने के लिए तिलस्म, ऐयारी जादू, टोना अतिलौकिक कार्यों या अपराधप्रधान घटनाओं का सहारा नहीं लिया है। इन्होंने शृंगारचित्रण के द्वारा अपने उपन्यासों को रोचक बनाने का प्रयत्न किया है। यह देखा जा चुका है कि विवेच्यकाल में उपन्यासपाठकों में उन्हीं युवकों और अल्पशिक्षितों का बाहुल्य था, जिनकी रुचि शृंगारचित्रण और कौतूहलप्रद घटनाओं में अधिक थी। मेहताजी ने अपने उपन्यासों में शृंगारवर्णन के द्वारा रोचकता उत्पन्न करने का प्रयास किया है। 'धूर्त रसिक लाल' तथा 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में कामव्यापारों के नग्न और ग्राम्य वर्णन भी मिलते हैं।

'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में रमा की स्वच्छन्दता, उसके परपुरुष संसर्ग, स्वच्छन्द रति और चुम्बन प्रति चुम्बन का वर्णन जानबूझकर, इस प्रकार सरस बनाया गया कि इसके प्रति विरक्ति होने के बदले आसक्ति उत्पन्न होती है। लक्ष्मी के, जिसका चरित्र आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है सौन्दर्य का वर्णन करते समय भी लेखक अपने रसिक पाठकों की माँग नहीं भूलता। 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' में भी कामव्यापार वर्णनों की जिसमें अश्लीलता और नग्नता भरी हुई है भरमार है। इस प्रकार मेहता जी ने कामचेष्टाओं के ग्राम्य और अश्लील वर्णनों द्वारा अल्पशिक्षित पाठकों को प्रसन्न करने का प्रयास किया है।

कौतूहलवर्धक घटनाओं के द्वारा अल्पशिक्षित पाठकों का मनोरंजन प्रमुख उद्देश्य न होते हुए भी, मेहताजी के उपन्यासों में कौतूहलोत्पादक और अविश्वसनीय घटनाओं का अभाव नहीं है। इनमें से अधिकांश घटनाएं तो सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ नियोजित की गयी हैं, पर कुछ का उद्देश्य पाठकों का विशुद्ध मनोरंजन भी है। विवेच्य उपन्यासों की अधिकांश घटनाएं संयोगाश्रित हैं, जिनमें कार्य कारण सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। इस प्रकार की घटनाओं से केवल अल्पशिक्षित पाठक ही शिक्षा या मनोरंजन की प्राप्ति कर सकते हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों की घटनायोजना पर ही नहीं, उनके शिल्प विधान पर भी तत्कालीन पाठकों की रुचि का प्रभाव है। अल्पयोग्यता वाले कथाश्रोताओं की रुचि के अनुरूप लेखक सर्वत्र एक किस्सागो बना रहता है। 'आदर्श दम्पति' के १२वें

१ आदर्श दम्पति, १९०४, भूमिका।

प्रकरण' में उपन्यासकार अपने पाठकों को सम्बोधित करके कहता है— मैं सुन्दरी ही सुन्दरी की कथा कहता कहता बहुत आगे बढ़ गया परन्तु अभी तक उसके पति की कुछ सुधि न ली।' और इसके बाद लेखक सुन्दरी के पति की कथा सुनाने लगता है। उपन्यासकार आवयिता के रूप में बार बार पाठकों के सामने आकर पात्रों के विषय में टीकाटिप्पणी भी कर जाता है।[1] प्रायः सभी उपन्यासों के आरम्भ में दो तीन परिच्छेदों तक तो कथा नाटकीय पद्धति पर आगे बढ़ती है, पर उसके बाद अल्प शिक्षित पाठकों की बोधगम्यता का ध्यान रखकर लेखक सभी पात्रों का एक साथ परिचय, पाठक के सामने आकर देने लगता है। 'आदर्श दम्पति' में उपन्यासकार पाठकों को सम्बोधित कर कहता है—

"मैं चार प्रकरण लिख गया परन्तु अभी तक मुझे प्रिय पाठकों को पंडितजी का परिचय देने का अवसर न मिला। इतना लिखने पर अवश्य ही पाठकों को उत्कंठा हुई होगी कि पंडित मधुसूदन कौन थे क्या काम करते थे और कहाँ रहते थे। इन बातों का थोड़ा सा प्रथम दिग्दर्शन कर मैं इस कथा को आगे बढ़ाना चाहता हूँ।'[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि विवेच्य उपन्यासकार हिन्दी के तत्कालीन पाठक समुदाय की रुचि का, जो अभी तक कथा सुनने का अभ्यासी था, ध्यान रखता है।

मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों में स्थान स्थान पर ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं जिनकी योजना अल्पशिक्षित पाठकों के लिए ही की जा सकती है। इन उपन्यासों की भाषा, पात्रों के आचरण तथा अन्य प्रकार के वर्णनों में इस कोटि की ग्राम्यता और फूहड़पन है कि वह शिष्ट रुचि को किसी प्रकार ग्राह्य नहीं हो सकता। ऐसे वर्णनों की योजना तभी सम्भव है जब लेखक अल्पशिक्षितों को अपना पाठक मान रहा हो। इसी उपन्यास में पृ० १४४-४५ पर एक ग्वालदम्पति के कलह, गाली गलौज और मारपीट का भद्दा एवं ग्राम्य वर्णन है। पारसी थियेटरों या लखनऊ के भाँड़ों द्वारा अभिनीत नाटकों में इस प्रकार के पति पत्नी कलह के दृश्य दिखाये जाते थे, जो निम्नस्तरीय श्रोताओं के लिए अत्यन्त आह्लादजनक होते थे।

इन उदाहरणों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि मेहता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास नितान्त साधारण, अल्पशिक्षित और पठन परिपक्वता की दृष्टि से निम्नस्तरीय पाठकों की रुचि का ध्यान में रखकर लिखे गये हैं।

यह एक मनोरंजक तथ्य है कि मेहता जी के उपन्यासों में एक तरफ तो अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का प्रभुत्व है, पर दूसरी तरफ कहीं कहीं काव्यरसिकों की भावना का ध्यान रखकर प्राचीन काव्यों और प्रेमाख्यानों के ढंग पर सौन्दर्य प्रकृति तथा विरह के अलंकृत और काव्यात्मक वर्णनों की योजना की गयी है। 'धूर्तरसिक लाल' में एक वेश्या का सौन्दर्यवर्णन निम्नलिखित रूप में किया गया है—

इसका चन्द्रमा के समान मुख, कुंद की कली सरीखे लाल पतले होंठ, अनार के दाने सदृश दांत हिरन के बच्चों के नेत्रों को लज्जित करने वाली बड़ी बड़ी आँखें, भंवरों

१ आदर्श दम्पति, १९०४, पृ० ९।

२ वहीं।

की श्यामता को फीकी दिखाने वाले लम्बे केशों में गुथे हुए जूही के सुगंधित पुष्पों युक्त नागिन सी चोटी, कोकिल की स्पर्द्धा करानेवाला मधुर कंठ एक साथ ही कामदेव की सी स्त्री रति की सुंदरता का उपहास करते थे।"[१] इसी प्रकार 'आदर्श दम्पति' में 'सुंदरी' का नखशिखवर्णन काव्य परम्परागत ढंग पर किया गया है। अलंकृत प्रकृति वर्णन भी विवेच्य उपन्यासों में कहीं कहीं दिखायी पड़ते हैं। उदाहरणतः 'आदर्श दम्पति' का निम्नलिखित प्रकृतिवर्णन—

"रात्रि के नौ बज चुके हैं। कृष्णपक्ष की रात्रि में तारामंडल चन्द्रमा को आकाश में न पाकर अपने २ प्रकाश समुदाय के भूमंडल को प्रकाशित कर परस्पर की स्पर्धा से चन्द्रमा बनने की लालसा से अधिक २ प्रकाश करने के लिए जोर लगा रहे हैं।

आदि।[२] रीतिकालीन शैली पर विरहवर्णनों की तो विवेच्य उपन्यास में भरमार दिखायी पड़ती है—

'आदर्श दम्पती' नामक उपन्यास में एक दारोगा एक स्त्री को देखकर कामपीडित हो जाता है। इस प्रसंग में लेखक ने उसके विरहप्रलाप तथा मूर्च्छित होकर अस्वस्थ हो जाने का जो वर्णन किया है, वह रीतिकालीन नायकनायिकाओं के वियोगवर्णन के ढंग का है। इसी उपन्यास के २२वें प्रकरण में एक प्रोषितपतिका के पति के अभाव में कामातुर होने रीतिकालीन काव्यनायिकाओं की तरह हाय हाय करने पपीहे को गाली देने, कामदेव को कोसने, जवानी को दीवानी बताने, विरहव्यथा की आग में जलने आदि का वर्णन है। 'आदर्श दम्पती' में पृ० ४२ ४३ पर सुन्दरी के विलाप का वर्णन है जिसमें प्राचीन काव्यों का भद्दा अनुकरण दिखायी पड़ता है।

नखशिख विरह और सौंदर्य के अलंकृत चित्रण के साथ साथ महता जी ने औपन्यासिक घटनाओं के बीच बीच में संस्कृत और हिन्दी कविताओं की योजना करके भी उन्हें तत्कालीन काव्यरसिकों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। आदर्श हिन्दू में स्थान स्थान पर सूर तुलसी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि की कविताएं तथा संस्कृत के नीतिविषयक श्लोकों का प्रयोग काव्यरसिकों की रुचि के ही अनुरूप है। अल्पशिक्षित पाठक ऐसी कविताओं में कोई रुचि नहीं रखते।

महता लज्जाराम शर्मा के उपन्यासों पर सनातनी हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का जितना प्रभुत्व है, उतना उस युग के अन्य किसी भी उपन्यास पर नहीं। उनके उपन्यास समस्यामूलक कहे जा सकते हैं, पर इनमें जिन समस्याओं का चित्रण है वे सनातन हिन्दू समाज की समस्याएँ हैं। उपन्यासकार ने आधुनिक शिक्षा विचारधारा एवं आचार विचार आदि का खण्डन कर सनातन हिन्दू सम्प्रदाय में प्रचलित धार्मिक सिद्धान्तों और व्यवहारों का समर्थन किया है।

इन उपन्यासों में स्त्रीशिक्षा स्त्रीस्वातन्त्र्य—जिसका आंदोलन धीरे धीरे प्रमुखता प्राप्त कर रहा था—और विधवाविवाह की आलोचना की गयी है। 'स्वतंत्र रमा और

१ धूर्त रसिक लाल, १८९९, पृ० १५।
२ आदर्श दम्पति (१९०४), पृष्ठ ६८।

परतन्त्र लक्ष्मी' में स्त्रियों को पश्चिमी ढंग की शिक्षा देने तथा उन्हें स्वतन्त्रता प्रदान करने के दोष दिखाये गये हैं। लेखक ने उक्त उपन्यास की भूमिका में ही कहा है— 'पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव से कितने ही भारतवासियों के चित्त पर इस देश की स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्रदान कर उन्हें उच्छृंखल बनाने का भूत सवार हुआ है। स्त्री स्वातन्त्र्य के पक्षपाती स्वतन्त्र स्त्रियों के सुख और परतन्त्र महिलाओं के दुःख की परिसीमा प्रकाशित करने में नहीं चूकते हैं। यद्यपि इस विषय का खंडन भी समय समय पर समाचार पत्रों में होता रहता है—मैंने इस विषय का एक उपन्यास तैयार करने का साहस किया है।'[1] इस उपन्यास में रमा और लक्ष्मी नामक दो बहनों की कहानी के माध्यम से यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि अंग्रेजी ढंग की शिक्षा तथा स्वतन्त्रता प्राप्त स्त्री को अनेक कष्टों का सामना पड़ता है जबकि भारतीय आदर्शों के अनुरूप ढली स्त्री को सुख की प्राप्ति होती है। लक्ष्मी का चरित्र तत्कालीन परंपरावादी हिंदू रुचि और भावना के सर्वथा अनुरूप है। वह पतिव्रता है, पति को समय पर अच्छी सलाह देती है, सासससुर की सेवा करती है, घर गृहस्थी की अच्छी तरह देखभाल करती है, गाँव घर की लड़कियों तथा बहुओं को सिलाई बुनाई की शिक्षा देती है। एक सनातनी हिंदू स्त्रियों के लिए यही आदर्श उत्तम समझता है। 'आदर्श हिंदू' में अंतर्जातीय विवाह और विधवाविवाह का खंडन तथा बालविवाह का समर्थन किया गया है। लेखक विधवाविवाह को व्यभिचार के समकक्ष मानता है। उसके अनुसार 'यह विवाह नहीं मेरी समझ में तो व्यभिचार है, जो हिंदू समाज में विधवा विवाह अथवा तलाक का प्रचार करना चाहते हैं।'[2] बाल विवाह का समर्थन करते हुए उपन्यासकार ने लिखा है, 'हमारे देश के रिवाज में, धर्मशास्त्र की आज्ञा में हिंदू बालिका का विवाह रजस्वला होने से पूर्व हो जाना चाहिए।'[3] ये विचार आधुनिक शब्दावली में, सर्वथा रूढ़िवादी कहे जा सकते हैं। जिस अवधि में विवेच्य उपन्यासों की रचना हुई थी उस समय अंगरेजी ढंग की शिक्षा का प्रसार काफी तेजी से आरंभ हो गया था और प्रबुद्ध लोग अपनी लड़कियों को भी आधुनिक ढंग की शिक्षा देने लगे थे। सनातनी हिंदू समाज स्त्रीशिक्षा, स्त्रीस्वातन्त्र्य और नारीसमस्या विषयक नवीन विचारधाराओं का विरोधी था। मेहता लज्जाराम शर्मा इस सनातनी हिंदू दृष्टिकोण के प्रवक्ता के रूप में सामने आते हैं।

मेहता लज्जाराम शर्मा के समस्त उपन्यासों में पातिव्रत्य का महत्त्व दर्शाया गया है। 'धूर्त रसिक लाल' की सेठानी, 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' की लक्ष्मी, 'आदर्श दंपति' की सुन्दरी तथा 'हिंदू गृहस्थ' की राधारानी सभी के चरित्र में पातिव्रत्य का भाव कूट कूट कर भरा हुआ है। 'आदर्श दंपति' की सुन्दरी अत्यन्त विपरीत और कष्टदायक परिस्थितियों में भी पातिव्रत्य की रक्षा करती है। 'बिगड़े का सुधार अथवा सती सुखदेवी' की नायिका पति के असह्य अत्याचार सहकर भी उसे परमेश्वरतुल्य मानती है और अन्त में उसे सुमार्ग पर लाने में समर्थ होती है। चरित्रों के माध्यम से लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न

---

१ स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी १८९९ भूमिका।

२ आदर्श हिंदू पहला भाग, पृष्ठ ९५।

३ वही, पृष्ठ २०।

किया है कि सच्ची हिंदू स्त्रियाँ पातिव्रत्य का पालन प्राणो की बाजी लगा कर भी करती हैं।

इसके साथ उपन्यासकार ने सनातन हिंदू धम समर्थित अन्य सिद्धान्तो, आचार विचारो और रीतिरिवाजो का भी विवेचन तथा प्रतिपादन किया है। कमफलवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन तो प्रत्येक उपन्यास मे मिलता है। इन उपन्यासो का कोई भी दुष्ट पात्र ईश्वरीय दड से नही बचता। उपन्यासकार ने दुष्ट पात्रो को दड देने और सत्पात्रो को पुरस्कृत करने म घटनाओ के अविश्वसनीय बन जाने तक की परवाह नही की है।

अत म यह उल्लेखनीय है कि मेहता लज्जाराम शर्मा अपने उपन्यासो म निर्मित जीवन को विश्वसनीय बनाने म समथ नही हुए है। ये उपन्यास सिद्धान्तो या केन्द्रीय विचारो के उदाहरण या निदशनमात्र बन कर रह गये है। उनमे जीवन का स्पदन नही सुनायी पडता। इनके पात्र आदर्शो की निर्जीव प्रतिमाए है। उनका स्वतत्र जीवन नही व लेखक के विचारो के प्रवक्ता मात्र हैं।

विवेच्य उपन्यासो मे कही कही तत्कालीन जीवन के यथाथ चित्र उपलब्ध होते है। पुलिस के अत्याचार, घूसखोरी तीथस्थानो म पडो के अनाचार, ग्रामीणो म फले अध विश्वास आदि के वणन अनेकत्र मिलते हैं, जो इन उपन्यासो को शुद्ध उपदेशाख्यान बनने से बचा लेते है।

उपयुक्त विवेचन से यह निष्कष प्रस्तुत किया जा सकता है कि मेहता लज्जाराम शर्मा ने मुख्यत अपने युग के अल्पशिक्षित हिंदू पाठको की रुचि और बोधक्षमता को ध्यान म रखकर उपन्यासो की रचना की थी। अपरिष्कृत शृगारवणन सयोगाश्रित कौतूहल जनक घटनाओ और प्रणय कलह आदि के निम्नकोटिक और फूहड वणनो की योजना के मूल म तत्कालीन अल्पयोग्यता युक्त पाठको की रुचि ही प्रमुख है। नाना प्रकार के उपदेशो की भी योजना, बालविवाह, पातिव्रत्य और सनातन हिंदू धम के अन्य सिद्धान्तो और आचार पद्धतियो के समथन तथा स्त्रीशिक्षा और स्त्रीस्वातन्त्र्य के विरोध के मूल म हिंदू पाठको की रुचि प्रधान है। इसके साथ साथ, तद्युगीन साहित्यिको और प्राचीन काव्यरसिको को प्रसन्न करने के लिए, या उनका समथन प्राप्त करने के लिए, उपन्यासकार ने नखशिख, विरह और प्रकृति के अलकृत वणनो तथा बीच बीच म, हिन्दी और सस्कृत कविताओ की योजना कर दी है। इस प्रकार शर्मा जी के उपन्यासो पर मुख्यत अल्प शिक्षित हिंदू पाठको की और गौणत प्राचीन काव्यरसिको की रुचि का प्रभाव दिखायी पडता है।

बाबू नवाब राय बनारसी कृत
प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह

बाबू नवाब राय बनारसी ने, जो बाद म प्रेमचन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, सन् १९०० ई० के लगभग ही, उदू म, 'हमखुर्मा व हमसवाव' नामक उपन्यास की रचना की थी। इस उपन्यास का हिन्दी अनुवाद 'प्रेमा अर्थात् दो सखियो का विवाह" शीषक से इडियन प्रेस, इलाहाबाद से १९०७ ई० म प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा सस्करण प्रकाशित

नहीं हुआ जो तत्कालीन हिन्दी पाठकों के बीच इसकी अलोकप्रियता का निर्विवाद प्रमाण है।

प्रेमचन्द के विषय में हिन्दी के एक प्रसिद्ध आलोचक ने लिखा है, कि 'लाला श्री निवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास ने प्रेमचंद को प्रभावित या प्रभावित किया था, यह उद्भावना निराधार है।'[1] भले ही लाला श्री निवासदास, पं० बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्ण दास ने प्रेमचंद को प्रभावित न किया हो पर विवेच्य उपन्यास को देखते हुए यह कहना अयुक्तिसंगत नहीं कि उन पर तत्कालीन उपन्यासलेखकों का प्रभाव पड़ा था। 'प्रेमा' के मुखपृष्ठ पर मुद्रित शब्द इस कथन के प्रमाण हैं। इसका शीर्षक 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' तत्कालीन उपन्यास परंपरा के सर्वथा अनुरूप है। विवेच्य काल के अधिकांश उपन्यासों के शीर्षक इसी प्रकार के, स्पष्टीकरण से युक्त होते थे। शीर्षक के नीचे "रोचक शिक्षाप्रद और नूतन उपन्यास" वाक्यखंड मुद्रित है जिस पर तत्कालीन उपन्यासों का प्रभाव स्पष्ट है। प्रेमचंदपूर्व युग के हिन्दी उपन्यासों पर शीर्षक के नीचे यह वाक्यखंड प्रायः मुद्रित होता था। पाठकों को आकृष्ट करने का यह एक सुपरिचित उपाय था, जिसका प्रयोग नवाब राय ने भी किया था।

विवेच्य उपन्यास की रचना किस पाठकवर्ग के लिए हुई थी यह प्रश्न विचारणीय है। मूलतः यह उपन्यास उर्दू में 'हमखुर्मा व हमसवाब' शीर्षक से रचा गया था, जिससे इतना तो स्पष्ट है कि इसके उद्दिष्ट पाठक उर्दू लिपि और भाषा से परिचित थे। 'हमखुर्मा व हमसवाब' के अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि यह उपन्यास हिन्दू पाठकों के लिए रचित हुआ था। इसमें जो समस्याएँ चित्रित हैं तथा जीवन का जो स्वरूप अंकित है वे हिन्दू समाज से सम्बद्ध हैं। विधवाविवाह जो इस उपन्यास की केन्द्रीय समस्या है, पूर्णतः हिन्दू समाज की समस्या है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर मंदिरों में होनेवाले दुराचार होली के अवसर पर होनेवाली धूमधाम आदि का चित्रण हिन्दूजीवन से सम्बद्ध है। इसके सभी पात्र भी हिन्दू हैं। इसका उद्देश्य हिन्दू समाज का सुधार है। इससे स्पष्ट है कि उर्दू जाननेवाले हिन्दू पाठकों के लिए यह उपन्यास रचा गया था। अपवादस्वरूप किसी मुसलमान की रुचि हिन्दू समाज की समस्या में हो सकती है, पर अधिकांश मुस्लिम पाठकों से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। विशेषतः बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में जबकि हिन्दू मुसलमान एक दूसरे को अपना दुश्मन समझ रहे थे।

तात्पर्य यह कि 'हमखुर्मा व हमसवाब' की रचना उर्दू भाषा और लिपि जाननेवाले हिन्दू पाठकों को ध्यान में रखकर की गयी थी। अवश्य ही १९०७ ई० में उसका अनुवाद हिन्दी जाननेवाले हिन्दू पाठकों को ध्यान में रखकर हुआ था। यह उपन्यास न उर्दू पाठकों के बीच लोकप्रिय हुआ, न हिन्दू पाठकों के बीच। कारण विचारणीय है।

बीसवीं सदी के प्रथम दशक के हिन्दी पाठक किस प्रकार के थे, इस पर प्रस्तुत प्रबंध में विचार किया जा चुका है। सम्भवतः इस काल के बहुसंख्यक

१ नलिन विलोचन शर्मा, हिन्दी उपन्यास, भूमिका—५।

हिन्दीपाठक अल्पशिक्षित युवक और सनातनी हिन्दू थे। कुछ ऐसे हिन्दी पाठक भी थे जो काव्यरसिक या परिष्कृत पाठक कहे जा सकते हैं। उत्तरोक्त प्रकार के पाठकों में भी युवकों और सनातनी हिन्दुओं का प्राधान्य था। इस काल में सामाजिक सुधारों का समर्थन करनेवाले तथा यथार्थवादी भाषा में जीवन का यथार्थ वर्णन पढ़नेवाले हिन्दी पाठक अत्यल्प थे। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार के पाठकों को लक्ष्य कर यह उपन्यास लिखा गया था, उस प्रकार के पाठक हिन्दी में थे ही नहीं, फिर यह उपन्यास लोकप्रिय कैसे होता ?

जैसा कहा जा चुका है, विवेच्य उपन्यास की केन्द्रीय समस्या विधवाविवाह का चित्रण है। उपन्यास का नायक अमृतराय पहले पूर्णा नाम की विधवा से विवाह करता है और फिर उसकी मृत्यु के पश्चात्, दूसरी विधवा प्रेमा से। दो कारणों से उपन्यास की यह केन्द्रीय समस्या तत्कालीन पाठकों के लिए बहुत अरुचिकर सिद्ध हुई। प्रथम तो यह कि इस काल के अधिकांश हिन्दू पाठक विधवाविवाह के विरोधी थे। विधवाओं के सम्बन्ध में जो धारणा शताब्दियों से हिन्दू समाज में बद्धमूल थी उसे दस बीस वर्षों में नहीं उखाड़ा जा सकता था। भारत में विधवाविवाह का आन्दोलन पश्चिमी शिक्षा और सभ्यता की देन था। सर्वप्रथम बंगाल में यह आन्दोलन शुरू हुआ, और सनातनी हिन्दुओं के कट्टर विरोध के बावजूद, बंगाल में इस आन्दोलन को काफी सफलता मिली। सन् १८७५ ई० में आर्यसमाज की स्थापना हुई, जिसने उत्तरी भारत में विधवा विवाह आन्दोलन को व्यापक बनाने का प्रयास किया। पर आर्यसमाज को इस उद्देश्य में बहुत कम सफलता प्राप्त हुई। वस्तुतः हिन्दू समाज की सवर्ण जातियों में ही विधवा विवाह की समस्या थी और इन जातियों के संस्कार में विधवाविवाह का विरोध इतनी गहराई तक प्रवेश किए हुए था—आज भी किए हुए है—कि इसे दूर करना आर्यसमाज के लिए असम्भवप्राय कार्य था, और वस्तुतः यह असम्भव सिद्ध हुआ भी। सनातनी हिन्दुओं ने आर्यसमाज द्वारा सम्पादित विधवाविवाह का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। विधवा विवाह करनेवाले अथवा उसके समर्थकों का समाज में रहना मुश्किल था। वह समाजबहिष्कृत तो कर ही दिया जाता था बाद में उसका जीवन भी निष्कंटक नहीं रहता था। आधुनिक शिक्षा और यूरोपीय सभ्यता से प्रभावापन्न कुछ इने गिने लोग विधवाविवाह का समर्थन करते थे, पर अपने समर्थन को कार्यान्वित करना या उसका खुला प्रकाशन भी इस युग में कठिन था। लेखकों को इस बात का जल्दी साहस नहीं होता था कि वे अपनी पुस्तकों या लेखों में विधवाविवाह का समर्थन करें। कदाचित् पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी हिन्दी के प्रथम कथालेखक हैं जिन्होंने 'भाग्यवती' में विधवाविवाह का सयुक्ति प्रतिपादन किया था, पर जब पुस्तक छपने लगी तो सरकारी आज्ञा से उस अंश को निकाल देना पड़ा। इस तथ्य से पता चलता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विधवाविवाह का विरोध कितना प्रबल था। विवेच्यकाल (१८९० १९१७) के हिन्दी उपन्यासकारों ने हिन्दू समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण किया है, हिन्दू समाज में फैली कुरीतियों की आलोचना की है, लेकिन विधवा विवाह की समस्या को स्पर्श करने का साहस शायद ही किसी को हुआ हो। वस्तुतः

इस काल में हम कई लेखकों को विधवाविवाह, स्त्रीशिक्षा और स्त्रीस्वातन्त्र्य के विरोध में उपन्यासरचना में प्रवृत्त होते देखते हैं। बाबू नवाबराय बनारसी को इस बात का श्रेय मिलना चाहिए कि इन्होंने न केवल विधवाविवाह का प्रतिपादन किया, वरन् उसे अपने उपन्यास का केन्द्रीय प्रतिपाद्य भी बनाया। परिणाम वही हुआ जो होना था। 'प्रेमा' को पाठक न मिले। पता नहीं उसके प्रथम संस्करण की भी कुल प्रतियाँ बिक पायी या नहीं। समकालीन आलोचकों ने इसकी कड़ी आलोचना की। पं० बालकृष्ण भट्ट ने इसके विषय में लिखा था—

"दो विधवाओं के विवाह का प्रस्ताव इसमें है। लिखनेवाले ने तो अपने समझ में विधवा विवाह की प्रथा के अनुमोदन में इसे लिखा है पर सो नहीं विधवा विवाह की जीट इससे नल ही उड़ती है। इंडियन प्रेस के मालिक को चाहिए कि ऐसी पुस्तकें न छापा करें।"[1]

"प्रेमा" की केन्द्रीय समस्या के रूप में चित्रित विधवाविवाह के तत्कालीन पाठकों में अरुचिकर होने का दूसरा कारण इसकी प्रतिपादन पद्धति है। इस उपन्यास में विधवाविवाह का प्रतिपादन आर्यसमाजी जोश के साथ किया गया है जो सनातनी हिन्दू पाठकों में अरुचि और विरोध पैदा करने के लिए पर्याप्त था। इस समस्या के प्रतिपादनार्थ जिन घटनाओं की योजना की गई है वे इतनी भद्दी और अविश्वसनीय हैं कि परिष्कृत और विकसित बुद्धि का पाठक इनका समर्थन कर ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ पूर्णा के पति पं० वसन्त कुमार की मृत्यु जिन परिस्थितियों में होती है उन पर कोई अल्प बुद्धि पाठक ही विश्वास कर सकता है। इस घटना की अवतारणा केवल एक सुहागिन को विधवा बना देने के लिए हुई है। स्रष्टा का अपने सिद्धान्तों के समर्थन के लिए सृष्टि के प्रति इतना अनुदार और क्रूर होना उचित नहीं कहा जा सकता। जन जीवन में इस प्रकार का बाप—कोई पिता अपने हठ को पूरा करने के लिए अपने पुत्र की निर्ममतापूर्वक हत्या कर दे—अनुचित समझा जाता है वह साहित्य में भी। बाबू नवाब राय बनारसी ने एक बार नहीं बार बार इस प्रकार की अरुचिकर घटनाओं की आवृत्ति की है। वसन्त कुमार की मृत्यु के बाद पूर्णा और अमृतराय के प्रेम का विकास जिस ढंग में दिखाया गया है, उसमें गम्भीरता और स्वाभाविकता का अभाव है। बाबू नवाबराय बनारसी ने यहाँ भी इन पात्रों के चरित्र के साथ खिलवाड़ किया है। पूर्णा अपने पति के जीवनकाल तक तो उनकी अनन्य भक्त और पतिप्राणा बनी रहती है, पर उनकी मृत्यु होते ही वह अमृतराय से प्रेम करने लगती है—मानो वह अमृतराय से प्रेम करने को पहले से ही तैयार बैठी थी। उधर अमृतराय भी, जो [illegible] अपनी वाग्दत्ता प्रेमिका प्रेमा को, जिसे वे प्राणों के समान प्यार करते हैं, छोड़े हुए हैं पूर्णा पर रीझ पड़ते हैं। यहाँ भी लेखक ने अपने एक उद्देश्य के प्रतिपादन के लिए स्वाभाविकता को ताक पर रख दिया है। इस स्थान पर भी बाबू नवाबराय ने एक वैसे पिता के समान कार्य किया है जो अपनी बात रखने के लिए अपनी पुत्र-पुत्रियों को

१ हिन्दी प्रदीप, जिल्द २९, संख्या ७, जुलाई १९०७ (प्रेमा)।

कलंकित करने का प्रयास करता है। अमृतराय और पूर्णा के विवाह के रूप में विधवाविवाह का समर्थन तो होता है, पर बहुत बड़े मूल्य पर। उपन्यास में चित्रित जीवन इसके कारण अयथार्थ और अविश्वसनीय बन गया है।

विवेच्य उपन्यास में उपन्यासकार एक नहीं, दो दो स्थलों पर विधवाविवाह का चित्रण और प्रतिपादन करता है। पूर्णा और अमृतराय का विवाह हो जाने पर अमृतराय की प्रेमिका प्रेमा का विवाह दाननाथ से हो जाता है। पर विवाह के बाद भी प्रेमा अमृतराय के वियोग में तड़पती रहती है। दाननाथ को इसपर बहुत क्रोध आता है, और वे अमृतराय की हत्या करने का निश्चय करते हैं। दाननाथ का यह निश्चय, उनके पूर्व चरित्र को देखते हुए सर्वथा अविश्वसनीय है। प्रेमा दाननाथ के निश्चय की सूचना पूर्णा को भेज देती है। पूर्णा अमृतराय से यह बात नहीं कह करके, पिस्तौल चलाना सीखने लगती है और जो पूर्णा दस मिनट पहले पिस्तौल का नाम तक नहीं जानती,[1] वह जब पिस्तौल चलाना सीखने लगती है तो उसकी केवल पहली ही गोली ठीक निशाने पर नहीं लगती दूसरी और तीसरी सही निशाने पर लगती हैं। रात में जब दाननाथ अन्य कई आदमियों के साथ अमृतराय के शयनकक्ष में प्रवेश करते हैं तो पूर्णा जो पहले से तयार है उन पर गोली चलाती है लेकिन वह भी दाननाथ की गोली का शिकार होती है और दोनों की तत्काल मृत्यु हो जाती है। तत्पश्चात अमृतराय और प्रेमा का विवाह हो जाता है। इस विधवाविवाह के चित्रण के लिए भी दाननाथ और पूर्णा का मरना आवश्यक था और बाबू नवाबराय बनारसी ने इनकी निर्मम हत्या करने में संकोच नहीं किया है। स्पष्टतः यह सारा का सारा वर्णन बच्चों का खिलवाड़ मालूम पड़ता है। इस प्रकार की घटनायोजना परिष्कृत रुचि और विकसित बुद्धि के पाठकों को कभी ग्राह्य नहीं हो सकती। यही दो कारण हैं जिनके चलते विवेच्य उपन्यास में चित्रित समस्या कदाचित् तत्कालीन परिष्कृत पाठकों के लिए अत्यन्त अरुचिकर सिद्ध हुई हो, और फलतः उपन्यास उनके बीच लोकप्रियता न प्राप्त कर सका हो।

विवेच्य उपन्यास के अल्पबुद्धि पाठकों में लोकप्रिय होने की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी। नवाबराय ने इसकी रचना भी इस उद्देश्य से नहीं की थी। इसमें कौतूहलवर्धक घटनाओं और कामव्यापार वर्णनों की योजना द्वारा अल्पशिक्षित युवक पाठकों की कौतूहल और कामवृत्ति को उत्तेजित कर उनका मनोरंजन करने का प्रयास नहीं किया गया है। इसकी एक भी घटना ऐसी नहीं, जिसका उद्देश्य पाठकों का कौतूहलवर्धन हो। इसमें कहीं भी उपन्यासकार पाठकों को सम्बोधित नहीं करता किसी भी अवसर पर वह विश्रब्धालाप कर कोई रहस्य की बात नहीं बताता। कहीं भी वह पाठकों को पूर्वघटित घटनाओं की याद दिलाकर कथा की शृंखला नहीं मिलाता—पाठकों को धीरज और सान्त्वना नहीं देता। लेखक श्रावयिता तो बना रहता है, पर उसकी ऊँची आवाज पाठक को सुनाई नहीं पड़ती। इस अर्थ में यह उपन्यास अपने युग का अपवाद है।

१ प्रेमा कलम का सिपाही, (मंगलाचरण) पृष्ठ ३४३।

विवेच्य उपन्यास की भाषा भी जनन युग के अल्पशिक्षित पाठकों की पठनक्षमता के अनुकूल नहीं है। यद्यपि इसकी भाषा कठिन नहीं है, परन्तु इसमें विवरण की ऐसी सूक्ष्मता और यथार्थता है जो साधारणतः पाठकों के पल्ले नहीं पड़ सकती। इस प्रकार यह उपन्यास न तो तत्कालीन परिष्कृत और सनातनी हिन्दू पाठकों की रुचि के अनुकूल था न अल्पशिक्षित पाठकों की। तत्कालीन काव्यरसिकों की रुचि के लायक अलंकृत वर्णनों का भी इस उपन्यास में सर्वथा अभाव है। इस उपन्यास की अलोकप्रियता का यही कारण था।

यह प्रश्न विचारणीय है कि इस उपन्यास की रचना किस प्रकार के पाठकों को ध्यान में रखकर की गयी थी, और किस प्रकार के पाठक हिन्दी में होते तो यह लोकप्रिय हुआ होता।

नवावराय को यद्यपि उपन्यास में चित्रित संसार को यथार्थ और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने में पूरी सफलता नहीं मिली है—उपन्यास में संयोगाश्रित और असामान्य घटनाओं तथा अविश्वसनीय वर्णनों की प्रचुरता है—फिर भी समकालीन अन्य उपन्यासों की तुलना में इसमें तत्कालीन जीवन और समस्याओं का चित्र अधिक स्पष्ट और यथार्थ रूप में सामने आया है। जैसा कहा जा चुका है उपन्यास की केन्द्रीय समस्या विधवाविवाह का चित्रण है। विधवाविवाह आज भी हिन्दू समाज का एक जटिल समस्या बना हुआ है। वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक में तो इसका नाम लेना ही विरोध के लिए पर्याप्त था। आर्य समाज विधवाविवाह का आन्दोलन सक्रिय रूप में चला रहा था पर सनातनी हिन्दुओं की ओर से उसका दृढ़ विरोध हो रहा था। नवाबराय ने 'प्रेमा' में इस विरोध का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। समाज में उस समय विधवाओं की क्या स्थिति थी, उन्हें लोग किस दृष्टि से देखते थे, उन्हें किन किन कष्टों से गुजरना पड़ता था, इसके लेखक ने विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किये हैं। तत्कालीन समाज विधवाविवाह करने वाले व्यक्ति का विरोध किस सीमा तक करता था उसका भी यथार्थ अंकन है। इसके साथ साथ पारिवारिक जीवन, अदालत, आर्यसमाज, मन्दिर, गंगा स्नान आदि के दृश्यों के भी यथार्थ चित्र विवेच्य उपन्यास में उपलब्ध होते हैं। इस उपन्यास के स्थान या चरित्रविषयक वर्णनों में विवरण सम्बन्धी सूक्ष्मता और यथातथ्यता उल्लेख्य है। उपन्यासकार किसी स्थान का चित्र उपस्थित करते समय वहाँ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्योरों का उल्लेख करता है। उदाहरणार्थ उपन्यास का आरंभ द्रष्टव्य है, जहाँ अमृतराय के कमरे का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पात्रों के मनोभावों का वर्णन करने में भी लेखक ने यथार्थवादी दृष्टि का परिचय दिया है। उपन्यास की भाषा में कहीं भी आलंकारिता नहीं है पर चित्रित जीवन के सर्वथा अनुरूप तथा भाव की अभिव्यक्ति में समर्थ होने के कारण इसे उपन्यासोचित कहना युक्तिसंगत है।

दुर्भाग्यवश विवेच्यकाल में ऐसे हिन्दी पाठकों की संख्या अत्यल्प थी जिनकी यथार्थ दृष्टि विकसित हो। अँगरेजी पद्धति की शिक्षा के विस्तार और विज्ञान के प्रसार के फलस्वरूप भारतीय पाठकों की दृष्टि भी यथार्थवाद की तरफ मुड़ रही थी पर इस दिशा में हिन्दी क्षेत्र बहुत पिछड़ा हुआ था। अहिन्दी क्षेत्रों की तुलना में हिन्दी क्षेत्रों में आधुनिक

शिक्षा का प्रसार बहुत कम हुआ था। दूसरे, हिंदी क्षेत्रों में भी जो लोग आधुनिक शिक्षा प्राप्त करते थे, उनका लगाव हिंदी भाषा से बहुत कम रह जाता था। अँगरेजी स्कूलों और कालेजों में पढने वाले लोग हिंदी लिखना पढना लज्जा की बात समझते थे। हिंदी के बहुसंख्यक पाठक साक्षरमात्र थे। उनकी यथार्थवादी दृष्टि के विकसित होने का अवसर ही नहीं मिला था। ऐसी स्थिति में 'प्रेमा' का तत्कालीन पाठकों में लोकप्रिय होना सम्भव नहीं था।

अवधनारायण कृत 'विमाता' और उस पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

भुवनेश्वर मिश्र कृत 'बलवंत भूमिहार' और नवाब राय बनारसी कृत 'प्रेमा अर्थात दो सखियों का विवाह' की तरह अवधनारायण लिखित 'विमाता' भी विवेच्य काल की उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है। इसकी रचना १९१६ ई० में हुई थी। इसकी लोकप्रियता का अन्दाज इस बात से लगाया जा सकता है कि १९२२ ई० में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। सन् १९५१ ई० तक इसके छह संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। इससे सिद्ध है कि परवर्ती युग के पाठकों ने इसे काफी पसंद किया।

'विमाता' के प्रथम संस्करण की उपन्यासकार लिखित 'भूमिका' से केवल इतना ही ज्ञात हो पाता है कि इसकी रचना पाठकों के चरित्रसुधार की दृष्टि से हुई थी। उपन्यासकार ने लिखा था, 'यदि यह समाज में कम से कम एक व्यक्ति को भी सुधार सका, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।'[१] इससे स्पष्ट है कि इस उपन्यास की रचना अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत रुचि के युवकों की रुचि को ध्यान में रख कर नहीं की गयी थी। यदि इसके उद्दिष्ट पाठक अल्पशिक्षित और युवक थे भी तो इसका उद्देश्य उनका रुचिपरिष्कार था, उनकी रुचि का अनुगमन नहीं।

'विमाता' में न तो अल्पशिक्षित और अल्पबुद्धि पाठकों की रुचि के अनुरूप केवल कौतूहल और औत्सुक्य भावना के तृप्त्यर्थ अतिलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओं की योजना है, न अपरिष्कृत रुचि के युवकों की कामभावना को उत्तेजित करने के उद्देश्य से नियोजित कामव्यापारों के नग्न और अश्लील वर्णन। लेखक ने अत्यंत सावधानी के साथ ऐसी घटनाओं का बहिष्कार किया है।

'विमाता' में पूर्ववर्ती या समकालीन उपन्यासों की तरह हिन्दूसमाज की किसी समस्या को प्रतिपाद्य विषय के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य तत्कालीन जमींदार घरानों का चित्र प्रस्तुत करना, उनकी कुछ बुराइयों का चित्रण करना तथा हिन्दू धर्म के कतिपय सिद्धान्तों और मान्यताओं का समर्थन है। समकालीन सनातनी हिन्दू समाज की रुचि और भावना के अनुरूप इस उपन्यास में कर्मफलवाद, ईश्वरभक्ति, धर्माचरण, पितृभक्ति, पतिभक्ति आदि का प्रतिपादन किया गया है। उपन्यास के सभी खल पात्रों—रघुवर, रघुवर की दूसरी पत्नी, राजेश्वर और सोहाग—को अपने दुष्कर्मों का दंड मिलता है और सभी सत्पात्र आजीवन दु:ख सहने पर भी

१ अवध नारायण, विमाता, षष्ठ संस्करण, सं० २००८, प्रथम संस्करण की भूमिका।

अंत में सुख प्राप्त करते हैं। लेखक ने स्थान स्थान पर कर्मफलवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी प्रत्यक्ष रूप में किया है। एक स्थल पर उपन्यासकार लिखता है— किन्तु उस बड़े मालिक का न्याय धन्य है! सोहाग भी सस्ते न छूटी, क्योंकि इधर उसको भी पाँच वर्ष के लिए सरकारी बड़े घर में चक्की चलाने का हुक्म हुआ है।

क्या खूब सौदा नक्द है।
इस हाथ दे उस हाथ ले।[1]

रघुनन्दन के चरित्र में धर्माचरण, पितृभक्ति तथा ईश्वरभक्ति और जानकी में पातिव्रत्य का आदर्श दिखाया गया है। लेखक का उद्देश्य अपने पाठकों को रघुनन्दन का, तथा पाठिकाओं को जानकी का आदर्श अपनाने का उपदेश देना जान पड़ता है। रघुनन्दन अनेक कष्ट सहकर भी पितृभक्ति, ईश्वरभक्ति और धर्माचरण से विरत नहीं होता। जानकी पति के वियोग में न केवल सदा दुःखी रहती है, वरन् उसका जीवन धारण करना कठिन हो जाता है।

स्पष्ट है कि रघुनन्दन और जानकी के चरित्रचित्रण तथा हिन्दूधर्म के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में लेखक हिन्दू भावना और रुचि से परिचालित है। यहाँ तक कि इन सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ जो घटनाएँ कल्पित की गयी हैं वे अवास्तविक और अविश्वसनीय हो गयी हैं। इस उपन्यास में सिद्धान्त प्रमुख हैं, कार्य गौण। अनेकत्र सिद्धान्तों के प्रतिपादन के निमित्त घटनाओं की विश्वसनीयता उपेक्षित हो गयी है। सुभगा—रघुनन्दन की सास—के, एक साधु की जड़ी बूटी से गर्भवती होने[2] जानकी का स्वप्न में रघुनन्दन को पिटते देखने[3] रघुनन्दन का रामेश्वर की ठोकर से तालाब में चले जाने[4] रघुनन्दन का शाहाबाद जिले के किसी चाभा में कूदने और बहकर काशी से ओर पश्चिम पहुँचने तथा जीवित बच जाने[5] राजेश्वर का अपने मातापिता की हत्या करने[6] तथा स्वयं टमटम से दब कर मरने[7] आदि की घटनाएँ—उपन्यास इस प्रकार की अविश्वसनीय घटनाओं से भरा पड़ा है—विश्वसनीय नहीं बन पायी है। 'विमाता' के विषय में यह कहा जा सकता है कि लेखक इसमें चित्रित जीवन को यथार्थ और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हो पाया है। रघुनन्दन पितृभक्ति के पालन में जिन कष्टों को सहता है उन्हें भी विश्वासोत्पादक बनाने में उपन्यासकार को सफलता नहीं मिली है।

फिर भी 'विमाता' में जीवन के कुछ यथार्थ चित्र उपलब्ध होते हैं। एक अशिक्षित विमाता द्वारा मातृहीन बालक को सताये जाने का बिलकुल यथार्थ और मार्मिक वर्णन

१ विमाता, नवीन सुन्दरम पुस्तक भंडार पटना, (प्रकाशन काल नहीं दिया हुआ है) पृष्ठ २१२।
२ उपरिवत्, पृष्ठ ९ तथा २२५।
३ उपरिवत् पृ० ७४।
४ उपरिवत् पृष्ठ ५८ ५९।
५ उपरिवत्, पृष्ठ १११ तथा १४४।
६ उपरिवत् पृष्ठ १९८।
७ उपरिवत्, पृष्ठ २०१।

प्रस्तुत उपन्यास म मिलता है। पारिवारिक वातावरण और सम्बन्धो का चित्र खीचने म उपन्यासकार कुशल है। रघुनन्दन के ससुराल पहुँचने पर वहा के उल्लास तथा सखियो के विनोदपूर्ण स्नेह सभाषण का वणन बिलकुल वास्तविक है। रघुनन्दन के कष्टो क चित्रण म भी कही कही यथाथता की झलक मिलती है यद्यपि उपन्यासकार ने इस चित्रण म अतिरजना से अधिक काम लिया है। मरणासन्न रघुनन्दन का किसानदपति द्वारा सेवा[१] परमेश्वर के विवाह के अवसर पर कन्यापक्ष और वरपक्ष वालो की खटपट[२] सुहाग की कपटलीला[३], वेश्यासम्पक से राजेश्वर के चरित्रभ्रष्ट होन आदि क वणन म भी यथाथता का पूरा ध्यान रखा गया है। तात्पय यह है कि यद्यपि लेखक कल्पित औपन्यासिक ससार को पूणत यथाथ और विश्वसनीय बनाने म सफल नही हुआ है पर इसकी अनेक घटनाएँ हमारे जीवन की वास्तविक घटनाओ से मिलती जुलती है।

इस प्रकार के वणना म निम्नस्तरीय पाठको की कोई रुचि नही होती यह सुविदित है। अत इनकी योजना करत समय उपन्यासकार की दृष्टि या तो जीवन क यथाथ चित्रण म रुचि रखनवाले पाठकों की ओर जिनका समुदाय धीरे धीरे निर्मित हो रहा था होगी या अल्पशिक्षित पाठको क रुचि परिष्कार की ओर।

'विमाता' मे शिल्पविषयक नवीनता के भी दशन होते है। यद्यपि उपन्यासकार श्रावयिता के रूप म ही अपनी कथा प्रस्तुत करता है, तथा पात्रो के विषय म स्थान स्थान पर टीकाटिप्पणी करने या उपदेश देन से भी नही चूकता फिर भी अपने पूव-वर्ती और समकालीन उपन्यासकारा की तरह वह बार बार पाठको को सबोधित कर अपनी उपस्थिति का उदघोष नहा करता रहता। कथाओ क युगपत सक्रमण तथा नाटकीय पद्धति पर उनके नियाजन म भी शिल्पगत नवीनता दिखायी पडती है। इस प्रकार का कथाशिल्प अल्पशिक्षित पाठको को जो मुख्यत कथाश्रोता होते है, रुचि के अनुकूल नहा होता। विकसित बुद्धि के उपन्यासपाठक ही इस प्रकार के शिल्प को पसन्द करते हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि अवधनारायण न निम्नस्तरीय पाठका की रुचि को ध्यान म रखकर विमाता की रचना नही की थी।

'विमाता' की भाषा यद्यपि सस्कृत गद्यकाव्यो और किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासो की तरह अलकृत और काव्यात्मक नही फिर भी इसम साहित्यिकता पूण मात्रा म विद्यमान है। प्राकृतिक दृश्या पात्रो के विभिन्न कार्यों और मनोगत भावनाओ के वणन म भाषाविषयक याथातथ्य, सूक्ष्मता और व्यजकता का पूणत समावेश हुआ है। जसा स्पष्ट है यह भाषा भी अल्पशिक्षिता की रुचि और पठनक्षमता क अनुरूप नही।

उपयुक्त विवचन के आधार पर यह निष्कप प्रस्तुत किया जा सकता है कि अवध नारायण ने 'विमाता की रचना अपने समय के अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यता युक्त युवक

---

१ विमाता, परिच्छेद ३० ३१।
२ उपरिवद्, परिच्छेद १९।
३ उपरिवद, परिच्छेद ११, १७, ३४, ४०।
४ उपरिवद्।

पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर नहीं की था। अल्प शिक्षित और अपरिष्कृत युवकों के मनोरंजनार्थ कौतूहलवर्धक घटनाओं और कामव्यापारों के नग्न वर्णन से यह उपन्यास सर्वथा रहित है। इसमें नायक-नायिका का चित्रण सनातन हिन्दू आदर्शों के अनुरूप है तथा पाठक-पाठिकाओं को ईश्वरभक्ति, धर्माचरण, पितृभक्ति, पतिभक्ति, आदि का उपदेश दिया गया है। विवेच्य उपन्यास का मूल स्वर हिन्दू पाठकों की भावना और रुचि के अनुरूप है। साथ ही जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके लेखक ने यथार्थ वर्णन के प्रेमी पाठकों की रुचितृप्ति तथा तत्कालीन निम्नस्तरीय पाठकों के रुचिपरिष्कार का भी प्रयत्न किया है। इस उपन्यास का शिल्प भी उच्चस्तरीय पाठकों के अनुकूल है। यही कारण है कि 'विमाता' प्रेमचन्दपूर्व युग की एक उल्लेखनीय औपन्यासिक कृति है।

विवेच्यकालीन अन्य उपन्यास और उन पर पाठकों की रुचि का प्रभाव

किशोरीलाल गोस्वामी, भुवनेश्वर मिश्र, व्रजनन्दन सहाय, मेहता लज्जाराम शर्मा, नवाबराय बनारसी और अवधनारायण के जिन उपन्यासों का विवेचन गत पृष्ठों में किया गया है, विवेच्य काल (१८९० १९१७) के प्रमुख उपन्यासकार हैं। इनके साथ साथ फुटकल उपन्यासकारों का भी एक वृहत समुदाय है जिसने विवेच्य सत्ताइस वर्षों की अवधि में शताधिक उपन्यासों की रचना की। इस प्रसंग में इन समस्त उपन्यासों का अलग अलग विवेचन न तो संभव है न आवश्यक। अतः तत्कालीन पाठकों की रुचि के संदर्भ में कुछ चुने हुए और प्रतिनिधि उपन्यासों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रस्तुत प्रबंध लेखक के मतानुसार इस काल के निम्नलिखित उपन्यास विवेच्य माने जा सकते हैं —

गोपालराम गहमरी—देवरानी जेठानी (१९०२) तीन पतोहू (१९०५) अयोध्या सिंह उपाध्याय—ठेठ हिन्दी का ठाट (१८९९) अधखिला फूल (१९०६) चन्द्रशेखर पाठक—रमाबाई (१९०७) वारांगना रहस्य (१९१४-१९१८) ईश्वरी प्रसाद शर्मा—हिरण्मयी (१९०८) स्वर्णमयी (१९१०), मागधी कुसुम (१९११), राधाचरण गोस्वामी—सौदामिनी (१८९०) बालकृष्ण भट्ट—सौ अजान और एक सुजान (१८९० ९५) कुंवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी—चन्द्रकला (१८९३), लक्ष्मी नारायण शर्मा—समुद्र में गिरा द्वार (१८९३) बालकृष्ण भट्ट—नूतन ब्रह्मचारी?? (१८९५ ९६), जगन्नाथ शरण—नालमणि (१८९६) रामनाथ वर्मा—राजकुमारी चन्द्रमुखी (१८९८), रुद्रदत्त शर्मा—अपूर्व स्वप्न (१८९८), जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी—वसन्त मालती (१८९९), कार्तिक प्रसाद खत्री—दीनानाथ (१८९९) लाला देवराज—करुणा सागर (१९०१ २) लालजी सिंह—चन्द्रावती (१९०२) गंगा प्रसाद मिश्र—दुनिया अर्थात् संसार की कुछ बातें (१९०३) राम प्रताप शर्मा—अरण्य (१९०३) गिरिजानन्दन तिवारी—विद्याधरी (१९०४), विश्वेश्वरानन्द सरस्वती—चतुरा की चतुराई (१९०४) राम फतेह सिंह—

चम्पा दुदशा (१९०४), कमला प्रसाद वर्मा—कुलकलंकिनी (१९०५), गोपाललाल खत्री—अलबेला रागिया (१९०६), गिरिजानन्दन तिवारी—सुलोचना (१९०६), रामजीदास वैश्य—फूल म काँटा (१९०६), लक्ष्मी नारायण गुप्त—नलिनी का चितचार (१९०७) जनेन्द्र किशोर—गुलेनार (१९०७), मनोरमा (१९०८) हजारी लाल—दो स्त्री का पति (१९०७), प्रियवदा देवी—लक्ष्मी (१९०८) चुन्नी लाल ज्योतिषी—मिस्ट्रिज आफ शेखावाटी (१९०९), कुँवर हनुमत सिंह रघुवंशी—गृहस्थ चरित्र (१९०९) राम प्रसाद सत्याल—किरण शशी (१९०९), गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य—भीषण भविष्य (१९०९), जयराम दास—जहर का प्याला वा राजराजेश्वरी (१९०९), राजदुलारी (१९०९), गोस्वामी व्रजनाथ शर्मा—असम्य रमणी (१९१०), गगा प्रसाद गुप्त—लक्ष्मी देवी (१९१०), शालिग्राम गुप्त—आदर्श रमणी (१९११), यशोदा देवी—सच्चा पतिप्रेम (१९११), केदारनाथ—तारामती (१९११), प्यारेलाल गुप्त—लवगलता (१९१४), पारसनाथ त्रिपाठी—हमारी दाई (१९१४), शिवनाथ शर्मा—चण्डल दास (१९१४) मन्नन द्विवेदी गजपुरी—रामलाल (१९१४) पाडेय नवल सहाय—रोहिणी (१९१६), अखौरी राधा प्रसाद सिंह—मोहिनी (१९१७), विनोद शकर व्यास—अज्ञात (१९१७), चतुर सेन शास्त्री—हृदय की परख (१९१७)।

यहाँ इन्ही पुस्तको का विवेचन विश्लेषण, तत्कालीन पाठक समुदाय की रुचि के आलोक म किया जा रहा है।

उपर्युक्त उपन्यासो की लोकप्रियता पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि इनम स बहुत कम के एकाधिक सस्करण हो सके थे। ठेठ हिन्दी का ठाट के १९१९ ई० तक चार सस्करण हुए, पर इसका कारण उसका पाठ्यपुस्तक के रूप म स्वीकृत होना है। चन्द्रशखर पाठक का वारागना रहस्य परवर्ती युग म बहुत लोकप्रिय हुआ। इसके कम से कम तीन सस्करण १९१४-१९२८ ई० की अवधि म अवश्य हुए थे। प० बालकृष्ण भट्ट कृत सौ अजान और एक सुजान १८९० ९६ ई० की अवधि तक हिन्दी प्रदीप' के अको म निकलता रहा, पर पुस्तक रूप मे प्रकाशित होने *का सौभाग्य इसे १९०६ ई० के पूव न मिल सका।* इसका दूसरा सस्करण १९१५ ई० के लगभग, तीसरा सस्करण १९१९ ई० क आसपास और पाँचवा सस्करण १९२८ ई० म हुआ। परवर्तीकाल म इस उपन्यास के अधिक सस्करण होने का कारण सभवत इसका पाठ्यक्रम म सम्मिलित होना ही था। १८९३ ई० म हनुमत सिंह रघुवंशी लिखित 'चन्द्रकला' के *१९०७ ई० तक तीन सस्करण हुए थ। जगन्नाथ प्रसाद* चतुर्वेदी लिखित वसत मालती' (१८९९) का दूसरा सस्करण १९१५ ई० म प्रकाशित हुआ। जयरामदास गुप्त लिखित 'जहर का प्याला वा राजराजेश्वरी के १९२१ ई० तक तीन सस्करण प्रकाशित हुए थे। इनके 'राजदुलारी' नामक उपन्यास के भी तीन सस्करण *निकले थ। गगाप्रसाद गुप्त लिखित 'लक्ष्मीदेवी का भी दूसरा सस्करण छपा था। यशोदा* देवी लिखित 'सच्चा पति प्रेम' नामक उपन्यास का तृतीय सस्करण १९११ ई० म प्रकाशित हुआ था। प० ओंकारनाथ बाजपेयी लिखित 'लक्ष्मी का तीसरा सस्करण १९१२ ई० मे निकला था पाडेय नवल किशोर कृत 'रोहिणी' के विवेच्य काल म दो सस्करण मुद्रित हुए

थे। 'चतुरसेन शास्त्री लिखित 'हृदयहारिणी' भी परवर्ती काल में अत्यंत लोकप्रिय हुआ। १९५५ ई० तक इस उपन्यास के दस संस्करण प्रकाशित हो चुके थे। दसवें संस्करण की भूमिका में इसकी लोकप्रियता पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशक ने लिखा है " यह अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय हुआ कि इसके ६ संस्करण प्रकाशित हो गये और बात की बात में बिक गये।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कतिपय इने गिने उपन्यासों को छोड़कर विवेच्यकाल में अधिकतर उपन्यासों का दूसरा संस्करण नहीं हुआ था। १५-२० वर्ष के भीतर जिन उपन्यासों के केवल दो संस्करण हुए, उन्हें भी बहुत लोकप्रिय नहीं कहा जा सकता। इस काल के अधिक संस्करण वाले उपन्यासों के प्रचलन का कारण उनका या तो पाठ्यक्रम में सम्मिलित होना या शृंगारप्रधान होना है।

प्रस्तुत उपन्यासों के लोकप्रिय न होने का प्रधान कारण उपन्यासकारों का कौतूहलवर्धक घटनाओं की अपेक्षा सामाजिक समस्याओं, विचारों और सिद्धांतों के प्रतिपादन पर बल देना है। इन उपन्यासकारों ने सुशिक्षित और परिष्कृत रुचि के पाठकों को ध्यान में रखकर अपने उपन्यासों की रचना की थी। पं० बालकृष्ण भट्ट ने स्पष्टतः इस तथ्य का उल्लेख किया है कि उन्होंने केवल खबर पढ़ने वालों के लिए 'सौ अजान और एक सुजान' की रचना नहीं की थी।[1] जिन उपन्यासकारों ने अल्पशिक्षितों और अल्पज्ञों को अपना उद्दिष्ट पाठक माना है, वे भी उनकी रुचि का अनुगमन न कर उसके परिष्करण का प्रयास करते हैं। उदाहरणतः कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी लिखित 'चंद्रकला' (१८९३) की भूमिका में उपन्यासरचना का उद्देश्य अनुभवहीन नवयुवक पाठक पाठिकाओं को सुमार्गगामी, सदाचारी और धार्मिक बनने का उपदेश देना बताया गया है। तात्पर्य यह कि विवेच्य उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों को अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत युवक पाठकों के मनोनुकूल बनाने का प्रयत्न नहीं किया है।

यही कारण है कि इन उपन्यासों में कौतूहलजनक घटनाओं का बाहुल्य नहीं है। यों इन उपन्यासों में भी संयोगाश्रित और अयथार्थ घटनाओं का अभाव नहीं है, किन्तु इनका उद्देश्य किसी सामाजिक समस्या अथवा हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और आचार विचारों का प्रतिपादन है, अल्पशिक्षितों और युवकों का मनोरंजन नहीं। उपन्यासों को रोचक बनाने के लिए इन उपन्यासकारों ने प्रेम का चित्रण किया है और कुछ उपन्यासकारों ने काम व्यापार चित्रण में आवश्यकता से अधिक रस भी लिया है। उदाहरणतः गिरिजानंदन तिवारी कृत 'विद्याधरी' (१९०४) और 'सुलोचना' (१९०६), गोपाल लाल खत्री कृत 'अलबेला रागिनी' (१९०६), चुन्नीलाल ज्योतिषी कृत 'मिस्ट्रीज ऑफ नगावाटी' (१९०९) और राम प्रसाद सनाढ्य कृत 'विरह वाटी' में कामव्यापारों का नग्न और अश्लील चित्रण है। इन उपन्यासों का उद्देश्य, अवश्य ही, अपरिष्कृत युवक पाठकों की कामरुचि को उत्तेजित करना है। अन्य उपन्यासों में प्रेम और कामव्यापारों का चित्रण तो है, पर उन्हें कामोत्तेजक बनाने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

१. हिन्दी प्रदीप, जुलाई १९०६।

विवेच्य उपन्यासो का प्रमुख उद्देश्य हिन्दू समाज की नानाविध समस्याओं का चित्रण तथा पाठको को हिन्दू धर्मानुरूप आदर्श चरित्र अपनाने का उपदेश देना है। इन उपन्यासकारो ने भूमिकाओं मे इस उद्देश्य को बार बार दुहराया है। यों तो इन उपन्यासो मे हिन्दू समाज की अनेक समस्याओं का चित्रण किया गया है, पर नारीसमस्या इनमे सर्वप्रमुख है।

समाज मे स्त्रियो का स्थान क्या हो, उन्हे किस प्रकार की शिक्षा दी जाए तथा उनके लिए किस प्रकार की आचरण संहिता हो इस सम्बन्ध मे, विवेच्य काल मे स्थूलत दो मत प्रचलित थे। एक तरफ सनातन धर्मी हिन्दुओं का बहुसंख्यक समाज था जो नारी विषयक स्मृतिसम्मत आदर्शों से दृढतापूर्वक चिपका हुआ था। इस वर्ग की नारीविषयक धारणा यह थी कि स्त्रियो को हर हालत मे पतिव्रता बने रहना चाहिए उन्हे कभी घर की चहारदीवारी से बाहर नही निकलना चाहिए सास ससुर और घर के अन्य सदस्यो की सेवा उनका परम धर्म है बचपन मे ही लडकियो का विवाह हो जाना चाहिए तथा यदि दुर्भाग्यवश कोई विधवा हो जाए तो उसे आजीवन सन्यास व्रत का पालन करना उचित है। दूसरी तरफ, पाश्चात्य विचारो तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तो से प्रभावित अल्पसंख्यक प्रबुद्ध व्यक्तियो का समाज था जो स्त्रियो को समाज मे समान अधिकार देने का समर्थक था। यह वर्ग स्त्रीशिक्षा विधवाविवाह और स्त्रीस्वातन्त्र्य का समर्थक तथा पर्दाप्रथा बालविवाह आदि का विरोधी था।

इस काल के अधिकाश उपन्यासो मे नारीविषयक हिन्दू आदर्शों और आचार संहिताओं का प्रतिपादन एव समर्थन किया गया है। कमला प्रसाद वर्मा कृत कुल कलंकिनी (१९०५) गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य कृत भीषण भविष्य (१९०९), शालिग्राम गुप्त कृत 'आदर्श रमणी (१९११) प्यारेलाल गुप्त कृत 'लवंगलता (१९१४) तथा चन्द्रशेखर पाठक कृत 'वारागना रहस्य आदि उपन्यासो मे विधवाविवाह और स्त्रीस्वातन्त्र्य के दोष दिखाये गये हैं तथा सिद्धान्तत इनका विरोध किया गया है। गगा प्रसाद गुप्त के लक्ष्मी देवी' मे पर्दा प्रथा का समर्थन करते हुए इस विचार का प्रतिपादन किया गया है कि स्त्रियो को स्वतन्त्र भाव से पुरुषो के साथ मिलना जुलना नही चाहिए। इस उपन्यास मे श्यामा नामक पात्री की स्वतन्त्रता का कुपरिणाम दिखा कर लेखक पाठको से कहता है—

पाठकगण ! कहिये—

देखा बेपर्दगी की कुदशा को ?
इसके परिणाम और अवस्था को
हा यहाँ की नारियाँ स्वाधीन
दुख सहेगी, होकर पाप मे लीन।

इस काल के अधिकाश उपन्यासो मे पातिव्रत्य की महिमा गायी गयी है तथा स्त्रियो को पतिभक्ति का उपदेश दिया गया है। जिन उपन्यासो का प्रस्तुत प्रसग मे विवेच्य माना गया है उनमे तो एक भी ऐसा नही है जिनमे पातिव्रत्य का गुणगान न किया गया हो। कुछ उपन्यासो मे जैसे गोस्वामी लक्ष्मणाचार्य कृत 'भीषण भविष्य' (१९०९) मे, बाल

विवाह का समर्थन किया गया है। स्त्रीशिक्षा के संबंध में ये उपन्यासकार एकमत नहीं हैं। अधिकांश उपन्यासों में स्त्रियों की उच्च शिक्षा देने का विरोध किया गया है। अपवाद स्वरूप गंगा प्रसाद गुप्त ने इसका समर्थन किया है, पर वे भी यह मानते हैं, स्त्रियों का स्वतंत्र भाव से पुरुषों से मिलना जुलना अनुचित है। इस काल के अधिकांश उपन्यासकार स्त्रियों को थोड़ी बहुत शिक्षा देने का समर्थन करते हैं। इस कथन की पुष्टि गंगा प्रसाद मिश्र रचित 'दुनिया अर्थात संसार की कुछ बातें' के निम्नोद्धत प्रसंग से होती है—

'हरिहर—आप ठीक ही कहते हैं। यदि स्त्रियाँ शिक्षिता होतीं तो बहुत से सामाजिक कुसंस्कार दूर हो गये होते। पर बहुत से लोग तो इसका विरोध करते हैं।

बाबाजी—हाँ, पर उनके विरोध का अर्थ यह नहीं है कि औरतें उत्तर दक्षिण न जानें। बल्कि यह कि उनको पढ़ा लिखा कर बारिस्टर बना देना ठीक नहीं है।

हरिहर—अच्छा आप उन्हें पंडिता नहीं बनाना चाहते, मूर्ख नहीं रखना चाहते तो कैसे पढ़ावेंगे ? और क्या पढ़ावेंगे ?

बाबा—बानून थोड़ पढ़ावेंगे ! अरे यही थोड़ा सा हिसाब, कुछ धर्म पुस्तकों के समर्थन और साहित्य और क्या ?

उक्त बाबाजी का स्त्रीशिक्षा संबंधी दृष्टिकोण तत्कालीन समस्त परंपरावादी हिंदुओं का दृष्टिकोण था, और समाज में यह भावना इतनी व्यापक और बद्धमूल थी कि किसी भी उपन्यासकार को इसका प्रतिवाद करने का साहस नहीं हुआ।

यद्यपि विवेच्य उपन्यासकारों में से किसी ने भी विधवाविवाह और स्त्रीस्वातन्त्र्य का खुलकर समर्थन नहीं किया है पर कुछ ने तत्कालीन भावना और रुचि को बिना ठोकर लगाये नारीसमस्या के कुछ पहलुओं पर नवीन ढंग से विचार किया है। कुँवर हनुमन्त सिंह रघुवंशी कृत 'चंद्रकला' में बालविवाह के कुपरिणामों का चित्रण करते हुए एक बालविधवा के दयनीय जीवन का करुण चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में दिखाया गया है कि जो समाज बालविवाह का समर्थन करता है, वही बालविधवाओं को अनेक प्रकार के कष्ट देता है। लोग पग पग पर उनका अपमान करते हैं तथा उन्हें अशुभ समझते हैं। कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी के ही एक दूसरे उपन्यास 'गृहस्थ चरित्र' (१९००) में स्त्री अशिक्षा के दोष दिखाये गये हैं। पर इस प्रकार के उपन्यासकार जो नारी जागरण आन्दोलन का समर्थन करते हैं उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। अधिकतर उपन्यासकारों ने नारीविषयक परंपरागत धारणा का समर्थन ही किया है।

इन उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से आदर्श नारी का जो स्वरूप खड़ा किया गया है वह हिन्दू आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है। इन उपन्यासकारों के अनुसार आदर्श नारी वह है, जो पतिव्रता है यानी पतिसेविनी है सासससुर तथा अन्य बड़ों की सेवा करती है पर के सम्पत्ति तथा नौकर चाकरों का प्रबन्ध करती है, गृहप्रबंध में कुशल है तथा धर्मानुरूप आचरण करती है। विवेच्य उपन्यासों में प्राय: ही इस प्रकार के आदर्शों के अनुरूप कोई न कोई पात्र होता है।

तात्पय यह कि इन कृतियों म नारीविषयक परपरागत हि दू विचारधारा का समथन किया गया है। कारण स्पष्ट है। इस काल के बहुसख्यक हिन्दू जो विवच्य उपयासो के पाठक थे, इस विचारधारा के समथक थ। लेखक भी, जो आधुनिक विचार धारा के सपक म प्राय नही आये थे, नारीविषयक प्राचीन हि दू आदर्शों को मानते थे। लेखका ने कुछ तो अपनी रुचि के कारण और अधिकतर हिन्दू पाठका की रुचि का खयाल रखते हुए नारीविषयक प्राचीन हिन्दू आदर्शों का समथन और आधुनिक विचार धारा का विरोध किया है।

इन उपयासो मे नारीसमस्या के साथ साथ हि दू समाज की अय समस्याओ का चित्रण प्रतिपादन भी, तत्कालीन बहुसख्यक हिन्दू समाज की रुचि और भावना के अनुरूप, किया गया है। शालिग्राम गुप्त कृत आदश रमणी म यूरोपीय सभ्यता के अनुकर्ताओ का उपहास किया गया है। कुछ उपन्यासा म प्रचलित ववाहिक प्रथाओ क, जिसके कारण हि दू समाज जजर हो रहा था, दोषो का चित्रण कर उनकी आलोचना की गयी है। 'ठेठ हिदी का ठाट' म हरिऔध जी ने ब्राह्मण समाज की ववाहिक प्रथा क दोष दिखाये हैं। इस उपयास की नायिका देवबाला अपनी ही जाति के देवनदन नामक युवक का प्यार करती है। देवनदन हर प्रकार स देवबाला के योग्य वर हैं, पर जाति उपभेद म वे कुछ नीच पडते हैं। बस इसी आधार पर देवबाला का विवाह एक अयोग्य वर स कर दिया जाता है, जिसका दुष्परिणाम उसे आजीवन भोगना पडता है। रामफेरन सिंह कृत चपा दुदशा (१९०४) मे तिलक दहेज की प्रथा के दोष दिखाय गय है। इसम दिखाया गया है कि किस प्रकार वरपक्ष के लोग तिलक दहेज की नियत रकम न पाने पर कया को कष्ट देते हैं तथा इसके चलते लोग अपनी कन्याओ का विवाह वृद्धो स कर दिया करत है। कुछ उपयासो म, जैस गिरिजानदन तिवारी कृत सुलोचना, जयराम दास गुप्त कृत जहर का प्याला' तथा चद्रशखर पाठक कृत वारागना रहस्य' म वेश्यागमन क कुपरिणामो का चित्रण कर युवको को इसस बचने का उपदश दिया गया है। कतिपय उपयासा म, जस कुँवर हनुमत सिंह रघुवशी कृत गहस्थ चरित्र, शिवनाथ शर्मा कृत 'चडूलदास' तथा चद्रशेखर पाठक कृत 'वारागना रहस्य' म वृद्धविवाह क कुपरिणाम चित्रित हैं। चडूलदास क मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित सिद्धातवाक्य अकित है—

बच्चे बूढ़ा की जो यह शादी है
याद रखो गुनाह की दादी है।

इसी प्रकार रामजीदास वश्य कृत फूल म काँटा' मे विदशगमन क दोष दिखाय गय हैं। हजारी लाल रचित 'दो स्त्री का पति म पत्नी क रहते उपपत्नी रखने के कुपरिणामा का चित्रण किया गया है। तात्पय यह कि विवेच्य उपयासो म हि दू समाज की केवल उन बाता की आलोचना की गयी है, जो हिन्दू धमानुमोदित नही हैं। हि दू धर्म की मूल बातों की आलोचना इन उपयासा म प्राय नही मिलती।

प्रस्तुत उपन्यासो म हि दू धम के सिद्धाता का प्रतिपादन स्थान स्थान पर किया गया है। प्राय सभी म कमफलवाद क सिद्धान्त का समर्थन है। उपन्यास के सभी

पात्रों को अपने कर्मों का दंड या पुरस्कार मिलता है। यहाँ तक कि दुष्ट पात्रों की दंड व्यवस्था करते समय इन उपन्यासकारों में जब प्रतिशोध की भावना आ जाती है और तब ये औचित्य की सीमा का ध्यान नहीं रखते। ईश्वरी प्रसाद शर्मा के तो एक उपन्यास का शीर्षक ही है—'स्वर्णमयी वा जसी करनी तसी भरनी' तथा उसके मुखपृष्ठ पर सिद्धान्त वाक्य के रूप में गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित पंक्ति उद्धृत है—'जो जस करै सो तस फल चाखा।'

इन उपन्यासों में हिन्दूधर्म की अन्यान्य बातों का वर्णन भी यथास्थान किया गया है। गोपालराम गहमरी ने 'देवरानी जेठानी' में ब्राह्मण जाति के प्रति अपनी गहरी श्रद्धा व्यक्त की है जो तत्कालीन हिन्दू समाज की एक अति सामान्य बात थी। इन रचनाओं में कहीं ईश्वरभक्ति का प्रतिपादन किया गया है, कहीं सदाचार का, कहीं दयालुता का, कहीं सत्य का, तो कहीं अपरिग्रह का। हिन्दू धर्मानुकूल आदर्श पत्नी, आदर्श पुत्र, आदर्श शिष्य, आदर्श सेवक आदि का चित्रण इन उपन्यासों में प्रायः मिलते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की लीला, परिवर्तन चक्र, ईश्वर की न्यायशीलता आदि के वर्णन भी स्थान स्थान पर दीख पड़ते हैं।

तात्पर्य यह कि विवेच्य उपन्यासों में हिन्दू भावना और रुचि का ध्यान अधिकतम सीमा तक रखा गया है। इस काल के हिन्दी पाठकों में अधिकांश सनातनी हिन्दू थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। ये लेखक भी परम्परागत हिन्दू सिद्धान्तों और आचार-विचारों के समर्थक थे। ऐसी स्थिति में हिन्दू भावनाओं और विचारों का समर्थन-प्रतिपादन सर्वथा स्वाभाविक है।

यों विवेच्य उपन्यासों में से अधिकांश में तत्कालीन हिन्दू समाज और उसकी समस्याओं का हिन्दू दृष्टिकोण से चित्रण प्रमुख है किन्तु कतिपय उपन्यासों में नखशिख, प्रकृति और विरह के अलंकृत तथा परंपरागत वर्णन एवं कवितापंक्तियों के उद्धरणों द्वारा काव्यात्मकता के आधान का प्रयत्न किया गया है। कुँवर हनुमंत सिंह रघुवंशी कृत 'चन्द्रकला'[1], बालकृष्ण भट्ट कृत 'सौ अजान और एक सुजान'[2] तथा 'भाग्य की परख'[3], गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'सुलोचना'[4], चन्द्रशेखर पाठक कृत 'रमाबाई'[5] तथा ईश्वरी प्रसाद शर्मा कृत 'मागधी कुसुम'[6] में प्रकृति, नखशिख और विरह सम्बन्धी अलंकृत वर्णनों की भरमार है। हिन्दी का साधारण ज्ञान रखनेवाले पाठकों के लिए इन वर्णनों की भाषा बोधगम्य नहीं। इनकी योजना, असंदिग्ध रूप से, हिन्दी और संस्कृत के प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि को ध्यान में रखकर की गयी है। जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी कृत

१ हनुमन्त सिंह रघुवंशी, चन्द्रकला, १८९३, पृ० १८, ३३ ३६।
२ बालकृष्ण भट्ट, सौ अजान और एक सुजान, प्रथम, पंचम, अष्टम, तथा एकादश प्रस्ताव आदि।
३ अपरिचित, भाग्य की परख, हिन्दी प्रदीप (१८९५ ९६), आरम्भ, पृ० २७।
४ गिरिजानन्दन तिवारी, सुलोचना, १९०६ पृ० ९।
५ चन्द्रशेखर पाठक, रमाबाई, १९०७, आरम्भ
६. ईश्वरी प्रसाद शर्मा, मागधी कुसुम, १९११, पृ० ७ पहले, ११ और अष्टम परिच्छेद।

'वसंत मालती' तथा बालकृष्ण भट्ट कृत 'सौ अजान और एक सुजान' के परिच्छेदों के आरंभ में संस्कृत और हिंदी कविताओं की योजना भी तत्कालीन रसिकों की रुचि को ध्यान में रखकर ही की गयी है।

इन उपन्यासों के शिल्पविधान पर तत्कालीन सामान्य पाठकों की रुचि का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इस युग के उपन्यासपाठक कथाश्रोता थे, इसका उल्लेख किया जा चुका है। ये उपन्यासकार अपने उपन्यासों में सर्वत्र श्रावयिता या किस्सागो के रूप में विद्यमान रहते हैं। कथा के विकास में हम उन्हें कहीं भी पाठकों का साथ छोड़ते नहीं देखते। किन्तु इन उपन्यासों का घटनाप्रधान रोमांसों से एक विशेष अन्तर दिखायी पड़ता है। घटनाप्रधान रोमांसों में कथाकार पाठकों को कभी पूर्वघटित घटनाओं का स्मरण कराता है, कभी किसी उलझनपूर्ण घटना का स्पष्टीकरण करता है, कभी पाठकों का कौतूहल जागृत करता है और कभी भावी घटनाओं का संकेत देता है। पर प्रसक्त उपन्यासकार अपने पाठकों से प्रायः दो तरह की बातें करते हैं, या तो वे पाठकों को सम्बोधितकर उन्हें उपदेश देते हैं या किसी पात्र के चरित्र का स्पष्टीकरण करते हैं। इससे स्पष्ट है कि इन उपन्यासकारों का उद्देश्य अल्पशिक्षित पाठकों का कौतूहलवर्धन मात्र नहीं।

इस काल में सुखान्त उपन्यासों का ही अधिक प्रचलन रहा। सामान्य पाठक अधिकतर सुखांत कथाएं पसंद करते हैं, इसका विवेचन किया जा चुका है।[१] यदि प्रकृत काल का कोई उपन्यासकार अपने किसी विशेष सिद्धान्तवश दुखान्त उपन्यास की रचना करता था तो उसे इसकी सफाई देना उसे आवश्यक हो जाता था। ईश्वरी प्रसाद शर्मा रचित 'स्वर्णमयी' के एक प्रसंग से इस कथन की पुष्टि होती है। उपन्यास के उपसंहार में लेखक पाठकों को सम्बोधित कर कहता है —

"पाठक! हमारा उपन्यास समाप्त हो गया पर जिस प्रकार इसकी समाप्ति की गयी उससे हमारे अधिकांश पाठक असहमत होंगे पर हम कहते हैं कि हम पाप का परिणाम दिखाने को बाध्य थे अतः सिवाय दुःख के हम सुख लिख ही नहीं सकते थे। यदि पाप का फल सुख और आनन्द ही होता तो हम पाठकों को सुखान्त उपन्यास ही उपहार देते पर सो बात नहीं है अतएव हमारे प्रिय पाठकों को क्षुब्ध नहीं होना चाहिये। हमको स्वयं भी दुःखान्त लिखना पसंद नहीं है पर क्या करें विषय मैंने ऐसा लिया था कि दुःख आ ही गया तो भी स्वर्णमयी की सुखद वार्त्ताओं को सुनकर पाठकों को यत्किंचित मनस्तुष्टि होगी।

इस वक्तव्य से तथा सभी उपन्यासों के सुखांत होने से यह स्पष्ट है कि विवेच्य उपन्यासकारों ने तत्कालीन सामान्य पाठकों की रुचि का ध्यान एक सीमा तक रखा है।

यद्यपि प्रसक्त काल में, हिन्दी में यथार्थवादी वर्णनों के पाठक अधिक नहीं थे पर इस अवधि के उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में प्रकृति तथा समाज के अनेक यथार्थ चित्र प्रस्तुत किये हैं। गोपालराम गहमरी के 'देवरानी-जेठानी' और 'तीन पतोहू' में प्रकृति के अत्यंत यथार्थ और मनोहर चित्र उपलब्ध होते हैं। साथ ही, इनमें निम्न श्रेणी की स्त्रियों के परस्पर वार्तालाप और व्यवहार का बिलकुल यथार्थ चित्र

१. द्रष्टव्य, प्रथम अध्याय।

प्रस्तुत किया गया है। अशिक्षित ग्रामीण स्त्रियाँ अपने पतियों को प्रसन्न रखने की कला से अनभिज्ञ रहने के कारण, किस प्रकार अपना जीवन नरकतुल्य बना डालती हैं इसका यथार्थ वर्णन 'देवरानी जेठानी' में प्राप्त होता है। इस उपन्यास में कन्या के विदा होने का भी मार्मिक चित्रण है। 'सौ अजान और एक सुजान' में मठाधीशों, योगियों और गुसाइयों के भ्रष्टाचार तथा पुलिस के कर्मचारियों की रिश्वतखोरी एवं उनके द्वारा जनता पर किये जाने वाले अत्याचारों का वर्णन है। कार्तिक प्रसाद खत्री कृत 'दीनानाथ' में मध्यवर्गीय परिवार का चित्र प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया गया है कि किस प्रकार मूर्ख स्त्रियों के पारस्परिक कलह तथा भाई भाई में विरोध के कारण बना-बनाया घर चौपट हो जाता है। लाला देवराज कृत 'कन्या सास' में पढ़ी लिखी बहुओं को अपनी मूर्ख सासों के हाथ से कितना कष्ट सहना पड़ता है, इसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। गंगा प्रसाद मिश्र कृत 'दुनिया अर्थात संसार का कुछ हाल' (१९०३), गिरिजानन्दन तिवारी कृत 'विद्याधरी' (१९०८), जयराम दास गुप्त कृत 'जहर का प्याला' तथा चन्द्रशेखर पाठक कृत 'वारांगना रहस्य' में वेश्याओं के कुकृत्यों और उनकी चालबाजियों का वास्तविक चित्रण है। रामप्रसाद शर्मा कृत 'नरदेव' (१९०३) में देशी राज्यों के अधिकारियों की परस्पर प्रतिद्वंद्विता का यथार्थ वर्णन उपलब्ध होता है। केदारनाथ कृत 'तारामती' में यह चित्रित किया गया है कि पिता को पुत्री के लिए वर खोजने में असावधानी बरतने से किस प्रकार पश्चात्ताप करना पड़ता है। पारसनाथ त्रिपाठी कृत 'हमारी दाई' नामक उपन्यास में दैनिक जीवन के साधारण प्रसंगों के वास्तविक चित्र अंकित हैं।

यथार्थ चित्रण की दृष्टि से मन्नन द्विवेदी गजपुरी कृत 'रामलाल' (१९१४) विशेष उल्लेखनीय है। इस उपन्यास में पुलिस के अत्याचारों तथा अन्य तत्कालीन समस्याओं का चित्रण तो किया ही गया है ग्रामीण जीवन के चित्रण की दृष्टि से भी यह अद्वितीय है। इसे आंचलिक उपन्यास की संज्ञा दी जा सकती है। यद्यपि इसका घटनास्थल कोई एक विशेष क्षेत्र नहीं है, पर इस उपन्यास में गोरखपुर और इलाहाबाद के ग्रामीण जीवन का सविस्तर और यथार्थ वर्णन मिलता है। स्थानीय रंग इस उपन्यास में इतना अधिक है कि इससे हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का आरंभ मानना युक्तियुक्त न नहीं होगा। इस उपन्यास में ग्रामीणों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन के विश्वसनीय चित्र उपलब्ध होते हैं। ग्रामीण गीतों, लोककथाओं और लोकोक्तियों से, जिनके द्वारा आंचलिकता का रंग और भी गाढ़ा हो गया है, उपन्यास भरा पड़ा है।

इस प्रकार के यथार्थ वर्णन अलौकिकता और अतिवाग्मिता युक्त युवक पाठकों की रुचि के अनुकूल नहीं होते, इसका उल्लेख पूर्व पृष्ठों में अनेकत्र किया जा चुका है। प्राचीन काव्यरसिकों की वृत्ति भी ऐसे वर्णनों में नहीं रमती। जीवन और प्रकृति का यथार्थ वर्णन आधुनिक शिक्षासम्पन्न पाठकों के विशेष मनानुकूल होता है। विवेच्य काल में इस प्रकार के पाठक हिन्दी में अत्यल्प थे। इन उपन्यासकारों ने ऐसे वर्णनों की योजना करके समकालीन हिन्दी पाठकों की रुचि को नवीन दिशा में मोड़ने का प्रशंसनीय प्रयास किया।

यों यह भी एक सिद्ध तथ्य है कि इन वर्णनों के कारण भी विवेच्य उपन्यास तत्कालीन पाठकों में अधिक लोकप्रिय न हो सके।

निष्कर्ष

उपर्युक्त मीमांसा से हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं —

(क) विवेच्य उपन्यासों पर अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का, जो कौतूहलजनक घटनाओं के वर्णन में विशेष रस लेते हैं तथा घटनाओं की यथार्थता अयथार्थता की चिंता नहीं करते, प्रभाव अत्यल्प है।

(ख) इन उपन्यासों पर कहीं कहीं युवक पाठकों की कामरुचि का प्रभाव दिखायी पड़ता है। कुछ उपन्यासों में, जिनका उल्लेख किया जा चुका है, कामव्यापारों का नग्न और अश्लील वर्णन युवक पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर किया गया है।

(ग) इन उपन्यासों में सनातन हिन्दू भावना और रुचि का ध्यान सर्वत्र रखा गया है। बालविवाह, पातिव्रत्यपालन तथा परदाप्रथा का समर्थन और विधवाविवाह, स्त्रीस्वातंत्र्य तथा स्त्रीशिक्षा का विरोध सनातन पंथी हिन्दू पाठकों की रुचि को ही ध्यान में रखकर किया गया है। कर्मफलवाद, हिन्दू आदर्शों के अनुरूप चरित्रनिर्माण ईश्वर भक्ति, आदि का प्रतिपादन भी हिन्दू रुचि और भावना के ही अनुकूल है। विवेच्य उपन्यासों में किसी में भी हिन्दू भावनाओं को गहरी ठोकर नहीं दी गयी है, यों कहीं कहीं हिन्दू समाज की कुछ बुराइयों, जैसे वृद्धविवाह, स्त्री अशिक्षा, बालविवाह आदि की आलोचना अवश्य की गयी है।

(घ) विवेच्य उपन्यासों में से कुछ में तत्कालीन प्राचीन काव्यरसिकों की रुचि को ध्यान में रखकर प्रकृति विरह और नखशिख के अलंकृत और कोमलकांत पदावली युक्त वर्णनों की योजना है तथा परिच्छेदों के आरंभ में संस्कृत और हिन्दी की ललित पंक्तियाँ उद्धृत हैं।

(ङ) इनमें प्रकृति और जीवन के यथार्थ चित्र स्थान स्थान पर उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के यथार्थ वर्णन के प्रेमी पाठक हिन्दी में, विवेच्य काल में, अत्यल्प थे। इन उपन्यासकारों ने यथार्थवादी वर्णनों द्वारा तत्कालीन हिन्दी पाठकों की पठनरुचि को यथार्थवादी दृष्टि देने का प्रयत्न किया, जो परवर्तीकाल में यथार्थवादी उपन्यासों के विकास के अनुकूल सिद्ध हुई।



सारांश और निष्कर्ष

गत पृष्ठों म प्रस्तुत किये गय विवेचन से विवेच्य काल (१८९० १९१७ ई०) म हिन्दी कथासाहित्य का जो व्यापक और वविध्यपूर्ण विस्तार परिलक्षित होता है वह आश्चर्यजनक है। इसकी व्यापकता का अनुमान कवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि इन २७ वर्षों की अवधि म प्रकाशित मौलिक और अनूदित कथापुस्तका की सख्या पिछल १० वर्षों की (१-००-१८९० ई०) तुलना म कमश ३३ गुनी और ४।। गुनी है। अकल दवकीनन्दन खत्री की कथापुस्तकें पृष्ठसख्या की दृष्टि स पूववर्ती १० वर्षों म लिखित कथापुस्तका से बाजी मार ले जाएँगी। कथापुस्तका के प्रकारवविध्य की दृष्टि स भी विवच्यकाल की उपलब्धियाँ अकल्पनीय मालूम पडती हैं। इस काल क पूव या तो प्राचीन ढग की किस्साकहानियाँ थी या उपन्याख्यानक उपन्यास पर विवच्य युग म अनेक कथाप्रकार उद्भूत और विकसित हुए—यथा (१) तिलस्म और एयारीप्रधान रोमास (२) अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ (३) एतिहासिक रोमास (४) सामा य रूमानी कथाएँ (५) मन कल्पनात्मक कथाए (६) सामान्य उपन्यास (७) एतिहासिक उपन्यास आदि। १८९० ई० के बाद देखते देखत यह कस सभव हो गया, इसका उत्तर तब तक नही मिलता जब तक हम इस काल क हिन्दी पाठकवग का सामन रखकर विचार नहीं करते।

इस परिच्छेद क प्रथम खड म हम देख चुक हैं कि १८९० ई० क लगभग हिन्दी पाठक परिमाणत अत्यल्प और प्रकारत निम्नस्तरीय थ। सुशिक्षित और उच्चस्तरीय हिन्दी पाठका की सख्या नगण्य थी। अवश्य ही हिन्दी म सभावित पाठका की विशाल सख्या थी, जो अल्प हिन्दी ज्ञान क कारण भारतेंदुकालीन साहित्य का रसास्वादन करन म असमथ थ। अपनी योग्यता और रुचि क अनुरूप हिन्दी पुस्तकें न प्राप्त कर पान क कारण यह सभावित पाठक समुदाय वास्तविक पाठक समुदाय म परिणत न हो पाया था। देवकीनन्दन खत्री न साहित्य और पाठकसमुदाय क इस व्यवधान को लक्षित किया तथा अल्प शिक्षित सभावित हिन्दी पाठकों की रुचि और पठनक्षमता के अनुरूप तिलस्म और एयारीप्रधान रोमासों की रचना कर इन्हें वास्तविक पाठक बना दिया। जो लोग नागरी लिपि स अपरिचित थ उन्होंने भी देवकीनन्दन खत्री की पुस्तकें पढ़न क लिए नागरी का अभ्यास किया। यद्यपि साहित्यिक विवचन की दृष्टि स खत्री जी क तिलस्मी रोमासों का विशेष महत्व नहीं है किन्तु पाठकवग क निर्माण की दृष्टि स जो उपन्यास क विकास क लिए अनिवाय समाजशास्त्रीय भूमि है इनका महत्व अपरिमित है। खत्री जी क सरल भाषा म लिखित कौतूहलप्रधान रोमास तत्कालीन अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकों की रुचि और पठनक्षमता क इतन अनुकूल थ कि उन्हें अपन लिए पाठक प्राप्त करन म कोई कठिनाई नहीं हुई। महान् साहित्यकारों क विषय म कहा जाता है कि व अपनी कृतियों क द्वारा नवीन रुचि और नवीन पाठकवग का निर्माण करत हैं। इस दृष्टि स देवकीनन्दन खत्री का

महान कहा जा सकता है। उन्होंने हिन्दी पाठकों में तिलिस्म और ऐयारीप्रधान घटनाओं के प्रति ऐसी रुचि जागृत कर दी कि लोग उपन्यास और ऐयारी तिलिस्म को पर्याय समझने लगे। विवेच्य काल के अधिकांश लेखकों पर खत्री जी के तिलस्मी रोमांसों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव है। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में तिलस्म और ऐयारी, या उन जैसी घटनाओं का वर्णन इस रुचि की व्यापकता का ही परिणाम है। तात्पर्य यह कि खत्री जी ने अपने रोमांसों के द्वारा एक नवीन प्रकार की पठनरुचि विकसित करने में सफलता प्राप्त की थी, भले ही साहित्यिक उत्कर्ष की दृष्टि से इसका महत्त्व अल्प हो।

खत्री जी के कथालेखन में प्रवृत्त होने के लगभग एक दशक बाद गोपालराम गहमरी सक्रिय रूप से कथारचना के क्षेत्र में उतरे और उन्होंने भी अल्प शिक्षित पाठकों के कौतूहलोपशमन और मनोरंजन के उद्देश्य से अपराधप्रधान और जासूसी कथापुस्तकों की रचना तथा उनके अनुवाद प्रस्तुत किये। विषय की दृष्टि से इन अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं का इतना ही महत्त्व है कि इनकी घटनाएँ पूर्वोल्लिखित तिलस्मी रोमांसों से अधिक यथार्थ और बुद्धिग्राह्य हैं। साथ ही इनकी भाषा में यथार्थ का पुट और काव्यात्मकता का आधान खत्री जी के रोमांसों की तुलना में अधिक है। इससे स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के आते आते हिन्दी पाठकों का प्रकार ईषत् उत्कृष्ट हो गया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक से ही इतिहासाश्रित कथापुस्तकें, सामान्य ढंग की रूमानी कथाएँ और उपन्यास, जिनकी परंपरा पहले से चली आ रही थी लिखे जाने लगे थे। इस समय हिन्दी में प्राचीन काव्यरसिकों का एक ऐसा अल्पसंख्यक समुदाय था जो उपन्यास में संस्कृत गद्यकाव्यों की समस्त विशेषताएं देखना चाहता था। इस पाठक वर्ग की रुचि का ध्यान रखकर किशोरीलाल गोस्वामी, जैनेन्द्र किशोर देवी प्रसाद शर्मा उपाध्याय आदि ने अपने उपन्यासों और रोमांसों में प्रकृति, नखशिख और विरह के अलंकृत तथा काव्यात्मक वर्णनों की योजना की। पर इन लेखकों ने भी अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि की बिलकुल उपेक्षा न की। इन्होंने तत्कालीन पाठकों की दो भावनाओं का— कौतूहल भाव और काम भाव—पोषण किया। खत्री जी ने केवल कौतूहल वृत्ति को जगाकर अपने रोमांसों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया था। कामभाव को उत्तेजित करने का प्रयास उन्होंने तनिक भी नहीं किया था। गहमरी जी की दृष्टि भी मुख्यतः कौतूहलोत्तेजन पर था। पर अन्य लेखकों ने कदाचित् कौतूहलोत्तेजन में अपने को खत्री जी और गहमरी जी के समकक्ष न पाकर कामोत्तेजन का सहारा लिया। किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों और ऐतिहासिक रोमांसों में कामव्यापारों के उत्तेजक वर्णनों तथा अविश्वसनीय कौतूहलजनक घटनाओं का बाहुल्य है। अन्य ऐतिहासिक तथा सामान्य रोमांसों के सम्बन्ध में भी यह कथन सत्य है।

विवेच्य काल में पहले से चली आती हुई उपन्यासलेखन की परम्परा भी विकसित होती रही यद्यपि परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं। उपन्यास में जीवन के यथार्थ चित्रण को प्रमुखता मिलती है अल्पशिक्षित पाठकों का कौतूहलोपशमन और कामोत्तेजन इनका लक्ष्य नहीं होता। यद्यपि किशोरीलाल गोस्वामी, जयरामदास गुप्त मेहता लज्जाराम शर्मा

आदि ने कौतूहलजनक घटनाओं और कामव्यापार वर्णनों के द्वारा अपने उपन्यासों को थोड़ा बहुत रोचक और चटपटा बनाने का प्रयत्न किया है, पर विवेच्य काल के अधिकांश उपन्यासकार इसे उचित नहीं समझते। इस अवधि के बहुसंख्यक उपन्यासकारों ने हिन्दू समाज की समस्याओं का, अपनी मान्यताओं और विश्वासों के अनुरूप चित्रण किया है। नारीसमस्या इन उपन्यासों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। नारीस्वातन्त्र्य, नारीशिक्षा और विधवाविवाह का विरोध तथा परदा प्रथा बालविवाह, पातिव्रत्य पालन आदि का प्रतिपादन अधिकांश उपन्यासों का प्रमुख विषय है। वस्तुतः तत्कालीन पाठक और लेखक जिस हिन्दू समाज से आते थे उसमें इन्हीं विचारों की प्रमुखता थी। इस युग में केवल एक उपन्यासकार नवाबराय बनारसी ने, जो बाद में प्रेमचन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए, अपवाद स्वरूप विधवाविवाह का स्पष्ट प्रतिपादन और समर्थन किया है किन्तु उन्हें इसका महँगा मूल्य चुकाना पड़ा। उनका उपन्यास 'प्रेमा' हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सका। कुछ अन्य अपेक्षाकृत प्रगतिशील विचार के उपन्यासकारों ने वृद्धविवाह, बालविवाह, तिलक दहेज प्रथा आदि के कुपरिणामों का चित्रण किया है। नारीशिक्षा के सम्बन्ध में विवेच्यकाल के कुछ उपन्यासकार उदार हैं पर अँगरेजी ढंग की उच्चशिक्षा का समर्थन बाबू गंगा प्रसाद गुप्त के अतिरिक्त और किसी उपन्यासकार ने नहीं किया है।

प्रसक्त काल के उपन्यासों में तत्कालीन समाज की अनेक बुराइयों जैसे वेश्यागमन, जुआ खेलना पुलिस के अत्याचार और घूसखोरी अंधविश्वास आदि का चित्रण किया गया है। साथ ही यथार्थ जीवन के अनेक मार्मिक प्रसंग भी विवेच्यकालीन उपन्यासों में प्राप्त होते हैं।

इस काल का एक ही उपन्यास, अपवादतः, ऐसा है जिसमें तत्कालीन हिन्दू समाज की किसी समस्या को केन्द्रीय विषय न बनाकर एक विशेष समाज के यथार्थ जीवन को सर्वथा विश्वसनीय और मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह उपन्यास है भुवनेश्वर मिश्ररचित 'बलवंत भूमिहार'। इस उपन्यास को भी अपने समकालीन पाठकों की रुचि की उपेक्षा करने का मूल्य चुकाना पड़ा। यह हिन्दी पाठकों के बीच लोकप्रिय न हो सका।

तात्पर्य यह कि विवेच्य काल के उपन्यासों में प्रमुखतः तत्कालीन हिन्दू समाज की समस्याओं और गौणतः समसामयिक जीवन का चित्रण किया गया है। कौतूहलोत्पादक अविश्वसनीय घटनाओं तथा अश्लील कामव्यापार वर्णनों को इनमें प्रमुखता नहीं मिली है। अविश्वसनीय घटनाओं और कामव्यापार वर्णनों का इन उपन्यासों में अभाव नहीं है, पर इनका उद्देश्य कौतूहलोपशमन और कामोत्तेजन नहीं। अविश्वसनीय घटनाओं की योजना भी इन उपन्यासों में कोई न कोई उपदेश देने के लिए, जैसे ईश्वरमहिमा कर्मफल सिद्धान्त या पातिव्रत्य का महत्त्व दर्शाने के लिए की गयी है। कामव्यापार वर्णनों का उद्देश्य इनके प्रति पाठकों की विरक्ति जगाना है।

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि प्रस्तुत कालीन उपन्यासों में हिन्दू पाठकों की रुचि और भावना का पूरा ध्यान रखा गया है पर इनका उद्देश्य अल्पशिक्षित युवक पाठकों का

मनोरंजन नहीं, वरन उनका चरित्र परिष्कार और सामाजिक जीवन तथा उनकी बुराइयों का चित्रण है।

इस काल की अधिकांश कथापुस्तकों में—चाहे वे रोमांस हों या उपन्यास या अन्य प्रकार की कथाएँ—हिन्दू भावना और रुचि का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। कर्मफल वाद का, जो हिन्दूधर्म का एक प्रमुख सिद्धान्त है, चित्रण और प्रतिपादन इस काल की सभी कथापुस्तकों में अपवादस्वरूप भुवनेश्वर मिश्र कृत बलवंत भूमिहार और नवाबराय बनारसी कृत 'प्रेमा' को छोड़कर, हुआ है। दुष्ट पात्रों को उनके दुष्कर्मों का दंड और सज्जन पात्रों को सत्कर्मों का पुरस्कार अवश्य प्राप्त होता है। यहाँ तक कि कथाकारों ने दुष्ट पात्रों को प्रतिशोध भाव से, ऐसे दंड दिलाये हैं, जो विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते। ईश्वरभक्ति, धर्माचरण, मातापिता और गुरु का आज्ञापालन, ज्योतिष का समर्थन आदि अनेक हिन्दूधर्मसम्मत बातों का प्रतिपादन इस काल की कथापुस्तकों में हुआ है। सभी कथापुस्तकों में हिन्दू पात्रों का चरित्र प्रायः उदात्त रूप में और मुसलमान पात्रों का निकृष्ट रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दू धर्म की स्थान स्थान पर प्रशंसा की गयी है तथा हिन्दुओं के अतीत गौरव का गान गाया गया है।

विवेच्यकाल की कथापुस्तकों के शिल्प पर तदयुगीन पाठकों की रुचि का स्पष्ट प्रभाव है। इस काल का हिन्दी पाठक अभी तक बौद्धिक और अभ्यस्त कथाश्रोता था। वह उपन्यासकार को पुस्तक के पृष्ठों में सर्वत्र श्रावयिता के रूप में विद्यमान देखना तथा उसकी ऊँची और स्पष्ट आवाज सुनना चाहता था। यही कारण है कि इस काल का हिन्दी कथाकार विकसित औपन्यासिक शिल्पविधि का प्रयोग करते हुए भी अपने पाठकों को नहीं भूलता। वह सर्वत्र किस्सागो के रूप में पाठकों के पास विद्यमान रहता है। कहीं वह अपने पाठकों को किसी पूर्वघटित घटना का स्मरण दिलाता है, कहीं ऊबते हुए पाठक का ध्यान किसी मनोरंजक घटना की ओर आकृष्ट करता है, कहीं किसी उलझी हुई घटना का स्पष्टीकरण करता है कहीं किसी रहस्य की कुंजी प्रदान करता है कहीं किसी पात्र के चरित्र की व्याख्या करता है और कहीं पाठकों को कोई उपदेश देता है। तात्पर्य यह कि उपन्यासकार कहीं भी पाठकों का साथ नहीं छोड़ता और पाठक सदा कथाकार की उँगली पकड़ कर घटनाओं के मेले में विचरण करता है। यह उल्लेखनीय है कि उच्चस्तरीय पाठकों की दृष्टि से लिखित उपन्यासों में भी उपन्यासकार श्रावयिता के रूप में विद्यमान रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि विवेच्यकाल के उच्चस्तरीय लेखक और पाठक भी कथा को पाठ्य से अधिक श्रव्य ही मानते थे। फिर भी इतना तो अवश्य लक्ष्य है कि उच्चस्तरीय उपन्यासों में उपन्यासकार उपन्यास के पृष्ठों में श्रावयिता के रूप में विद्यमान रहकर भी बार बार पाठकों को सम्बोधित नहीं करता। भुवनेश्वर मिश्र, ब्रजनन्दन सहाय, अवधनारायण और चतुरसेन शास्त्री के उपन्यासों से इस कथन की पुष्टि होती है। नवाब राय बनारसी अपवाद स्वरूप विवेच्यकाल के ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने 'प्रेमा' में एक स्थान पर भी पाठकों को सम्बोधित नहीं किया है।

इस अवधि के उपन्यासों के अंत पर भी तत्कालीन पाठकों की रुचि का प्रभाव परिलक्ष्य है। इस काल की बहुसंख्यक कथापुस्तकें सुखांत हैं। कतिपय उपन्यासकारों ने

दु खात प्रमी पाठका की नत्सना तक की है। कथाओ का सुखात बनान के लिए घटनाओ को जबरदस्ती अभिलपित दिशा म मोडा गया है तथा उन्हें विश्वसनीय बन रहन देन की चिन्ता नहा की गयी है।

इस काल की कुछ कथापुस्तका पर उर्दूफारसी साहित्य स परिचित पाठका का रुचि का भी प्रभाव है। उर्दूफारसी की प्रेमकहानिया क ढग का प्रमवणन इस काल की अनक कथापुस्तका म दिखायी पडता है। कुछ कथापुस्तका म उन शरा और गजला की बहार दिखायी पडती है। विवच्य काल म उदू का प्रचार हिन्दा की अपक्षा अधिक था यह प्रस्तुत अध्याय क आरभ म दिखाया जा चुका है। इस पाठक समुदाय का पठनरुचि की झलक विवच्य काल की कुछ कथापुस्तका म दिखायी पडती है।

यथाथ वणन पसन्द करन वाल उपन्यासप्रमी पाठका का विकास हिन्दी म शन शन हो रहा था, यह विवच्यकाल क उपन्यास साहित्य के अवलोकन स स्पष्ट है। इस काल के अनक उपन्यासो म जीवन क यथाथ चित्र यथाथवादी भाषा म प्रस्तुत किय गय हैं। तत्कालीन समस्याओ का चित्रण अनक रूपा मे इन उपन्यासों म उपलब्ध होता है। स्पष्ट है कि इन उपन्यासो की रचना क मूल म यथाथवादी उपन्यासपाठका की रुचि भी कामशील है।

समासत यह कहना सवथा युक्तिसगत है कि विवच्य काल क विशाल और वविध्यपूण हिन्दी कथासाहित्य क मूल म समसामयिक अनक रुचिधाराए कायशील हैं। इन विविध रुचिधाराओ न प्रस्तुत काल क हिन्दी कथासाहित्य का गति और दिशा प्रदान की यह एक असदिग्ध तथ्य है।

★

अनूदित उपन्यास और तत्कालीन पाठक वर्ग

विवेच्यकाल मौलिक कथासाहित्य प्रणयन की दृष्टि से ही नहीं, विभिन्न भाषाओं से अनूदित कथापुस्तकों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इस काल में बंगला, अंगरेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती, और उड़िया से शताधिक उपन्यासों तथा अन्य कथापुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किये गये। बंगला उपन्यासों के अनुवाद, इस काल में इतनी अधिक मात्रा में प्रस्तुत किये गये कि लोग हिन्दी कथासाहित्य को 'बंगला की बेटी' तक कहने लग गये थे। फरवरी १९१२ ई० की 'इन्दु' में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था, "हिन्दी के उपन्यासों का अधिकांश अन्य भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद मात्र है।"[1] हिन्दी उपन्यास के विषय और शिल्प पर इस अनूदित कथासाहित्य का प्रभूत प्रभाव पड़ा, पर हिन्दी उपन्यास के आलोचकों ने इतर भाषाओं से अनूदित हिन्दी उपन्यासों के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण न समझकर इसे प्रायः स्पर्शमात्र करके छोड़ दिया है। अबतक कोई ऐसी सूची भी नहीं प्रकाशित हो सकी है जिससे हिन्दी में अन्य भाषाओं से अनूदित उपन्यासों का परिचय प्राप्त हो सके।[2]

हिन्दी में अनूदित उपन्यासों को, विषय की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(१) अपराधप्रधान और जासूसी कथाएं।
(२) वन्नानिक रोमांस।
(३) उपन्यास (सामान्य)।
(४) इतिहासाश्रित उपन्यास।
(५) धार्मिक पौराणिक कथाएं।
(६) स्त्रीशिक्षा विषयक कथाएँ।

प्रस्तुत प्रसंग में इन अनूदित कथापुस्तकों और उपन्यासों का विवेचन, तत्कालीन पाठकवर्ग की रुचि के आलोक में, अभिप्रेत है।

अपराधप्रधान और जासूसी कथाएँ तथा उनके पाठक

इस काल में अपराधप्रधान और जासूसी कथापुस्तकों का अनुवाद अल्पशिक्षित और अल्पयोग्यता सम्पन्न पाठकों की माँग के फलस्वरूप हुआ था, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इस सम्बन्ध में यह भी मनोरंजक और उल्लेखनीय बात है कि अपराधकथाओं के अनुवाद की तरफ हिन्दी के उन्हीं कथाकारों का ध्यान पहले पहल, आकृष्ट हुआ था, जिन्होंने अल्पशिक्षित पाठकों के रुच्यनुरूप कौतूहलप्रधान कथापुस्तकों की रचना की थी। तात्पर्य देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी से है। देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी

१ महावीर प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी की वर्तमान अवस्था, इन्दु, कला ३, किरण १, फरवरी १९१२।
२ प्रस्तुत लेखक के 'हिन्दी कथासाहित्य सर्वेक्षण' नामक प्रकाश्यमान ग्रन्थ में इस अभाव की पूर्ति का प्रयास किया गया है।

पाठकों में कौतूहलप्रधान कथापुस्तकों की लोकप्रियता देख कर जी० डब्ल्यू० एम० रेनाल्ड्स के अपराधप्रधान रोमांसों को हिंदी में अनूदित करने का निश्चय किया। संभवतः कुछ पाठकों ने भी खत्रीजी से रेनाल्ड्स कृत कथापुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने का आग्रह किया था। परिणामतः खत्रीजी ने १८९६ ई० के दिसम्बर महीने से केवल रेनाल्ड्स की कथापुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित करने के लिए 'उपन्यास माला' नामक 'सचित्र मासिक पत्र' प्रकाशित करना आरम्भ किया। 'उपन्यास लहरी', वर्ष ३ नं० ? (फरवरी १८९७) में उक्त पत्र का निम्नलिखित विज्ञापन प्रकाशित हुआ था—'उपन्यास लहरी के प्रेमी पाठकों को आज एक और नवीन उपन्यास मासिक पत्र पढ़ने का अवसर मिला। उपन्यासों के प्रेमी पाठक बहुत दिनों से लिख रहे थे कि रिनाल्ड साहब के अंगरेजी उपन्यासों का अनुवाद भी हिन्दी में अवश्य होना चाहिए। क्योंकि उनके उपन्यास बहुत ही अनूठे और अद्भुत रस से भरे हुए हैं। मैं भी हाँ अच्छा, अवश्य, जरूर इत्यादि कहता चला आया। अत में अनुवाद का निश्चय करके उपन्यास माला नामक एक और सचित्र मासिक पुस्तक दिसम्बर सन् ९६ से निकालना आरम्भ कर दिया, जिसमें केवल रिनाल्ड साहब के उपन्यासों का हिन्दी अनुवाद रहा करेगा, क्योंकि उनके उपन्यास बहुत बड़े बड़े हैं इसलिए क्रमशः निकाले बिना हमको या ग्राहकों को सुबीता न होगा। अब आप लोगों को सूचना दी जाती है कि कृपा पूर्वक इसे अवश्य पढ़ें और देखें कि रिनाल्ड साहब के उपन्यास कैसे अनूठे हैं।

उक्त विज्ञापन के घोषणानुसार खत्रीजी ने रेनाल्ड्स के कतिपय रोमांस अपने लहरी प्रेस काशी से प्रकाशित किये। रेनाल्ड्स के रोमांस हिन्दी पाठकों के बीच इतने अधिक सर्वप्रिय हुए कि अन्य अनुवादकों और प्रकाशकों का ध्यान भी इधर खिंच गया और इनके अनुवाद एकाधिक मुद्रणालयों से छप कर प्रकाशित हुए। यहाँ तक कि रेनाल्ड्स की एक एक पुस्तक के दो दो तीन तीन अनुवाद प्रस्तुत किये गये। इन अनुवादों की संस्करण संख्याओं से भी इनकी तत्कालीन लोकप्रियता का पता चलता है। रेनाल्ड्स के रोमांस हिन्दी पाठकों में कितने लोकप्रिय थे, इसका कुछ पता 'नरपिशाच' (१९०४ ई०) के तीसरे भाग के अंतिम आवरण पृष्ठ पर मुद्रित 'छप सूचना' से चलता है। इस 'छप सूचना' के अनुसार, 'नरपिशाच' का तीसरा भाग जल्दी छापा जाता है आशा है कि अत्यंत शीघ्र प्रस्तुत हो जायगा। हमारे पास तीसरे भाग की माँग के लिए अभी से कितने महाशयों के पत्र आने लगे हैं। आगे जिन महाशयों को नरपिशाच के तीसरे भाग का प्रयोजन हो वह शीघ्र ही माँग का पत्र भेजने का अनुरोध है। अन्यथा पुस्तक छपते ही वह माँगपत्र महाशयों के पास चला जायगी और शेष महाशयों को दूसरे एडीशन की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।[1] 'चन्द्रकान्ता संतति', भाग १४ (१९१५ ई०) के साथ संलग्न एक विज्ञापन से, जो निम्नांकित है, तत्कालीन हिन्दी पाठकों के बीच रेनाल्ड्स के रोमांसों की लोकप्रियता प्रमाणित होती है—

उपन्यास प्रेमियों में से कदाचित् ही कोई होगा जिसने प्रसिद्ध उपन्यास लेखक रेनाल्ड साहब का नाम न सुना हो या उनका लिखा कोई उपन्यास न पढ़ा हो। हम रन

1 रेनाल्ड्स नरपिशाच (दे० हरिकृष्ण जौहर) भाग ३, (छप सूचना)।

इनका अनुवाद कभी न होता, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इसके साथ साथ इनमें उपन्यासों की स्थान स्थान पर योजना है, जिसकी माँग तत्कालीन हिंदी पाठकों में थी।

गोपाल राम गहमरी ने हिन्दी पाठकों में कौतूहलप्रधान कथापुस्तकों की लोकप्रियता देखकर बँगला के जासूसी कथाकार पाचकौडी दे की जासूसी कथापुस्तकों के हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किये। जैसा कहा जा चुका है, पाचकौडी दे की अधिकांश जासूसी कथाएँ अँगरेजी के प्रसिद्ध जासूसी कथाकार कानन डायल की कथाओं के रूपांतरमात्र हैं। गोपाल राम गहमरी ने भी अपने गुरु दे साहब का अनुकरण करते हुए अपने अनूदित उपन्यासों का भी मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी उपन्यास के विकास में इन अनुवादों या रूपान्तरों की कोई महत्त्वपूर्ण देन नहीं है। यदि इन अनुवादों का कुछ महत्त्व है तो केवल इतना ही कि इन्होंने अल्पशिक्षित पाठकों की पठनरुचि को कायम रखने तथा उसके विकास में योग दिया।

गहमरी जी द्वारा अनूदित अपराधकथाओं में से कुछ उदाहरणत 'मनोरमा', 'मायावी', नीलवसना सुंदरी' आदि, हिन्दी पाठकों में पर्याप्त लोकप्रिय हुई थी, यह उन पुस्तकों की संस्करणसंख्या से स्पष्ट है। जिन पुस्तकों के एक ही संस्करण हुए, उनकी लगभग एक हजार प्रतियाँ तो पाठकों के पास पहुंच ही जाती थीं। सच पूछा जाए तो भिन्न नामों से प्रकाशित अपराधकथाएँ प्रकारत एक ही पुस्तक के विभिन्न संस्करण कही जा सकती हैं, क्योंकि इन सबमें कुछ निश्चित सूत्रों के अनुसार घटनाओं की योजना की जाती है। गहमरी जी हर महीने एक नयी मौलिक या अनूदित अपराधकथा अपने पाठकों के हाथ में रख देते थे, अत किसी विशेष कथापुस्तक का दूसरा संस्करण निकालने की चिंता न अनुवादक को रहती थी न पाठकों को।

गहमरी जी की विवेच्य अनूदित कथाएँ, प्रकार की दृष्टि से, उनकी तथाकथित मौलिक अपराधकथाओं से भिन्न नहीं, अत उनके विषय में प्रस्तुत प्रबंध में जो कुछ कहा जा चुका है, वही इनके सम्बन्ध में भी अलम् है। विवेच्य अनूदित कथाओं में भी कौतूहल वर्द्धक घटनाओं की बहुलता है। यदि गहमरी जी की मौलिक और अनूदित अपराधकथाओं में कोई अन्तर है तो इतना ही कि अनूदित कथाओं में बौद्धिक चमत्कार और उच्चकोटि की जासूसी दीख पड़ती है, जिसका मौलिक कथापुस्तकों में सर्वथा अभाव है। कानन डायल की अँगरेजी जासूसी कथाओं को भारतीय पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाने का कार्य तो पाँचकौड़ी दे ने ही कर दिया था, अत गोपालराम गहमरी को इस विषय में कुछ विशेष प्रयास न करना पड़ा। जिन कथापुस्तकों के अनुवाद गहमरी जी ने सीधे अंगरेजी से किये, उन्हें उन्होंने अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि और बोधक्षमता के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया। अपने 'गुप्तचर' नामक अनूदित कथापुस्तक की भूमिका में गहमरी जी ने लिखा है।[१]

'एक बिलायती गुप्त पुलिस की कहानी का यह निचोड़ है। बिलायती नाम गाँव श्रवणकटु होते हैं इसी से उनकी जगह हिन्दुस्थानी नाम गाँव बना दिये गये हैं । आशा है कि पाठकों को यह रुचेगा।"

---

१ गुप्तचर, १८९९ भूमिका।

गहमरी जी द्वारा अनूदित जासूसी और अपराधकथाएँ तत्कालीन अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकों की रुचि के सर्वथा अनुकूल हैं। इनमें हत्या, चोरी, डकैती, मारकाट, षड्यन्त्र, जादू टोना तथा अन्य अतिलौकिक और कौतूहलजनक घटनाओं का बाहुल्य है। साथ ही इनमें पातिव्रत्य, ईश्वरभक्ति, सदाचरण, धर्मपालन आदि के उपदेश भी स्थान स्थान पर दिये गये हैं। पता नहीं ये उपदेश मूल कथापुस्तकों में भी हैं, या गहमरी जी ने अनुवादों में हिन्दी पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर इन्हें अपनी ओर से जोड़ दिया है। इन अनुवादों की भाषा कहीं कहीं काव्यात्मक और सुशिक्षित हिन्दी पाठकों की रुचि के अनुकूल है। सम्भव है मूल बंगला कथापुस्तकों की भाषा काव्यात्मक हो और इस कारण अनुवादों में यह काव्यात्मकता आ गयी हो। पर अनुवादों में इस काव्यात्मक भाषा को बनाये रखकर तथा वर्णनों के बीच बीच में हिन्दी कविताएँ उद्धृत कर गहमरी जी ने हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठकों की रुचि को भी थोड़ा बहुत तुष्ट करने का प्रयास किया था, यह स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह कि गहमरीजी की अनूदित अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं के प्रकाश में आने का मूल हेतु तत्कालीन अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकसमूह था। गहमरी जी ने इसी पाठकवर्ग की रुचियों को ध्यान में रखकर अपराधकथाओं के अनुवाद प्रस्तुत किये थे तथा मूल पुस्तकों के कुछ स्थलों में हेर फेर किये थे। यद्यपि भाषा प्रयोग में उन्होंने सुशिक्षित हिन्दी पाठकों की रुचि का भी ध्यान रखा था, पर उनकी दृष्टि मुख्यतः अल्पशिक्षित पाठकों पर रहती थी जो कौतूहलजनक घटनाओं को पढ़ने में विशेष रुचि दिखाते हैं।

रेनाल्ड्स और पाँचकौड़ी दे की अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं के साथ साथ कुछ अन्य हिन्दीतर लेखकों की ऐसी कथापुस्तकें भी हिन्दी में अनूदित हुईं पर वे उँगलियों पर गिन ली जा सकती हैं। इन कथापुस्तकों के सम्बन्ध में अलग से कुछ भी कहना अपेक्षित नहीं। पूर्ववर्ती पृष्ठों में रेनाल्ड्स और पाँचकौड़ी दे की अपराधकथाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है, वह इनके सम्बन्ध में भी पर्याप्त है।

वैज्ञानिक रोमांस और हिन्दी पाठक

हिन्दी पाठकों में कौतूहलजनक घटनाप्रधान कथापुस्तकों की लोकप्रियता देखकर कुछ लेखकों ने अंगरेजी के कतिपय वैज्ञानिक रोमांसों के हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किये, पर अनुवादकों की आशा के विपरीत ये हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सके। इन अनूदित रोमांसों में से किसी का भी दूसरा संस्करण नहीं छपा, यह इनकी अलोकप्रियता का सूचक है।

यद्यपि वैज्ञानिक रोमांसों में भी कौतूहलजनक घटनाओं की प्रधानता होती है, पर उनके पीछे वैज्ञानिक संभावना प्रधान रूप से विद्यमान रहती है, और इनका पूरा आनन्द वही ले सकता है, जिसे विज्ञान की कम से कम सामान्य जानकारी हो। विगत शती में अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकों का विज्ञानविषयक ज्ञान प्रायः शून्य था, अतः उनके बीच अँगरेजी से अनूदित वैज्ञानिक रोमांसों का लोकप्रिय न होना अप्रत्याशित नहीं है।

अनूदित उपन्यास और हिन्दी पाठक

यद्यपि विवेच्यकाल में मौलिक उपन्यासलेखन के क्षेत्र में अनेक हिन्दी लेखकों ने उल्लेखनीय प्रयास किये और परिमाणतः हिन्दी का उपन्यास साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यास साहित्य की तुलना में पश्चगामी न था, पर प्रकार की दृष्टि से, पार्श्ववर्ती बँगला भाषा का उपन्याससाहित्य हिन्दी की अपेक्षा अत्यधिक विकसित था। इस अवधि तक बँगला में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, रमेशचंद्र दत्त, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, चंडीचरण सेन, योगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, सुरेंद्र मोहन भट्टाचार्य, जैसे अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार हो चुके थे, जबकि हिन्दी में इस कोटि का एक भी उपन्यासकार नहीं था। हिन्दी में विवेच्य काल में तिलस्म और ऐयारी प्रधान रोमांसों, जपराधकथाओं, अश्लील कामचित्रणप्रधान उपन्यासों और ऐतिहासिक रोमांसों का जिनकी रचना के मूल में अल्पशिक्षित युवक पाठकों की कौतूहल और कामभावना को उद्दीप्त करने का उद्देश्य प्रमुख होता था, अधिक प्रचलन था। कुछ उपन्यासकारों ने परिष्कृत रुचि के पाठकों को उद्दिष्ट कर या अल्प शिक्षित पाठकों के रुचिपरिष्कार के निमित्त उपन्यासरचना की, पर सामान्यतः अँगरेजी साहित्य से सुपरिचित न होने के कारण हिन्दी उपन्यासकार उपन्यासलेखन के क्षेत्र में कोई प्रयोग न कर सके और न उनके द्वारा उत्कृष्ट उपन्यासों की, अपवाद स्वरूप भुवनेश्वर मिश्र 'बलवंत भूमिहार' को छोड़कर, रचना संभव हो सकी। इस अभाव की पूर्ति हिन्दी लेखकों ने बँगला उपन्यासों के अनुवादों द्वारा की। विवेच्य काल में श्रेष्ठ बँगला उपन्यासकारों की कृतियों के अनुवाद तो हुए ही, अनेक सामान्य स्तर के उपन्यास भी हिन्दी में अनूदित हो गए। संख्या की दृष्टि से भी देखा जाए तो हिन्दी के मौलिक उपन्यासों की तुलना में अनूदित उपन्यासों का परिमाण अधिक है। प्रकार की दृष्टि से तो दोनों में कोई तुलना ही नहीं।

विवेच्य काल में बँगला के श्रेष्ठ उपन्यासों में बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, एक बँगला उपन्यासकार' (नाम अज्ञात), योगेन्द्र नाथ चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, रमेशचंद्र दत्त, दामोदर मुखोपाध्याय, सुरेंद्र मोहन भट्टाचार्य और अविनाशचंद्र दास प्रभृति उपन्यासकारों के उपन्यास अनूदित हुए। इनमें बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास हिन्दी पाठकों में अत्यंत लोकप्रिय हुए। इनका कोई भी अनुवाद ऐसा नहीं, जिसके विवेच्य अवधि में कम से कम तीन संस्करण न हुए हों। दुर्गेशनंदिनी, इंदिरा और युगलांगुलीय के तो चार चार संस्करण हुए थे। इन अनुवादों के प्रकाशकीय वक्तव्यों और भूमिकाओं से भी हिन्दी पाठकों के बीच इनकी लोकप्रियता का पता चलता है।[1]

बँगला के अन्य उपन्यासकारों के अनुवाद हिन्दी पाठकों में इतने लोकप्रिय न हुए। 'एक बँगला उपन्यासकार' के किसी भी उपन्यास का दूसरा संस्करण हिन्दी में न हुआ, यद्यपि 'राजगोपाल' की भूमिका से हिन्दी पाठक समुदाय में इसकी लोकप्रियता का पता

१ इंदिरा (अनु० रामेश्वर प्रसाद पांडेय, १९१८), वक्तव्य इंदिरा (अनु०—पं० जनार्दन झा १९२३), प्रकाशकीय निवेदन युगलांगुलीय (अनु०—रुद्रनारायण १९२३) 'परिचय' नवकुमार या कपाल कुंडला (अनु०—दामोदर दास खत्री), आनंद मठ (अनु०—ईश्वरी प्रसाद शर्मा, १९२२), प्राणभिक्षा चंद्रशेखर (अनु० पारसनाथ त्रिपाठी, द्वितीय संस्करण) 'वक्तव्य'।

चलता है। सुरेंद्रमोहन भट्टाचार्य के उपन्यासों में 'मिलन मंदिर' हिन्दी पाठकों में विशेष लोकप्रिय हुआ था। विवेच्य काल में इसके तीन संस्करण हुए थे। अविनाशचन्द्र दास कृत 'कुमारी' और 'पलाशवन' भी हिन्दी पाठकों में पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। शेष अनूदित बंगला उपन्यास, जिनके विवेच्य काल में दो दो संस्करण हुए थे निम्नांकित हैं।

राधाकृष्ण द्वारा अनूदित 'स्वर्णलता' चन्द्रशेखर चटर्जी कृत 'विमला' यदुनाथ भट्टाचार्य कृत 'कम्मवार', मजर मोहन दास वसु प्रणीत 'लक्ष्मी बहू', पारसनाथ त्रिपाठी द्वारा अनूदित 'मझली बहू' शारदा प्रसाद चक्रवर्ती कृत सावित्री, पं० शिव नाथ शास्त्री कृत 'नारी' आदि।

बँगला के शताधिक अनूदित उपन्यासों के बीच केवल इन गिनेचुने उपन्यासों के ही एकाधिक संस्करण हुए थे इस तथ्य से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि बँगला से अनूदित उपन्यास हिन्दी में लोकप्रिय न थे। पर जब हम विवेच्य काल में उच्चस्तरीय हिन्दी पाठकों की संख्या पर दृष्टिपात करते हैं तो उक्त भ्रम का स्पष्टीकरण हो जाता है। हिन्दी पाठकों में बंगला से अनूदित उपन्यास लोकप्रिय थे इसकी पुष्टि केवल इसी तथ्य से हो जाती है कि इस काल में बंगला के शताधिक उपन्यासों के अनुवाद हुए।

उपर्युक्त अनूदित उपन्यासों के प्रथम प्रकाशन काल तथा उनके विभिन्न संस्करणों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल के प्रथम दशक (१८९० १९००) में हिन्दी पाठकों में अनूदित उपन्यासों की माँग अत्यल्प थी। १९०० ई० के बाद शनैः शनैः, इस माँग में वृद्धि होती गयी और विवेच्य काल के अंतिम दशक (१९१०-१९१७) में यह अपनी चरमसीमा पर पहुंच गयी। इस अवधि में जितनी संख्या में उपन्यासों के अनुवाद हुए तथा उनके जितने संस्करण प्रकाशित हुए उतने इसके पूर्व नहीं निकले थे। इससे सिद्ध होता है कि हिन्दी में धीरे धीरे उच्चस्तरीय उपन्यास पाठकों का वर्ग निर्मित हो रहा था।

प्रसंगत काल में बंगला से अनूदित हिन्दी उपन्यासों में कौतूहलोत्पादक घटनाओं की नहीं, जीवन के यथार्थ चित्रण की प्रधानता है। इन उपन्यासों में घटनावैचित्र्य पर नहीं, चरित्रचित्रण की यथार्थता और मार्मिकता पर बल दिया गया है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और अविनाशचन्द्र दास ने अपने उपन्यासों में उनके प्रकार के स्त्रीपुरुषों का ऐसा यथार्थ, विश्वसनीय और मर्मस्पर्शी चरित्र प्रस्तुत किया जो तत्कालीन हिन्दी उपन्यासों में विरल है। साथ ही इन उपन्यासों में घरेलू जीवन दैनिक पारिवारिक समस्याओं, सामाजिक हलचलों और प्राचीन तथा नवीन विचारधाराओं के संघर्ष के अनेक दुर्लभ प्रसंग उपलब्ध होते हैं। कुल मिलाकर बँगला से अनूदित ये उपन्यास परिष्कृत पाठकों की रुचि के सर्वथा अनुकूल हैं।

किंतु विवेच्य काल के उपन्यास हिन्दी के अल्पसंख्यक उच्चस्तरीय पाठकों में ही लोकप्रिय हुए हों, ऐसी बात नहीं। बंकिम बाबू के उपन्यास अपेक्षाकृत साधारण पाठकों में भी लोकप्रिय हुए थे। कारण यह है कि बंकिम बाबू में एक उपन्यासकार के सभी श्रेष्ठ गुण,

जिनका अन्य समकालीन बँगला उपन्यासों में अभाव है, पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। वे अपने उपन्यासों को जीवन का चित्र बनाने के साथ साथ कौतूहलप्रद बनाने में भी सर्वथा सफल हुए हैं। एक श्रावयिता के रूप में वे–समकालीन अन्य बंगला उपन्यासकार भी—अपने पाठकों के साथ सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और उन्हें कहीं ऊबने का मौका नहीं देते।

इन अनूदित उपन्यासों में तत्कालीन हिन्दू पाठकों की रुचि का पूरा ध्यान रखा गया है। हिन्दू परिवारों का यथार्थ चित्र अंकित करने का प्रयत्न तो इनमें है ही, हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों और आचार विचारों का प्रतिपादन भी इनमें हुआ है। कर्मफल के सिद्धांत का प्रतिपादन अधिकांश उपन्यासों में मिलता है। सभी दुष्ट पात्रों को उनके दुष्कर्मों का दंड अवश्य प्राप्त होता है। राधाकृष्णदास द्वारा अनूदित 'स्वर्णलता' के दुष्ट पात्रों में से कोई आग में जलकर मरता है, कोई जल में डूब जाता है, कोई अदालत में सजा पाता है। उपन्यास के अंत में लेखक अपने पाठकों से कहता है— पाठक! "अंत भले का भला" गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने ठीक ही लिखा है—कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस कर सो तस फल चाखा।

विवेच्य उपन्यास में स्त्रियों का चरित्र प्रस्तुत करने में हिन्दू पाठकों की भावना का अत्यधिक ध्यान रखा गया है। इन उपन्यासों की स्त्रियाँ प्रतिव्रता, सुशीला तथा धर्माचरण युक्त हैं। बंकिम बाबू की नायिकाएँ अपने पति का नाम नहीं लेती। 'इंदिरा' में एक स्थल पर नायिका अपने पति का नाम ले लेती है पर वह तुरत कहती है 'नाम लिया, प्राचीन गण क्षमा करेंगे।'[१] बंकिमचंद्र ही नहीं, इस काल के प्रायः सभी बंगला उपन्यासकार सदा इस बात में सावधान रहते हैं कि उनका कोई वर्णन हिन्दू भावना के बहुत प्रतिकूल न हो। भारतीय स्त्रियों के लिए हिन्दू धर्मशास्त्रों में जो मर्यादारेखाएँ खींच दी गयी हैं उनका ये लेखक प्रायः उल्लंघन नहीं करते। रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक प्रचलित हिन्दू भावनाओं के प्रतिकूल न जा सके हैं। आँख की किरकिरी में अवसर होने पर भी विधवाविवाह को बचा दिया गया है। यदि कहीं कोई उपन्यासकार हिन्दू आदर्शों के प्रतिकूल जाता दीखता है तो अनुवादक या तो उस स्थल को बदल देता है या उसके उल्लेख कर पाठकों को उसके कुप्रभाव से बचने का उपदेश देता है। बंकिम बाबू के कृष्णकांतेर विल की भ्रमर का चरित्र हिन्दू आदर्शों के बिलकुल अनुरूप नहीं है। तत्कालीन अधिकांश सनातनी हिन्दू पाठक नारी का ऐसा रूप देखना पसन्द नहीं करते थे। अतः इस उपन्यास के अनुवादक प० अयोध्या सिंह उपाध्याय ने 'उपसंहार' में लिखा, 'मैं एक साधारण बुद्धि का मनुष्य हूँ आर्य ललनाओं को उसी वेश और आकार में देखना चाहता हूँ जो उनका पुरातन और समीचीन है। और यही कारण है जो भ्रमर की इतनी अधिक तेजस्विता मुझको असह्य हुई। प्रातः स्मरणीया आर्यललनागण! तुम अपने चरित्र की उत्कृष्टता से जगद्विख्यात हो। तुम्हारी पतिभक्ति तुम्हारी सहिष्णुता लोकप्रसिद्ध है। पति के अवगुण पर दृष्टिपात न करना पति के अयोग्य होने पर भी श्रद्धा और अनुराग

१. इंदिरा, पृ० १।

रखना तुम्हारा ही काम है। अतएव आशा है "कृष्णकांत के दानपत्र" को पढ़कर आपलोग समस्त विषय में भ्रमर के समान होने की चेष्टा करेंगी किन्तु भ्रमर की तेजस्विता और स्वभाव की अपरिपक्वता पर भूल कर भी दृष्टिपात न करेंगी। अन्यथा जिस उद्देश्य से यह उपन्यास लिखा गया है किम्वा अनुवादित हुआ है कदापि सफल न होगा।'

इसके साथ साथ इन उपन्यासों में कहीं अँगरेजी शिक्षा और फैशन के दोष दिखाये गये हैं, कहीं वेश्यागमन की बुराइयों का चित्रण किया गया है कहीं बहुविवाह के कुपरिणामों का उल्लेख है कहीं स्त्रीशिक्षा और स्त्रीस्वातन्त्र्य के दोषों का चित्रण है, कहीं द्यूतक्रीडा के दोष दिखाये गये हैं कहीं तत्कालीन समाज के भ्रष्टाचार आदि का वर्णन किया गया है। पाठकों को ईश्वरभक्ति धर्मपालन, सदाचार, पितृभक्ति आदि के उपदेश स्थान स्थान पर दिये गये हैं। कहने का तात्पर्य यह कि विवेच्यकालीन अनूदित बंगला उपन्यास तत्कालीन हिन्दू पाठकों की रुचि के अनुकूल हैं और जहाँ वे अनुकूल नहीं हैं, उन स्थलों को हिन्दी अनुवादकों ने बदल दिया है।

जैसा उपर्युक्त संकेत से स्पष्ट है इस काल के अधिकांश अनूदित उपन्यास विशुद्ध अनुवाद न होकर स्वल्प या अधिक मात्रा में रूपान्तर हैं। इसका कारण कुछ तो अनुवादकों का बँगला भाषा का अल्प ज्ञान है, पर अधिकतर हिन्दी पाठकों की रुचि को ध्यान में रखकर ये परिवर्तन किये गये हैं। जो स्थल हिन्दी पाठकों की रुचि के प्रतिकूल हो सकते थे उन्हें अनुवादकों ने बदल दिया। योगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय कृत 'जंगली मेये' के 'वनकन्या' शीर्षक अनुवाद की 'भूमिका' में अनुवादक गंगाप्रसाद गुप्त ने लिखा है 'कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुवाद में अवसर के अनुरूप बहुत सी बातें घटायी बढ़ायी गयी हैं, और सब विषय, विचारपूर्वक हिन्दी पाठकों की रुचि के अनुकूल बनाये गये हैं।'[1] 'वनवासिनी' (१९१४) 'सुरेन्द्र सुन्दरी' (१९१४) 'कुमारी' (१९१५) 'यामिनी' (१९१६) आदि अनूदित उपन्यासों को भी इसी प्रकार थोड़ा बहुत परिवर्तित करके पाठकों की रुचि के अनुरूप बनाया गया है। चन्द्रशेखर कर कृत 'सुरबाला' के 'सुरजदेई' शीर्षक अनुवाद की भूमिका में अनुवादक कृष्णानन्द द्विवेदी ने लिखा है— 'मैंने सोचा, कि ज्यों का त्यों अनुवाद न कर यदि इसका नाम धाम बदल कर इसे हिन्दी भाषाभाषियों के उपयुक्त कर दिया जाय, तो बहुत उत्तम हो। तदनुसार न केवल इस पुस्तक में पात्र-पात्रियों के नाम धाम ही बदल गये हैं वरन् अनेक स्थानों में कुछ कुछ रूपान्तर भी हिन्दी भाषाभाषियों के अनुकूल बना दिया गया है।'[2] दुःखान्त उपन्यासों को हिन्दी पाठकों की रुचि के अनुरूप सुखान्त बना दिया गया है। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने अनूदित उपन्यास 'प्रेममयी' के 'निवेदन' में लिखा था 'जिस पुस्तक के आधार पर यह लिखा गया है उस पर ग्रन्थकर्त्ता का नाम न था   वह उपन्यास वियोगान्त है, पर हमारी रुचि वियोगान्त पर नहीं है इसलिए हमने अनुवाद में वियोगान्त को संयोगान्त बना डाला'[3]

१ गंगाप्रसाद गुप्त (अनु०), वनकन्या १९०४, भूमिका।
२ कृष्णानन्द द्विवेदी (अनु०) सुरजदेई १९१७ भूमिका।
३ प्रेममयी, दूसरी बार, १९२४ ई० निवेदन

इसी प्रकार गोस्वामी जी ने दीनेन्द्रकुमार राय के बंगला उपन्यास 'हमीदा' की छाया पर 'मालती तरुणी या यमज सहोदरा' नामक उपन्यास की रचना की। मूल उपन्यास, वियोगान्त था, पर गोस्वामी जी ने अपनी या अपने पाठकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए इसे संयोगान्त में परिवर्तित कर दिया है। शिवनाथ शास्त्री कृत 'मेजबऊ' नामक बँगला उपन्यास दुःखान्त है, पर इसके अनुवादक शिव सहाय चतुर्वेदी ने इसके 'आदर्श बहू' शीर्षक अनुवाद में इसे सुखान्त बना दिया है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि बँगला से अनूदित हिन्दी उपन्यास सुशिक्षित और परिष्कृत पाठकों की रुचि के अनुकूल थे फिर भी उनमें से कुछ में जैसे बंकिम बाबू के उपन्यासों में, कौतूहलोत्पादकता का भी अभाव न था, जिसके चलते वे अपेक्षाकृत अल्पशिक्षित पाठकों में भी लोकप्रिय होने में समर्थ हुए। इन उपन्यासों में हिन्दू भावनाओं और रुचियों का भी काफी हद तक ध्यान रखा गया है। उच्चस्तरीय हिन्दी पाठकों में बंगला उपन्यासों के लोकप्रिय होने का यही रहस्य है।

ऐतिहासिक उपन्यास तथा उनके पाठक

मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासों के विवेचनक्रम में हम देख चुके हैं कि विवेच्यकाल में हिन्दी में ऐसे उपन्यासों की संख्या अत्यल्प थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए हिन्दी लेखकों ने मुख्यतः बँगला से और गौणतः अन्य भाषाओं से ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। इस काल के कुछ प्रमुख अनूदित उपन्यास निम्नोद्धृत हैं—

बंकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय—दुर्गेश नंदिनी (१८८२), राज सिंह (१८९४), चन्द्रशेखर (१९०७)।

रमेशचन्द्र दत्त—बंगविजेता (१८८६) माधवी कंकण (१९०१) जीवन प्रभात (१८८९), जीवन संध्या।

चंडीचरण सेन—अवध की बेगम (१९०५), मानकुमारी (१९१५)।

ननीलाल वंद्योपाध्याय—अमृत पुलिन (१९०६), विलास कुमारी या कोहनूर, नलवाला (१९१७)

दीपनिर्वाण (१८९१) मुद्राकुलीन (१८९२), नूरजहाँ अर्थात ज्योतिर्मयी (१९०३), प्रभात सुन्दरी (१९०५), अमर सिंह (१९०७) चाँद बीबी वा वीर रमणी (१९०८) काला पहाड़ (१९१०) सम्राट अशोक (१९१३), राजराजेश्वरी (१९१४), सिराजुद्दौला (१९१६), नवाबी महल (१९१७) आदि।

इन उपन्यासों के अवलोकनमात्र से स्पष्ट हो जाता है कि विवेच्य काल में हिन्दी में इस कोटि के ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव था। इसका कारण हमने हिन्दी में परिष्कृत पाठकों का अभाव सिद्ध किया है। विवेच्य उपन्यासों की प्रकाशनतिथियों और संस्करणसंख्याओं पर सरसरी नजर डालने से भी इस कथन की पुष्टि होती है। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासों को छोड़कर इस काल के अन्य अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सके। बंकिम बाबू के ऐतिहासिक उपन्यास भी

१९०० ई० के बाद ही लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुए। चण्डीचरण सेन कृत 'रामेर कि एइ अयोध्या' का बाबू व्रजचन्द कृत 'मान कुमारी' शीर्षक अनुवाद विवेच्य काल का उल्लेखनीय प्रयास है। मानकुमारी हिन्दी के उन थोड़े से अनूदित उपन्यासों में गणनीय है, जिनके अनुवाद में अनुवादक को मूल लेखक से कम श्रम नहीं करना पड़ता। ऐसे उत्तम अनुवाद को प्रकाशित करने में भी उस समय का प्रकाशक व्यावसायिक दृष्टि से लाभ की आशा नहीं करता था, इस तथ्य से तत्कालीन हिन्दी उपन्यास पाठकों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। जबकि 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के अगले हिस्सों को प्राप्त करने के लिए पाठक व्याकुल रहा करते थे वहाँ इस उपन्यास को लहरी प्रेस से ही मुद्रित होने में छह वर्ष लग गये। अनुवाद के 'उपक्रम' में लेखक ने पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है। प्रकाशक भी अपने 'वक्तव्य' में लिखता है—"... परन्तु जिस प्रकार मुझे इसके प्रकाशन में किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है उसी प्रकार हानि उठाने की सामर्थ्य भी नहीं है। अतः मेरी यह प्रार्थना परिचित अपरिचित समस्त हिन्दी पाठकों से है कि वे इसकी एक एक प्रति ग्रहण करके मेरी सहायता करेंगे।"[1]

उक्त प्रकाशक की दीन प्रार्थना के साथ रेनाल्ड्स के अनूदित उपन्यासों के एक प्रकाशक की गर्वपूर्ण सूचना द्रष्टव्य है :

"नरपिशाच का तीसरा भाग जल्दी छापा जाता है आशा है कि अत्यन्त शीघ्र प्रस्तुत हो जायगा। हमारे पास तीसरे भाग की माँग के लिए अभी से कितने महाशयों के पत्र आने लगे हैं। आगे जिन महाशयों को नरपिशाच के तीसरे भाग का प्रयोजन हो उनसे शीघ्र ही माँग का पत्र भेजने का अनुरोध है। अन्यथा पुस्तक छपते ही वह माँग वाले महाशयों के पास चली जायगी और शेष महाशयों को दूसरे एडिशन की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"[2]

उपर्युक्त दोनों निवेदनों की तुलना से स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कौतूहलोत्पादक घटना प्रधान उपन्यासों की तुलना में ऐतिहासिक उपन्यासों की माँग नगण्य थी। 'मान कुमारी' का दूसरा संस्करण १५–२० वर्ष बाद हुआ, इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

विवेच्य काल के अन्य अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास भी हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सके थे इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अपवाद स्वरूप एक दो कृतियों के अतिरिक्त शेष के द्वितीय संस्करण नहीं प्रकाशित हुए।

हिन्दी में अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों के लोकप्रिय न होने का कारण दुर्विज्ञेय नहीं। इन उपन्यासों की भूमिकाओं के अवलोकन से पता चलता है कि ये अनुवाद या तो 'शिक्षित समाज' की रुचि का ध्यान रखकर प्रस्तुत किये गये थे अथवा साधारण पाठकों के

१ मानकुमारी अनुवादक बाबू व्रजचन्द, प्रकाशक–[illegible] पाठक [illegible], १९१५, उपक्रम।

२ नरपिशाच, अनुवादक–हरिकृष्ण जौहर, प्रकाशक–[illegible], दूसरा भाग १९०१ की सूचना'।

इसी प्रकार गोस्वामी जी ने दीनेन्द्रकुमार राय के बँगला उपन्यास 'हमीदा' की छाया पर 'याकूती तख्ती वा यमज सहोदरा' नामक उपन्यास की रचना की। मूल उपन्यास वियोगात था पर गोस्वामी जी ने अपनी या अपने पाठकों की रुचि को ध्यान मे रखते हुए इसे संयोगात मे परिवर्तित कर दिया है। शिवनाथ शास्त्री कृत मजबऊ' नामक बँगला उपन्यास दुःखात है, पर इसके अनुवादक शिव सहाय चतुर्वेदी ने इसके 'आदर्श बहू' शीर्षक अनुवाद मे इसे सुखात बना दिया है।

निष्कर्ष रूप म कहा जा सकता है कि बँगला से अनूदित हिन्दी उपन्यास सुशिक्षित और परिष्कृत पाठकों की रुचि के अनुकूल थे, फिर भी उनमे से कुछ मे, जैसे बकिम बाबू के उपन्यासो म, कौतूहलोत्पादकता का भी अभाव न था जिसके चलते वे अपेक्षाकृत अल्पशिक्षित पाठको मे भी लोकप्रिय होने म समर्थ हुए। इन उपन्यासो मे हिन्दू भावनाओ और रुचियो का भी काफी हद तक ध्यान रखा गया है। उच्चस्तरीय हिंदी पाठको मे बँगला उपन्यासो के लोकप्रिय होने का यही रहस्य है।

ऐतिहासिक उपन्यास तथा उनके पाठक

मौलिक ऐतिहासिक उपन्यासो के विवेचनक्रम म हम देख चुके हैं कि विवेच्यकाल में हिन्दी म ऐसे उपन्यासो की संख्या अत्यल्प थी। इस अभाव की पूर्ति के लिए हिन्दी लेखकों ने *मुख्यत बगला से और गौणत अन्य भाषाओ से ऐतिहासिक उपन्यासो के अनुवाद* प्रस्तुत किये, है। इस काल के कुछ प्रमुख अनूदित उपन्यास निम्नोद्धत हैं—

बकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय—दुर्गेश नदिनी (१८८२), राज सिंह (१८९४), चन्द्रशेखर (१९०७)।

रमेशचन्द्र दत्त—वगविजेता (१८८६), माधवी ककण (१९०१) जीवन प्रभात (१८८९), *जीवन सध्या।*

चडीचरण सेन—अवध की बेगम (१९०५), मानकुमारी (१९१५)।

ननीलाल बद्योपाध्याय—अमृत पुलिन (१९०६) विलास कुमारी या कोहनूर गलवाला (१९१७)

दीपनिर्वाण (१८९१) मुद्राकुलीन (१८९?), नूरजहाँ *अर्थात ज्योतिर्मयी* (१९०३), प्रभात सुन्दरी (१९०५), अमर सिंह (१००७) चाँद बीबी वा वीर रमणी (१९०८) काला पहाड (१९१०) सम्राट अशोक (१९१३), राजराजेश्वरी (१९१४), सिराजुद्दौला (१९१६) नवाबी महल (१९१७) आदि।

इन उपन्यासो क अवलोकनमात्र स स्पष्ट हो जाता है कि विवेच्य काल म हिन्दी म इस कोटि क ऐतिहासिक उपन्यासो का अभाव था। इसका कारण हमने हिन्दी म परिष्कृत पाठको का अभाव सिद्ध किया है। विवेच्य उपन्यासो की प्रकाशनतिथियो और संस्करणसख्याओ पर सरसरी नजर डालने म भी इस कथन की पुष्टि होती है। बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के उपन्यासो को छोड़कर इस काल क शेष अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास हिन्दी पाठको म लोकप्रिय न हो सके। बकिम बाबू के ऐतिहासिक उपन्यास भी

१९०० ई० के बाद ही लोकप्रियता प्राप्त करने में समर्थ हुए। चण्डी चरण सेन कृत 'रामेर कि एइ अयोध्या' का बाबू व्रजचन्द कृत 'मान कुमारी' शीर्षक अनुवाद विवेच्य काल का उल्लेखनीय प्रयास है। मानकुमारी हिन्दी के उन थोड़े से अनूदित उपन्यासों में गणनीय है, जिनके अनुवाद में अनुवादक को मूल लेखक से कम श्रम नहीं करना पड़ता। ऐसे उत्तम अनुवाद को प्रकाशित करने में भी उस समय का प्रकाशक व्यावसायिक दृष्टि से लाभ की आशा नहीं करता था, इस तथ्य से तत्कालीन हिन्दी उपन्यास पाठकों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। जबकि 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के अगले हिस्सों को प्राप्त करने के लिए पाठक व्याकुल रहा करते थे, वहाँ इस उपन्यास को लहरी प्रेस से ही मुद्रित होने में छह वर्ष लग गये। अनुवाद के 'उपक्रम' में लेखक ने पाठकों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट किया है। प्रकाशक भी अपने वक्तव्य में लिखता है— "परन्तु जिस प्रकार मुझे इसके प्रकाशन से किसी प्रकार के लाभ की आशा नहीं है उसी प्रकार हानि उठाने की सामर्थ्य भी नहीं है। अतः मेरी यह प्रार्थना परिचित अपरिचित समस्त हिन्दी पाठकों से है कि वे इसकी एक एक प्रति ग्रहण करके मेरी सहायता करेंगे।"[1]

उक्त प्रकाशक की दीन प्रार्थना के साथ रेनाल्डस के अनूदित उपन्यासों के एक प्रकाशक की गर्वपूर्ण सूचना द्रष्टव्य है :

"नरपिशाच का तीसरा भाग जल्दी छापा जाता है आशा है कि अत्यन्त शीघ्र प्रस्तुत हो जायगा। हमारे पास तीसरे भाग की माँग के लिए अभी से कितने महाशयों के पत्र आने लगे हैं। आगे जिन महाशयों को नरपिशाच के तीसरे भाग का प्रयोजन हो उनसे शीघ्र ही माँग का पत्र भेजने का अनुरोध है। अन्यथा पुस्तक छपते ही वह माँग वाले महाशयों के पास चली जायगी और शेष महाशयों को दूसरे एडिशन की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।"[2]

उपर्युक्त दोनों निवेदनों की तुलना से स्पष्ट है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कौतूहलोत्पादक घटना प्रधान उपन्यासों की तुलना में ऐतिहासिक उपन्यासों की माँग नगण्य थी। 'मान कुमारी' का दूसरा संस्करण १५-२० वर्ष बाद हुआ, इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है।

विवेच्य काल के अन्य अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास भी हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय न हो सके थे, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अपवाद स्वरूप एक दो कृतियों के अतिरिक्त शेष के द्वितीय संस्करण नहीं प्रकाशित हुए।

हिन्दी में अनूदित ऐतिहासिक उपन्यासों के लोकप्रिय न होने का कारण दुर्निरूप नहीं। इन उपन्यासों की भूमिकाओं के अवलोकन से पता चलता है कि ये अनुवाद या तो 'शिक्षित समाज' की रुचि का ध्यान रखकर प्रस्तुत किये गये थे अथवा साधारण पाठकों के

१ मानकुमारी अनुवादक बाबू व्रजचन्द, प्रकाशक—देवनाथ पाठक एण्ड सन्, १९११, कलकत्ता।

२ नरपिशाच, अनुवादक—हरिकृष्ण जौहर, प्रकाशक—भारत जीवन यन्त्रालय, काशी, दूसरा भाग १९०२ ई॰ 'सूचना'।

ऐतिहासिक मानवधन या चरित्रनिर्माण सम्बन्धी कोई उपदेश देने के लिए।'[1] 'नूरजहाँ अर्थात ज्योतिमयी' (१९०३) की 'भूमिका' में अनुवादक ने लिखा है 'आजकल हिंदी भाषा के साहित्य में उपन्यास और नाटक की बड़ी चर्चा है इसके लिए यह बात आवश्य कीय है कि इतिहास ग्रंथो के आशय से उपन्यास तयार किये जाय, जिनके पठन पाठन से भाषानुरागियों को यह बात विदित हो जाय कि भारतवर्ष की एक समय कैसी उन्नति हो रही थी, आजकल अधिकांश उपन्यास तिलस्म जादू अइयारी इत्यादि के प्रकाशित होते हैं जिनको पढ़ने से लोगों की रुचि बिगड़ती जाती है यद्यपि १०-११ उपन्यास ऐसे ही प्रकाशित हुए हैं जिनमें पूर्ण रीति से ऐतिहासिक उपाख्यान का समावेश है परन्तु करोड़ों हिंदी भाषानुरागियों के लिए इतने ही ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रकाशित होना अलम नहीं है।"[2]

हम देख चुके हैं कि विवेच्य काल में, विशेषकर उसके आरम्भिक दो दशकों में हिन्दी में सुशिक्षित पाठकों की संख्या अल्प थी, और अल्प शिक्षित पाठक ऐतिहासिक उपन्यास, जिनमें कौतूहलजनक घटनाओं का अभाव होता है, पसंद नहीं करते। यही कारण है कि विवेच्य काल में अनूदित ऐतिहासिक उपन्यास हिंदी पाठकों में लोकप्रिय न हो सके।

इस प्रतिकूल परिस्थिति में भी बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के ऐतिहासिक उपन्यास पर्याप्त लोकप्रिय थे। 'राजसिंह' की लोकप्रियता पर प्रकाश डालते हुए उसके अनुवादक पं० रामानन्द द्विवेदी ने लिखा था—' उस समय से 'वीर भारत' में नियमित रूप से 'राजसिंह' का अनुवाद प्रकाशित होने लगा। उसके पाठकों ने इसे खूब पसन्द किया। कितने ही हिंदी प्रेमी केवल 'राजसिंह' पढ़ने की इच्छा से 'वीर भारत' के ग्राहक बन गये उस समय इसकी बड़ी धूम थी। यदि किसी कारणवश एक दो संख्या खाली चली जाती तो सैकड़ों तकाजे की चिट्ठियाँ 'वीर भारत' के कार्यालय में आने लगती।

बंकिम बाबू के 'दुर्गेशनन्दनी' 'राजसिंह' और 'चन्द्रशेखर' हिंदी पाठकों में खूब लोकप्रिय हुए थे, यह उनकी संस्करण संख्या से स्पष्ट है। बंकिम बाबू के उपन्यासों की लोकप्रियता का कारण है, उनका अतिशय रोचक होना। यद्यपि उन्होंने इतिहास को कहीं भी विकृत नहीं होने दिया है, फिर भी घटनाओं और कार्यों की योजना इस कौशल से की है, कि उनमें अमित कौतूहलोत्पादकता उत्पन्न हो गयी है। बंकिम बाबू अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में भी सर्वत्र एक कुशल किस्सागो बने रहते हैं। इसके साथ साथ उन्होंने प्राचीन हिंदू गौरव तथा हिंदू समाज की भावनाओं और विचारों को वाणी देकर अपने उपन्यासों को हिंदू पाठकों की रुचि के अनुरूप बना दिया है। यही कारण है कि बंकिम बाबू के ऐतिहासिक उपन्यास अपेक्षाकृत अल्पशिक्षित पाठकों को भी आकृष्ट करने में समर्थ हुए थे।

---

१ द्रष्टव्य, मानकुमारी (लेखक—चंडी चरण सेन), १९१५ भूमिका तथा शिवाजी विजय अर्थात जीवन प्रभात (अनुवादक बलदेव प्रसाद मिश्र) १९०१, भूमिका।

२ नूरजहाँ अर्थात् ज्योतिमयी (लेखक—राय हाराणचंद्र, अनुवादक—श्याम सुन्दर लाल), १९०३, भूमिका।

निष्कप रूप म कहा जा सकता है कि अनूदित एतिहासिक उपन्यास हिन्दी पाठका म अधिक लाकप्रिय नहीं हुए। विवच्य काल म अनूदित सामाजिक उपन्यासों की सख्या बहुत कम है। लाकप्रियता की दृष्टि स भी एतिहासिक उपन्यास सामान्य उपन्यासों की तुलना म पश्चातगामी हैं। कारण यह है कि एतिहासिक उपन्यासा क लिए जिस बौद्धिक और शैक्षिक स्तर क पाठका की अपेक्षा होती है, उसका हिन्दी म अभाव था। फिर भी बंकिम बाबू के एतिहासिक उपन्यास रोचक कार्ययोजना यथार्थ तथा मार्मिक चरित्रचित्रण और हिंदू गौरव तथा हिंदू भावनाओं के अंकन के चलते हिन्दी पाठका म लाकप्रिय हुए। अनूदित एतिहासिक उपन्यासा के प्रकाशनवर्षों के अवलोकन स यह भी स्पष्ट होता है कि विवच्य काल क प्रथम दशक म (१८९०–१९०० ई०) एतिहासिक उपन्यासा की—बंकिम बाबू क उपन्यासा की भी—लाकप्रियता नगण्य था। पर १९०० ई० क बाद अनूदित एतिहासिक उपन्यासा की लोकप्रियता म सतत वृद्धि दिखाई पड़न लगती है, और विवच्य काल क प्राय अत तक आते आते एतिहासिक उपन्यासपाठका का भी एक वर्ग तैयार हो जाता है।

यह सामान्य धारणा है कि विवच्यकाल म हिन्दी म कवल बंगला उपन्यास अनूदित हुए थ। किन्तु यह धारणा भ्रान्त है। विवेच्य काल म अंगरेजी उर्दू गुजराती और मराठी भाषाओं स भी कुछ कथापुस्तका क हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किय गय थ, जो निम्नलिखित हैं —

अँगरेजी से अनूदित कथाएँ

पुलिस वृत्तात माला (१८९०), उपला (१८९४) वीरन्द्र (१८९६) मनहरण (१८९९), विचित्र स्त्री चरित्र (१९०३) श्री या अवश्य माननीय (१९०२) सत्यवती या हीरे की अगूठी (१९०३), फूल म कांटा (१९०६) कोशल किशोर (१९०९) पुतल (१९१०) निर्मोल की कथा (१९१०) रामियो जुलिएट (१९१२) वीर हरि सिंह (१९१२), राबिसन क्रूसा (१९१३) सुरन्द्र सुन्दरी (१९१४) शक्सपीयर ग्रन्थावली (१९१४), कालग्रास (१९१६) टाम काका की कुटिया (१९१६) इलियड काव्यसार (१९१७) अकबर (१८९१) मरहठा सरदार और रोशन आरा औरंगजेब की पुत्री का प्रम (१८९८), मसूर का नवाब हैदरअली (१९०७) लखनऊ की नवाबी (१९०७) चांदबीबी या वीर रमणी (१९०८) रानी मरी (१९१२) बादशाह का बुलावा (१९१५)।

उर्दू से अनूदित उपन्यास

अमला वृत्तांत माला (१८९४), सत्रार दश्त (१८९५) बदरुन्निसा की मुसीबत (१९०३), गुलबदन या रजिया बेगम (१९०८)।

गुजराती से अनूदित उपन्यास

कपटी मित्र (१९००) प्रायश्चित्त तथा अपूर्व सम्मिलन (१९०७) युगल मालती (१९१२), वनवासिना (१९१४), माहिना (१९१७) मुद्रागुनान (१८९२)।

मराठी से अनूदित उपन्यास

रमा और माधव (१८९९), प्रगति माधव (१९०१), अनन्य रमणा (१९१०) सरस्वती (१९१४) नवलता (१९१८), निग्रान्त (१९१६) सलिमा बेगम (१९१२),

सम्राट अशोक (१९१३) शिवाजी का आत्मदमन वा रोशन आरा (१९१३) छत्र साल (१९१६)।

संस्कृत से अनूदित

कथा सरित्सागर (१९०५), दशकुमार चरित (१९०६) शकुंतला की कथा (१९१७)।

उड़िया से अनूदित

पावती और यशोदा (१९११) बालबाला अथवा आदर्श बहू (१९१५) लच्छमा (१९१५)।

उपर्युक्त सूची से इस भ्रम का निराकरण अच्छी तरह हो जाता है कि विवेच्य काल में केवल बंगला उपन्यासों के हिंदी अनुवाद हुए थे। अंगरेजी से अनूदित कथापुस्तकों के विषय में कहा जा सकता है कि सभी अविकल अनुवाद न होकर रूपांतर हैं। हिन्दी लेखकों और पाठकों की रुचि के अनुरूप उनके पात्रों और स्थानों के नाम तथा घटनाएँ बदल दी गयी हैं। अंगरेजी और उर्दू से अनूदित कथापुस्तकें हिन्दू भावना और आदर्शों के कदाचित् अनुकूल न होने के कारण लोकप्रियता न प्राप्त कर सकीं।

विवेच्य काल में यदि एक तरफ विशुद्ध कौतूहलप्रधान कथा प्रेमी, अल्पशिक्षित पाठकों के लिए तिलिस्मी और अपराधप्रधान कथापुस्तकें तथा सुशिक्षित और विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास रचित-अनूदित हो रहे थे, तो दूसरी तरफ हिन्दी में एक ऐसा पाठकसमुदाय भी था, जिसकी पहुंच इन पुस्तकों तक न थी। यह पाठकसमुदाय अल्पशिक्षित और परम्परागत हिंदू आदर्शों का अनुगामी था। इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी में एयारी तिलस्मी, जासूसी और कामचित्रण प्रधान कथापुस्तकों की बाढ़ देखकर तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठक और अभिभावक गण चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि किशोर और युवक पाठक, विशेष कर पाठिकाएँ इन चरित्रविनाशक कथापुस्तकों को पढ़ें। इस विचार के कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दी में ऐसी कथापुस्तकें हों, जो चरित्रनिर्माण में सहायक होने के साथ रोचक भी हों। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर विवेच्य काल में हिन्दी में शताधिक पौराणिक कथाएं लिखी गयीं। इन कथाओं में भारतीय महापुरुषों और सती स्त्रियों के, जैसे भगवान राम, भीष्म पितामह, अभिमन्यु नारद, वाल्मीकि, लक्ष्मण, युधिष्ठिर, कर्ण, भरत, अर्जुन, प्रह्लाद सावित्री सीता, दमयन्ती मदालसा, द्रौपदी, सती, सुनीति, गांधारी आदि के चरित्र वर्णित कर पाठक पाठिकाओं को विमल चरित्र अपनाने का उपदेश दिया गया है। इन कथाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी रचना विशेष रूप से पाठिकाओं को उद्दिष्ट करके की गयी थी। इस काल में स्त्रीशिक्षा का प्रसार अत्यल्प था, और पाठिकाओं की संख्या नगण्य थी। यदि कुछ स्त्रियाँ साक्षर थीं भी तो उन्हें पुस्तकों के लिए घर के पुरुष सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। सनातनवादी हिंदू समाज के पुरुष सदस्य स्त्रियों के चरित्रनिर्माण के विषय में कितना सतर्क रहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। विवेच्य काल में इस प्रकार के सनातन धर्मी हिंदू विचारों का अनुगमन

करनेवालों की संख्या समाज में अत्यधिक थी। उस समय की यह एक सामान्य धारणा थी कि पढ़नेलिखने से स्त्रियों का चरित्र दूषित हो जाता है। उपन्यास पढ़ना तो उनके लिए नितांत हानिकारक समझा जाता था। इस कारण स्त्रियों की पहुंच उपन्यास तक बहुत कम थी। जो लोग प्रगतिशील विचारों के थे और मानते थे कि स्त्रियों को शिक्षित होना चाहिए, वे अपने घर की स्त्रियों को धार्मिक और पौराणिक कथाएं पढ़ने देते थे। इस प्रकार इस काल की पौराणिक कथाएं विशेषकर पाठिकाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयीं या धर्मप्राण अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि भी इनकी रचना के मूल में कार्यशील थी।

उपर्युक्त रुचिधारा को ध्यान में रखकर पौराणिक कथाओं का प्रकाशन विवेच्य काल में प्रभूत परिमाण में हुआ। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई लक्ष्मीनारायण प्रेस, मुरादाबाद, राजपूत ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा, हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, नेशनल प्रेस, प्रयाग इंडियन प्रेस, प्रयाग आदि प्रकाशनसंस्थाओं ने पौराणिक कथाओं के प्रकाशन में विशेष उत्साह का परिचय दिया। इन पुस्तकों का प्रचार भी पर्याप्त मात्रा में हुआ, यह इनकी भूमिकाओं और संस्करणसंख्याओं से स्पष्ट है।

इस प्रकार इस युग की पौराणिक कथाएँ एक विशेष रुचिधारा की माँग के परिणामस्वरूप, जो अन्यत्र उपेक्षित थी, रची गयी थीं। यों मौलिक उपन्यासों में भी स्त्रियों और धार्मिक हिन्दू पाठकों की रुचि का थोड़ा बहुत ध्यान रखा गया है पर ऐसी पुस्तकें जो स्त्रियों और किशोरों के लिए सर्वथा निर्दोष समझी जाती थीं, वे पौराणिक कथाएँ ही थीं।

सारांश और निष्कर्ष

विवेच्य काल का अनूदित कथासाहित्य विस्तार और वैविध्य की दृष्टि से मौलिक कथासाहित्य से यदि बढ़ चढ़ कर नहीं तो उसके समकक्ष अवश्य है। यह दूसरी बात है कि इस अवधि के अनेक अनुवादकों ने जिनमें गोपालराम गहमरी मुख्य हैं, अनुवादधर्म का निबाह नहीं किया है। कुछ ने मूल उपन्यासकार का नाम नहीं दिया है कुछ ने मूल पुस्तक का नाम नहीं बताया है और कुछ ने दोनों में से कोई भी सूचना न देकर अनुवाद को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस काल के अधिकांश अनुवाद अविकल न होकर रूपान्तर हैं और प्रायः रूपांतरित उपन्यासों में मूल शीर्षक परिवर्तित कर दिए गये हैं। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की इस स्थिति पर जनवरी १९०२ ई० की 'सरस्वती' में एक अत्यन्त मनोरंजक व्यंग्यचित्र प्रकाशित हुआ था। इस चित्र में 'मराठी साहित्य' के नीचे एक मराठी सज्जन का चित्र दिया है जिसके नीचे लिखा है— इसने हा ऽऽऽ किसी ने पगड़ी उड़ा दी! विलक्षण जादू!! विलक्षण इन्द्रजाल!!! अंगरेजी साहित्य के साथ एक साहब का चित्र है, जिसके नीचे लिखा हुआ है—'वाह कोट पतलून! पहन ही पहन!! गजब!!! 'बंगला साहित्य' शीर्षक के साथ एक बंगाली का चित्र है जिसके नीचे लिखा है— अरे यह क्या? दुपट्टा गायब! धोती भी गायब!! और रूमाल भी!!! आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! अद्भुत व्यापार!! अद्भुत माया!!! 'हिन्दी साहित्य' शीर्षक के साथ एक व्यक्ति का चित्र है, जिसके सर पर टोपी, शरीर पर कोट कंधे पर दुपट्टा हाथ में

सम्राट अशोक (१९१३) शिवाजी का आत्मदमन वा रोशन आरा (१९१३), छत्र साल (१९१६)।

संस्कृत से अनूदित

कथा सरित्सागर (१९०५) दशकुमार चरित (१९०६) शकुन्तला की कथा (१९१७)।

उड़िया से अनूदित

पार्वती और यशोदा (१९११) शलबाला अथवा आदर्श बहू (१९१५) लच्छमा (१९१५)।

उपर्युक्त सूची से इस भ्रम का निराकरण अच्छी तरह हो जाता है कि विवेच्य काल में केवल बंगला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद हुए थे। अंगरेजी से अनूदित कथापुस्तकों के विषय में कहा जा सकता है कि सभी अविकल अनुवाद न होकर रूपांतर हैं। हिन्दी लेखकों और पाठकों की रुचि के अनुरूप उनके पात्रों और स्थानों के नाम तथा घटनाएँ बदल दी गयी हैं। अंगरेजी और उर्दू से अनूदित कथापुस्तकें हिन्दू भावना और आदर्शों के कदाचित् अनुकूल न होने के कारण लोकप्रियता न प्राप्त कर सकीं।

विवेच्य काल में यदि एक तरफ विशुद्ध कौतूहलप्रधान कथा प्रेमी, अल्पशिक्षित पाठकों के लिए तिलिस्मी और अपराधप्रधान कथापुस्तकें तथा सुशिक्षित और विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास रचित-अनूदित हो रहे थे तो दूसरी तरफ हिन्दी में एक ऐसा पाठकसमुदाय भी था, जिसकी पहुँच इन पुस्तकों तक न थी। यह पाठकसमुदाय अल्पशिक्षित और परम्परागत हिन्दू आदर्शों का अनुगामी था। इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी में ऐयारी तिलस्मी, जासूसी और कामचित्रण प्रधान कथापुस्तकों की बाढ़ देखकर तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठक और अभिभावक गण चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि किशोर और युवक पाठक, विशेष कर पाठिकाएँ इन चरित्रविनाशक कथापुस्तकों को पढ़ें। इस विचार के कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दी में ऐसी कथापुस्तकें हों, जो चरित्रनिर्माण में सहायक होने के साथ रोचक भी हों। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर विवेच्य काल में हिन्दी में शताधिक पौराणिक कथाएँ लिखी गयीं। इन कथाओं में भारतीय महापुरुषों और सती स्त्रियों के, जैसे भगवान राम, भीष्म पितामह, अभिमन्यु, नारद, वाल्मीकि, लक्ष्मण युधिष्ठिर, कर्ण, भरत, अर्जुन, प्रह्लाद सावित्री, सीता, दमयन्ती, मदालसा, द्रौपदी, सती, सुनीति, गांधारी आदि के चरित्र वर्णित कर पाठक पाठिकाओं को विमल चरित्र अपनाने का उपदेश दिया गया है। इन कथाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी रचना विशेष रूप से पाठिकाओं को उद्दिष्ट करके की गयी थी। इस काल में स्त्रीशिक्षा का प्रसार अत्यल्प था, और पाठिकाओं की संख्या नगण्य थी। यदि कुछ स्त्रियाँ साक्षर थीं भी तो उन्हें पुस्तकों के लिए घर के पुरुष सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। सनातनवादी हिन्दू समाज के पुरुष सदस्य स्त्रियों के चरित्रनिर्माण के विषय में कितना सतर्क रहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। विवेच्य काल में इस प्रकार के सनातन पंथी हिन्दू विचारों का अनुगमन

करनेवालों की संख्या समाज में अत्यधिक थी। उस समय की यह एक सामान्य धारणा थी कि पढ़ने-लिखने से स्त्रियों का चरित्र दूषित हो जाता है। उपन्यास पढ़ना तो उनके लिए नितांत हानिकारक समझा जाता था। इस कारण स्त्रियों की पहुँच उपन्यास तक बहुत कम थी। जो लोग प्रगतिशील विचारों के थे और मानते थे कि स्त्रियों को शिक्षित होना चाहिए वे अपने घर की स्त्रियों को धार्मिक और पौराणिक कथाएँ पढ़ने देते थे। इस प्रकार इस काल की पौराणिक कथाएँ विशेषकर पाठिकाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयीं थीं। धर्मप्राण अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि भी इनकी रचना के मूल में कार्यशील था।

उपर्युक्त रुचिधारा को ध्यान में रखकर पौराणिक कथाओं का प्रकाशन विवेच्य काल में प्रभूत परिमाण में हुआ। वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद, राजपूत ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा, हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, नारायण प्रेस, प्रयाग, इंडियन प्रेस, प्रयाग आदि प्रकाशनसंस्थाओं ने पौराणिक कथाओं के प्रकाशन में विशेष उत्साह का परिचय दिया। इन पुस्तकों का प्रचार भी पर्याप्त मात्रा में हुआ, यह इनकी भूमिकाओं और संस्करणसंख्याओं से स्पष्ट है।

इस प्रकार इस युग की पौराणिक कथाएँ एक विशेष रुचिधारा की माँग के परिणामस्वरूप, जो अत्यन्त प्रभावित थी, रची गयी थीं। यों मौलिक उपन्यासों में भी स्त्रियों और धार्मिक हिन्दू पाठकों की रुचि का थोड़ा बहुत ध्यान रखा गया है, पर ऐसी पुस्तकें जो स्त्रियों और किशोरों के लिए सर्वथा निर्दोष समझी जाती थीं, वे पौराणिक कथाएँ ही थीं।

सारांश और निष्कर्ष

विवेच्य काल का अनूदित कथासाहित्य विस्तार और वैविध्य की दृष्टि से मौलिक कथासाहित्य से यदि बढ़ चढ़ कर नहीं तो उसके समकक्ष अवश्य है। यह दूसरी बात है कि इस अवधि के अनेक अनुवादकों ने जिनमें गोपालराम गहमरी मुख्य हैं अनुवादधर्म का निर्वाह नहीं किया है। कुछ ने मूल उपन्यासकार का नाम नहीं दिया है कुछ ने मूल पुस्तक का नाम नहीं बताया है और कुछ ने इनमें से कोई भी सूचना न देकर अनुवाद को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस काल के अधिकांश अनुवाद अविकल न होकर रूपान्तर हैं और प्रायः रूपान्तरित उपन्यासों में मूल शीर्षक परिवर्तित कर दिए गये हैं। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की इस स्थिति पर जनवरी १९०२ ई० की सरस्वती में एक अत्यन्त मनोरंजक व्यंग्यचित्र प्रकाशित हुआ था। इस चित्र में मराठी साहित्य के नीचे एक मराठी सज्जन का चित्र छपा है जिसके नीचे लिखा है—इतने हो स्थल किसी ने चोरी उड़ा ली! विलायत जादू!! विकराल इन्द्रजाल!!! अंगरेजी साहित्य के नीचे एक साहब का चित्र है जिसके नीचे लिखा हुआ है—आह! बाट समाप्त! पहुँच ही पहुँच!! गजब!!! बंगला साहित्य शीर्षक के नीचे एक बंगाली का चित्र है जिसके नीचे लिखा है—अरे यह क्या? दुपट्टा गायब! घड़ी भी गायब!! और रूमाल भी!!! आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! अद्भुत व्यापार!! अद्भुत माया!!! हिन्दी साहित्य शीर्षक के नीचे एक व्यक्ति का चित्र है जिसके सर पर टोपी शरीर पर कोट कंधे पर दुपट्टा, हाथ में

सम्राट अशोक (१९१२) शिवाजी का आत्मदमन वा रोशन आरा (१९१३), छत्र साल (१९१६)।

संस्कृत से अनूदित

कथा सरित्सागर (१९०५), दशकुमार चरित (१९०६) 'शकुंतला' की कथा (१९१७)।

उड़िया से अनूदित

पार्वती और यशोदा (१९११) शैलबाला अथवा आदर्श बहू (१९१५) लच्छमा (१९१५)।

उपर्युक्त सूची से इस भ्रम का निराकरण अच्छी तरह हो जाता है कि विवेच्य काल में केवल बंगला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद हुए थे। अंगरेजी से अनूदित कथापुस्तकों के विषय में कहा जा सकता है कि सभी अविकल अनुवाद न होकर रूपांतर हैं। हिन्दी लेखकों और पाठकों की रुचि के अनुरूप उनके पात्रों और स्थानों के नाम तथा घटनाएँ बदल दी गयी हैं। अंगरेजी और उर्दू से अनूदित कथापुस्तकें हिन्दू भावना और आदर्शों के कदाचित अनुकूल न होने के कारण लोकप्रियता न प्राप्त कर सकीं।

विवेच्य काल में यदि एक तरफ विशुद्ध कौतूहलप्रधान कथा प्रेमी, अल्पशिक्षित पाठकों के लिए तिलिस्मी और अपराधप्रधान कथापुस्तकें तथा सुशिक्षित और विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास रचित-अनूदित हो रहे थे, तो दूसरी तरफ हिन्दी में एक ऐसा पाठकसमुदाय भी था, जिसकी पहुंच इन पुस्तकों तक न थी। यह पाठकसमुदाय अल्पशिक्षित और परम्परागत हिन्दू आदर्शों का अनुगामी था। इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी में ऐयारी तिलस्मी, जासूसी और कामचित्रण प्रधान कथापुस्तकों की बाढ़ देखकर तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठक और अभिभावक गण चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि किशोर और युवक पाठक, विशेष कर पाठिकाएं इन चरित्रविनाशक कथापुस्तकों को पढ़ें। इस विचार के कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दी में ऐसी कथापुस्तकें हों, जो चरित्रनिर्माण में सहायक होने के साथ रोचक भी हों। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर विवेच्य काल में हिन्दी में शताधिक पौराणिक कथाएँ लिखी गयीं। इन कथाओं में भारतीय महापुरुषों और सती स्त्रियों के, जैसे भगवान राम, भीष्म पितामह, अभिमन्यु, नारद, वाल्मीकि, लक्ष्मण, युधिष्ठिर, कर्ण, भरत, अर्जुन, प्रह्लाद, सावित्री, सीता, दमयन्ती, मदालसा, द्रौपदी, सती, सुनीति, गांधारी आदि के चरित्र वर्णित कर पाठक पाठिकाओं को विमल चरित्र अपनाने का उपदेश दिया गया है। इन कथाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी रचना विशेष रूप से पाठिकाओं को उद्दिष्ट करके की गयी थी। इस काल में स्त्रीशिक्षा का प्रसार अत्यल्प था, और पाठिकाओं की संख्या नगण्य थी। यदि कुछ स्त्रियाँ साक्षर थीं भी तो उन्हें पुस्तकों के लिए घर के पुरुष सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। सनातनवादी हिन्दू समाज के पुरुष सदस्य स्त्रियों के चरित्रनिर्माण के विषय में कितना सतर्क रहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। विवेच्य काल में इस प्रकार के सनातन पंथी हिन्दू विचारों का अनुगमन

करनेवालों की संख्या समाज में अत्यधिक थी। उस समय की यह एक सामान्य धारणा थी कि पढ़नेलिखने से स्त्रियों का चरित्र दूषित हो जाता है। उपन्यास पढ़ना तो उनके लिए नितान्त हानिकारक समझा जाता था। इस कारण स्त्रियों की पहुँच उपन्यास तक बहुत कम थी। जो लोग प्रगतिशील विचारों के थे और मानते थे कि स्त्रियों को शिक्षित होना चाहिए, वे अपने घर की स्त्रियों को धार्मिक और पौराणिक कथाएं पढ़ने देते थे। इस प्रकार इस काल की पौराणिक कथाएं विशेषकर पाठिकाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयी थीं। धर्मप्राण अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि भी इनकी रचना के मूल में कार्यशील थी।

उपर्युक्त रुचिधारा को ध्यान में रखकर पौराणिक कथाओं का प्रकाशन विवेच्य काल में प्रभूत परिमाण में हुआ। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद, राजपूत ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस आगरा, हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता नेशनल प्रेस प्रयाग, इण्डियन प्रेस, प्रयाग आदि प्रकाशनसंस्थाओं ने पौराणिक कथाओं के प्रकाशन में विशेष उत्साह का परिचय दिया। इन पुस्तकों का प्रचार भी पर्याप्त मात्रा में हुआ यह इनकी भूमिकाओं और संस्करणसंख्याओं से स्पष्ट है।

इस प्रकार इस युग की पौराणिक कथाएँ एक विशेष रुचिधारा की माँग के परिणामस्वरूप, जो अत्यन्त उपेक्षित थी, रची गयी थीं। यों मौलिक उपन्यासों में भी स्त्रियों और धार्मिक हिन्दू पाठकों की रुचि का थोड़ा बहुत ध्यान रखा गया है पर ऐसी पुस्तकें जो स्त्रियों और किशोरों के लिए सर्वथा निर्दोष समझी जाती थीं, ये पौराणिक कथाएँ ही थीं।

सारांश और निष्कर्ष

विवेच्य काल का अनूदित कथासाहित्य विस्तार और वैविध्य की दृष्टि से मौलिक कथासाहित्य से यदि बढ़ चढ़ कर नहीं तो उसके समकक्ष अवश्य है। यह दूसरी बात है कि इस अवधि के अनेक अनुवादकों ने जिनमें गोपालराम गहमरी प्रमुख हैं, अनुवादधर्म का निर्वाह नहीं किया है। कुछ ने मूल उपन्यासकार का नाम नहीं दिया है कुछ ने मूल पुस्तक का नाम नहीं बताया है और कुछ ने दोनों में से कोई भी सूचना न देकर अनुवाद को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस काल के अधिकांश अनुवाद अविकल न होकर रूपान्तर हैं और प्रायः रूपान्तरित उपन्यासों में सब शीर्षक परिवर्तित कर दिये गये हैं। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की इस स्थिति पर जनवरी १९०२ ई० की सरस्वती में एक अत्यन्त मनोरंजक व्यंग्यचित्र प्रकाशित हुआ था। इस चित्र में 'मराठी साहित्य' के नीचे एक मराठी सज्जन का चित्र दिया है जिसके नीचे लिखा है—'देखते ही देखते किसी ने पगड़ी उड़ा दी! विलक्षण जादू!! विलक्षण इन्द्रजाल!!!' अंगरेजी साहित्य के नीचे एक साहब का चित्र है, जिसके नीचे लिखा हुआ है—'हाट कोट नदारद! पहले ही पहल!! गजब!!!' 'बंगला साहित्य' शीर्षक के नीचे एक बंगाली का चित्र है जिसके नीचे लिखा है—अरे यह क्या? दुपट्टा गायब! घड़ी भी गायब!! और रूमाल भी!!! आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! अद्भुत व्यापार!! अद्भुत माया!!! हिन्दी साहित्य शीर्षक के नीचे एक व्यक्ति का चित्र है, जिसके सिर पर टोपी, शरीर पर कोट, कंधे पर दुपट्टा, हाथ में

सम्राट अशोक (१९१३) शिवाजी का आत्मदमन वा रौशन आरा (१९१३), छत्र साल (१९१६)।

संस्कृत से अनूदित

कथा सरित्सागर (१९०८) दशकुमार चरित (१९०६) शकुंतला की कथा (१९१७)।

उड़िया से अनूदित

पार्वती और यशोदा (१९११) शैलबाला अथवा आदर्श बहू (१९१४) लच्छमा (१९१५)।

उपर्युक्त सूची से इस भ्रम का निराकरण अच्छी तरह हो जाता है कि विवेच्य काल में केवल बंगला उपन्यासों के हिंदी अनुवाद हुए थे। अंगरेजी से अनूदित कथापुस्तकों के विषय में कहा जा सकता है कि सभी अविकल अनुवाद न होकर रूपांतर हैं। हिंदी लेखकों और पाठकों की रुचि के अनुरूप उनके पात्रों और स्थानों के नाम तथा घटनाएँ बदल दी गयी हैं। अंगरेजी और उर्दू से अनूदित कथापुस्तकें हिंदू भावना और आदर्शों के कदाचित् अनुकूल न होने के कारण लोकप्रियता न प्राप्त कर सकीं।

विवेच्य काल में यदि एक तरफ विशुद्ध कौतूहलप्रधान कथा प्रेमी, अल्पशिक्षित पाठकों के लिए तिलिस्मी और अपराधप्रधान कथापुस्तकें तथा सुशिक्षित और विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास रचित-अनूदित हो रहे थे, तो दूसरी तरफ हिन्दी में एक ऐसा पाठकसमुदाय भी था, जिसकी पहुंच इन पुस्तकों तक न थी। यह पाठकसमुदाय अल्पशिक्षित और परम्परागत हिंदू आदर्शों का अनुगामी था। इस तथ्य का उल्लेख किया जा चुका है कि हिन्दी में ऐयारी तिलस्मी, जासूसी और कामचित्रण प्रधान कथापुस्तकों की बाढ़ देखकर तत्कालीन परिष्कृत रुचि के पाठक और अभिभावक गण चिंतित थे। वे नहीं चाहते थे कि किशोर और युवक पाठक, विशेष कर पाठिकाएँ इन चरित्रविनाशक कथापुस्तकों को पढ़ें। इस विचार के कार्यान्वयन के लिए यह आवश्यक था कि हिन्दी में ऐसी कथापुस्तकें हों, जो चरित्रनिर्माण में सहायक होने के साथ रोचक भी हों। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर विवेच्य काल में हिन्दी में शताधिक पौराणिक कथाएँ लिखी गयीं। इन कथाओं में भारतीय महापुरुषों और सती स्त्रियों के, जैसे भगवान राम, भीष्म पितामह, अभिमन्यु, नारद, वाल्मीकि, लक्ष्मण, युधिष्ठिर, कर्ण, भरत, अर्जुन, प्रह्लाद, सावित्री, सीता दमयन्ती, मदालसा, द्रौपदी, सती, सुनीति गांधारी आदि के चरित्र वर्णित कर पाठक पाठिकाओं को विमल चरित्र अपनाने का उपदेश दिया गया है। इन कथाओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि इनकी रचना विशेष रूप से पाठिकाओं को उद्दिष्ट करके की गयी थी। इस काल में स्त्रीशिक्षा का प्रसार अत्यल्प था, और पाठिकाओं की संख्या नगण्य थी। यदि कुछ स्त्रियाँ साक्षर थीं भी तो उन्हें पुस्तकों के लिए घर के पुरुष सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता था। सनातनवादी हिन्दू समाज के पुरुष सदस्य स्त्रियों के चरित्रनिर्माण के विषय में कितना सतर्क रहते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। विवेच्य काल में इस प्रकार के सनातन पंथी हिंदू विचारों का अनुगमन

करनेवालों की संख्या समाज में अत्यधिक थी। उस समय की यह एक सामान्य धारणा थी कि पढ़नेलिखने से स्त्रियों का चरित्र दूषित हो जाता है। उपन्यास पढ़ना तो उनके लिए नितांत हानिकारक समझा जाता था। इस कारण स्त्रियों की पहुँच उपन्यास तक बहुत कम थी। जो लोग प्रगतिशील विचारों के थे और मानते थे कि स्त्रियों को शिक्षित होना चाहिए, वे अपने घर की स्त्रियों को धार्मिक और पौराणिक कथाएं पढ़ने देते थे। इस प्रकार इस काल की पौराणिक कथाएं विशेषकर पाठिकाओं को ध्यान में रखकर लिखी गयी, यों धर्मप्राण अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि भी इनकी रचना के मूल में कार्यशील थी।

उपर्युक्त रुचिधारा को ध्यान में रखकर पौराणिक कथाओं का प्रकाशन विवेच्य काल में प्रचुर परिमाण में हुआ। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई लक्ष्मीनारायण प्रेस मुरादाबाद राजपूत ऐंग्लो ओरियंटल प्रेस, आगरा हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता नागरी प्रेस प्रयाग, इंडियन प्रेस, प्रयाग आदि प्रकाशनसंस्थाओं ने पौराणिक कथाओं के प्रकाशन में विशेष उत्साह का परिचय दिया। इन पुस्तकों का प्रचार भी पर्याप्त मात्रा में हुआ यह इनकी भूमिकाओं और संस्करणसंख्याओं से स्पष्ट है।

इस प्रकार इस युग की पौराणिक कथाएँ एक विशेष रुचिधारा की माँग के परिणामस्वरूप, जो अत्यन्त उपेक्षित थी, रची गयी थी। यों मौलिक उपन्यासों में भी स्त्रियों और धार्मिक हिन्दू पाठकों की रुचि का थोड़ा बहुत ध्यान रखा गया है पर ऐसी पुस्तकें जो स्त्रियों और किशोरों के लिए सर्वथा निर्दोष समझी जाती थीं, वे पौराणिक कथाएँ ही थीं।

सारांश और निष्कर्ष

विवेच्य काल का अनूदित कथासाहित्य विस्तार और वैविध्य की दृष्टि से मौलिक कथासाहित्य से यदि बढ़ चढ़ कर नहीं तो उसके समकक्ष अवश्य है। यह दूसरी बात है कि इस अवधि के अनेक अनुवादकों ने जिनमें गोपालराम गहमरी प्रमुख हैं अनुवादधर्म का निर्वाह नहीं किया है। कुछ ने मूल उपन्यासकार का नाम नहीं दिया है कुछ ने मूल पुस्तक का नाम नहीं बताया है और कुछ ने दोनों में से कोई भी सूचना न देकर अनुवाद को मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस काल के अधिकांश अनुवाद अविकल न होकर रूपांतर हैं और प्राय रूपान्तरित उपन्यासों में मूल नायक परिवर्तित कर दिये गये हैं। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों की इस स्थिति पर जनवरी १९०२ ई० की सरस्वती में एक अत्यन्त मनोरंजक व्यंग्यचित्र प्रकाशित हुआ था। इस चित्र में 'मराठी साहित्य' के नीचे एक मराठी सज्जन का चित्र दिया है, जिसके नीचे लिखा है—इसने तो हमारे हिन्दी के पानी उतार दी! विलायत जादू!! विलायत इन्द्रजाल!!!' अंग्रेजी साहित्य के नीचे एक साहब का चित्र है, जिसके नीचे लिखा हुआ है— जाहू कोट नदारद! पहने ही पहने!! गजब!!! 'बंगला साहित्य' नायक के नीचे एक बंगाली का चित्र है जिसके नीचे लिखा है— अरे यह क्या? दुपट्टा गायब! धोती भी गायब!! और कमाल भी!!! आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! अद्भुत व्यापार!! अद्भुत माया!!! हिन्दी साहित्य नायक के नीचे एक व्यक्ति का चित्र है, जिसके सर पर टोपी, शरीर पर कोट, कंधे पर दुपट्टा, हाथ में

रूमाल, और घडी है । चित्र के नीचे लिखा हुआ है—"लोगो को अब समझ पडेगा कि मैं भी कोई चीज हू । मुझे देखकर उन्हे हैरत होगी कि किस झपाटे से मैंने अपनी उन्नति कर डाली ! कैसा हाथ मारा ? भई वाह ! पेरिस के महाविद्यालय म मैने इस विज्ञान की शिक्षा पाई है ! ! ! मजाल है किसी को जरा भी इसकी खबर लग जाय । और लग भी तो क्या ? टाइम्स' और 'ग्लाव' की रक्षक, क्षमा की गोद मेरे लिए जिबराल्टर के किले का काम दे ही देगी ।'[१]

१९०० ई० के पूर्व हिन्दी मे अनूदित अधिकाश उपन्यास प्रकारत निम्नकोटि के थे । *जनवरी १८९९ ई० म प० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था—' अनुवादित उपन्यासो* म भी कुछ तो ऐसे घिनौने हैं कि उनका गगाजी म प्रवाह कर देना ही श्रेय है बग भाषा स अनुवादित उपन्यासा की ओर ध्यान दीजिये—इन उपन्यासा की भाषा तो नि सदेह अच्छी होती है—और किसी किसी के विषय और रचना भी सराहनीय है—किन्तु ऐसे ग्रन्थ गिने गिनाए चार पाँच ही होगे ।

किन्तु १९०० ई० के बाद हिन्दीतर भाषाओ के उत्कृष्टतर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासा के अनुवादो का क्रम भी बड पैमाने पर आरम्भ हुआ, यो इस प्रकार के उपन्यासो का अनुवाद काफी पहले स होने लगा था । परवर्ती दो दशको म शताधिक सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास तथा पौराणिक कथाएँ हिन्दीतर भाषाओ से अनूदित हुई ।

यह कहना सर्वथा युक्तिसगत है कि मौलिक कथासाहित्य की तरह अनूदित कथा पुस्तकें भी विवेच्य काल म विद्यमान अनेक रुचिधाराओ का प्रतिनिधित्व करती हैं । पाठको की रुचितृप्ति की दृष्टि से उक्त अनूदित कथापुस्तकें मौलिक कथापुस्तको की पूरक कही जा सकती है । यह उल्लेखनीय है कि फारसी की तिलस्मी कथाओ के अनुवाद हिन्दी म नही हुए । देवकीनन्दन खत्री न तिलस्मी कथाप्रेमी पाठको की रुचितृप्ति इतने सफल रूप म की *थी कि उसके पूरक रूप म तिलस्मी कथाओ के अनुवाद की आवश्यकता ही न पडी ।* दूसरी तरफ अपराधप्रधान और जासूसी कथाओ के लेखक हिन्दी म प्राय नही थे । गहमरी जी ने कुछ अपराधकथाओ की रचना की थी, पर यह कहना कठिन है कि इनका कितना अश मौलिक है । फलत अपराध और जासूसी कथा म रुचि रखनेवाले पाठको के लिए रेनाल्ड्स पाँचकौडी दे तथा अन्य हिन्दीतर लेखको की कथापुस्तको के अनुवाद प्रस्तुत किये गये । इन अनूदित अपराधकथाओ ने तत्कालीन अपराधकथा प्रेमी पाठको की रुचितृप्ति म पूरक का काम किया । इसी प्रकार हिन्दी म किशोरो और पाठिकाओ के अनुरूप लिखित मौलिक कथापुस्तकें गिनीचुनी थी, अत उनके लिए विवेच्य काल म पौराणिक कथाओ की रचना की गयी ।

हिन्दी के अनूदित कथासाहित्य के इतिहास म सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना सामान्य और ऐतिहासिक उपन्यासो का अनुवाद है । मौलिक उपन्यासो के विवेचनक्रम म हम देख चुके हैं कि विवेच्य काल म श्रेष्ठ उपन्यासो (सामान्य और ऐतिहासिक) की सख्या अगुलिपरिगणनीय थी । इस काल म रचित मौलिक हिन्दी उपन्यास तत्कालीन पाठकों के बीच

१ सरस्वती भाग ३, स० १ जनवरी १९०२ ई० ।

अधिक लोकप्रिय न थे, यह भी देखा जा चुका है। मौलिक हिन्दी उपन्यास साहित्य के विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि विवेच्यकाल में सुशिक्षित, परिष्कृत रुचि संपन्न और यथार्थ चित्रणप्रधान उपन्यासों के पाठक अत्यल्प थे, जो नितान्त भ्रामक है। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों के अवलोकन से इस भ्रम का निराकरण होता है। इन अनूदित उपन्यासों के प्रथम प्रकाशनकाल तथा उनके विभिन्न संस्करणों को देखने से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल के प्रथम दशक (१८९० १९०० ई०) में हिन्दी में अनूदित सामान्य और ऐतिहासिक उपन्यासों की माँग अत्यल्प थी, पर १९०० ई० के बाद धीरे धीरे इस माँग में वृद्धि होती गयी और विवेच्य काल के अंतिम दशक (१९१०-१९१७ ई०) में यह काफी सशक्त हो गयी। इस अवधि में जितनी संख्या में अनूदित सामान्य और ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए, तथा इनके जितने संस्करण निकले, उतने इसके पूर्व नहीं निकले थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि १९०० ई० के पूर्व हिन्दी पाठक वर्ग परिमाणतः और प्रकारतः अविकसित था पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आरंभ से ही इसका तेजी से विकास आरम्भ हुआ और द्वितीय दशक के आते आते उच्चस्तरीय उपन्यास पाठकों की एक अच्छी संख्या हिन्दी में हो गयी थी, यद्यपि उच्चस्तरीय पाठकों की संख्या निम्नस्तरीय पाठकों से कम थी। दुर्भाग्यवश १९०० १९१७ ई० की अवधि में हिन्दी में उच्चकोटि के उपन्यासकारों का, जो रोचकता की रक्षा करते हुए जीवन का यथार्थ और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करते, सर्वथा अभाव था। परिणामस्वरूप हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठकों को बंगला उपन्यासों की शरण लेनी पड़ी। बंगला के श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठकों की माँग के फलस्वरूप हुआ था, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इन अनुवादों तथा इनके संस्करणों की संख्या के अवलोकन से स्पष्ट है कि हिन्दी में विवेच्यकाल के अंतिम दो दशकों में (१९०० १९१७ ई०) में उच्चस्तरीय उपन्यास पाठकों की पर्याप्त संख्या विद्यमान थी। इसी पाठकसमुदाय ने, तनिक बाद में, प्रेमचन्द को उर्दू से हिन्दी में आने को बाध्य किया। विवेच्य काल में प्रेमचन्द उर्दू के एक प्रसिद्ध लेखक थे। १९१५ ई० तक वे हिन्दी बहुत कम जानते थे। इसी समय के आस पास उन्होंने प्रयत्नपूर्वक हिन्दी सीखना आरम्भ किया और यह केवल इस ध्येय से कि वे हिन्दी में उपन्यास रचना कर सकें। इस तथ्य से यह अनुमान करना सहज है कि विवेच्य काल के अंतिम दशक तक पहुँचते पहुँचते हिन्दी के उच्चस्तरीय उपन्यासपाठकों की पठन सम्बन्धी माँग कितनी सशक्त हो गयी थी।

☆

रूमाल, और घड़ी है। चित्र के नीचे लिखा हुआ है—'लोगों को अब समझ पड़ेगा कि मैं भी कोई चीज हूँ। मुझे देखकर उन्हें हैरत होगी कि किस झपाटे से मैंने अपनी उन्नति कर डाली! कैसा हाथ मारा? भई वाह! पेरिस के महाविद्यालय में मैंने इस विज्ञान की शिक्षा पाई है!!! मजाल है किसी को जरा भी इसकी खबर लग जाय। और लगे भी तो क्या? 'टाइम्स' और 'ग्लोब' की रक्षक क्षमा की गोद मेरे लिए जिब्राल्टर के किले का काम दे ही देगी।"[१]

१९०० ई० के पूर्व हिन्दी में अनूदित अधिकांश उपन्यास प्रकारतः निम्नकोटि के थे। जनवरी १८९९ ई० में पं० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था—'... अनुवादित उपन्यासों में भी कुछ तो ऐसे घिनौने हैं कि उनका गंगाजी में प्रवाह कर देना ही श्रेय है ... बंग भाषा में अनुवादित उपन्यासों की ओर ध्यान दीजिये—इन उपन्यासों की भाषा तो निःसंदेह अच्छी होती है—और किसी किसी के विषय और रचना भी सराहनीय हैं—किन्तु ऐसे ग्रन्थ गिने गिनाए चार पाँच ही होंगे।

किन्तु १९०० ई० के बाद हिन्दीतर भाषाओं के उत्कृष्टतर सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के अनुवादों का क्रम भी बड़े पैमाने पर आरम्भ हुआ, यों इस प्रकार के उपन्यासों का अनुवाद काफी पहले से होने लगा था। परवर्ती दो दशकों में शताधिक सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास तथा पौराणिक कथाएँ हिन्दीतर भाषाओं से अनूदित हुईं।

यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि मौलिक कथासाहित्य की तरह अनूदित कथा-पुस्तकें भी विवेच्य काल में विद्यमान अनेक रुचिधाराओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। पाठकों की रुचितृप्ति की दृष्टि से उक्त अनूदित कथापुस्तकें मौलिक कथापुस्तकों की पूरक कही जा सकती हैं। यह उल्लेखनीय है कि फारसी की तिलस्मी कथाओं के अनुवाद हिन्दी में नहीं हुए। देवकीनन्दन खत्री ने तिलस्मी कथाप्रेमी पाठकों की रुचितृप्ति इतने सफल रूप में की थी कि उसके पूरक रूप में तिलस्मी कथाओं के अनुवाद की आवश्यकता ही न पड़ी। दूसरी तरफ अपराधप्रधान और जासूसी कथाओं के लेखक हिन्दी में प्रायः नहीं थे। गहमरी जी ने कुछ अपराधकथाओं की रचना की थी, पर यह कहना कठिन है कि इनका कितना अंश मौलिक है। फलतः अपराध और जासूसी कथा में रुचि रखनेवाले पाठकों के लिए रेनाल्ड्स, पाँचकौड़ी दे तथा अन्य हिन्दीतर लेखकों की कथापुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किये गये। इन अनूदित अपराधकथाओं ने तत्कालीन अपराधकथा प्रेमी पाठकों की रुचितृप्ति में पूरक का काम किया। इसी प्रकार हिन्दी में किशोरों और पाठिकाओं के अनुरूप लिखित मौलिक कथापुस्तकें गिनीचुनी थीं, अतः उनके लिए विवेच्य काल में पौराणिक कथाओं की रचना की गयी।

हिन्दी में अनूदित कथासाहित्य के इतिहास में सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों का अनुवाद है। मौलिक उपन्यासों के विवेचनक्रम में हम देख चुके हैं कि विवेच्य काल में श्रेष्ठ उपन्यासों (सामाजिक और ऐतिहासिक) की संख्या अंगुलिपरिगणनीय थी। इस काल में रचित मौलिक हिन्दी उपन्यास तत्कालीन पाठकों के बीच

१ सरस्वती, भाग ३ सं० १ जनवरी १९०२ ई०।

अधिक लोकप्रिय न थे, यह भी देखा जा चुका है। मौलिक हिन्दी उपन्यास साहित्य के विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि विवेच्यकाल में सुशिक्षित, परिष्कृत रुचि सम्पन्न और यथार्थ चित्रणप्रधान उपन्यासों के पाठक अत्यल्प थे जो अज्ञात भ्रामक है। हिन्दी में अनूदित उपन्यासों के अवलोकन से इस भ्रम का निराकरण होता है। इन अनूदित उपन्यासों के प्रथम प्रकाशनकाल तथा उनके विभिन्न संस्करणों को देखने से ज्ञात होता है कि विवेच्य काल के प्रथम दशक (१८९०-१९०० ई०) में हिन्दी में अनूदित सामान्य और ऐतिहासिक उपन्यासों की माँग अत्यल्प थी, पर १९०० ई० के बाद धीरे धीरे इस माँग में वृद्धि होती गयी और विवेच्य काल के अंतिम दशक (१९१०-१९१७ ई०) में यह काफी व्यापक हो गयी। इस अवधि में जितनी संख्या में अनूदित सामान्य और ऐतिहासिक उपन्यास प्रकाशित हुए, तथा इनके जितने संस्करण निकले, उतने इसके पूर्व नहीं निकले थे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि १९०० ई० के पूर्व हिन्दी पाठक वर्ग परिमाणतः और प्रकारतः अविकसित था पर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक के आरंभ से ही इसका तेजी से विकास आरंभ हुआ और द्वितीय दशक के आते आते उच्चस्तरीय उपन्यास पाठकों की एक अच्छी संख्या हिन्दी में हो गयी थी यद्यपि उच्चस्तरीय पाठकों की संख्या निम्नस्तरीय पाठकों से कम थी। दुर्भाग्यवश १९००-१९१७ ई० की अवधि में हिन्दी में उच्चकोटि के उपन्यासकारों का जो रोचकता की रक्षा करते हुए जीवन का यथार्थ और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत करते, सर्वथा अभाव था। परिणामस्वरूप हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठकों को बंगला उपन्यासों का शरण लेनी पड़ी। बंगला के श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी के उच्चस्तरीय पाठकों की माँग के फलस्वरूप हुआ था, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इन अनुवादों तथा इनके संस्करणों की संख्या के अवलोकन से स्पष्ट है कि हिन्दी में विवेच्यकाल के अंतिम दो दशकों में (१९००-१९१७ ई०) में उच्चस्तरीय उपन्यास पाठकों की पर्याप्त संख्या विद्यमान थी। इसी पाठकसमुदाय ने, तनिक बाद में, प्रेमचन्द को उर्दू से हिन्दी में आने को बाध्य किया। विवेच्य काल में प्रेमचन्द उर्दू के एक प्रसिद्ध लेखक थे। १९१५ ई० तक वे हिन्दी बहुत कम जानते थे। इसी समय के आस पास उन्होंने प्रयत्नपूर्वक हिन्दी सीखना आरंभ किया और वह स्वयं इस प्रयत्न में थे कि वे हिन्दी में उपन्यास रचना कर सकें। इस तथ्य से यह अनुमान करना सहज है कि विवेच्य काल के अंतिम चरण तक पहुँचते पहुँचते हिन्दी के उच्चस्तरीय उपन्यासपाठकों की पठन सम्बन्धी माँग कितनी उत्कट हो गयी थी।

☆

उपसंहार

प्रस्तुत प्रबंध में हमने इस 'प्रतिज्ञा' के साथ हिन्दी कथासाहित्य का विवेचन आरंभ किया था कि साहित्य के स्वरूपनिर्माण पर पाठकों की रुचि का प्रभाव, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में, अवश्य पड़ता है। प्रथम परिच्छेद में हमने पठनरुचि को प्रभावित करने वाले विविध हेतुओं का विवेचन किया है, जिसका निष्कर्ष यह है कि पठनमात्रा और पठनप्रकार पर प्रमुखतः वय, लिंग, आर्थिक और पारिवारिक स्थिति, बौद्धिक और शैक्षणिक स्तर, पेशा निवासस्थान, पुस्तकोपलब्धि की सुविधा पुस्तकों के मूल्य आदि का प्रभाव पड़ता है। दूसरे परिच्छेद में हमने संस्कृत तथा आदि और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के सिंहावलोकन से अपनी इस प्रतिज्ञा' की पुष्टि की है कि साहित्य और उसके पाठक या श्रोतृवर्ग की रुचियों में अन्योन्याश्रय संबंध है। परवर्ती तीन परिच्छेदों में हिन्दी कथासाहित्य के विकास पर तत्कालीन पाठकों की रुचि के प्रभाव का सविस्तर विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत प्रबंध में जिस अवधि के हिन्दी कथासाहित्य और उसके पाठकों की रुचि के पारस्परिक संबंध का विवेचन किया गया है उस अवधि में भारत एक ऐसी विदेशी सत्ता के अधीन था, जिसका एकमात्र उद्देश्य देश को हर प्रकार से लूटकर अपने देश को समृद्ध बनाना था। यह शासनसत्ता भारतीय जनता के कल्याण की तरफ से बिलकुल उदासीन थी। जैसा प्रथम अध्याय में प्रतिपादित किया गया है, शैक्षणिक स्तर पठनमात्रा और पठनप्रकार का निर्धारित करनेवाला प्रमुख हेतु है पर विवेच्यकाल में भारतीय जनता की शिक्षा ब्रिटिश सरकार द्वारा बिलकुल उपेक्षित थी। १९वीं शताब्दी के प्रथम दशक तक तो कम्पनी सरकार की दृढ़ धारणा थी कि भारत पर अपना अधिकार कायम रखने के लिए उसे अशिक्षित और आधुनिक ज्ञानविज्ञान से वंचित बनाये रखना आवश्यक है। दूसरे दशक में कुछ उदार अँगरेजों के निरंतर दबाव में पड़कर कम्पनी सरकार ने भारतीयों की शिक्षा के प्रसारार्थ एक छोटी सी रकम की स्वीकृति दी, पर इसके व्यय में सरकार ने कोई उत्साह नहीं दिखाया। परवर्ती दशकों में कम्पनी शासन ने भारतीय शिक्षा प्रसार के लिए कुछ प्रयत्न किये, पर इन प्रयत्नों के मूल में भारतीय जनता का कल्याण कम, शासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अंगरेजी सभ्यता और आचारविचार के रंग में रँगे हुए राजभक्त पदाधिकारियों का वर्ग पैदा करना अधिक था। कम्पनी सरकार ने जनसमूह को शिक्षित करने का प्रयत्न नहीं के बराबर किया। देश में परंपरागत देशी पद्धति के जो प्राथमिक विद्यालय थे, वे भी सरकार की उदासीनता के कारण नष्ट हो गये। सरकार ने नये प्राथमिक स्कूल खोल कर इस अभाव की पूर्ति न की। १८५४ ई० के पूर्व सरकार का विशेष ध्यान अँगरेजी माध्यम से अभिजातवर्गीय भारतीय समाज को माध्यमिक स्तर की शिक्षा प्रदान करने पर था। १८५४ ई० के ऊड्स डिस्पैच के बाद शिक्षा का विकास कुछ द्रुतगति से होना आरंभ हुआ, पर उच्च शिक्षा की तुलना में प्राथमिक शिक्षा उपेक्षित हो रही। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में राष्ट्रीय शक्तियों के

विकास के फलस्वरूप प्राथमिक शिक्षा के विस्तार में कुछ द्रुतता आयी, पर कुल मिलाकर विवेच्यकाल के अंत में साक्षरता की मात्रा बहुत संतोषजनक न थी। १९२१ ई० में पुरुषों की साक्षरता १४.२% और स्त्रियों की साक्षरता १.९% थी। सभी साक्षर पठन-क्षमता से युक्त नहीं होते और उच्च शिक्षाप्राप्त पाठकों का हिन्दी में कितना अभाव था, इसका अनुमान इस तथ्य से किया जा सकता है कि १९०१-०२ ई० में समस्त देश में कॉलेज में पढ़नेवालों की संख्या केवल १७ हजार और १९२१-२२ ई० में लगभग ५४ हजार थी। समूचे देश में माध्यमिक स्कूलों में पढ़नेवाले छात्रों की संख्या १९०१-०२ ई० में लगभग ६ लाख और १९२१-२२ ई० में लगभग ११ लाख थी। यह भी सुविदित है कि हिन्दी क्षेत्र अहिन्दी क्षेत्रों की तुलना में शैक्षिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। इस आधार पर विवेच्यकाल में हिन्दी क्षेत्र में पठनक्षमता संपन्न व्यक्तियों की संख्या का अनुमान करना सहज है।

विवेच्य काल की शिक्षणसंस्थाओं में हिन्दी का स्थान नगण्य था। कालेजों और माध्यमिक स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंगरेजी थी। कालेजों में द्वितीय भाषा के रूप में भी हिन्दी की पढ़ाई नहीं होती थी। एम० ए० की परीक्षा के लिए हिन्दी स्वीकृत थी पर कुछ ही विश्वविद्यालयों में हिन्दी विभागों की स्थापना हुई थी। माध्यमिक स्कूलों में द्वितीय भाषा के रूप में भारतीय भाषाएँ स्वीकृत थीं, पर हिन्दी का हिस्सा उर्दू ले लेती थी। हिन्दी का यदि प्रवेश था तो केवल मिडिल और प्राथमिक स्कूलों में। आरंभ में अधिकांश मिडिल स्कूलों में भी अंगरेजी ही शिक्षा का माध्यम थी, पर विवेच्य अवधि के अंत तक पहुंचते पहुंचते हिन्दी को मिडिल स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया था।

उपर्युक्त शैक्षिक स्थिति और पाठ्यक्रम में हिन्दी के नगण्य स्थान को देखते हुए यह कहना नितांत युक्तिसंगत है कि हिन्दी में पाठकों की संख्या अत्यल्प और उनका प्रकार निम्नस्तरीय था।

शिक्षणसंस्थाओं में ही नहीं, सरकारी कार्यालयों और अदालतों में भी हिन्दी उपेक्षित थी। सन १८३६ ई० तक फारसी अदालती भाषा थी तत्पश्चात् उर्दू अदालती भाषा का स्थान पा गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से हिन्दी के समर्थकों ने अदालतों में नागरी प्रवेश का आंदोलन आरंभ किया, पर राजनीतिक स्वार्थवश सरकार उर्दू के प्रति पक्षपात दिखाती रही। फिर भी इस नागरी आंदोलन के फलस्वरूप १८८१ ई० में बिहार और मध्यप्रदेश की अदालतों में तथा १९०० ई० में उत्तर प्रदेश की अदालतों में नागरी प्रयोग की अनुमति मिली। पर इस अनुमति के मिल जाने पर भी उर्दूप्रेमी अमलों की कृपा से नागरी को अदालतों में शीघ्र और यथोचित स्थान न प्राप्त हो सका। ऐसी स्थिति में लोग हिन्दी क्या पढ़ते? सरकारी नौकरियों में हिन्दी की कोई पूछ न थी, इस कारण हिन्दीभाषी जनता भी उर्दू और अंगरेजी की तरफ ही अधिक झुकती थी।

विवेच्य काल में हिन्दीक्षेत्र की आर्थिक स्थिति भी नितान्त दयनीय थी। ब्रिटिश शासन की स्वार्थपूर्ण नीति के फलस्वरूप देश के प्राचीन उद्योगधंधे नष्ट हो गये

और नये उद्योगधन्धों का समुचित विकास न हो सका। कृषि भी अविकसित थी। अकाल और महामारी की काली घटाएँ देश के मस्तक पर मँडराती रहती थीं। सरकार अत्यधिक कर वसूलती थी। देश की प्रतिव्यक्ति आय भी केवल इतनी भर थी कि लोग आधा पेट भोजन करके तथा जीवन की अन्य सुखसुविधाओं से वंचित रहकर किसी प्रकार प्राणधारण किये रह सकें। १०० में से केवल एक व्यक्ति की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि वह खरीद कर पुस्तकें पढ़ सकता था।

तात्पर्य यह कि शैक्षणिक, आर्थिक और परिस्थितिजन्य तीनों ही स्थितियाँ, जो पठनसंख्या और पठनप्रकार के विकास के प्रमुख हेतु हैं, विवेच्य काल में हिन्दी के नितान्त प्रतिकूल थीं। इस काल में पुस्तकालयों का प्रसार भी बहुत सीमित था। निवासस्थान और पेशे की दृष्टि से बहुसंख्यक हिन्दी भाषाभाषी ग्रामीण और कृषक थे। शहरों में उर्दू का बोलबाला था। ग्रामीण और कृषक पाठक अपेक्षाकृत कम पढ़ते हैं, यह एक सिद्ध तथ्य है। इस प्रकार कुल मिलाकर विवेच्य अवधि में हिन्दी पाठकसमुदाय, परिमाण और प्रकार दोनों दृष्टियों से, नितान्त अविकसित था। यद्यपि यह स्वीकार करना होगा कि इसका विकास भी धीरे-धीरे हो रहा था।

विवेच्यकाल का कथासाहित्य इसी पाठकवर्ग को उद्दिष्ट करके लिखा गया था, अतः इसपर उसकी रुचि का प्रभाव पड़ना नितान्त स्वाभाविक था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में शैक्षणिक सुविधाओं और मुद्रित ग्रन्थों के अभाव में हिन्दी पाठक अत्यल्प थे। इस काल में जो कथापुस्तकें लिखी या अनूदित हुईं, उनके मूल में तत्कालीन पाठकों की माँग, नहीं, अन्य हेतु हैं। फोर्टविलियम कॉलेज के तत्त्वावधान में अनूदित प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों का उद्देश्य अँगरेज पदाधिकारियों को हिन्दी की शिक्षा देने के लिए पाठ्यपुस्तकों का अभाव दूर करना था। इंशा अल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ और उनके दरबारियों के मनोरंजनार्थ लिखी गयी थी। कुछ पुस्तकों के उद्दिष्ट श्रोता, पाठक नहीं हिन्दीभाषी लोग थे, जैसे राम प्रसाद निरंजनीकृत 'भाषा योगवाशिष्ठ' (१७४१ई०) तथा पं० दौलतरामकृत 'पद्मपुराण' (१७६१ ई०)। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी पाठकवर्ग का उदय नहीं हुआ था। इस अवधि में कथाएँ अधिकांशतः श्रव्य थीं। हिन्दीभाषी जनसमुदाय धार्मिक और धार्मिकेतर कथाएँ सुनकर अपना मनोरंजन करता था, पढ़कर नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में सामान्य हिन्दी पाठकों को उद्दिष्ट कर कथा पुस्तकों का मुद्रण आरम्भ हुआ। 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'प्रेमसागर', 'बहार दरवेश', 'किस्सा हातिमताई' आदि अनेक कथापुस्तकें, जो इसके पूर्व हस्तलेख रूप में हिन्दीभाषी जनसमुदाय में अतिशय लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी थीं, इस अवधि में मुद्रित हुईं। इन पुस्तकों के आकारप्रकार और मूल्य पर तत्कालीन पाठकों की पठनक्षमता और क्रयशक्ति का प्रभाव स्पष्ट पड़ता है। इस काल में छपी सभी कथापुस्तकें आकार में लघु तथा बड़े टाइप में मुद्रित हैं। अल्पशिक्षित या साधारण व्यक्ति मोटी पुस्तकों की अपेक्षा पतली पुस्तकें और छोटे टाइप की अपेक्षा बड़े टाइप अधिक पसन्द करते हैं। इस अवधि में हिन्दी

पाठकों की क्रयशक्ति अत्यल्प थी, अत मुद्रित पुस्तकों को सस्ता बनाने के लिए सस्ते से सस्ता कागज का प्रयोग किया गया तथा मुद्रणसम्बन्धी भूलों को ठीक करने की अधिक चिन्ता नहीं की गयी।

सन् १८५० ई० से लेकर १८६९ ई० की अवधि में हिन्दी कथापुस्तकों का मुद्रण परिमाणत पहले से अधिक हुआ, जिससे इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि हिन्दी पाठकों की सख्या में शनैः शनैः वृद्धि हो रही थी। किन्तु अभी तक हिन्दी कथा-पाठकों की माँग इतनी सशक्त नहीं हो पायी थी कि उसके फलस्वरूप मौलिक कथापुस्तकों की रचना सम्भव हो सकती। सन १८७०-१८८९ ई० की अवधि हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है। १८७० ई० में हिन्दी की पहली मौलिक कथापुस्तक देवरानी जेठानी की कहानी (ले० प० गौरीदत्त) जिसमें औपन्यासिक तत्त्व प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं, प्रकाशित हुई। १८७५ ई० में प्रथम बार हिन्दी में 'कथा' के लिए 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के फरवरी माघ के अंकों में अपूर्णत प्रकाशित 'मालती' शीर्षक कथापुस्तक के प्रसग में हुआ। इस अवधि में दशाधिक मौलिक कथापुस्तके, जिनमें उपन्यास के तत्त्व अल्पाधिक मात्रा में विद्यमान हैं रचित हुईं। यह उल्लेखनीय है कि इन कथापुस्तकों की रचना तत्कालीन हिन्दी पाठकों की माँग के फलस्वरूप नहीं, वरन इतर कारणों से हुई थी। कुछ पुस्तक, जैसे देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', भाग्यवती आदि पाठ्यपुस्तकों के रूप में रचित हुई थी जबकि कुछ की—निस्सहाय हिन्दू', 'अमृत चरित्र', परीक्षा गुरु 'नूतन ब्रह्मचारी', श्यामा स्वप्न'—रचना साहित्यसेवा की भावना से की गयी थी। यही कारण है कि इन कथापुस्तकों पर तत्कालीन अल्पशिक्षित हिन्दी पाठकों का प्रभाव नहीं दिखायी पड़ता। अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि कौतूहलोत्पादक घटनाओं में अधिक होती है, पर उपर्युक्त कथापुस्तकों में इसका प्राय अभाव है। कौतूहलप्रद घटनाओं और कामव्यापारों का वर्णन, जो तत्कालीन हिन्दी पाठकों को अधिक रुचिकर हो सकता था, इन कथापुस्तकों में नहीं मिलता। पाठ्यपुस्तकों के रूप में लिखित कथापुस्तकों पर शिक्षित और सनातन विचार वाले हिन्दू अभिभावकों की रुचि का तथा अन्य कथापुस्तकों पर तत्कालीन अल्पसंख्यक काव्यरसिकों और उच्चस्तरीय हिन्दी पाठकों का प्रभुत्व है। यही कारण है कि इस काल की कथापुस्तकें अधिक सख्या में पाठक प्राप्त करने में समर्थ न हो सकीं।

इस अवधि के अल्पशिक्षित और अविकसित हिन्दी पाठकों की पठन सबंधी माँग उर्दू और संस्कृत कथापुस्तकों के अनुवादों से जिनमें कौतूहलजनक घटनाओं और कामव्यापार वर्णनों का बाहुल्य है, पूर्ण हो रही थी। 'बैताल पचीसी' 'सिंहासन बत्तीसी', 'बहार दरवेश', 'किस्सा हातिमताई', 'किस्सा तोता मैना', 'गुलबकावली' आदि पुस्तकें तो इस काल के पाठकों में लोकप्रिय थी ही, अनेक उर्दू फारसी कथापुस्तकों के अनुवाद, जैसे 'सहस्र रजनी चरित्र', अलिफ लैला दास्तान अमीर हमजा आदि इस काल के हिन्दी पाठकों में अतीव लोकप्रिय थे। तत्कालीन हिन्दी पाठकों में इन कथापुस्तकों की लोकप्रियता का कारण इनमें कौतूहलोत्पादक घटनाओं की प्रधानता और कामव्यापार चित्रण है।

सन् १८९० ई० के लगभग कुछ हिन्दी लेखकों का जिनमें देवकीनन्दन खत्री अग्रगण्य हैं, ध्यान हिन्दी के निम्नस्तरीय पाठकों के लिए कथापुस्तकें लिखने की तरफ गया। इस समय तक हिन्दी पाठकों की संख्या अत्यल्प थी। हिन्दी भाषियों में भी हिन्दी की तुलना में उर्दू का प्रचार अधिक था। शिक्षित नामधारी व्यक्ति केवल कुछ संस्कृतज्ञ पंडितों को छोड़कर, उर्दू से अवश्य परिचित होता था। राजकाज में नियुक्त सभी लोग उर्दू पढ़ना लिखना जानते थे। सरकारी कामकाज या तो अँगरेजी में होता था या उर्दू में। हिन्दी बिलकुल उपेक्षित थी। हिन्दी लेखक साहित्यसेवा की भावना से अनुप्राणित हो उच्चस्तरीय साहित्य की रचना कर रहे थे, पर उस साहित्य को पढ़नेवाले न थे। हिन्दी में अल्पशिक्षित या साक्षरमात्र लोगों का एक वर्ग था जो उर्दू फारसी और संस्कृत की कामव्यापार चित्रण तथा कौतूहलप्रधान अनूदित कथाएँ चाव से पढ़ता था। पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि हिन्दी एक बहुत बड़े समुदाय की सामान्य बोलचाल की भाषा थी। इस समुदाय का एक बहुत छोटा सा भाग, जो सरकारी नौकरियों और अदालतों से सम्बद्ध था, उर्दू फारसी से परिचित था। वह समुदाय भी हिन्दी भाषा से अपरिचित न था, न ही नागरी लिपि का ज्ञान बहुतों को न था। शेष हिन्दीभाषी जनता में, साक्षरता का प्रतिशत अत्यल्प होने पर भी, साक्षर व्यक्तियों की संख्या लाखों में था। इस लक्षाधिक साक्षरमात्र या अल्पशिक्षित लोगों के उपयुक्त साहित्य का हिन्दी में सर्वथा अभाव था। यह विशाल जनसमुदाय हिन्दी का वास्तविक पाठक न था सम्भावित पाठक था।

देवकीनन्दन खत्री ने तत्कालीन अल्पशिक्षित—वास्तविक और सम्भावित दोनों प्रकार के—हिन्दी पाठकों की यथेच्छा के अनुरूप तिलस्म और ऐयारीप्रधान रोमांसों की रचना की। कथासाहित्य बाल्यावस्था से लेकर तरुण प्रौढ़ावस्था तक जबकि मनुष्य में कौतूहल और कामवृत्ति की प्रधानता होती है, विशेष पढ़ा जाता है इसका सविस्तर विवेचन प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। उक्त परिच्छेद में इस तथ्य का भी विवेचन किया जा चुका है कि अपेक्षाकृत अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि कौतूहलोत्पादक घटनाओं में विशेष होती है। खत्री जी ने उक्त दोनों प्रकार की रुचियों का विशेषकर कौतूहलप्रधान रुचि का, ध्यान रखकर कथापुस्तकों की रचना की। खत्री जी के तिलस्मी रोमांसों में कौतूहलप्रधान घटनाओं का ऐसा मायाजाल है, जिसमें प्रवेश कर अल्पशिक्षित पाठक खानापीना और सोना तक भूल जाता है। खत्री जी ने जिन पाठकों को उद्दिष्ट कर इन रोमांसों की रचना की थी, उनकी बुद्धि के अनुरूप घटनाओं को सर्वथा स्वाभाविक बनाने का सफल प्रयत्न भी उन्होंने किया था। उनके रोमांसों की आधिकारिक कथाएँ राजकुमार राजकुमारियों के प्रेम विरह और मिलन पर, जिनमें किशोर और तरुण वयस्क कथापाठकों की विशेष रुचि होती है आधारित हैं। पर खत्री जी ने समकालीन अभिभावकों और सनातनपंथी हिन्दू पाठकों की रुचि का ध्यान में रखकर प्रेमवर्णन को नग्न कामव्यापार वर्णन के धरातल पर अवतीर्ण नहीं होने दिया है।

खत्री जी की लोकप्रियता का बहुत बड़ा श्रेय उनकी भाषा को भी है। उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' में ऐसी भाषा का प्रयोग किया जो तत्कालीन हिन्दीभाषियों की दैनिक बोलचाल की भाषा थी। इस सम्बन्ध में लिए साधारण से साधारण पाठकगण

व्यक्ति को भी, जो खड़ीबोली समझ लेता था, विशेष प्रयत्न या कोश उलटने की आवश्यकता न थी। 'चन्द्रकान्ता' समझने के लिए नागरी अक्षर सीख लेना यथेष्ट था। यही कारण है कि हिन्दी का साधारण ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति भी 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' का पाठक बन गया। देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी के सम्भावित पाठकों को वास्तविक पाठकों में बदल दिया, यह उनकी हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ी उपलब्धि है। खत्री जी के रोमांसों के फलस्वरूप हिन्दी में साधारण स्तर के उपन्यास पाठकों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो गयी।

सन १९०० ई० के लगभग, जबकि खत्री जी के रोमांसों की लोकप्रियता चरमोत्कर्ष पर थी, गोपालराम गहमरी ने मौलिक और अनूदित अपराधप्रधान तथा जासूसी कथाओं के द्वारा अल्पशिक्षित पाठकों का कौतूहलोपशमन और मनोरंजन करने का प्रयत्न किया। गहमरी जी की कथापुस्तकों पर भी अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का एकाधिपत्य है। गहमरी जी ने भी हिन्दू पाठकों की धार्मिक भावना और रुचि का ध्यान रखा है। यद्यपि इन्होंने अपनी कथाओं में कहीं कहीं चुम्बन आदि का उल्लेख किया है, पर कामव्यापारों के नग्नवर्णनों द्वारा इन्होंने किशोर और तरुणवयस्क पाठकों को कामोद्दीप्त करने का प्रयत्न नहीं किया है। गहमरी जी की कथाओं की भाषा खत्री जी से भिन्न और कहीं कहीं काव्यगुणमंडित है।

तत्कालीन अल्पशिक्षित और युवक पाठकों की रुचि का अनुगमन करनेवाले कथालेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने उपन्यासों और एतिहासिक रोमांसों में स्थान स्थान पर अल्पशिक्षित और किशोर तथा तरुण वयस्क पाठकों की रुचि के अनुरूप कौतूहलजनक घटनाओं और कामोत्तेजक रतिव्यापार वर्णनों की योजना की है। गोस्वामी जी ने खत्रीजी और गहमरी जी के प्रतिकूल नग्न और कामोद्दीपक रतिव्यापार वर्णनों के द्वारा अपने उपन्यासों एवं रोमांसों को लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न किया। गोस्वामी जी इस तथ्य से परिचित थे कि उपन्यासपाठकों में किशोरों और युवकों की जिनमें कामरुचि प्रबलतम स्थिति में विद्यमान रहती है प्रधानता होती है। अतः उन्होंने युवक और 'रसिक' पाठकों को उद्दिष्ट पाठक मानकर अपने उपन्यासों और एतिहासिक रोमांसों की रचना की।

देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी के मार्ग पर चलनेवाले अनेक हिन्दी कथाकारों ने जिनमें हरिकृष्ण जौहर, निहालचंद वर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त आदि प्रमुख हैं तत्कालीन अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत किशोर तथा युवक पाठकों को ध्यान में रखकर तिलस्मी रोमांसों, अपराधकथाओं और एतिहासिक तथा सामान्य रोमांसों की रचना की। इन कथापुस्तकों की विषयवस्तु और भाषा पर ही नहीं, इनके शिल्प पुस्तक के आकारप्रकार तथा शीर्षकों पर भी तत्कालीन अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत युवक पाठकों की रुचि का प्रभाव है। शिल्प की दृष्टि से विचार किया जाए तो त्रिवर्ग्य कथाकार उपन्यास का विकसित शिल्पविधि का—यथा नाटकीय पद्धति पर घटनाओं और कार्यों की योजना, समय का विपर्यसन, कथाओं का युगपद् संक्रमण, समय के स्थगन द्वारा रहस्य की सृष्टि आदि—प्रयोग करके भी श्रावयिता

या टिप्पणियों के रूप में अपने पाठकों के समक्ष विद्यमान रहते हैं। उपन्यासकार कभी अपने पाठकों को किसी पूर्व घटना की याद दिलाकर घटनाओं की शृंखला जोड़ते हैं, कभी किसी रहस्य का उद्घाटन करते हैं। तत्कालीन अल्पशिक्षित, अल्पबुद्धि और दुर्बल स्मरणशक्तियुक्त पाठकों के लिए उपन्यासकार का श्रावदिता के रूप में सदा उसके समक्ष अपनी ऊँची आवाज के साथ विद्यमान रहना नितांत आवश्यक था, अन्यथा वह कथानक समझ ही नहीं पाता।

विवेच्यकाल की अधिकांश कथापुस्तकें आकार में लघु हैं। जिन कथापुस्तकों का आकार दीर्घ है, वे विवेच्यकाल में छोटे छोटे भागों और हिस्सों में प्रकाशित हुई थीं। इसका प्रधान कारण बहुसंख्यक पाठकों की पठनक्षमता और क्रयशक्ति दोनों का अल्प होना है। अल्पशिक्षित पाठक बड़ी बड़ी पुस्तकों का आरंभ करने का साहस नहीं करते, इस तथ्य का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। मोटी मोटी कथापुस्तकें इसलिए एक साथ नहीं छापी जाती थीं कि अधिक मूल्य हो जाने से उन्हें कोई खरीद नहीं पाता।

इस काल की लोकप्रिय कथापुस्तकों के शीर्षकों पर भी तत्कालीन अल्पशिक्षित पाठकों की रुचि का प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन कथापुस्तकों के प्रायः दो दो शीर्षक रखे गये हैं तथा इन्हें जानबूझकर अल्पशिक्षित और अपरिपक्व युवक पाठकों को आकृष्ट करने की क्षमता से युक्त बनाया गया है। इन शीर्षकों से विशेषतः रोमांचकता, अपराध रहस्य, घटनाप्रधानता और शृंगारात्मकता, जिनमें अल्पशिक्षितों और युवकों की विशेष रुचि होती है, ध्वनित होता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं— 'मदन मोहिनी या माया महल', 'कटे मूड की दो दो बातें या तिलिस्मी शीशमहल' 'रम्भा वा पिशाचपुरी', 'वीरेन्द्र वीर या कटोरा भर खून' 'निराला नकाबपोश या भयानक पिशाचिनी', 'चाचा का खून या एक नहीं तीन खून' 'हीराबाई या बेहयायी का बोरका', 'सुलताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' 'बनारसी दुपट्टा या गुलर जरीना', 'मधुपलतिका वा इश्क की आग', 'प्रेम का फल या मिस जोहरा' आदि।

एक पुस्तक के दो दो शीर्षक रखने का उद्देश्य है, शीर्षक द्वारा ही विषय को इस प्रकार पाठकों पर स्पष्ट कर देना कि वे उसे अपनी रुचि के अनुकूल पाकर खरीद सकें। न केवल घटनाप्रधान और शृंगारिक कथापुस्तकों में वरन् सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में भी पाठकों को आकृष्ट करने का यह गुर अपनाया गया है यद्यपि उत्कृष्टतर उपन्यासों में इस गुर का प्रयोग विरल रूप में ही मिलता है।

सन् १८९० १९१० की अवधि में कौतूहलोत्पादक घटनाप्रधान तथा नग्न और रोमांचक रतिव्यापार वर्णन युक्त कथापुस्तकों का तत्कालीन पाठकों में इतना अधिक प्रचार था कि इस अवधि में रचित उच्चस्तर के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास 'नक्कारखाने में तूती की आवाज' के मुहावरे को चरितार्थ करते थे। इस काल में उच्च स्तरीय रुचि और परिपक्व पाठक कौतूहलप्रधान और अन्यान्य उपन्यासों की बाढ़ से अत्यन्त चिंतित थे। तत्कालीन पत्रपत्रिकाओं तथा उपन्यासों की भूमिकाओं में लेखक

उच्चस्तरीय लेखको की यह चिंता व्यक्त हुई है ।[१] सन् १८९९ ई० मे प० बालकृष्ण भट्ट ने लिखा था, 'सम्प्रति हिंदी भाषा म उपन्यासो की बडी भरती देख पडती है हमारे देश का कूडा करकट रेनाल्डस अनुकरणशील लेखको के भ्रष्ट चरित्रकारक नष्ट उपन्यासो स देश का वैसा ही बिगाड है जसा पारसी थीएटर तथा उर्दू के किस्सा की किताबो से है वरन मैं समझता हूँ उससे भी कही बढकर अपकार हो रहा ह ।[२] इसी प्रकार मई १९०१ ई० की 'सरस्वती म 'विविध वार्ता के अन्तगत बाबू श्याम सुदरदास ने लिखा था, ',इस समय उपन्यासो की बहार है, पर इनकी भी वह शोचनीय अवस्था है कि ग्रथकर्त्ता महाशय स्वय अपन घर की स्त्रियो को उन्हे पढ़ने के लिए देने से सकुचाएगे । इनम ऐसे असभ्य और अश्लील शब्दो का प्रयोग किया जाता है कि कोई सभ्य पुरुष ऐसी पुस्तकों का छूने म भी अपने को महापातकी समझेगा । पर आजकल इन्ही पुस्तको की बिक्री है इन्हा की पूछ है और इन्ही के बदौलत न जाने कितने ही छोकडे ग्रथकार बन बठे हैं ।"[३]

इसी समय के आसपास 'सरस्वती क कतिपय अको म कुछ व्यग्य चित्र छपे थे, जिनसे तत्कालीन उपन्यास साहित्य की स्थिति पर प्रकाश पडता है । जुलाई १९०३ की 'सरस्वती' म 'काशी का साहित्य वृक्ष' शीर्षक व्यग्यचित्र छपा था, जिसमे फल के रूप म केवल उपन्यास ही उपन्यास दिखाय गये थे । उनमे कुछ फल छोटे हैं कुछ बडे, पर है सभी उपन्यास ही ।[४] दिसम्बर १९०३ क अक म काशी प्रसाद कृत उपन्यासकार और उनकी कृति' शीर्षक व्यग्य चित्र छपा था । इस चित्र मे उपन्यासकार चुस्त पाजामा और अचकनधारी एक लबे चौडे डीलडौल का व्यक्ति है । ऊपर स एक लबा चोगा लटक रहा है । सर पर दुपल्ली टोपी और हाथ म छडी है । उसके सामने चार मुखो और आठ हाथोवाली एक स्त्री है । उसके तीन मुखो म चाँदी की तीन नलियाँ लगी हुई है जो एक मोटी नली से जुडी हुई हैं जिसका एक सिरा उपन्यासकार की तोद म घुसा हुआ है । आस पास जमीन पर तीन चार नग धडग मोटेताजे बच्चे घूसेबाजी अथवा दौड़ा दौडी कर रहे हैं । फर्श पर दरवाजे पर, दीवालो पर उपन्यास लिखा हुआ है । कही 'गुप्तचर कही धोखेबाजी कही तिलस्मि कही 'जुआखारी' लिखकर टँगा हुआ है । चित्र के नीचे निम्नोद्धत पक्तियाँ मुद्रित हैं—

उ० का०—वदी तुम्हे कौन अधिक चाहते हैं ?

चाँदी की नली से फूकती हुई कृति (चौथे मुख स)—आँख के अधे और गाँठ के पूर ।[५]

---

१ उदाहरणार्थ द्रष्टव्य—(१) हिन्दी की वर्तमान अवस्था, महावीर प्रसाद द्विवेदी २६, फरवरी, १९१२ । (२) काशी नागरी प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट, स० १९६६, नागरी हितैषिणी पत्रिका १९०६, वर्ष ६, स० ३ और ४ ।

२ हिन्दी उपन्यास लेखकों को उपदेश हिंदी प्रदीप जनवरी १८९९ ।

३ श्याम सुदर दास, विविधवार्ता, सरस्वती, वर्ष २, अक ५, मई १९०१, पृ० १४३ ।

४ सरस्वती, भाग ४, स० ७, जुलाई १९०३ ।

५ काशी प्रसाद कृत उपन्यासकार और उनकी कृति', सरस्वती, दिसम्बर १९०३ पृ० ४४० ।

तात्पर्य यह कि १८९० १९१० ई० की अवधि में अल्पशिक्षित और अपरिष्कृत युवक पाठकों की रुचि के अनुरूप रचित उपन्यासों का बोलबाला था, किन्तु इस अवधि में सुशिक्षित पाठकों की रुचि के अनुरूप या अल्पशिक्षित युवक पाठकों के रुचिपरिष्कार की दृष्टि से उपन्यासों की बिलकुल ही रचना न हुई हो, सो बात नहीं। किशोरीलाल गोस्वामी ने अपनी कृतियों में काव्यरसिकों की रुचि का ध्यान रखकर प्रकृति, नखशिख और विरह के काव्यात्मक वर्णनों की योजना की है तथा स्थान स्थान पर कविताओं के उद्धरण दिये हैं। इस काल में रचित ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य उपन्यासपाठकों का रुचिपरिष्कार है। इसी अवधि में भुवनेश्वर मिश्र, व्रजनन्दन सहाय, मेहता लज्जाराम शर्मा, नवाब राय बनारसी, ईश्वरी प्रसाद शर्मा तथा अन्य अनेक लेखकों ने सामाजिक समस्याप्रधान उपन्यासों की रचना की, जिनका मुख्य उद्देश्य सामाजिक समस्याओं का चित्रण तथा चरित्रनिर्माण का उपदेश देना है। इन उपन्यासों में सनातनपंथी हिन्दू भावनाओं और रुचियों की स्पष्ट झलक मिलती है। अधिकतर उपन्यासों में विधवाविवाह, स्त्रीस्वातंत्र्य, स्त्रीशिक्षा आदि का विरोध तथा बालविवाह, पर्दाप्रथा, पातिव्रत्य आदि का समर्थन किया गया है। अधिकांश उपन्यासों में सनातन हिन्दू धर्मानुरूप आचरण का उपदेश दिया गया है।

सन् १८९० १९१० ई० अवधि की आपवादिक महत्त्व की औपन्यासिक कृतियाँ दो हैं—(१) भुवनेश्वर मिश्र कृत 'बलवंत भूमिहार और (२) नवाबराय बनारसी कृत प्रेमा। दोनों का स्वतंत्र रूप में विवेचन यथास्थान किया गया है। इन दोनों ही कृतियों में समसामयिक प्रमुख रुचिधाराओं की उपेक्षा कर कला और विचारविषयक प्रगतिशीलता का परिचय दिया गया है। यह उल्लेखनीय है कि दोनों में से किसी का भी दूसरा संस्करण न हो सका।

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक के आरम्भ में ही अल्पशिक्षित युवक पाठकों की रुचि के अनुकूल लिखित कथापुस्तकों और उच्चस्तरीय उपन्यासों की आपेक्षिक स्थितियों में परिवर्तन दिखायी पड़ने लगता है। १९१० ई० के बाद घटनाप्रधान और शृंगारिक कथापुस्तकों के प्रचार में बहुत कमी तो नहीं दिखायी पड़ती पर उच्चस्तरीय उपन्यासों की रचना और प्रकाशन में वृद्धि होने लगती है जिससे यह सूचित होता है कि हिन्दी में शनैः शनैः उच्चस्तरीय उपन्यासपाठकों की वृद्धि हो रही थी।

उक्त तथ्य की पुष्टि अनूदित कथापुस्तकों से और भी स्पष्टतापूर्वक होती है। १८९०–१९०० ई० की अवधि में हिन्दीतर भाषाओं से अनूदित श्रेष्ठ उपन्यास अनूदित अपराधप्रधान कथापुस्तकों की तुलना में बिलकुल ही लोकप्रिय न थे। १९०० १९१० ई० की अवधि में श्रेष्ठ उपन्यासों की लोकप्रियता में काफी वृद्धि हुई, फिर भी घटनाप्रधान उपन्यासों की तुलना में इनकी लोकप्रियता कम ही रही। १९१० ई० के बाद श्रेष्ठ उपन्यासों की माँग पूर्ववर्ती दशकों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ी जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इस दशक में उच्चस्तरीय उपन्यासपाठकों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में हिन्दी में उच्चस्तरीय उपन्यासपाठकों की संख्या में सतत वृद्धि हुई, पर दुर्भाग्यवश हिन्दी में उच्चस्तरीय मौलिक उपन्यासों का

अभाव था। इस अभाव की पूर्ति वकिम चन्द्र चट्टोपाध्याय रमेशचन्द्र दत्त, योगीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, ननीलाल वद्योपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर अविनाश चन्द्र दास तथा अन्य असख्य बँगला और इतर भाषाओ से अनूदित उपन्यासो द्वारा हुई थी।

सन् १८९०–१९१७ ई० की अवधि म हिन्दी म अनदित उपन्यासो की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनम से अधिकाश अविकल अनुवाद न होकर रूपान्तर हैं। हिन्दी अनुवादको ने हिन्दीपाठको के रुच्यनुरूप मूल उपन्यासो के स्थानो और पात्रो के नाम तथा घटनाओ म यथास्थान परिवतन कर दिये हैं। दु खान्त उपन्यासो को प्राय सुखान्त म परिणत कर दिया गया है। अनुवादको ने अनुवादधम का सम्यक पालन नही किया है। मूल उपन्यासकार और उपन्यास की सूचना अनेक अनुवादो मे नही मिलती। कुछ अनुवाद तो पहली दृष्टि म मौलिक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। ये तथ्य हिन्दी पाठको के निम्न शक्षणिक और बौद्धिक स्तर को प्रमाणित करते ह।

सन् १८९०–१९१७ ई० के मौलिक और अनदित हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास के अवलोकन से यह निष्कष सामने आता हैं, कि यह काल हिन्दी पाठकवग के उदभव और विकास का काल है। १८९० के पूव यद्यपि हिन्दी पढनेवाले लोग थे पर बडे पमाने पर पाठकवग का उदय इसके पहले नही हुआ था। परवर्ती तीन दशको म हिन्दी पाठकवग का विकास परिमाण और प्रकार दानो दृष्टियो से हुआ, जिसने हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास को सम्भव बनाया। बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक तक आते आते हिन्दी म उच्चस्तरीय उपन्यासपाठको का एक अच्छा खासा समुदाय निर्मित हो गया था। इसी पाठकवग ने प्रेमचन्द के उदू स हिन्दी म आगमन को सभव बनाया।

हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास स साहित्यरचना सम्बन्धी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि साहित्यसृजन के मूल म उसके उद्दिष्ट पाठकसमुदाय की रुचि का महत्त्वपूण स्थान होता है। साहित्य रचना शून्य म नही हो सकती। जिस पाठक समुदाय को ध्यान म रखकर कलाकार साहित्यनिर्माण म प्रवृत्त होता है उसकी रुचि का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव उसकी कृति पर पडता ही है। कलाकार समसामयिक प्रमुख रुचिधारा की उपेक्षा भी कर सकता है—वस्तुत महान् कलाकार प्राय समसामयिक रुचिधारा की उपेक्षा कर एक नवीन रुचि का, जो उसके समय म अप्रधान होती है विकास करता है उसे नये आयाम और नयी दिशा प्रदान करता है—पर साहित्यरचना म प्रवत्त होत समय उसक मन म किसी पाठकवग की कल्पना नही होती, यह कहना सत्य का अस्वीकार करना है। साहित्यसृजन एक तरफ लेखक स सम्बद्ध है और दूसरी तरफ पाठक से। दोनो में स किसी के अभाव म साहित्य का अस्तित्व सम्भव नहा। जहाँ तक सापेक्ष शक्ति का प्रश्न है, लेखक एक होता है पाठक अनेक। पाठको से ही लेखक की जीविका चलती है। अत प्राय लेखक को अपने पाठको की रुचि का अनुगमन करना पडता है। कुछ महान् लेखक इतने प्रतिभावान और शक्तिशाली होते हैं कि व बहुसख्यक पाठको की रुचि को नवीन दिशा म मोड़ने का सफल प्रयत्न करते हैं, किन्तु साहित्यनिर्माण म प्रवत्त होने क पूव उनके मन में किसी पाठकसमुदाय की कल्पना नहा होती, यह कहना युक्तिरहित है।

सदर्भग्रंथ और पत्रपत्रिकाएं

प्रस्तुत तालिका में वे सभी पुस्तकें तथा निबंध समाविष्ट हैं जिनका उपयोग प्रबंध लेखन में किया गया है। कुछ ऐसे अध्ययनों का उल्लेख भी जिनका उपयोग इस प्रबंध में नहीं किया गया है, पठनरुचि और साहित्यरचना के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन विश्लेषण करनेवाले भावी अनुसंधित्सुओं की सुविधा को ध्यान में रखकर कर दिया गया है। समस्त पुस्तकों की सूची एक साथ सम्मिलित रूप में न दी जाकर प्रत्येक परिच्छेद के सहायक ग्रंथों और निबंधों की वर्गीकृत तालिका भावी शोधकर्ताओं की सुविधा की दृष्टि से, प्रस्तुत की गयी है। पुस्तकों और निबंधों के आरंभ में प्रयुक्त कोष्ठकांतर्गत अंक पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट अंकों से संबद्ध हैं।

प्रथम परिच्छेद

(1) Abbott, Allan, Reading Tastes of High School Pupils 'School Review X (Oct 1902), 548–600

(2) Abraham, W 1952 The Reading Choices of College students J Educ Res, 45 459–465

(3) Anderson, Roxanna E "A Preliminary Study of the Reading Tastes of High School Pupils", 'Pedagogical Seminary', XIX (Dec 1912) 438–60

(4) Baird George M P "What one Hundred Freshmen Read", 'School and Society', IV (August 12, 1916) 254–7

(5) Bamberger, Florence Eilan 'The Effect of the Physical Make up of a Book upon Children's Selection Johns Hopkins University Studies in Education, No 4 Baltimore, John Hopkins Press, 1922 Pp viii, 162

(6) Bell J Carleton, and Sweet Itasca B "The Reading Interests of High School Pupils" 'Journal of Educational Psychology' VII (January, 1916), 39–45

(7) Belser, Danylu 'The Reading Interests of Boys", Elementary English Review III (Nov, 1926) 292–96

(8) Boysworth, Mabel Frances "A Study of the Leisure Time Activities of 1819 Adolescents in North Carolina unpublished Master's Thesis, University of North

अभाव था। इस अभाव की पूर्ति बकिम चद्र चट्टोपाध्याय रमेशचन्द्र दत्त, योगीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, ननीलाल वद्योपाध्याय, रवीन्द्रनाथ ठाकुर अविनाश चन्द्र दास तथा अन्य असख्य बगला और इतर भाषाओ से अनूदित उपन्यासो द्वारा हुई थी।

सन् १८९०–१९१७ ई० की अवधि म हिन्दी म अनूदित उपन्यासो की एक सामान्य विशेषता यह है कि इनम से अधिकाश अविकल अनुवाद न होकर रूपान्तर हैं। हिन्दी अनुवादका ने हिन्दीपाठका क रुच्यनुरूप मूल उपन्यासो के स्थाना और पात्रा के नाम तथा घटनाओ म यथास्थान परिवतन कर दिये हैं। दुखान्त उपन्यासा को प्राय सुखान्त म परिणत कर दिया गया है। अनुवादका ने अनुवादधम का सम्यक पालन नही किया है। मूल उपन्यासकार और उपन्यास की सूचना अनेक अनुवादो म नही मिलती। कुछ अनुवाद तो पहली दष्टि मे मौलिक होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। ये तथ्य हिन्दी पाठको के निम्न शैक्षणिक और बौद्धिक स्तर को प्रमाणित करते ह।

सन् १८९०–१९१७ ई० क मौलिक और अनूदित हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास के अवलोकन से यह निष्कष सामने आता हैं, कि यह काल हिन्दी पाठकवग के उदभव और विकास का काल है। १८९० के पूव यद्यपि हिन्दी पढनेवाले लोग थे पर बड पमाने पर पाठकवग का उदय इसके पहल नहीं हुआ था। परवर्ती तीन दशका म हिन्दी पाठकवग का विकास परिमाण और प्रकार दाना दृष्टिया से हुआ, जिसने हिन्दी उपन्यास साहित्य क विकास को सम्भव बनाया। बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक तक आते आते हिन्दी म उच्चस्तरीय उपन्यासपाठका का एक अच्छा खासा समुदाय निर्मित हो गया था। इसी पाठकवग ने प्रेमचन्द क उदू स हिन्दी म आगमन को सभव बनाया।

हिन्दी कथासाहित्य के इतिहास स साहित्यरचना सम्बन्धी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि साहित्यसजन क मूल म उसके उद्दिष्ट पाठकसमुदाय की रुचि का महत्त्वपूण स्थान होता है। साहित्य रचना शून्य म नही हो सकती। जिस पाठक समुदाय को ध्यान म रखकर कलाकार साहित्यनिर्माण म प्रवृत्त होता है उसकी रुचि का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रभाव उसकी कृति पर पडता ही है। कलाकार समसामयिक प्रमुख रुचिधारा की उपेक्षा भी कर सकता है—वस्तुत महान् कलाकार प्राय समसामयिक रुचिधारा की उपेक्षा कर एक नवीन रुचि का, जो उसक समय म अप्रधान होती है विकास करता है उस नये आयाम और नयी दिशा प्रदान करता है—पर साहित्यरचना म प्रवत्त होते समय उसके मन म किसी पाठकवग की कल्पना नही होती, यह कहना सत्य को अस्वीकार करना है। साहित्यसजन एक तरफ लेखक से सम्बद्ध है और दूसरी तरफ पाठक से। दोना म स किसी क अभाव म साहित्य का अस्तित्व सम्भव नही। जहाँ तक सापेक्ष शक्ति का प्रश्न है, लेखक एक होता है, पाठक अनक। पाठका से ही लेखक की जीविका चलती है। अत प्राय लेखक को अपन पाठका की रुचि का अनुगमन करना पडता है। कुछ महान लेखक इतन प्रतिभावान और शक्तिशाली होत हैं कि वे बहुसख्यक पाठको की रुचि का नवीन दिशा म मोड़ने का सफल प्रयत्न करते हैं, किन्तु साहित्यनिर्माण म प्रवत्त होने के पूव उनके मन में किसी पाठकसमुदाय की कल्पना नही होती, यह कहना युक्तिरहित है।

★

संदर्भग्रंथ और पत्रपत्रिकाएं

प्रस्तुत तालिका में वे सभी पुस्तकें तथा निबंध समाविष्ट हैं, जिनका उपयोग प्रबन्ध लेखन में किया गया है। कुछ ऐसे अध्ययनों का उल्लेख भी जिनका उपयोग इस प्रबंध में नहीं किया गया है, पठनरुचि और साहित्यरचना के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन विश्लेषण करनेवाले भावी अनुसंधित्सुओं की सुविधा को ध्यान में रखकर कर दिया गया है। समस्त पुस्तकों की सूची एक साथ सम्मिलित रूप में न दी जाकर प्रत्येक परिच्छेद के सहायक ग्रंथों और निबंधों की वर्गीकृत तालिका, भावी शोधकर्ताओं की सुविधा की दृष्टि से, प्रस्तुत की गया है। पुस्तकों और निबंधों के आरंभ में प्रदत्त कोष्ठकांतर्गत अंक पादटिप्पणियों में निर्दिष्ट अंकों से संबद्ध हैं।

प्रथम परिच्छेद

(1) Abbott, Allan, Reading Tastes of High School Pupils' 'School Review' X (Oct 1902), 548–600

(2) Abraham, W 1952 The Reading Choices of College students J Educ Res, 45 459–465

(3) Anderson, Roxanna E "A Preliminary Study of the Reading Tastes of High School Pupils", 'Pedagogical Seminary', XIX (Dec 1912) 438–60

(4) Baird, George M P "What one Hundred Freshmen Read", 'School and Society, IV (August 12, 1916) 254–7

(5) Bamberger, Florence Lilan "The Effect of the Physical Make up of a Book upon Children's Selection' *Johns Hopkins University Studies in Education, No 4* Baltimore, John Hopkins Press, 1922 Pp viii, 162

(6) Bell, J Carleton, and Sweet, Itasca B "The Reading Interests of High School Pupils" 'Journal of Educational Psychology' VII (January, 1916), 39–45

(7) Belser, Danylu 'The Reading Interests of Boys", 'Elementary English Review III (Nov, 1926) 292–96

(8) Boysworth, Mabel Frances "A study of the Leisure time Activities of 1819 Adolescents in North Carolina' unpublished Master's Thesis, University of North

Carolina, 1925 Pp 60 (विलियम एस० ग्रे और रूथ मनरो द्वारा लिखित 'दि रिडिंग इंटरेस्टस ऐंड हैबिटस आफ एडल्टस' नामक ग्रंथ में इस अ ययन क निष्कर्ष दिये गए है। पादटिप्पणियों में पृष्ठसंख्या इसी ग्रंथ की दी गयी है।)

(9) Briggs, E S, 1938 How Adults in Missouri use their Leisure time Sch & Soc, 47 805–808

(10) Center, S S, and Persons, G L, 1936, The Leisure Reading of New york City High School Students, Eng J 25 717–726

(11) Chamberlain, Essie "Literary Attitudes and Reactions of Boys and Girls", Illinois Association of Teachers of English Bulletin' XIII (January 1921) 1–6 Urbana, Illinois H G Paul, 322 Lincoln Hall

(12) Chase, F H, 'What People are Reading in Boston, 'Papers and Proceedings, Saratoga Springs Conference, 1924 Bulletin of the American Library Association, Vol 18, No 4–A, pp, 171–74 Chicago

(13) Crow L D & Crow A Adolescent Development and Adjustment, Mc Grow Hill Book Company, 1956
Davenport, F I 1923 Adolescent Interests Arch Psychology, N Y No 66

(14) Donovan, H L "The Content of Ordinary Reading", 'Elementary School Journal', XXV (January, 1925), 370–75

(15) Dudgeon, M S "The Rural Book Hunger", 'Rural Manhood, VI (September, 1915), 303–7

(16) Eaton, H T "What High School Students Like to Read", 'Education XLIII (December, 1922), 204–9

(17) Farnsworth, Burton K "A Study of the Reading Habits of Adults" Unpublished Master's Thesis, Utah Agricultural College, 1925, pp 34
(विलियम एस० ग्रे और रूथ मनरो द्वारा लिखित "दि रीडिंग इंटरस्ट ऐंड हैबिटस आफ एडल्टस नामक ग्रंथ में उक्त अध्ययन के निष्कर्ष स्थान स्थान पर उद्धृत हैं। पादटिप्पणियों में दी गई पृष्ठ संख्या इसी ग्रंथ की है।)

(18) Forster, E. M, Aspects of the Novel, London Edward Arnold ltd 1958

(19) Gardner Frank M The Delhi Public Library An Evaluation Report UNESCO

(20) Goodenough, Florence L "Factors Conditioning Municipal Library Circulation', 'School and Society', XXIV (July 10, 1926) 54-56

(21) Grace, A G, 1929 The Reading Interests of adults J Educ Res 19 265-275

(22) Gray, W S, and Monroe, R The Reading Interests and Habits of Adults New York Macmillan Company 1930

(23) Gray, W S 'Summary of Investigations Relating to Reading' Supplementary Educational Monographs No 28 Chicago, Department of Education, The University of Chicago, 1925, pp viii + 276

(24) Hale, Charles B and Carroll Welsey B "What Freshmen Read", Educational Review, LXX (December, 1925) 260-3

(25) Hall, W E, and Robinson, F P 1942 The role of reading as a life activity in a rural community, J Appl, Psycol 26 530-542

(26) Hildreth, G, 1933 Adolescent Interests and Abilities J genet Psychology 43 65-93

(27) Hughes, Frances Mary 'A survey of the Reading Interests of the Pupils of the Madison, Wisconsin High School", 'Education', XLIV (March, 1924) 437-48

(28) Hurlock, E B Developmental Psychology, Mc Graw Hill Book Company 1953

(29) Jefferis, Angeline Woodrough "A Study of Reading Interests of young people in Industry" Unpublished Master's thesis, Department of Education, University of Chicago 1927 (ग्रे और मनरो लिखित 'दि रीडिंग इंटरेस्ट एँड हैबिट्स आफ एडल्ट्स' नामक ग्रंथ में इस अध्ययन के निष्कर्ष उद्धृत हैं। पादटिप्पणियों में दी गयी पृष्ठ सं० इसी ग्रंथ की है।)

(30) Jordon, Arthur M 'Children's Interest in Reading Teachers College Contributions to Education, No 107

Carolina, 1925 Pp 60 (विलियम एस० ग्रे और रुथ मनरो द्वारा लिखित 'दि रीडिंग इंटरेस्ट्स ऐंड हैबिट्स आफ एडल्ट्स' नामक ग्रंथ में इस अध्ययन के निष्कर्ष दिये गए हैं। पादटिप्पणियों में पृष्ठसंख्या इसी ग्रंथ की दी गयी है।)

(9) Briggs, E S, 1938 How Adults in Missouri use their Leisure time Sch & Soc, 47 805–808

(10) Center, S S, and Persons, G L, 1936, The Leisure Reading of New York City High School Students, Eng J 25 717–726

(11) Chamberlain, Essie "Literary Attitudes and Reactions of Boys and Girls", Illinois Association of Teachers of English Bulletin' XIII (January 1, 1921) 1–6 Urbana, Illinois H G Paul, 322 Lincoln Hall

(12) Chase, F H, What People are Reading in Boston', 'Papers and Proceedings Saratoga Springs Conference, 1924 Bulletin of the American Library Association, Vol 18, No 4–A, pp, 171–74 Chicago

(13) Crow L D & Crow A Adolescent Development and Adjustment, Mc Grow Hill Book Company, 1956
Davenport, F I 1923 Adolescent Interests Arch Psychology, N Y No 66

(14) Donovan, H L "The Content of Ordinary Reading, 'Elementary School Journal', XXV (January, 1925), 370–75

(15) Dudgeon, M S "The Rural Book Hunger", 'Rural Manhood', VI (September, 1915), 303–7

(16) Eaton, H T "What High School Students Like to Read", 'Education XLIII (December, 1922), 204–9

(17) Farnsworth, Burton K "A Study of the Reading Habits of Adults' Unpublished Master s Thesis, Utah Agricultural College, 1925, pp 31
(विलियम एस० ग्रे और रुथ मनरो द्वारा लिखित "दि रीडिंग इंटरेस्ट ऐंड हैबिट्स ऑफ एडल्ट्स" नामक ग्रंथ में उक्त अध्ययन के निष्कर्ष स्थान स्थान पर उद्धृत हैं। पादटिप्पणियों में दी गई पृष्ठ संख्या इसी ग्रंथ की है।)

(18) Forster, E M, Aspects of the Novel, London Edward Arnold ltd 1958

(19) Gardner Frank M The Delhi Public Library An Evaluation Report UNESCO

(20) Goodenough, Florence L "Factors Conditioning Municipal Library Circulation', 'School and Society', XXIV (July 10, 1926) 54-56

(21) Grace, A G, 1929 The Reading Interests of adults J Educ Res 19 265-275

(22) Gray, W S, and Monroe, R The Reading Interests and Habits of Adults New York Macmillan Company 1930

(23) Gray, W S Summary of Investigations Relating to Reading' Supplementary Educational Monographs No 28 Chicago, Department of Education, The University of Chicago, 1925, pp viii + 276

(24) Hale, Charles B and Carroll Welsey B "What Freshmen Read", Educational Review, LXX (December, 1925) 260-3

(25) Hall, W E, and Robinson, F P 1942 The role of reading as a life activity in a *rural community*, J Appl, Psycol 26 530-542

(26) Hildreth, G, 1933 *Adolescent Interests and Abilities* J genet Psychology 43 65-93

(27) Hughes Frances Mary "A survey of the Reading Interests of the Pupils of the Madison, Wisconsin High School', 'Education', XLIV (March, 1924) 437-48

(28) Hurlock, E B Developmental Psychology, Mc Graw Hill Book Company 1953

(29) Jefferis, Angeline Woodrough "A Study of Reading Interests of young people in Industry" Unpublished Master's thesis, Department of Education, University of Chicago 1927 (ग्रे और मनरो लिखित दि रीडिंग इटरेस्ट एड हैबिट्स आफ एडल्ट्स' नामक ग्रथ म इस अध्ययन क निष्कर्ष उद्धृत है। पादटिप्पणिया म दी गयी पृष्ठ स० इसी ग्रथ की है।)

(30) Jordon Arthur M Children s Interest in Reading Teachers College Contributions to Education, No 107

New York Teachers College, Columbia University, 1921 pp 144
(31) Jones, Anna May, Leisure Time Education, Harper & Brothers New York and London
(32) Jordon, A M, 'Children s Interest in Reading' Chapel Hill North Carolina University of North Carolina Press, 1926 pp 101
(33) Kirk Patrick, J L "What They Read", 'School and Society XII (Dec 4 1920) 559-60
(34) Kuhlen, Raymond G The Psychology of Adolescent Development Harper & Brothers New York 1952
(35) Laue, H G 1950 Recreational needs and Problems of older people In Donahue W and Tibbitts, C, Planning the Older years Ann Arbor, University Michigan Press
(36) Lazar M 1937 Reading Interests, Activities, and Opportunities of Bright Average and Dull Children New York Bureau of Publication, Teachers College, Columbia University
(37) Montgomery Wilda Lea An Investigation of the uses of Recreatory Reading' Unpublished master's thesis University of Pittsburgh 1927 pp 49 (ग्रे और मनरो लिखित दि रीडिंग इंटरेस्ट एंड हैबिट्स आफ एडल्ट्स नामक ग्रंथ में इस अध्ययन के निष्कर्ष स्थान स्थान पर दिये गये हैं। पाद टिप्पणियों में दी गयी पृ० सं० इसी पुस्तक की है)
(38) Ormsbee Hazel Grant The Young Employed Girl, pp 75-93 New York The Womans Press, 1927
(39) Parsons, Rhey Boyd "A study of Adult Reading" Unpublished Master s thesis, Department of Education University of Chicago, 1923 (ग्रे और मनरो लिखित दि रीडिंग इंटरेस्ट एंड हैबिट्स ऑफ एडल्ट्स नामक ग्रंथ में इस अध्ययन के निष्कर्ष स्थान स्थान पर दिये गये हैं। पाद टिप्पणियों में प्रदत्त पृ० सं० इसी पुस्तक की है।
(40) Psychological Abstracts, Vol 34 No 1 Feb 1960 pp 197

(41) (Monthly) Public Opinion Surveys of the Indian Institute of Public Opinion vol II Nos 10, 11, 12 July, August, September 1957
(42) Punke, H H 1936 Leisure time attitudes and activities of high school students Sch & Soc 43 884 888
(43) Rosche, William F 'The Reading Interests of Young Workers' Vocational Educational Monograph Number 9 Milwankee wisconsin Milwankee Vocational School pp 102
(44) Severance, Henry O "What Do University Students Read ? ' School and Society XXIII (June 1926)
(45) Severance, Henry, O "Magazines which High School Pupils Read", 'School Review' XXXIV (October, 1926) 587–90
(46) Smith, Nila B "An Investigation in Children's Interest in Different Types of Stories , Detroit Educational Bulletin', IX (February, 1926), 3–4
(47) Smith, Franklin Orion, "Pupils' Voluntary Reading', 'Pedagogical Seminary' XIV (June 1907), 208–22
(48) Stephens, J M, Educational Psychology The study of Educational growth, Henry Holt and Company New York, 1951
(49) Stone, Charles R "Home Reading An Experiment' Elementary School Journal XIX (January, 1919) 354–60
(50) Strong, E K 1951 Permanence of Interest scores over 22 years J appl Psychol, 35 89–91
(51) Strong, E K 1936 Interest of men and women J Soc Psychol 7 49–67
(52) Strong E K Change of Interest with Age, Stanford University Press, California, 1931
(53) Symonds, P M, 1936 Comparison of the problems and interests of young adolescents living in city and country J educ Social 10, 231–236
(54) Symonds, P M 1936 Changes in Problems and Interests with increasing Age Psychol Bull, 33 789

(55) Symonds, P M 1936 b Life Problems and Interests of Adults Teach Coll Rec, 38 144–151
(56) Symonds, P M 1937 Changes in sex differences in problems and interests of adolescents with increasing age J genet Psychol, 50 83–89
(57) Taylor, Carl C "Reading Material in Rural Homes", '*Rural Sociology*', *A study of Rural Problems*', pp 268–276 New York, Harper and Brothers, Publishers, 1926
(58) Terman, Lewis M and Others "Reading Interests", 'Genetic Studies of Genius', vol 1, Cap XV Stanford University, California, Stanford University Press, 1925
(59) Terman, L M, and Lima, M, 1927 Children's Reading New York, Appleton Century Crofts
(60) Thorndike, E L 1935 The Interests of Adults J educ Psychol, 26 401–410, 497–507
(61) Thorndike, E L 1949 Note on the shifts of interest with age J appl Psychol 33 V 55
(62) Thorndike, R L, and Henry, F 1940 'Difference in Reading Interests related to differences in sex and intelligence level *Elem Sch J*, 40 751–763
(63) Uhl, willis L The Materials of Reading New York New Jersey *Silver Burdett & Co*, 1924 pp XIV + 386
(64) Walter Henriette, *Reading Interests and Habits* of Girls Girl Life in America A study of Backgrounds pp 117–37 New York National *Committee for the study of Juvenile Reading (1 Madison Avenue)*, 1927
(65) Weiser, A B, and Ashbaugh, E J "What Books Do Junior and Senior High School Students Read?" 'Educational Research Bulletin', III (Sept 17, 1924) 223–28 Columbus, Ohio Bureau of Educational Research, Ohio State University
(66) Wheeler, Theodora "A study of Certain Recreational Reading and Vocational phases in the Lives of young

Girls " 'Journal of Educational Psychology XI (Dec 1920), 481–501

(67) Witty, P A 1932 The Reading Interests and Habits of five hundred Adults Education, 52 554–562

(68) Witty, P A , Coomer, A , and Mc Bean, D , 1946 Children's Choices of favourite books a study conducted in ten elementary schools J educ Psychol 37 266–278

(६९) ईरिना हाफोवा चेकोस्लोवाकिया के युवकों की पसंद', प्रकाशन समाचार, नवम्बर १९६१ ।

(७०) एम० एम० एल० टंडन, लोग क्या पढ़ते हैं, प्रकाशन समाचार, अगस्त १९६० ।

(७१) कृष्णचन्द्र बेरी, प्रकाशन व्यवसाय का संगठन और उसकी रूपरेखा प्रकाशन समाचार, नवम्बर १९५८ ।

(७२) कुल भूषण, पेंग्विन बुक्स — हमारे लिए एक आदर्श प्रकाशन समाचार मार्च १९६१ ।

(७३) कुल भूषण, कच्ची जिल्द वाली सस्ती पुस्तकें' प्रकाशन समाचार जून १९६० ।

(७४) देश विदेश से प्रकाशन समाचार, मार्च १९५८ ।

(७५) देश विदेश से, प्रकाशन समाचार, अप्रैल १९५८ ।

(७६) देश विदेश से, प्रकाशन समाचार, नवम्बर १९५८ ।

(७७) देश विदेश से, प्रकाशन समाचार, जून १९५९ ।

(७८) पाठक और पुस्तकें, प्रकाशन समाचार अक्टूबर १९६२, पृ० ४१ ।

(७९) प्रकाशकीय मंच प्रकाशन समाचार नवम्बर १९६० ।

(८०) प्रकाशकीय मंच, प्रकाशन समाचार दिसम्बर १९५७, पृ० १२७ ।

(८१) प्रकाशकीय मंच प्रकाशन समाचार, जनवरी १९५८ ।

(८२) प्रकाशकीय मंच, प्रकाशन समाचार, अप्रैल १९५८ ।

(८३) प्रकाशकीय मंच प्रकाशन समाचार, अप्रैल १९५९ ।

(८४) पुस्तक पढ़नेवालों की पसंद (इंडियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट द्वारा सितम्बर, १९५७ से मई १९५८ तक नेशनल सम्पुल सर्वे' के अन्तर्गत की गई छानबीन की रिपोर्ट), प्रकाशन समाचार अगस्त १९६०, अक्टूबर १९६० ।

(८५) बलदेव दास अग्रवाल, 'पुस्तक विक्रेताओं की कठिनाइयाँ, 'प्रकाशन समाचार, सितम्बर १९५९ ।

(८६) मदन मोहन पाठक, भाषण, हिन्दी प्रकाशक संघ का षष्ठ अधिवेशन, प्रकाशन समाचार, मई १९६१ ।

(८७) मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर', सस्ती पुस्तक योजनाएं, प्रकाशन समाचार मार्च १९६१ ।

(८८) रामलाल पुरी, पुस्तकों का महत्त्व, प्रकाशन समाचार, दिसम्बर १९६१ ।

(८९) लीलावती जन प्रभाकर 'व्यावहारिक जीवन में पुस्तकों का सहयोग', प्रकाशन समाचार, मार्च १९६२।
(९०) वाचस्पति पाठक, भाषण, हिन्दी प्रकाशक संघ का चतुर्थ अधिवेशन, प्रकाशन समाचार, जनवरी १९५९।
(९१) संपादकीय, प्रकाशन समाचार, अक्टूबर १९६१।
(९२) श्याम् संन्यासी, ब्रिटिश प्रकाशकों के बारे में नातें य, प्रकाशन समाचार, जुलाई १९५९।
(९३) सुरेन्द्रपाल सिंह 'पुस्तक विक्रय की समस्या और उसका समाधान, प्रकाशन समाचार, मार्च १९५८।
(९४) हरिनन्दन प्रसाद सिन्हा, 'चेक लोगों का पुस्तक प्रेम', प्रकाशन समाचार, अगस्त १९६२।
(९५) हिन्दी में पेपर बैक्स, (साप्ताहिक 'लिंक' से साभार उद्धृत) प्रकाशन समाचार, जुलाई १९६२।
(९६) स्टार ऐंटनी, 'बच्चे और पुस्तकें ("न्यू स्टेटसमैन", लंदन, १२ नवम्बर १९६० के अंक से साभार प्रकाशित) प्रकाशन समाचार, जनवरी १९६१।

द्वितीय परिच्छेद

(1) Allen walter, The English Novel, Penguin Books, 1958
(2) Edwin Muir, "The structure of the Novel", The Hogarth press, London, 1960
(3) Cowper Powys John, The Meaning of Culture, Rupa & Co Calcutta, Allahabad, Bombay
(4) Cruse, Amy, The Englishman and his Books in the early Nineteenth Century, George G Harrap & Company Ltd London, Bombay, Sydney 1930
(5) Hoggart, Richard, The uses of Literacy, Chatto and Windus, London
(6) Leavis Q D, Fiction and the Reading public
(7) Schücking L L, The sociology of Literary Taste, Routledge & Kegan Paul Ltd, 1950
(8) Stephen Leslie, English Literature and Society in the Eighteenth Century, Duckworth 3 Henrietta Street London, W C 2, First published in 1904 First issued in new Readers Library 1927
(9) Webb R K, The British Working Class Reader (1790-1848) London George Allen & unwin Ltd 1955

(10) Watt Ian, The Rise of the Novel, Chatto & Windus, London, 1960
(11) Leaves, F R The great Tradition, Penguin Books, 1962
(12) Ralph Fox, The Novel and the people Foreign Languages publishing House, Mascow, 1954
(13) *Maugham, W Somerset*, The world's Ten Greatest Novels, A crest Reprint, 1959
(14) William S Gray and Bernice, Rogers, Maturity in Reading, The University of Chicago Press, 1952
(15) Percy Lubbock, The Craft of fiction, Jonathan Cape, thirty Bedford Square, London, 1960
(१६) अज्ञेय, आत्मने पद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९६० ।
(१७) गोस्वामी तुलसीदास, श्री रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, स० २००८ ।
(१८) दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भाग १, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, स० २००४ ।
(१९) द्वारका दास परीख/प्रभुदयाल मीतल, सूर निर्णय, अग्रवाल प्रेस मथुरा, स० २००८ विक्रम् ।
(२०) नगेन्द्र (स०) हिंदी साहित्य का वहत् इतिहास, षष्ठ भाग (रीतिकाल), नागरी प्रचारिणी सभा काशी, स० २०१५ वि० ।
(२१) नलिन विलोचन शर्मा, साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६० ई० ।
(२२) राजपति दीक्षित, तुलसी दास और उनका युग, ज्ञान मडल लिमिटेड, बनारस सं०, २००९ वि० ।
(२३) रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २००९ वि० ।
(२४) रामचन्द्र शुक्ल, गोस्वामी तुलसीदास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, स० २००८ वि० ।
(२५) रामचन्द्र शुक्ल, जायसी ग्रथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २००८ वि० ।
(२६) राम नरेश त्रिपाठी, तुलसी और उनका काव्य, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् १९५३ ई० ।
(२७) लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, हिंदी परिषद्, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९५२ ई० ।
(२८) वासुदेव शरण अग्रवाल (भाष्यकार), पद्मावत, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), २०१२ वि० ।

(२९) शिवनन्दन सहाय, गोस्वामी तुलसी दास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६१ ई० ।
(३०) श्याम विहारी मिश्र, शुकदेव बिहारी मिश्र (स०), भूषण ग्रन्थावली, सम्वत् २००५ वि० ।
(३१) सरयू प्रसाद अग्रवाल, अकबरी दरबार के कवि, लखनऊ विश्वविद्यालय सम्वत २००७ वि० ।
(३२) हजारी प्रसाद द्विवेदी, साहित्य का मम, लखनऊ विश्वविद्यालय, व्याख्यान माला–१ ।
(३३) हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य, अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज देहली, अम्बाला आगरा, १९५२ ई० ।
(३४) हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई–४, सन १९५३ ई० ।
(३५) त्रिभुवन सिंह, दरबारी सस्कृति और हिंदी मुक्तक, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, १९५८ ।
(३६) गिरीशचन्द्र त्रिपाठी, 'बाबू देवकी नन्दन खत्री के व्यक्तित्व की एक झलक 'हरिऔध वर्ष १, अंक २, जनवरी सन् १९५८ ।

तृतीय परिच्छेद

(१) अंबिका प्रसाद वाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञान मडल लिमिटेड, बनारस, प्रथम सस्करण, स० २०१० ।
(२) जे० नटराजन, रिपोर्ट आफ दि प्रेस कमीशन, पार्ट II, हिस्टरी आफ इंडियन जर्नलिज्म, कपाइल्ड ऑन बिहाफ एण्ड अंडर दि डाइरेक्शन आफ दि प्रेस कमीशन, पब्लिश्ड बाइ दि मनेजर ऑफ पब्लिकेशन डेलही, १९५४ ।
(३) भगवान दयाल दि डेवलपमेंट आफ माडर्न एजुकेशन, ओरिएन्टल लौंगमैन्स लिमिटेड बबे ।
(४) मार्गेरिटा बार्न्स (Margarita Barns) दि इंडियन प्रेस, ए हिस्टरी आफ दि ग्रोथ ऑफ पब्लिक ओपीनियन इन इंडिया, जॉर्ज एलेन एंड अनविन लिमिटेड, फर्स्ट पब्लिश्ड इन १९४० ।
(५) रमेश दत्त, दि एकानामिक हिस्टरी आफ इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिश रूल [फ्राम दि राइज आफ दि ब्रिटिश पावर इन १९५७ टू दि एक्सशन आफ क्वीन विक्टोरिया इन १८३७] सिक्स्थ एडीशन, लंदन, केगन पाल, ट्रेंच, ट्रब्नेर एंड को० लिमिटेड, ब्राडवे हाउस, ६८ ७४, कार्टेन लेन, ई०सी० ।
(६) रमेश दत्त, एकानामिक हिस्टरी आफ इंडिया, विक्टोरियन एज, केगन पाल ट्रेंच ट्रब्नेर एंड को० लि० ।
(७) रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, आठवाँ सस्करण, स० २००९ ।

(८) राम रतन भटनागर, दि राइज एंड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जर्नलिज्म (१८२६ १९४५), किताब महल, इलाहाबाद।

(९) लल्लूलाल कवि, सिंहासन बत्तीसी, ए न्यू एडीशन बाइ सैयद अब्दुल्ला, लदन १८६९।

(१०) लल्लू जी लाल, प्रेमसागर, ए न्यू एडिशन बाई एडवर्ड बी० ईस्टविक, हर्टफोर्ड १८५१।

(११) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, फोर्ट विलियम कालेज, यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद, स० २००४ वि०।

(१२) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (१७५७-१८५७), हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, १९५२ ई०।

(१३) ब्रजरत्न दास, इशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी, कमल मणि ग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, प्रथम सस्करण, स० १९८५ वि०।

(१४) श्यामसुन्दर दास (स०) रानी केतकी की कहानी, नागरी प्रचारिणी सभा २००७ वि०।

(१५) सैयद नुरुल्ला एड जे० पी० नायक हिस्टरी आफ एजूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड मैकमिलन एंड को० लि० बम्बे कलकत्ता, मद्रास, लदन, १९४३।

(१६) डा० शितिकठ मिश्र, खड़ी बोली का आदोलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१३ (प्रथम सस्करण)।

चतुर्थ परिच्छेद

(१) अंबिका प्रसाद, बाजपेयी समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञानमडल लि० बनारस, स० २०१०।

(२) ऑनल्ड केटल, एन इन्ट्रोडक्शन टू दि इंग्लिश नॉवेल, एराज बुक्स लि०, १९६२ (प्रथम और द्वितीय भाग)

(३) इयन वाट, दि राइज आफ दि नॉवेल, चटो एंड विंडस, लडन, १९६०।

(४) कैथेरिन ल्वेर, दि नॉवेल ऍड दि रीडर, मथुएन ऍड को० लि० लडन, १९६१।

(५) भगवान दयाल, दि डवलपमेट आफ मॉडर्न एजुकेशन, आरियटल लौगमैन्स लिमिटेड, बम्बे।

(६) रमेशदत्त, दि एकॉनॉमिक हिस्टरी आफ इंडिया अडर अर्ली ब्रिटिश रूल, सिक्स्थ एडीशन, लडन।

(७) रमेशदत्त, एकॉनॉमिक हिस्टरी आफ इंडिया, विक्टोरियन एज, लडन।

(८) राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, हिन्दी गद्य के निर्माता प० बालकृष्ण भट्ट, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा, १९५८।

(९) रामचद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, आठवाँ सस्करण, स० २००९ ।

(१०) राम रतन भटनागर, दि राइज ऐंड ग्रोथ ऑफ हिन्दी जनलिज्म (१८२६ १९४५), किताब महल, एलाहाबाद ।

(११) सयद नुरुल्ला ऐंड जे० पी० नायक, हिस्टरी आफ एजूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, मकमिलन ऐड का० लि० बम्ब, कैलकटा, मद्रास, लडन, १९४३ ।

(१२) डा०शितिकठ मिश्र, खडी बोली का आदोलन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम सस्करण, स० २०१३ (१९५६ ई०) ।

पत्र-पत्रिकाएँ—

(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, १८९८ ई०

(२) हरिश्चद्र चद्रिका, फरवरी मार्च १८७५

(३) हरिश्चन्द्र मगजीन, अक्टूबर १८७३

(४)	हिन्दी प्रदीप	जिल्द २,	सख्या ८ अप्रल १८७९
(५)	हिन्दी प्रदीप	जिल्द ३	सख्या ७ मार्च १८८०
(६)	,,	जिल्द ५,	सख्या ७ मार्च १८८२
(७)	,,	जिल्द ५,	सख्या ८ अप्रल १८८२
(८)		जिल्द ५	सख्या ९ मई १८८२
(९)	,,	जिल्द ५,	सख्या ११ जुलाई १८८२
(१०)	,	जिल्द ५,	सख्या १२ अगस्त १८८२
(११)	,	जिल्द ५,	सख्या २ अक्टूबर १८८२
(१२)	,	जिल्द ६	सख्या ४ दिसबर १८८२
(१३)	,,	जिल्द ७	सख्या ५ जनवरी १८८४
(१४)		जिल्द ७	सख्या ६ फरवरी १८८४
(१५)		जिल्द ८	सख्या २ अक्टूबर १८८४
(१६)	,,	जिल्द ८	सख्या ४ दिसबर १८८४
(१७)	,,	जिल्द ९,	सख्या १ सितबर १८८५
(१८)	,	जिल्द ९	सख्या २ अक्टूबर १८८५
(१९)	,	जिल्द १०	सख्या १२ अगस्त १८८७
(२०)	,,	जिल्द ११,	सख्या १२ अगस्त १८८८
(२१)	,,	जिल्द १३,	सख्या ५ ६ ७ जनवरी, फरवरी मार्च १८९०
(२२)	,,	जिल्द ६	सख्या ११ जुलाइ १८८३
(२३)	,,	जिल्द ६,	सख्या १२ अगस्त १८८३
(२४)	,,	जिल्द १२,	सख्या ९ मई १८८९

पंचम परिच्छेद

(१) तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कलकत्ता) के सभापति का सभाषण, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रथम स० १९७५ वि०।
(२) (सयद) नुरुल्ला ऍंड जे० पी० नायक, हिस्टरी ऑफ एजुकेशन इन इन्डिया डयूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड मैकमिलन ऍंड को० लि०, लदन १९४३।
(३) भगवान दयाल, दि डवलपमट ऑफ माडन एजुकेशन, ओरियटल लौंगमन्स लिमिटड, बवे।
(४) रजनी पाम दत्त इडिया टू ड, बवे पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, १९४९।
(५) रमश दत्त, दि एकानामिक हिस्टरी आफ इडिया अडर अर्ली ब्रिटिश रूल, सिक्स्थ एडीशन, लदन, केगन पाल, ट्रेंच ट्रूबनेर ऍंड का० लिमिटेड, ब्राडव हाउस ६८ ७४, कार्टेन लेन, ई० सी०।
(६) रमेशदत्त, एकानामिक हिस्टरी आफ इडिया, विक्टोरियन एज, कगन पाल, ट्रेंच ट्रूब्नर ऍंड को० लि०।
(७) रामचद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, आठवां सस्करण, स० २००९।
(८) राम रतन भटनागर, दि राइज ऍंड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म (१८२६-१९४५), किताब महल, एलाहाबाद।
(९) वेरा ऐन्स्टे, दि एकॉनामिक डवलपमट आफ इडिया लदन लौंगमन्स, ग्रीन ऍंड को० लदन, थड (रिवाइज्ड ऍंड एनलार्ज्ड) एडीशन रिप्रिंटड १९४२।
(१०) (डॉ०) शितिकठ मिश्र, खडी बोली का आन्दोलन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २०१३ (प्रथम सस्करण)।
(११) प्रोग्रेस आफ लिटरेसी इन वेरीयस कट्रीज।
(१२) अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, समाचार पत्रों का इतिहास, ज्ञान मडल लिमिटेड, बनारस, प्रथम सस्करण, २०१०।
(१३) ई० एम० फास्टर, आस्पेक्टस आफ नावेल।

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) नवजीवन, १२ जून १९४५।
(२) नागरी हितैषिणी, अगस्त १९१३।
(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवम्बर १९०९।
(४) नागरी प्रचारक, मई १९१०।
(५) मर्यादा, जून १९१२।
(६) मर्यादा, मार्च १९१३।
(७) सरस्वती, फरवरी १९०८।
(८) हिन्दी प्रदीप, अगस्त १८९१।
(९) हिन्दी प्रदीप, जनवरी-फरवरी १८९७।

(९) रामचद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, आठवाँ सस्करण, स० २००९।

(१०) राम रतन भटनागर, दि राइज ऐंड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म (१८२६ १९४५), किताब महल, एलाहाबाद।

(११) सयद नुरल्ला ऐंड जे० पी० नायक, हिस्टरी आफ एजूकेशन इन इंडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, मकमिलन ऐंड को० लि० बम्बे, कलकटा, मद्रास लंडन, १९४३।

(१२) डा० शितिकठ मिश्र, खडी बोली का आदोलन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम सस्करण स० २०१३ (१९५६ ई०)।

पत्र-पत्रिकाएँ—

(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग २, १८९८ ई०

(२) हरिश्चद्र चद्रिका, फरवरी माच १८७५

(३) हरिश्चद्र मगजीन अक्टूबर १८७३

(४)	हिन्दी प्रदीप	जिल्द २	सख्या ८ अप्रल १८७९
(५)	हिन्दी प्रदीप	जिल्द ३	सख्या ७ माच १८८०
(६)	,,	जिल्द ५,	सख्या ७ माच १८८२
(७)	,	जिल्द ५,	सख्या ८ अप्रैल १८८२
(८)	,,	जिल्द ५	सख्या ९ मई १८८२
(९)	,,	जिल्द ५,	सख्या ११ जुलाई १८८२
(१०)	,	जिल्द ५,	सख्या १२ अगस्त १८८२
(११)		जिल्द ६,	सख्या २ अक्टूबर १८८२
(१२)	,	जिल्द ६,	सख्या ४ दिसबर १८८२
(१३)	,,	जिल्द ७,	सख्या ५ जनवरी १८८४
(१४)	,	जिल्द ७,	सख्या ६ फरवरी १८८४
(१५)	,	जिल्द ८	सख्या २ अक्टूबर १८८४
(१६)		जिल्द ८	सख्या ४ दिसबर १८८४
(१७)	,	जिल्द ९	सख्या १ सितबर १८८५
(१८)	,	जिल्द ९	सख्या २ अक्टूबर १८८५
(१९)	,	जिल्द १०,	सख्या १२ अगस्त १८८७
(२०)	,,	जिल्द ११	सख्या १२ अगस्त १८८८
(२१)	,,	जिल्द १३	सख्या ५ ६ ७ जनवरी फरवरी, माच १८९०
(२२)	,,	जिल्द ६	सख्या ११ जुलाई १८८३
(२३)	,,	जिल्द ६,	सख्या १२ अगस्त १८८३
(२४)	,,	जिल्द १२,	सख्या ९ मई १८८९

पचम परिच्छेद

(१) तृतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन (कलकत्ता) के सभापति का स भाषण, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रथम स० १९७८ वि० ।

(२) (सयद) नुरुल्ला ऐंड जे० पी० नायक, हिस्टरी ऑफ एजुकेशन इन इडिया ड्यूरिंग दि ब्रिटिश पीरियड, मकमिलन ऐंड को० लि०, लदन १९४३ ।

(३) भगवान दयाल, दि डवलपमट ऑफ माडन एजुकशन, ओरियटल लोंगमस लिमिटड, बब ।

(४) रजनी पाम दत्त, इडिया टू ड, बब पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, १९४९ ।

(५) रमश दत्त, दि एकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इडिया अडर अर्ली ब्रिटिश रूल, सिवस्थ एडीशन, लदन, कगन पाल, ट्रेंच ट्रूबनर ऐंड का० लिमिटेड, ब्राडवे हाउस ६८ ७४, कार्टेन लन, ई० सी० ।

(६) रमेशदत्त, एकानामिक हिस्टरी आफ इडिया, विक्टोरियन एज, कगन पाल, ट्रेंच ट्रूब्नर ऐंड को० लि० ।

(७) रामचद्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, आठवाँ सस्करण, स० २००९ ।

(८) राम रतन भटनागर, दि राइज ऐंड ग्रोथ आफ हिन्दी जर्नलिज्म (१८२६-१९४५), किताब महल, एलाहाबाद ।

(९) वेरा ऐन्स्ट, दि एकानामिक डवलपमट आफ इडिया लदन, लोंगमन्स, ग्रीन ऐंड को० लदन, थड (रिवाइज्ड ऐंड एनलाज्ड) एडीशन रिप्रिंटड १९४२ ।

(१०) (डॉ०) शितिकठ मिश्र, खडी बोली का आन्दोलन नागरी प्रचारिणा सभा, काशी, स० २०१३ (प्रथम सस्करण) ।

(११) प्रोग्रेस आफ लिटरेसी इन वेरीयस कट्रीज ।

(१२) अम्बिका प्रसाद बाजपयी, समाचार पत्रा का इतिहास, ज्ञान मडल लिमिटड, बनारस, प्रथम सस्करण, २०१० ।

(१३) ई० एम० फास्टर, आस्पेक्टस ऑफ नावल ।

पत्र-पत्रिकाएँ

(१) नवजावन, १२ जून १९५८ ।

(२) नागरी हितैषिणी, अगस्त १९१३ ।

(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवम्बर १९०९ ।

(४) नागरी प्रचारक, मई १९१० ।

(५) मर्यादा, जून १९१२ ।

(६) मर्यादा, माच १९१३ ।

(७) सरस्वती, फरवरा १९०८ ।

(८) हिन्दी प्रदाप, अगस्त १८९१ ।

(९) हिन्दी प्रदीप, जनवरा-फरवरा १८९३ ।

(१०) हिन्दी प्रदीप, नवम्बर दिसम्बर १८९७।
(११) हिन्दी प्रदीप, मई-जून १८९८।
(१२) हिन्दी प्रदीप, फरवरी १८९९।
(१३) हिन्दी प्रदीप, मई १८९९।
(१४) हिन्दी प्रदीप, जनवरी १९०७।
(१५) आलोचना—१ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर १९५१।
(१६) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २, १८९८ ई०, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
(१७) मर्यादा, भाग ३, सं० १, नवम्बर १९११।
(१८) मर्यादा भाग ५, सं० ५, मार्च १९१३।
(१९) विशाल भारत, भाग २५, अंक ६, कलकत्ता १९४०।
(२०) सरस्वती, मार्च १९०५।
(२१) कृष्णमाचार्य ईसाई पादरियों की हिन्दी सेवा, आकाशवाणी दिल्ली से २ नवम्बर, १०६२ को प्रसारित।

